नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

# सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 05



## आगम - ०५

## 'स्थान' मूलं एवं वृत्तिः [१]


मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

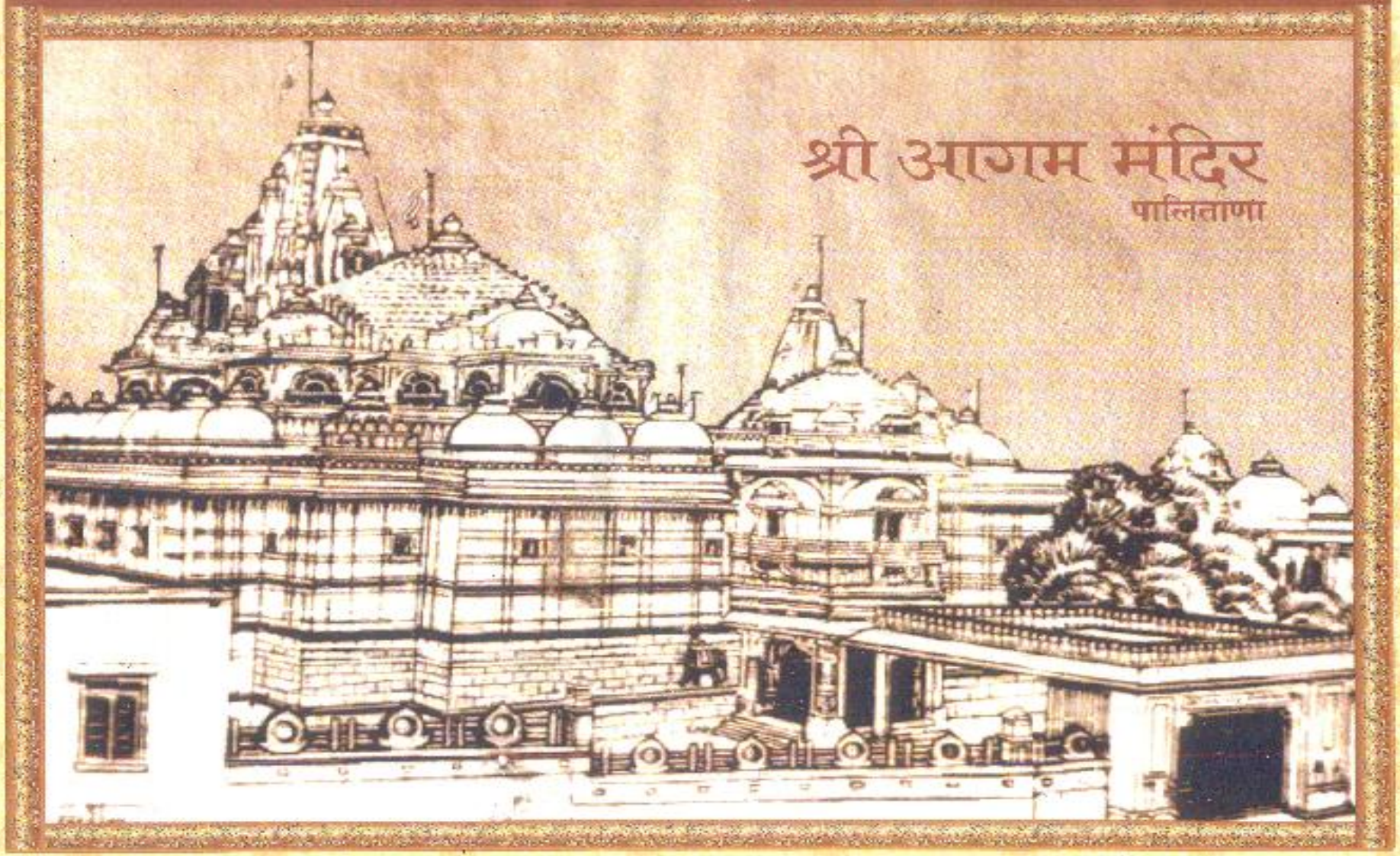
अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]



पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

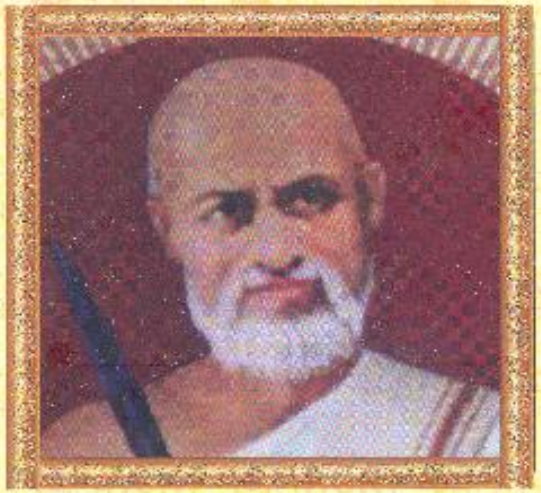
# ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता



नमो नमो निम्मलदंसणस्स

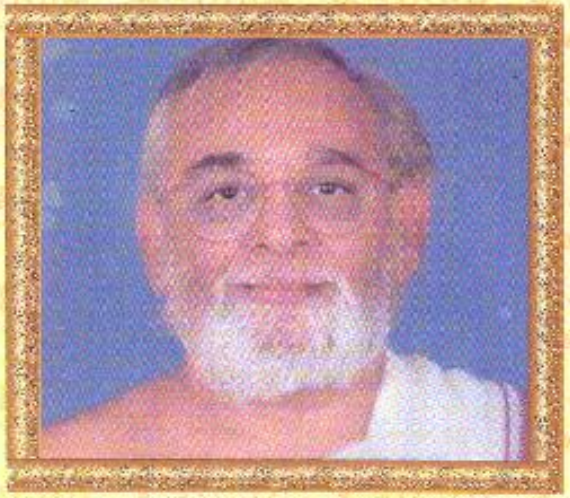
# सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदावाद Mo 9825598855 / 9825306275


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

**नमो नमो निम्मलदंसणस्स**

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

# “स्थान” मूलं एवं वृत्ति:

**[मूलं एवं अभयदेवसूरि रचित वृत्ति:]**

**स्थान- १ से ४**

[आद्य संपादक: - पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰ ]

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर **(M.Com., M.Ed., Ph.D.श्रुतमहर्षि)**

**28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५** **‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-५**

**श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’**

**सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक**

# पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

**...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"...** ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

**संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त**

# पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण* " इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

# ◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ| *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य, शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

*** *मुनि दीपरत्नसागर...*

**'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'**

**इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता**

# पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई , उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

**[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा**

# पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

**(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र**

## परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

**इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ**

**.....मुनि दीपरत्नसागर**

| मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक | | मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक | | मूलांक: | विषय: | पृष्ठांक |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ०१ | ♦ स्थान-१ | ०११ | | २४९ | ♦ स्थान-४ | ३६८ | | ५९२ | ♦ स्थान-७ | |
| | - एक स्थान आश्रित विविध- | | | २४९ | -- उद्देशक: १- | ३६९ | | | -सप्त स्थान-आश्रित विविध | |
| | विषयस्य प्ररूपणा | | | २९२ | -- उद्देशक: २- | ४२२ | | | विषयस्य प्ररूपणा | |
| | | | | ३३३ | -- उद्देशक: ३- | ४७८ | | | | |
| ५७ | ♦ स्थान-२ | ०८६ | | ३६२ | -- उद्देशक: ४- | ५३६ | | ६९९ | ♦ स्थान-८ | |
| ५७ | -- उद्देशक: १- | ०८६ | | | | | | | -अष्ट स्थान-आश्रित विविध | |
| ७७ | -- उद्देशक: २- | १२४ | | ४२३ | ♦ स्थान-५ | | | | विषयस्य प्ररूपणा | |
| ८१ | -- उद्देशक: ३- | १३४ | | ४२३ | -- उद्देशक: १- | | | | | |
| ९९ | -- उद्देशक: ४- | १८० | | ४५० | -- उद्देशक: २- | | | ८०० | ♦ स्थान-९ | |
| | | | | ४७९ | -- उद्देशक: ३- | | | | -नव स्थान-आश्रित विविध- | |
| १२७ | ♦ स्थान-३ | २१३ | | | | | | | विषयस्य प्ररूपणा | |
| १२७ | -- उद्देशक: १- | २१३ | | ५१८ | ♦ स्थान-६ | | | | | |
| १६१ | -- उद्देशक: २- | २६२ | | | -षड् स्थान-आश्रित विविध- | | | ८८८- | ♦ स्थान-१० | |
| १८१ | -- उद्देशक: ३- | २८३ | | | विषयस्य प्ररूपणा | | | १०१० | -दश स्थान-आश्रित विविध- | |
| २०५ | -- उद्देशक: ४- | ३२३ | | | -[उद्देशका: न अस्ति] | | | | विषयस्य प्ररूपणा | |

## [स्थान- मूलं एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "स्थानाङ्गसूत्र" के नामसे सन १९१८ (विक्रम संवत १९७५) में आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई, जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के, ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है, इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

इसी स्थानांग सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से आचार्य श्री नयचंद्रसागरसूरिजीने भी छपवाया है, समुदाय की वफादारी निभाते हुए इस पूज्यश्रीने पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है, और खुदका नाम पुन: संपादक रूप से पेश किया है | अपनी प्रस्तावनामें नयचंद्रसागरसूरिजी ने भी मेरी तरह उक्त बात का उल्लेख किया है|

इसी स्थानांगसूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से पूज्य जम्बूविजयजी महाराजजीने श्री मोतीलाल बनारसीदास की तरफसे प्रकाशित करवाई है, जो की पुस्तक रूपसे बाईंडेड है, और परिशिष्टमें पूज्य श्री पुन्यविजयजी संकलित शुद्धि-वृद्धि पत्रक दिया है|

✤ हमारा ये प्रयास क्यों? ✤ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर अध्ययन-उद्देशक-मूलसूत्र- आदि के नंबर लिख दिए, ताकिँ पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, उद्देशक आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके, बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके| हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट लिखी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-५ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

॥ अर्हम् ॥

नवाङ्गीटीकाकारश्रीमदभयदेवसूरिविरचितविवृत्तिसमेतं ।

# श्रीस्थानाङ्गसूत्रम् ।

श्रीवीरं जिननाथं नत्वा स्थानाङ्गकतिपयपदानाम् । प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टं करोम्यहं विवरणं किञ्चित् ॥ १ ॥

इह हि श्रमणस्य भगवतः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिन इक्ष्वाकुकुलनन्दनस्य प्रसिद्धसिद्धार्थराजसूनोर्महाराजस्येव परमपुरुषकाराक्रान्तविक्रान्तरागादिशत्रोराज्ञाकरणदक्षक्ष्मापतिशतसततसेवितपादपद्मस्य सकलपदार्थसार्थसाक्षात्करणदक्षकेवलज्ञानदर्शनरूपप्रधानप्रणिध्यवबुद्धसर्वविषयग्रामस्वभावस्य सकलत्रिभुवनातिशायिपरमसाम्राज्यस्य निखिलनीतिप्रवर्त्तकस्य परमगम्भीरान्महार्थादुपदेशान्निपुणबुद्ध्यादिगुणगणमाणिक्यरोहणधरणीकल्पेन भाण्डागारनियुक्तेनेव गणधरेण पूर्वकाले चतुर्वर्णश्रीश्रमणसङ्घभट्टारकस्य तत्सन्तानस्येवोपकाराय निरूपितस्य विविधार्थरत्नसारस्य देवताधिष्ठि-

१ उपयोगः. २ °नस्य चोप° प्र. ३ °धार्थरत्न० प्र.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर-प्रभो: वंदना एवं स्थानांग-विवरणस्य प्रतिज्ञा

तस्य विद्याक्रियाबलवताऽपि पूर्वपुरुषेण केनापि कुतोऽपि कारणादनुन्मुद्रितस्यात एव च केषाञ्चिदनर्थभीरूणां मनोरथगोचरातिक्रान्तस्य महानिधानस्येव स्थानाङ्गस्य तथाविधविद्याबलविकलैरपि केवलधार्ष्ट्यप्रधानैः स्वपरोपकारायार्थविनियोजनाभिलाषिभिरत एव चाविगणितस्वयोग्यतैर्निपुणपूर्वपुरुषप्रयोगानुपश्रुत्य किञ्चित्स्वमत्योल्लेख्य तथाविधवर्तमानजनानापृच्छ्य च तदुपायान् द्यूतादिमहाव्यसनोपेतैरिवास्माभिरुन्मुद्रणमिवानुयोगः प्रारभ्यते इति शास्त्रप्रस्तावना ॥ तस्य चानुयोगस्य फलादिद्वारनिरूपणतः प्रवृत्तिः, यत उक्तम्—"तस्स[1] फलजोगमंगलसमुदायत्था तहेव दारा[2]इं । तब्भेयनिरुत्तिकमपयोयणाइं च वच्चाइं ॥ १ ॥"ति, तत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तये फलमस्यावश्यं वाच्यम्, अन्यथा हि निष्प्रयोजनत्वमस्याशङ्कमानाः श्रोतारः कण्टकशाखामर्दन इव न प्रवर्त्तेरन्निति, तच्चानन्तरपरम्परभेदाद् द्विधा, तत्रानन्तरमर्थावगमः, तत्पूर्वकानुष्ठानतश्चापवर्गप्राप्तिर्या सा परम्परप्रयोजनमिति १। तथा योगः—सम्बन्धः, स च यद्युपायोपेयभावलक्षणो यदुतानुयोग उपायोऽर्थावगमादि चोपेयमिति तदा स प्रयोजनाभिधानादेवाभिहित इत्यवसरलक्षणः सम्बन्धोऽस्य वाच्यः, कोऽस्य दाने सम्बन्धोऽवसर इति भावः, योग्यो वा दाने अस्य क इति, तत्र भव्यस्य मोक्षमार्गाभिलाषिणः स्थितगुरूपदेशस्य प्राणिनोऽष्टवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायस्यैव सूत्रतोऽपि स्थानाङ्गं देयमित्ययमवसरः, योग्योऽपि

१ °पहतैरिव० प्र. २ तस्य (अनुयोगस्य) फलयोगमङ्गलसमुदायार्थास्तथैव द्वाराणि । तद् (अनुयोगद्वार) भेदनिरुक्तिकमप्रयोजनानि च वाच्यानि ॥ १ ॥ (विशेषावश्यकवृत्त्यभिप्रायेण प्रयोजनमिति भिन्नं द्वारं तथा च द्वारप्रयोजनमित्यर्थः) ३ प्रयोजनस्य साधितत्वात्, यदि च न तथा तदप्येयमपि साध्य एव,



॥ १ ॥

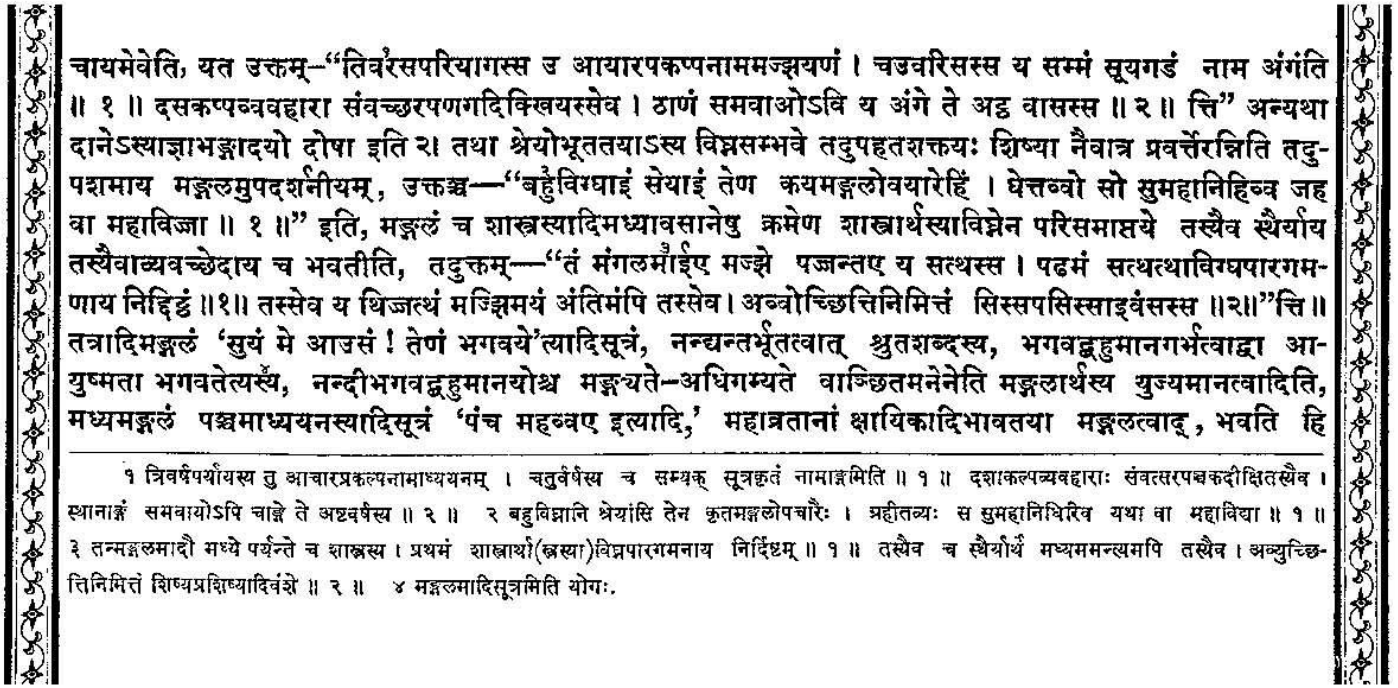

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


स्थानांग-विवरणस्य प्रतिज्ञा, फलादिद्वारस्य निरूपणं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



चायमेवेति, यत उक्तम्–"तिवरसपरियागस्स उ आयारपकप्पनाममज्झयणं । चउवरिसस्स य सम्मं सूयगडं नाम अंगंति ॥ १ ॥ दसकप्पव्ववहारा संवच्छरपणगदिक्खियस्सेव । ठाणं समवाओऽवि य अंगे ते अट्ठ वासस्स ॥ २ ॥ त्ति" अन्यथा दानेऽस्याज्ञाभङ्गादयो दोषा इति २। तथा श्रेयोभूततयाऽस्य विघ्नसम्भवे तदुपहतशक्तयः शिष्या नैवात्र प्रवर्त्तेरन्निति तदुपशमाय मङ्गलमुपदर्शनीयम्, उक्तञ्च—"बहुविग्घाइं सेयाइं तेण कयमङ्गलोवयारेहिं । घेत्तव्वो सो सुमहानिहिव्व जह वा महाविज्जा ॥ १ ॥" इति, मङ्गलं च शास्त्रस्यादिमध्यावसानेषु क्रमेण शास्त्रार्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तये तस्यैव स्थैर्याय तस्यैवाव्यवच्छेदाय च भवतीति, तदुक्तम्—"तं मंगलमाईए मज्झे पज्जन्तए य सत्थस्स । पढमं सत्थत्थाविग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं ॥१॥ तस्सेव य थिज्जत्थं मज्झिमयं अंतिमंपि तस्सेव । अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥२॥"त्ति ॥ तत्रादिमङ्गलं 'सुयं मे आउसं ! तेणं भगवये'त्यादिसूत्रं, नन्ह्यन्तर्भूतत्वात् श्रुतशब्दस्य, भगवद्बहुमानगर्भत्वाद्वा आयुष्मता भगवतेत्यस्य, नन्दीभगवद्बहुमानयोश्च मङ्गल्यते–अधिगम्यते वाञ्छितमनेनेति मङ्गलार्थस्य युज्यमानत्वादिति, मध्यमङ्गलं पञ्चमाध्ययनस्यादिसूत्रं 'पंच महव्वए इत्यादि,' महाव्रतानां क्षायिकादिभावतया मङ्गलत्वाद्, भवति हि

१ त्रिवर्षपर्यायस्य तु आचारप्रकल्पनामाध्ययनम् । चतुर्वर्षस्य च सम्यक् सूत्रकृतं नामाङ्गमिति ॥ १ ॥ दशाकल्पव्यवहाराः संवत्सरपञ्चकदीक्षितस्यैव । स्थानाङ्गं समवायोऽपि चाङ्गे ते अष्टवर्षस्य ॥ २ ॥ २ बहुविघ्नानि श्रेयांसि तेन कृतमङ्गलोपचारैः । ग्रहीतव्यः स सुमहानिधिरिव यथा वा महाविद्या ॥ १ ॥ ३ तन्मङ्गलमादौ मध्ये पर्यन्ते च शास्त्रस्य । प्रथमं शास्त्रार्थाऽस्खा)विघ्नपारगमनाय निर्दिष्टम् ॥ १ ॥ तस्यैव च स्थैर्यार्थं मध्यममन्त्यमपि तस्यैव । अव्युच्छित्तिनिमित्तं शिष्यप्रशिष्यादिवंशे ॥ २ ॥ ४ मङ्गलमादिसूत्रमिति योगः.

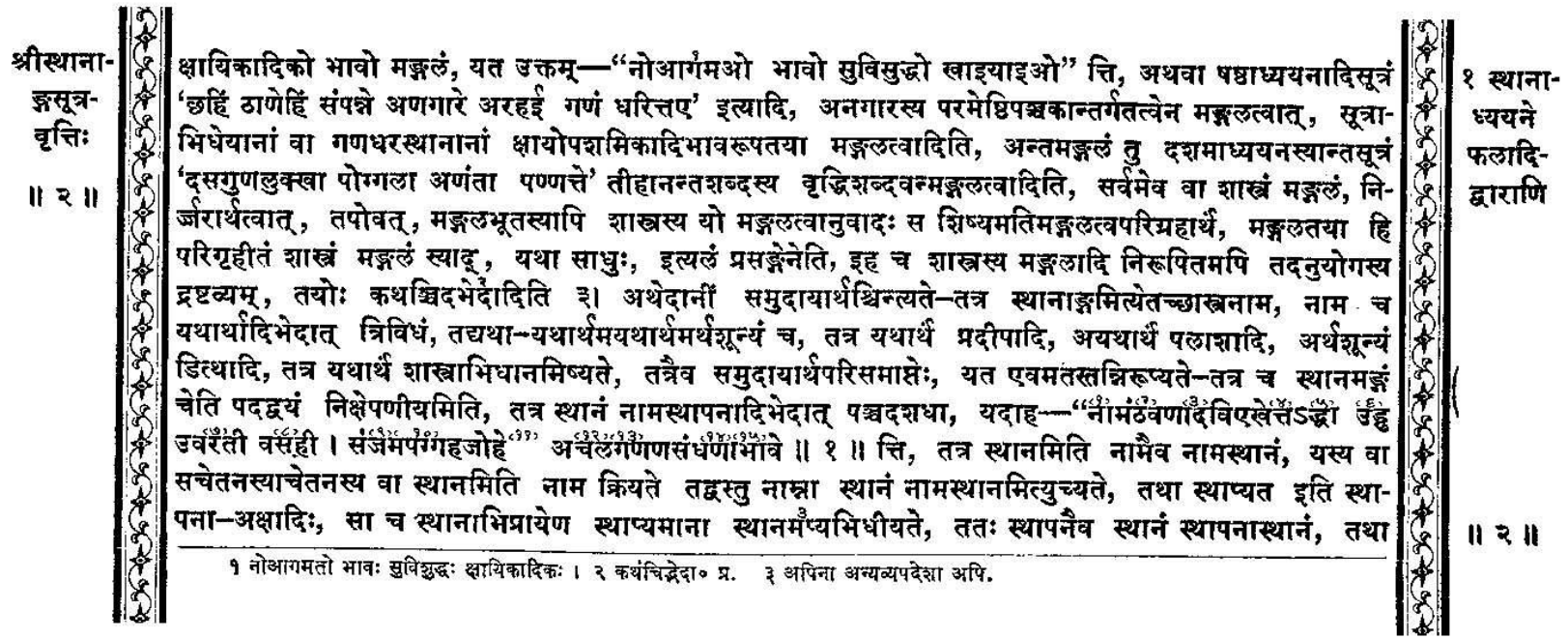
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फलादिद्वारस्य निरूपणं, मंगल-निरुपणं,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २ ॥

क्षायिकादिको भावो मङ्गलं, यत उक्तम्—"नोआगमओ भावो सुविसुद्धो खाइयाइओ" त्ति, अथवा षष्ठाध्ययनादिसूत्रं 'छहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरहई गणं धरित्तए' इत्यादि, अनगारस्य परमेष्ठिपञ्चकान्तर्गतत्वेन मङ्गलत्वात्, सूत्राभिधेयानां वा गणधरस्थानानां क्षायोपशमिकादिभावरूपतया मङ्गलत्वादिति, अन्तमङ्गलं तु दशमाध्ययनस्यान्तसूत्रं 'दसगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ते' तीहानन्तशब्दस्य वृद्धिशब्दवन्मङ्गलत्वादिति, सर्वमेव वा शास्त्रं मङ्गलं, निर्जरार्थत्वात्, तपोवत्, मङ्गलभूतस्यापि शास्त्रस्य यो मङ्गलत्वानुवादः स शिष्यमतिमङ्गलत्वपरिग्रहार्थं, मङ्गलतया हि परिगृहीतं शास्त्रं मङ्गलं स्याद्, यथा साधुः, इत्यलं प्रसङ्गेनेति, इह च शास्त्रस्य मङ्गलादि निरूपितमपि तदनुयोगस्य द्रष्टव्यम्, तयोः कथञ्चिदभेदादिति ३। अथेदानीं समुदायार्थश्चिन्त्यते—तत्र स्थानाङ्गमित्येतच्छास्त्रनाम, नाम च यथार्थादिभेदात् त्रिविधं, तद्यथा—यथार्थमयथार्थमर्थशून्यं च, तत्र यथार्थं प्रदीपादि, अयथार्थं पलाशादि, अर्थशून्यं डित्थादि, तत्र यथार्थं शास्त्राभिधानमिष्यते, तत्रैव समुदायार्थपरिसमाप्तेः, यत एवमतस्तन्निरूप्यते—तत्र च स्थानमङ्गं चेति पदद्वयं निक्षेपणीयमिति, तत्र स्थानं नामस्थापनादिभेदात् पञ्चदशधा, यदाह—"नामंठवणादविएखेत्तेऽद्धा उड्ढ उवरिंती वसही । संजमपग्गहजोहे अचेलगणणसंधणाभावे ॥ १ ॥ त्ति, तत्र स्थानमिति नामैव नामस्थानं, यस्य वा सचेतनस्याचेतनस्य वा स्थानमिति नाम क्रियते तद्वस्तु नाम्ना स्थानं नामस्थानमित्युच्यते, तथा स्थाप्यत इति स्थापना—अक्षादिः, सा च स्थानाभिप्रायेण स्थाप्यमाना स्थानमप्यभिधीयते, ततः स्थापनैव स्थानं स्थापनास्थानं, तथा

१ नोआगमतो भावः सुविशुद्धः क्षायिकादिकः । २ कथंचिद्भेदा० प्र. ३ अपिना अन्यव्यपदेशा अपि.

१ स्थानाध्ययने फलादिद्वाराणि ॥ २ ॥

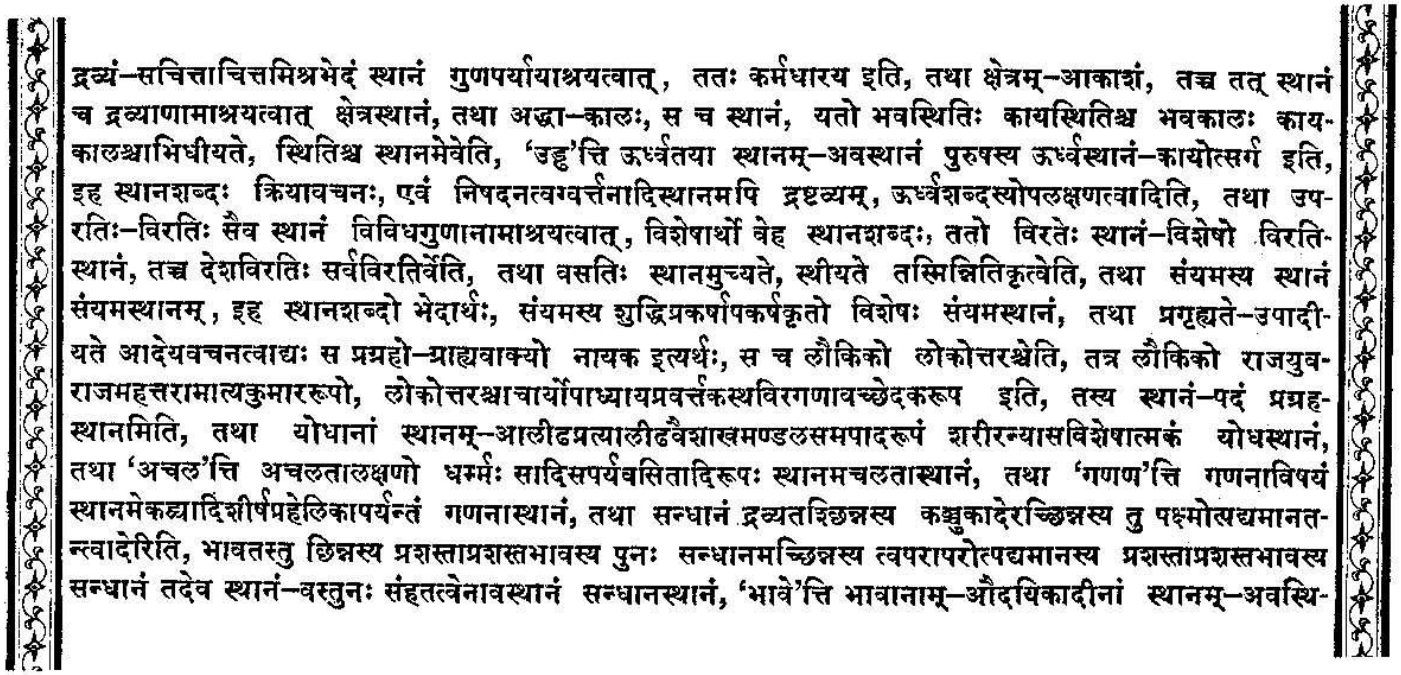
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फलादिद्वारस्य निरूपणं, मंगल-निरुपणं, 'स्थान' एवं 'अंग' पदस्य निरुपणं

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः



द्रव्यं–सचित्ताचित्तमिश्रभेदं स्थानं गुणपर्यायाश्रयत्वात्, ततः कर्मधारय इति, तथा क्षेत्रम्–आकाशं, तच्च तत् स्थानं च द्रव्याणामाश्रयत्वात् क्षेत्रस्थानं, तथा अद्धा–कालः, स च स्थानं, यतो भवस्थितिः कायस्थितिश्च भवकालः काय-कालश्चाभिधीयते, स्थितिश्च स्थानमेवेति, 'उड्ढ'त्ति ऊर्ध्वतया स्थानम्–अवस्थानं पुरुषस्य ऊर्ध्वस्थानं–कायोत्सर्ग इति, इह स्थानशब्दः क्रियावचनः, एवं निषदनत्वग्वर्त्तनादिस्थानमपि द्रष्टव्यम्, ऊर्ध्वशब्दस्योपलक्षणत्वादिति, तथा उप-रतिः–विरतिः सैव स्थानं विविधगुणानामाश्रयत्वात्, विशेषार्थो वेह स्थानशब्दः, ततो विरतेः स्थानं–विशेषो विरति-स्थानं, तच्च देशविरतिः सर्वविरतिर्वेति, तथा वसतिः स्थानमुच्यते, स्थीयते तस्मिन्निति कृत्वेति, तथा संयमस्य स्थानं संयमस्थानम्, इह स्थानशब्दो भेदार्थः, संयमस्य शुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतो विशेषः संयमस्थानं, तथा प्रगृह्यते–उपादी-यते आदेयवचनत्वाद्यः स प्रग्रहो–ग्राह्यवाक्यो नायक इत्यर्थः, स च लौकिको लोकोत्तरश्चेति, तत्र लौकिको राजयुव-राजमहत्तरामात्यकुमाररूपो, लोकोत्तरश्चाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकरूप इति, तस्य स्थानं–पदं प्रग्रह-स्थानमिति, तथा योधानां स्थानम्–आलीढप्रत्यालीढवैशाखमण्डलसमपादरूपं शरीरन्यासविशेषात्मकं योधस्थानं, तथा 'अचल'त्ति अचलतालक्षणो धर्म्मः सादिसपर्यवसितादिरूपः स्थानमचलतास्थानं, तथा 'गणण'त्ति गणनाविषयं स्थानमेकद्यादिशीर्षप्रहेलिकापर्यन्तं गणनास्थानं, तथा सन्धानं द्रव्यतश्छिन्नस्य कञ्चुकादेरच्छिन्नस्य तु पक्ष्मोत्पद्यमानत-न्वादेरिति, भावतस्तु छिन्नस्य प्रशस्ताप्रशस्तभावस्य पुनः सन्धानमच्छिन्नस्य त्वपरापरोत्पद्यमानस्य प्रशस्ताप्रशस्तभावस्य सन्धानं तदेव स्थानं–वस्तुनः संहतत्वेनावस्थानं सन्धानस्थानं, 'भावे'त्ति भावानाम्–औदयिकादीनां स्थानम्–अवस्थि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'स्थान' एवं 'अंग' पदस्य निरुपणं,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



तिरिति भावस्थानमिति । एवमिह स्थानशब्दोऽनेकार्थः, इह च वसतिस्थानेन गणनास्थानेन वाऽधिकार इति दर्शयिष्यते ॥ इदानीमङ्गनिक्षेप उच्यते, तत्र गाथा—"नामंगं ठवणंगं दव्वंगं चेव होइ भावंगं । एसो खलु अंगस्सा निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ १ ॥" त्ति, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धे, द्रव्याङ्गं पुनर्द्रव्यस्य–मद्यौषधादेरङ्गं–कारणमवयवो वेति द्रव्याङ्गं, भावस्य–क्षायोपशमिकादेरेवमेवाङ्गं भावाङ्गमिति, इह भावाङ्गेनाधिकार इत्यपि दर्शयिष्यते, तत्र तिष्ठन्त्यासते वसन्ति यथावदभिधेयतयैकत्वादिभिर्विशेषिता आत्मादयः पदार्था यस्मिंस्तत् स्थानम्, अथवा स्थानशब्देनैहैकादिकः सङ्ख्याभेदोऽभिधीयते, ततश्चात्मादिपदार्थगतानामेकादिदशान्तानां स्थानानामभिधायकत्वेन स्थानम्, आचाराभिधायकत्वादाचारवदिति, स्थानञ्च तत्प्रवचनपुरुषस्य क्षायोपशमिकभावरूपस्याङ्गमिवाङ्गं चेति स्थानाङ्गमिति समुदायार्थः ४ । तत्र च दशाध्ययनानि, तेषु प्रथममध्ययनमेकादित्वात् सङ्ख्याया एकसङ्ख्योपेतात्मादिपदार्थप्रतिपादकत्वात् एकस्थानम्, तस्य च महापुरुषस्येव चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तद्यथा–उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयश्चेति, तत्र अनुयोजनमनुयोगः,–सूत्रस्यार्थेन सह सम्बन्धनम्, अथवा अनुरूपोऽनुकूलो वा यो योगो–व्यापारः सूत्रस्यार्थप्रतिपादनरूपः सोऽनुयोग इति, आह च—"अणुजोजणमणुजोगो सुयस्स नियएण जमभिधेयेण । वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥ १ ॥" इति, अथवा अर्थापेक्षया अणोः–लघोः पश्चाज्जाततया वा अनुशब्दवाच्यस्य सूत्रस्य योऽभिधेये

१ नामाङ्गं स्थापनाङ्गं द्रव्याङ्गं चैव भवति भावाङ्गम् । एष खलु अङ्गस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवति ॥ १ ॥ २ इह च प्र. ३ संबन्धः प्र. ४ अनुयोजनमनुयोगः सूत्रस्य निजकेन यदभिधेयेन । व्यापारो वा योगो योऽनुरूपोऽनुकूलो वा ॥ १ ॥ ५ सूत्रानुयोगापेक्षया पुस्त्वं.



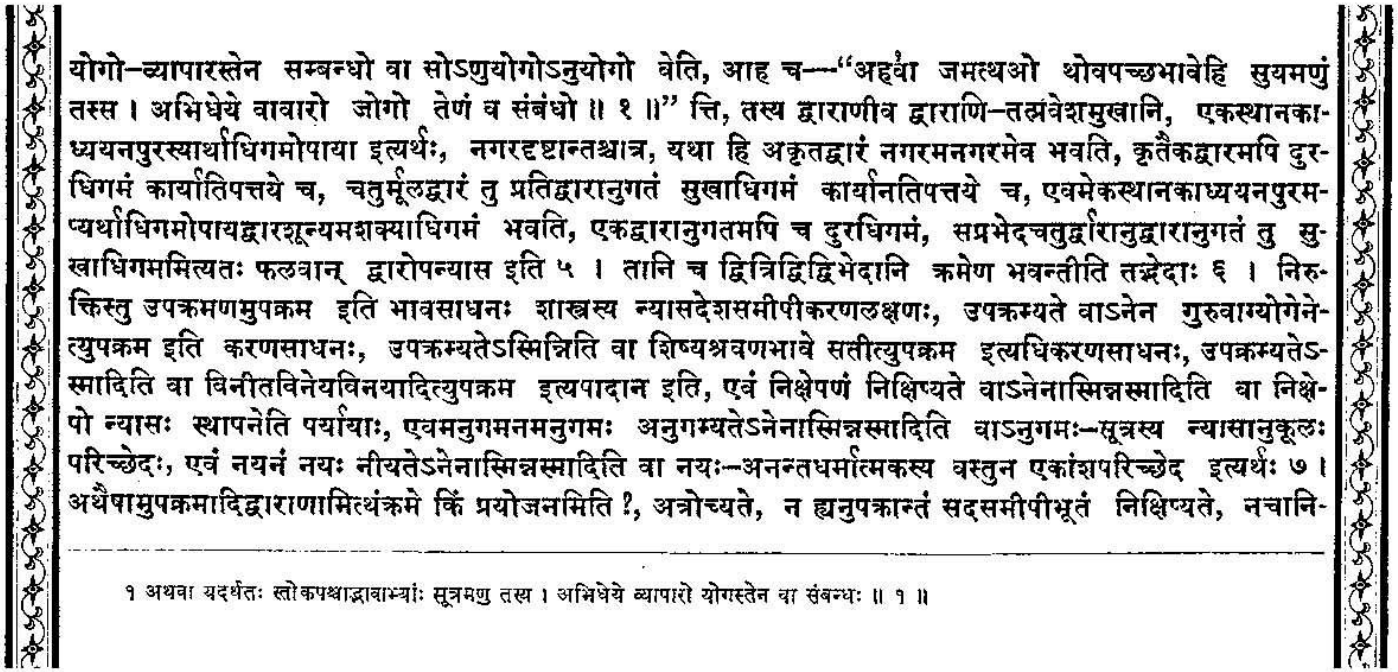
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'स्थान' एवं 'अंग' पदस्य निक्षेपाः,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



योगो–व्यापारस्तेन सम्बन्धो वा सोऽणुयोगोऽनुयोगो वेति, आह च—"अहवा जमत्थओ थोवपच्छभावेहि सुयमणुं तस्स। अभिधेये वावारो जोगो तेणं व संबंधो ॥ १ ॥" त्ति, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि–तत्प्रवेशमुखानि, एकस्थानकाध्ययनपुरस्यार्थाधिगमोपाया इत्यर्थः, नगरदृष्टान्तश्चात्र, यथा हि अकृतद्वारं नगरमनगरमेव भवति, कृतैकद्वारमपि दुरधिगमं कार्यातिपत्तये च, चतुर्मूलद्वारं तु प्रतिद्वारानुगतं सुखाधिगमं कार्यानतिपत्तये च, एवमेकस्थानकाध्ययनपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्यमशक्याधिगमं भवति, एकद्वारानुगतमपि च दुरधिगमं, सप्रभेदचतुर्द्वारानुद्वारानुगतं तु सुखाधिगममित्यतः फलवान् द्वारोपन्यास इति ५ । तानि च द्वित्रिद्विद्विभेदानि क्रमेण भवन्तीति तद्भेदाः ६ । निरुक्तिस्तु उपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः शास्त्रस्य न्यासदेशसमीपीकरणलक्षणः, उपक्रम्यते वाऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रम इति करणसाधनः, उपक्रम्यतेऽस्मिन्निति वा शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रम इत्यधिकरणसाधनः, उपक्रम्यतेऽस्मादिति वा विनीतविनेयविनयादित्युपक्रम इत्यपादान इति, एवं निक्षेपणं निक्षिप्यते वाऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपो न्यासः स्थापनेति पर्यायाः, एवमनुगमनमनुगमः अनुगम्यतेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः–सूत्रस्य न्यासानुकूलः परिच्छेदः, एवं नयनं नयः नीयतेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा नयः–अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छेद इत्यर्थः ७। अथैषामुपक्रमादिद्वाराणामित्थंक्रमे किं प्रयोजनमिति ?, अत्रोच्यते, न ह्यनुपक्रान्तं सदसमीपीभूतं निक्षिप्यते, नचानि-

१ अथवा यदर्थतः स्तोकपश्चाद्भावाभ्यां सूत्रमणु तस्य। अभिधेये व्यापारो योगस्तेन वा संबन्धः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'स्थान' एवं 'अंग' पदस्य निक्षेपाः, उपक्रम-आदि द्वाराणि

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



क्षिप्तं नामादिभिरर्थतोऽनुगम्यते, न चार्थतोऽननुगतं नयैर्विचार्यते इत्ययमेव क्रम इति, उक्तञ्च—"दारक्कमोऽयमेव उ निक्खिप्पइ जेण नासमीवत्थं । अणुगम्मइ नानत्थं नाणुगमो नयमयविहूणो ॥ १ ॥"त्ति ८ ॥ तदेवं फलादीन्युक्तानि । साम्प्रतमनुयोगद्वारभेदभणनपुरस्सरमिदमेवाध्ययनमनुचिन्त्यते–तत्रोपक्रमो द्विविधो–लौकिकः शास्त्रीयश्च, तत्र लौकिकः षोढा–नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्योपक्रमो द्वेधा–सचेतनाचेतनमिश्रद्विपदचतुष्पदापदरूपस्य द्रव्यस्य परिकर्म्म विनाशश्चेति, तत्र परिकर्म्म–गुणान्तरोत्पादनं विनाशः–प्रसिद्ध एव, एवं क्षेत्रस्य–शालिक्षेत्रादेः कालस्य त्वपरिज्ञातस्वरूपस्य नाडिकादिभिः परिज्ञानं, भावस्य च–गुर्वादिचित्तलक्षणस्यानवगतस्येङ्गितादिभिरवगम इति, शास्त्रीयोऽपि षोढैव–आनुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यताऽर्थाधिकारसमवतारभेदात्, तत्रानुपूर्वी दशधाऽन्यत्रोक्ता, तत्र चोत्कीर्त्तनगणनानुपूर्व्योरिदमवतरति, उत्कीर्त्तनञ्च एकस्थानं द्विस्थानं त्रिस्थानमित्यादि, गणनं तु परिसङ्ख्यानं–एकं द्वे त्रीणि इत्यादि, सा च गणनानुपूर्वी त्रिप्रकारा–पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्व्यनानुपूर्वी चेति, पूर्वानुपूर्व्येदं प्रथमं सद् व्याख्यायते पश्चानुपूर्व्या दशममनानुपूर्व्या त्वनियतमिति, तथा नाम दशधा–एकादि दशान्तं, तत्र षड्नाम्न्यस्यावतारः, तत्रापि क्षायोपशमिके भावे, क्षायोपशमिकभावस्वरूपत्वात् सकलश्रुतस्येति, उक्तञ्च–"छव्विहनामे भावे खओवसमिए सुयं समोयरति । जं सुयणाणावरणक्खओवसमजं तयं सव्वं ॥ १ ॥"ति । तथा प्रमाणं द्रव्यादि-

१ द्वारक्रमोऽयमेव तु निक्षिप्यते येन नासमीपस्थं । नान्यस्तमनुगम्यते नानुगमो नयमतविहीनः ॥१॥ २ षड्विधनाम्नि भावे क्षायोपशमिके श्रुतं समवतरति । यद् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजं तकत् सर्वम् ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपक्रम-आदि द्वाराणि, 'स्थान' अध्ययनस्य अनुचिंतनम्

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

भेदाच्चतुर्विधं, तत्र क्षायोपशमिकभावरूपत्वादस्य भावप्रमाणे अवतारो, यत आह—"दव्वादि चउब्भेयं पमीयते जेण तं पमाणंति । इणमज्झयणं भावोत्ति भावमाणे समोयरति ॥ १ ॥"त्ति, भावप्रमाणं च गुणनयसङ्ख्याभेदतस्त्रिधा, तत्रास्य गुणप्रमाणसङ्ख्याप्रमाणयोरेवावतारः, नयप्रमाणे तु न सम्प्रति, यदाह—"मूढनइयं सुयं कालियं तु न नया समोयरंति इहं । अपुहुत्ते समोयारो नत्थि पुहुत्ते समोयारो ॥ १ ॥"त्ति, गुणप्रमाणं तु द्विधा—जीवगुणप्रमाणमजीवगुणप्रमाणं च, तत्र अस्य जीवोपयोगरूपत्वात् जीवगुणप्रमाणेऽवतारः, तस्मिन्नपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदतस्त्र्यात्मके अस्य ज्ञानरूपतया ज्ञानप्रमाणे, तत्रापि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमात्मके प्रकृताध्ययनस्याप्तोपदेशरूपत्वादागमप्रमाणे, तत्रापि लौकिकलोकोत्तरभेदे परमगुरुप्रणीतत्वेन लोकोत्तरे सूत्रार्थोभयात्मनि तथा चाह—जीवाणण्णत्तणओ जीवगुणे बोहभावओ णाणे । लोगुत्तरसुत्तत्थोभयागमे तस्स भावाओ ॥ १ ॥" तत्राप्यात्मानन्तरपरम्परागमभेदतस्त्रिविधेऽर्थतस्तीर्थकरगणधरतदन्तेवासिनः सूत्रतस्तु गणधरतच्छिष्यतत्प्रशिष्यानपेक्ष्य यथाक्रममात्मानन्तरपरम्परागमेष्ववतारः, सङ्ख्याप्रमाणमन्यत्र प्रपञ्चितं तत एवावधारणीयं, तत्र चास्य परिमाणसङ्ख्यायामवतारः, तत्रापि कालिकश्रुतदृष्टिवादश्रुतपरिमाणभेदतो द्विभेदायां कालिकश्रुतपरिमाणसङ्ख्यायां, कालिकश्रुतत्वादस्येति, तत्रापि शब्दापेक्षया सङ्ख्येयाक्षरपदाद्यात्मकतया सङ्ख्यातपरिमाणात्मिकायां पर्यायापेक्षया त्वनन्तपरिमाणात्मिकायां, अनन्तगमपर्यायत्वादागमस्य,

१ द्रव्यादि चतुर्भेदं प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति । इदमध्ययनं भावो भावमाने समवतरति ॥ १ ॥ २ मूढनयिकं श्रुतं कालिकं तु न नयाः समवतरन्तीह । अपृथक्त्वे समवतारो नास्ति पृथक्त्वे समवतारः ॥ १ ॥ ३ जीवानन्यत्वात् जीवगुणे बोधभावात् ज्ञाने । लोकोत्तरसूत्रार्थोभयागमे तस्य भावात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपक्रम-आदि द्वार अंतर्गत् 'प्रमाण' विषयक चर्चा,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



तथा चाह—'अणंता गमा अणंता पज्जवा' इत्यादि। तथा वक्तव्यता स्वसमयेतरोभयवक्तव्यताभेदात् त्रिधा, तत्रेदं स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतरति, सर्वाध्ययनानां तद्रूपत्वात्, तदुक्तम्—"परसमओ उभयं वा सम्मदिट्ठिस्स समओ जेणं। ता सव्वज्झयणाइं ससमयवत्तव्वनिययाइं ॥ १ ॥"ति तथा अर्थाधिकारो वक्तव्यताविशेष एव, स चैकत्वविशिष्टात्मादिपदार्थप्ररूपणलक्षण इति। तथा समवतारः—प्रतिद्वारमधिकृताध्ययनसमवतारणलक्षणः, स चानुपूर्व्यादिषु लाघवार्थमुक्त एवेति न पुनरुच्यते, तथाहि—"अहुणा य समोयारो जेण समोयारियं पइदारं। एगट्ठाणमणुगओ सो लाघवओ ण पुण वच्चो ॥ १ ॥" निक्षेपस्त्रिधा—ओघनामसूत्रालापकनिष्पन्नभेदात्, आह च—"भण्णइ घेप्पइ य सुहं निक्खेवपयाणुसारओ सत्थं। ओहो नामं सुत्तं निखेत्तव्वं तओऽवस्सं ॥ १ ॥" तत्रौघः—सामान्यमध्ययनादि नाम, उक्तञ्च—"ओहो जं सामन्नं सुयाभिहाणं चउव्विहं तं च। अज्झयणं अज्झीणं आओ झवणा य पत्तेयं ॥ १ ॥ नामादि चउब्भेयं वन्नेऊणं सुआणुसारेणं। एगट्ठाणं जोज्जं चउसुंपि कमेण भावेसुं ॥ २ ॥" तत्राध्यात्मं—मनस्तत्र शुभे अयनं—गमनं अर्थादात्मनो भवति यस्मादध्यात्मशब्दवाच्यस्य वा मनसः शुभस्य आनयनमात्मनि यतो भवति बोधादीनां वाऽधि-

१ परसमय उभयं वा सम्यग्दृष्टेः खसमयो येन। ततः सर्वाण्यध्ययनानि खसमयवक्तव्यतानियतानि ॥ १ ॥ २ अधुना च समवतारो येन समवतारितं प्रतिद्वारम्। एकस्थानेऽनुगतः स लाघवतो न पुनर्वाच्य इति ॥ १ ॥ (सामइयं सोऽणुगओ लाघवओ णो पुणो वच्चो वि० भा०) ३ भण्यते गृह्यते च सुखं निक्षेपपदानुसारतः शास्त्रम्। ओघो नाम सूत्रं निक्षेप्तव्यं ततोऽवश्यम् ॥ १ ॥ ४ ओघो यत्सामान्यं सूत्राभिधानं चतुर्विधं तच्च। अध्ययनमक्षीणमायः क्षपणा च प्रत्येकम् ॥ १ ॥ नामादि चतुर्भेदं वर्णयित्वा श्रुतानुसारेण। एकस्थानमायोज्यं चतुर्ष्वपि क्रमेण भावेषु ॥ २ ॥ ५ सामाइयमा० वि० भा०



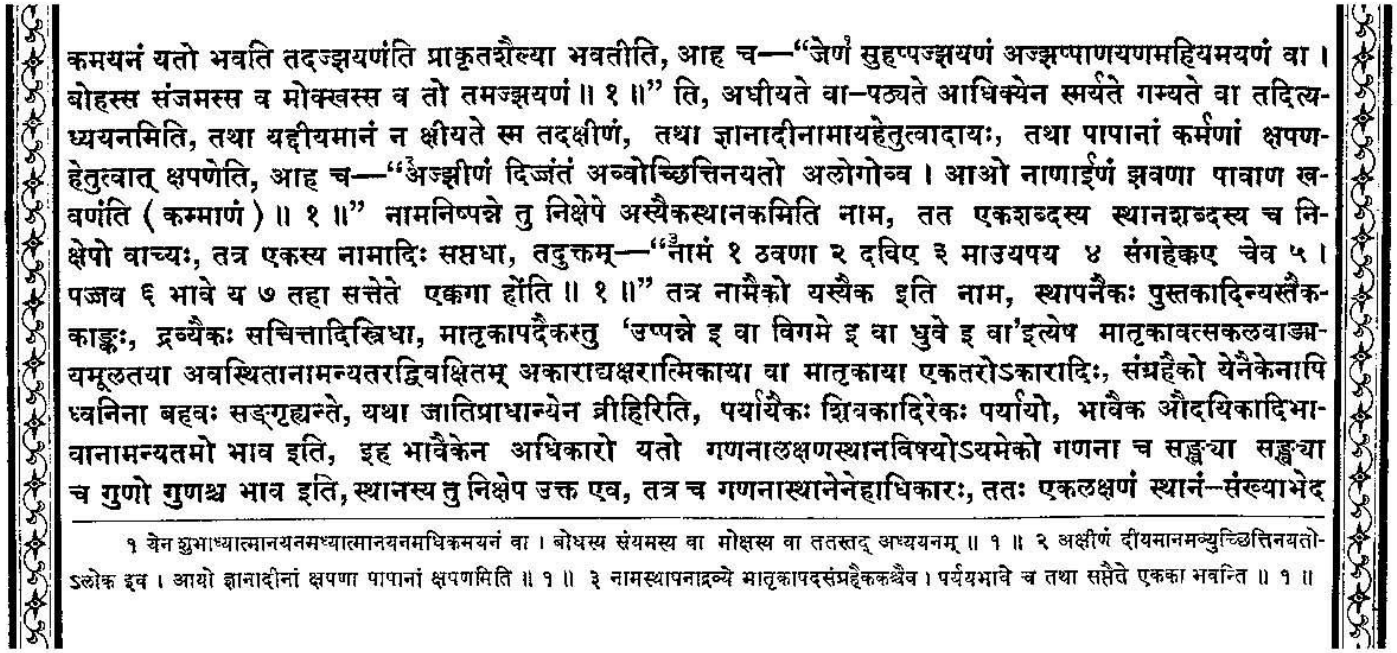
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपक्रम-आदि द्वार अंतर्गत् 'प्रमाण' विषयक चर्चा, निक्षेपस्य भेदा:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित.....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः



कमयनं यतो भवति तदज्झयणंति प्राकृतशैल्या भवतीति, आह च—"जेणं[1] सुहप्पज्झयणं अज्झप्पाणयणमहियमयणं वा। बोहस्स संजमस्स व मोक्खस्स व तो तमज्झयणं॥ १॥" ति, अधीयते वा–पठ्यते आधिक्येन स्मर्यते गम्यते वा तदित्यध्ययनमिति, तथा यद्दीयमानं न क्षीयते स्म तदक्षीणं, तथा ज्ञानादीनामायहेतुत्वादायः, तथा पापानां कर्मणां क्षपणहेतुत्वात् क्षपणेति, आह च—"[2]अज्झीणं दिज्जंतं अव्वोच्छित्तिनयतो अलोगोव्व। आओ नाणाईणं झवणा पावाण खवणंति (कम्माणं)॥ १॥" नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे अस्यैकस्थानकमिति नाम, तत एकशब्दस्य स्थानशब्दस्य च निक्षेपो वाच्यः, तत्र एकस्य नामादिः सप्तधा, तदुक्तम्—"[3]नामं १ ठवणा २ दविए ३ माउयपय ४ संगहेक्कए चेव ५। पज्जव ६ भावे य ७ तहा सत्तेते एकगा होंति॥ १॥" तत्र नामैको यस्यैक इति नाम, स्थापनैकः पुस्तकादिन्यस्तैककाङ्कः, द्रव्यैकः सचित्तादिस्त्रिधा, मातृकापदैकस्तु 'उप्पन्ने इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा'इत्येष मातृकावत्सकलवाङ्मयमूलतया अवस्थितानामन्यतरद्विवक्षितम् अकाराद्यक्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतरोऽकारादिः, संग्रहैको येनैकेनापि ध्वनिना बहवः सङ्गृह्यन्ते, यथा जातिप्राधान्येन व्रीहिरिति, पर्यायैकः शिवकादिरेकः पर्यायो, भावैक औदयिकादिभावानामन्यतमो भाव इति, इह भावैकेन अधिकारो यतो गणनालक्षणस्थानविषयोऽयमेको गणना च सङ्ख्या सङ्ख्या च गुणो गुणश्च भाव इति, स्थानस्य तु निक्षेप उक्त एव, तत्र च गणनास्थानेनेहाधिकारः, ततः एकलक्षणं स्थानं–संख्याभेद

१ येन शुभाध्यात्मानयनमध्यात्मानयनमधिकमयनं वा। बोधस्य संयमस्य वा मोक्षस्य वा ततस्तद् अध्ययनम्॥ १॥ २ अक्षीणं दीयमानमव्युच्छित्तिनयतोऽलोक इव। आयो ज्ञानादीनां क्षपणा पापानां क्षपणमिति॥ १॥ ३ नामस्थापनाद्रव्ये मातृकापदसंग्रहैककश्चैव। पर्ययभावे च तथा सप्तैते एकका भवन्ति॥ १॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन शब्दस्य अर्थः, 'एक' शब्दस्य सप्त निक्षेपाः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१]



एकस्थानं तद्विशिष्टजीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमध्ययनमप्येकस्थानमिति, उक्तावोघनिष्पन्ननामनिष्पन्ननिक्षेपौ, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपः प्राप्तावसरः, तत्स्वरूपं चेदम्–सूत्रालापकानां–सूत्रपदानां 'श्रुतं मे आयुष्मन्नि'त्यादीनां निक्षेपो–नामादिन्यासः, स च अवसरप्राप्तोऽपि नोच्यते, सति सूत्रे तस्य संभवात्, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चानुगमभेद एवेत्यनुगम एव तावदुपवर्ण्यते–द्विविधोऽनुगमो–निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, तत्र आद्यो निक्षेपनिर्युक्त्युपोद्घातनिर्युक्तिसूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमविधानतस्त्रिविधः, तत्र च निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः स्थानाङ्गाध्ययनाद्येकशब्दानां निक्षेपप्रतिपादनादनुगत एवेति, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्तु—'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्यादिगाथाद्वयादवसेय इति, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु संहितादौ षड्विधे व्याख्यालक्षणे पदार्थपदविग्रहचालनाप्रत्यवस्थानलक्षणव्याख्यानभेदचतुष्टयस्वरूपः, स च सूत्रानुगमे संहितापदलक्षणव्याख्यानभेदद्वयलक्षणे सति भवतीत्यतः सूत्रानुगम एवोच्यते, तत्र च अल्पग्रन्थमहार्थादिसूत्रलक्षणोपेतं स्खलितादिदोषवर्जितं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसं! तेणं भगवता एवमक्खायं (सू० १)

अस्य च व्याख्या संहितादिक्रमेणेति, आह च भाष्यकारः–"सुत्तं १ पयं २ पयत्थो ३ संभवतो विग्गहो ४ वियारो य ५ [ चालनेत्यर्थः ]। दूसियसिद्धी ६ नयमयविसेसओ नेयमणुसुत्तं ॥ १ ॥" तत्र सूत्रमिति संहिता, सा चानुगतैव,

१ हि असौ सम्भवति प्र. २ सूत्रं पदं पदार्थः संभवतो विग्रहो विचारश्च । दूषितसिद्धिर्नयमतविशेषतो नेयमनुसूत्रम् ॥ १ ॥



॥ ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र मूल-सूत्रस्य आरम्भः वर्तते,

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१]

सूत्रानुगमस्य तद्रूपत्वादिति, आह च—"होई कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो"त्ति, सूत्रे चास्खलितादिगुणोपेते उच्चारिते केचिदर्था अवगताः प्राज्ञानां भवन्त्यतः संहिता व्याख्याभेदो भवति, अनधिगतार्थाधिगमाय च पदादयो व्याख्याभेदाः प्रवर्त्तन्त इति, तत्र पदानि–'श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यात'मिति, एवं पदेषु व्यवस्थापितेषु सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, तत्र चेयं व्यवस्था–"जत्थ उ जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थवि य ण जाणेज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥ १ ॥"त्ति, तत्र नामश्रुतं स्थापनाश्रुतं च प्रतीतं, द्रव्यश्रुतमधीयानस्यानुपयुक्तस्य पत्रकपुस्तकन्यस्तं वा, भावश्रुतं तु श्रुतोपयुक्तस्येति, इह च भावश्रुतेन श्रोत्रेन्द्रियोपयोगलक्षणेनाधिकारः, तथा 'आउसं'ति आयुः–जीवितं, तन्नामादिभेदतो दशधा, तद्यथा—"नामं १ ठवणा २ दविए ३ ओहे ४ भव ५ तब्भवे य ६ भोगे य ७ । संजम ८ जस ९ कित्ती १० जीवियं च तं भण्णती दसहा ॥ १ ॥" तत्र नामस्थापने श्रुण्णे 'दविए'त्ति द्रव्यमेव सचेतनादिभेदं जीवितव्यहेतुत्वाज्जीवितं द्रव्यजीवितं, ओघजीवितं नारकाद्यविशेषितायुर्द्रव्यमात्रं सामान्यजीवितं भवति, नारकादिभवविशिष्टं जीवितं भवजीवितं नारकजीवितमित्यादि, 'तब्भवे य'त्ति तस्यैव–पूर्वभवस्य समानजातीयतया सम्बन्धि जीवितं तद्भवजीवितं, यथा मनुष्यस्य सतो मानुषत्वेनोत्पन्नस्येति, भोगजीवितं चक्रवर्त्त्यादीनां, संयमजीवितं साधूनां, यशोजीवितं कीर्त्तिजीवितं च यथा महावीरस्येति, जीवितं चायुरेवेति, इह च संयमा-

१ भवति च कृतार्थ उक्त्वा सपदच्छेदं सूत्रं सूत्रानुगम इति. २ यत्र तु यं जानीयात् निक्षेपं निक्षिपेत् निरवशेषम् । यत्रापि च न जानीयात् चतुष्कं निक्षिपेत्तत्र ॥ १ ॥ ३ वाक्यनिक्षेपप्रस्तावे भाषानिक्षेपवदत्र आयुःप्रस्तावे जीवितनिक्षेप इत्यर्थः.

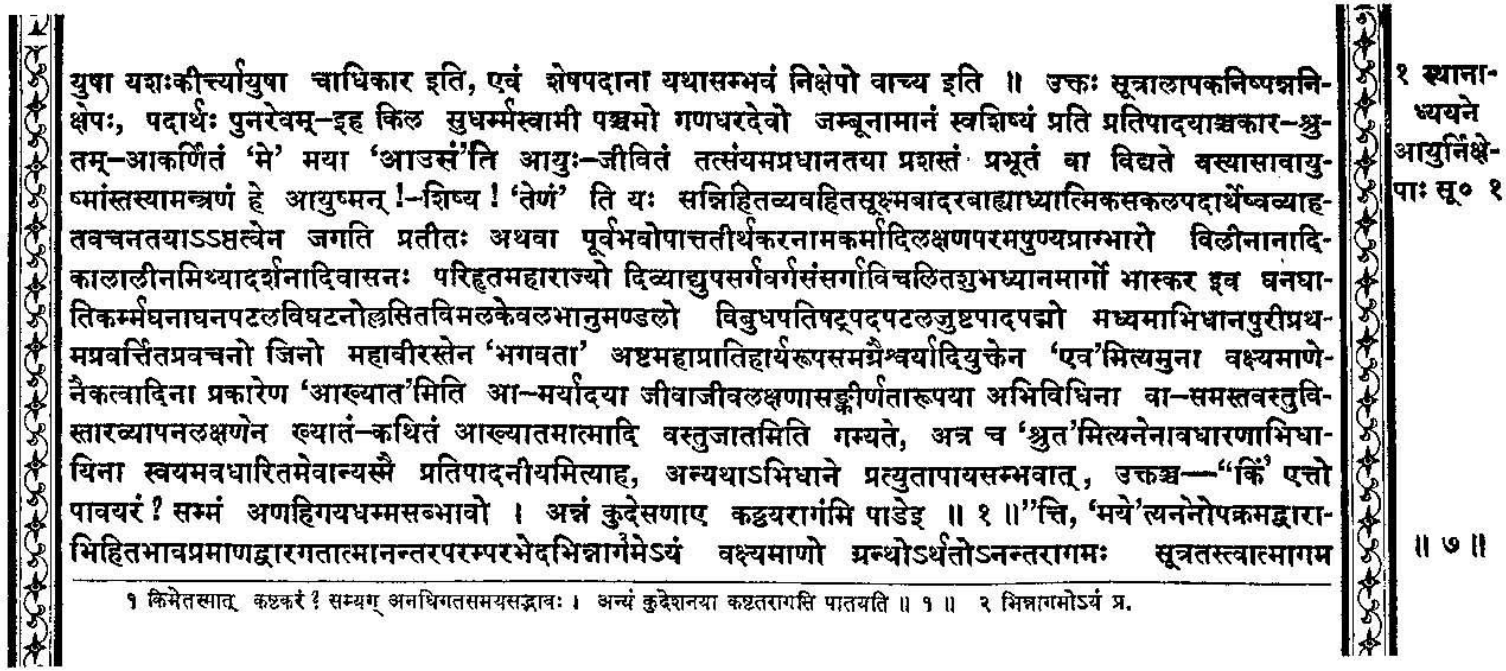
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'श्रुत' एवं 'आउस' शब्दस्य निक्षेपाः,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ७ ॥

युषा यशःकीर्त्त्यायुषा चाधिकार इति, एवं शेषपदाना यथासम्भवं निक्षेपो वाच्य इति ॥ उक्तः सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपः, पदार्थः पुनरेवम्–इह किल सुधर्म्मस्वामी पञ्चमो गणधरदेवो जम्बूनामानं स्वशिष्यं प्रति प्रतिपादयाञ्चकार–श्रुतम्–आकर्णितं 'मे' मया 'आउसं'ति आयुः–जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं वा विद्यते यस्यासावायुष्मांस्तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन्!–शिष्य! 'तेणं' ति यः सन्निहितव्यवहितसूक्ष्मबादरबाह्याध्यात्मिकसकलपदार्थेष्वव्याहतवचनतयाऽऽप्तत्वेन जगति प्रतीतः अथवा पूर्वभवोपात्ततीर्थकरनामकर्मादिलक्षणपरमपुण्यप्राग्भारो विलीनानादिकालालीनमिथ्यादर्शनादिवासनः परिहृतमहाराज्यो दिव्याद्युपसर्गवर्गसंसर्गाविचलितशुभध्यानमार्गो भास्कर इव घनघातिकर्म्मघनाघनपटलविघटनोल्लसितविमलकेवलभानुमण्डलो विबुधपतिषट्पदपटलजुष्टपादपद्मो मध्यमाभिधानपुरीप्रथमप्रवर्त्तितप्रवचनो जिनो महावीरस्तेन 'भगवता' अष्टमहाप्रातिहार्यरूपसमग्रैश्वर्यादियुक्तेन 'एव'मित्यमुना वक्ष्यमाणेनैकत्वादिना प्रकारेण 'आख्यात'मिति आ–मर्यादया जीवाजीवलक्षणासङ्कीर्णतारूपया अभिविधिना वा–समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणेन ख्यातं–कथितं आख्यातमात्मादि वस्तुजातमिति गम्यते, अत्र च 'श्रुत'मित्यनेनावधारणाभिधायिना स्वयमवधारितमेवान्यस्मै प्रतिपादनीयमित्याह, अन्यथाऽभिधाने प्रत्युतापायसम्भवात्, उक्तञ्च—"किं[1] एत्तो पावयरं? सम्मं अणहिगयधम्मसब्भावो। अन्नं कुदेसणाए कड्ढयरागंमि पाडेइ ॥ १ ॥"त्ति, 'मये'त्यनेनोपक्रमद्वारा[2]भिहितभावप्रमाणद्वारगतात्मानन्तरपरम्परभेदभिन्नागमेऽयं वक्ष्यमाणो ग्रन्थोऽर्थतोऽनन्तरागमः सूत्रतस्त्वात्मागम

१ किमेतस्मात् कष्टकरं? सम्यग् अनधिगतसमयसद्भावः। अन्यं कुदेशनया कष्टतरागमि पातयति ॥ १ ॥ २ भिन्नागमोऽयं प्र.

१ स्थानाध्ययने आयुर्निक्षेपाः सू० १

॥ ७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'आउस' शब्दस्य निक्षेपाः, 'भगवत' आदि शब्दस्य अर्थाः

इत्याह, 'आयुष्मन्नि'त्यनेन तु कोमलवचोभिः शिष्यमनःप्रल्हादयताऽऽचार्येणोपदेशो देय इत्याह, उक्तञ्च—"धम्म-मइएहिं अइसुंदरेहिं कारणगुणोवणीएहिं । पल्हायंतो य मणं सीसं चोएइ आयरिओ ॥ १ ॥"त्ति । आयुष्मत्त्वाभि-धानं चात्यन्तमाह्लादकं, प्राणिनामायुषोऽत्यन्ताभीष्टत्वाद्, यत उच्यते—'सव्वे पाणा पियाउया अप्पियवहा सुहा-साया दुक्खपडिकूला सव्वे जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं"ति, तथा–"तृणायापि न मन्यन्ते, पुत्रदारार्थसम्पदः । जीवितार्थे नरास्तेन, तेषामायुरतिप्रियम् ॥ १ ॥" इति, अथवा 'आयुष्मन्नि'त्यनेन ग्रहणधारणादिगुणवते शिष्याय शास्त्रार्थो देय इति ज्ञापनार्थं सकलगुणाधारभूतत्वेनाशेषगुणोपलक्षणेन चिरायुर्लक्षणगुणेन शिष्यामन्त्रणमकारि, यत उक्तम्—"दुट्ठेऽवि दोणमेहे न कण्हभूमाउ लोट्ठए उदयं । गहणधरणासमत्थे इय देयमछित्तिकारिंमि ॥ १ ॥" विपर्यये तु दोष इति, आह च–"आयरिए सुत्तम्मि य परिवाओ सुत्तअत्थपलिमंथो । अन्नेसिंपि य हाणी पुट्ठावि न दुद्धदा वंझा ॥ १ ॥" इति, तथा 'तेने'त्यनेन त्वाप्तत्त्वादिगुणप्रसिद्धताऽभिधायकेन प्रस्तुताध्ययनप्रामाण्यमाह, वक्तृगुणा-पेक्षत्वाद्वचनप्रामाण्यस्येति, 'भगवते'त्यनेन तु प्रस्तुताध्ययनस्योपादेयतामाह, अतिशयवान् किलोपादेयः, तद्वचनमपि तथेति, अथवा 'तेणं'ति अनेनोपोद्घातनिर्युक्त्यन्तर्गतं निर्गमद्वारमाह, यो हि मिथ्यात्वतमःप्रभृतिभ्यो दोषेभ्यो निर्ग-

१ धर्ममयैरतिसुन्दरैः कारणगुणोपनीतैः । प्रह्लादयँश्च मनः शिष्यं नोदयत्याचार्यः ॥ १ ॥ २ सर्वे प्राणाः प्रियायुषोऽप्रियवधाः सुखास्वादाः प्रतिकूलदुःखाः सर्वे जीवितुकामाः सर्वेषां जीवितं प्रियम् . ३ दृष्टेऽपि द्रोणमेघे न कृष्णभूमाल्लुठति उदकं । ग्रहणधारणसमर्थे एवं देयमच्छित्तिकारिणि ॥ १ ॥ ४ आचार्ये सूत्रे च परिवादः सूत्रार्थविघ्नः । अन्येषामपि च हानिः स्पृष्टाऽपि न दुग्धदा वन्ध्या ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१]



तस्ततो निर्गतमिदमध्ययनं क्षेत्रतोऽपापायां कालतो वैशाखशुद्धैकादश्या पूर्वाह्णे भावे क्षायिके वर्त्तमानादिति, एवं च गुरुपर्वक्रमलक्षणः सम्बन्धोऽस्य प्रदर्शितो भवति, तथा तथाविधेन भगवता यदुक्तं तत् सप्रयोजनमेव भवतीति सामान्यतः सप्रयोजनता चास्योक्ता, न हि पुरुषार्थानुपयोगि भगवन्तो भाषन्ते, भगवत्त्वहानेः, अत एव चास्योपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धोऽपि दर्शितः, इदं हि भगवदाख्यातं ग्रन्थरूपापन्नमुपायः, पुरुषार्थस्तूपेय इति, अत एव चात्र श्रोतारः श्रवणे प्रवर्त्तिताः, यतः—"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं, श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः, सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ १ ॥" इति, 'एव'मित्यनेन तु भगवद्वचनादात्मवचनस्यानुत्तीर्णतामाह, अत एव स्ववचनस्य प्रामाण्यं, सर्वज्ञवचनानुवादमात्रत्वादस्येति, अथवा 'एव'मित्येकत्वादिः प्रकारोऽभिधेयतया निर्दिष्टः, निरभिधेयताऽऽशङ्क्या श्रोतॄणां काकदन्तपरीक्षायामिवाप्रवृत्तिरत्र मा भूदिति, 'आख्यात'मित्यनेन तु नापौरुषेयवचनरूपमिदं, तस्यासम्भवादित्याह, यत उक्तम्—"वेयं[1]वयणं न माणं अपोरुसेयंति[2] निम्मियं [तम्मयं] जेण । इदमच्चंतविरुद्धं वयणं च अपोरुसेयं च ॥ १ ॥ जं वुच्चइत्ति वयणं पुरिसाभावे उ नेयमेवंति । ता तस्सेवाभावो नियमेण अपोरुसेयत्ते ॥ २ ॥" इति, अथवा आख्यातं भगवतेदं, न कुड्यादिनिःसृतं, यथा कैश्चिदभ्युपगम्यते—"तस्मिन् ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते । निःसरन्ति यथाकामं, कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥ १ ॥" इत्यस्यानेनानभ्युपगममाह, यतः—'कुड्यादिनिः-

१ वेदवचनं न मानमपौरुषेयमिति निर्मितं येन ( तन्मतं येन ) इदमत्यन्तविरुद्धं वचनं चापौरुषेयं च ॥ १ ॥ यदुच्यते इति वचनं पुरुषाभावे तु नैतदेवमिति । तत् तस्यैवाभावो नियमेनापौरुषेयत्वे ॥ २ ॥ २ न निर्मितं प्र.



॥ ८ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१]

सूतानां तु, न स्यादाप्तोपदिष्टता । विश्वासश्च न तासु स्यात्केनेमाः कीर्त्तिता इति ? ॥ १ ॥" समस्तपदसमुदायेन त्वात्मौद्धत्यपरिहारेण गुरुगुणप्रभावनापरैरेव विनेयेभ्यो देशना विधेयेत्याह, एवं हि तेषु भक्तिपरता स्यात्, तया च विद्यादेरपि सफलता स्यादिति, यदुक्तम्—"भत्तीएँ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा । आयरियनमोक्कारेण विज्जा मंता य सिज्झंति ॥ १ ॥"त्ति, नमस्कारश्च भक्तिरेवेति, अथवा 'आउसंतेणं'ति भगवद्विशेषणं, आयुष्मता भगवता, चिरजीविनेत्यर्थः, अनेन भगवद्बहुमानगर्भेण मङ्गलमभिहितं, भगवद्बहुमानस्य मङ्गलत्वादिति चोक्तमेव, यद्वा 'आयुष्मते'ति परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्धारयता नतु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात् पुनरिहायातेनाभिमानादिभावतोऽप्रशस्तं, यथोच्यते कैश्चित्—"ज्ञानिनो धर्म्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥" [यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ! । अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ २ ॥] एवं ह्यनुन्मूलितरागादिदोषत्वात् तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात्, निःशेषोन्मूलने हि रागादीनां कुतः पुनरिहागमनसम्भव इति ?, अथवा 'आयुष्मता' प्राणधारणधर्मवता न तु सदा संशुद्धेन, तस्याकरणत्वेनाख्यातृत्वासम्भवादिति, यदिवा—'आवसंतेणं'ति मयेत्यस्य विशेषणं, तत आङिति—गुरुदर्शितमर्यादया वसता, अनेन तत्त्वतो गुरुमर्यादावर्त्तिस्वरूपत्वात् गुरुकुलवासस्य तद्विधानमर्थत उक्तं, ज्ञानादिहेतुत्वात्तस्य, उक्तञ्च—"णाणस्स होइ भागी

१ भक्त्या जिनवराणां क्षीयन्ते पूर्वसंचितानि कर्माणि । आचार्यनमस्कारेण विद्या मन्त्राश्च सिध्यन्ति ॥ १ ॥ २ अशरीरत्वेन. ३ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥ गीतावासो रतिर्धर्मे अनायतनवर्जनम् । निग्रहश्च कषायाणामेतद् धीराणां शासनम् ॥२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरुकुलवासस्य वर्णनं,

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१]



थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥ गीयावासो रती धम्मे, अणाययणवज्जणं । निग्गहो य कसायाणं, एयं धीराण सासणं ॥ २ ॥"ति, अथवा 'आमुसंतेणं'ति आमृशता भगवत्पादारविन्दं भक्तितः करतलयुगलादिना स्पृशता, अनेनैतदाह–अधिगतसकलशास्त्रेणापि गुरुविश्रामणादि विनयकृत्यं न मोक्तव्यम्, उक्तं हि —"जहाऽऽहिअग्गी जलणं णमंसे, णाणाहुतीमंतपयाभिसित्तं । एवायरीयं उवचिट्ठएज्जा, अणंतणाणोवगओऽवि संतो ॥ १ ॥"त्ति, यद्वा 'आउसंतेणं'ति आजुषमाणेन–श्रवणविधिमर्यादया गुरूनासेवमानेन, अनेनाप्येतदाह–विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशाच्छ्रोतव्यम्, न तु यथाकथञ्चित्, यत आह—"निद्दोविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुव्वं उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥ १ ॥" इत्यादि, एवमुक्तः पदार्थः, पदविग्रहस्तु सामासिकपदविषयः, स चाख्यातमित्यादिषु दर्शित इति । इदानीं चालनाप्रत्यवस्थाने, ते च शब्दतोऽर्थतश्च, तत्र शब्दतः ननु 'मे' इत्यस्य मम मह्यं चेति व्याख्यानमुचितं, षष्ठीचतुर्थ्योरेवैकवचनान्तस्यास्मत्पदस्य मे इत्यादेशादिति, अत्रोच्यते, मे इत्ययं विभक्तिप्रतिरूपकोऽव्ययशब्दस्तृतीयैकवचनान्तोऽस्मच्छब्दार्थे वर्त्तत इति न दोषः । अर्थतस्तु चालना–ननु वस्तु नित्यं वा स्यादनित्यं वा ?, नित्यं चेत्तर्हि नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वरूपत्वाद्यो भगवतः सकाशे श्रोतृत्वस्वभावः स एव च कथं शिष्योपदेशकत्वस्वभाव इति ?, किञ्च–शिष्योपदेशकत्वं त्वस्य पूर्वस्वभावत्यागे स्यादत्यागे वा ?, यदि त्यागे हन्त हतं

१ यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् । एवमाचार्यमुपतिष्ठेत अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ १ ॥ २ परिवर्जितनिद्राविकथैर्गुप्तैः प्राञ्जलिपुटैः । भक्तिबहुमानपूर्वमुपयुक्तैः श्रोतव्यम् ॥ १ ॥



॥ ९ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


गुरुकुलवासस्य वर्णनं,

वस्तुनो नित्यत्वं, वस्तुनः स्वभावाव्यतिरिक्तत्वेन तत्क्षये तत्क्षतेरिति, अपरित्याग इति चेत्, न, विरुद्धयोः स्वभावयोर्युगपदसम्भवादिति, अथचानित्यमिति पक्षस्तदपि न, निरन्वयनाशे हि श्रोतुः श्रवणकाल एव विनष्टत्वात् कथनावसरेऽन्यस्यैवोत्पन्नत्वादकथनप्रसङ्गः, यज्ञदत्तश्रुतस्य देवदत्ताकथनवदिति, अत्र समाधिर्नयमतेनेति नयद्वारमवतरति, तत्र नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः, तत्र चाद्यास्त्रयो द्रव्यमेवार्थोऽस्तीतिवादितया द्रव्यार्थिकेऽवतरन्ति, इतरे तु पर्याय एवार्थोऽस्तीतिवादितया पर्यायार्थिकनये, तदेवमुभयमतांश्रयणे द्रव्यार्थितया नित्यं वस्तु पर्यायार्थितया त्वनित्यमिति नित्यानित्यं वस्त्विति प्रत्येकपक्षोक्तदोषाभावो गुडनागरादिवदिति, एवमेव च सकलव्यवहारप्रवृत्तिरिति, उक्तञ्च—"सव्वं चिय पइसमयं उप्पज्जइ नासए य निच्चं च । एवं चेव य सुहदुक्खबंधमोक्खादिसब्भावो ॥ १ ॥" त्ति । उक्तः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमः, तदेवमधिकृतसूत्रमाश्रित्य सूत्रानुगमसूत्रालापकनिक्षेपसूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमनया उपदर्शिताः, आराधितञ्च सक्रमं भाष्यकारवचनं, तद्यथा—"सुत्तं सुत्ताणुगमो सुत्तालावगकओ य निक्खेवो । सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति नया य समगं तु वच्चंति ॥ १ ॥" त्ति, एतेषां चायं विषय उक्तो भाष्यकारेण—"होइं कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेयं सुअं सुयाणुगमो । सुत्तालावगनासो नामाइन्नासविनियोगं ॥ १ ॥ सुत्तप्फासियनि-

१ °ताश्रयेण ॥ २ सर्वमेव प्रतिसमयमुत्पद्यते नश्यति च नित्यं च । एवमेव च सुखदुःखबन्धमोक्षादिसद्भावः ॥ १ ॥ ३ सूत्रं सूत्रानुगमः सूत्रालापककृतश्च निक्षेपः । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्नयाश्च समकमेव व्रजन्ति ॥ १ ॥ ४ भवति कृतार्थ उक्त्वा सपदच्छेदं सूत्रं सूत्रानुगमः । सूत्रालापकन्यासो नामादिन्यासविनियोगम् ॥ १ ॥ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिनियोगः शेषकः पदार्थादिः । प्रायः स एव नैगमनयादिमतगोचरो भवति ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [२]



ज्जुत्तिनिओगो सेसओ पयत्थाई। पायं सो च्चिय नेगमनयाइमयगोयरो होइ ॥ २ ॥" त्ति, एवं प्रतिसूत्रं स्वयमनुसरणीयं, वयं तु संक्षेपार्थं क्वचित्किञ्चिदेव भणिष्याम इति ॥ यदाख्यातं भगवता तदधुनोच्यते–तत्र सकलपदार्थानां सम्यग्मिथ्याज्ञानश्रद्धानानुष्ठानैर्विषयीकरणेनोपयोगनयनादात्मनः सर्वपदार्थप्राधान्यमतस्तद्विचारं तावदादावाह—

एगे आया (सू० २)

एको न द्व्यादिरूप आत्मा–जीवः, कथञ्चिदिति गम्यते, तत्र अतति–सततमवगच्छति 'अत सातत्यगमन' इति वचनादतो धातोर्गत्यर्थत्वाद्गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वादनवरतं जानातीति निपातनादात्मा–जीवः, उपयोगलक्षणत्वादस्य सिद्धसंसार्यवस्थाद्वयेऽप्युपयोगभावेन सततावबोधभावात्, सततावबोधाभावे चाजीवत्वप्रसङ्गात्, अजीवस्य च सतः पुनर्जीवत्वाभावात्, भावे चाकाशादीनामपि तथात्वप्रसङ्गात्, एवञ्च जीवानादित्वाभ्युपगमाभावप्रसङ्ग इति, अथवा अतति–सततं गच्छति स्वकीयान् ज्ञानादिपर्यायानित्यात्मा, नन्वेवमाकाशादीनामप्यात्मशब्दव्यपदेशप्रसङ्गः, तेषामपि स्वपर्यायेषु सततगमनाद्, अन्यथा अपरिणामित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गादिति, नैवं, व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वादस्य, उपयोगस्यैव च प्रवृत्तिनिमित्तत्वाद्, जीव एव आत्मा नाकाशादिरिति, यद्वा संसार्यपेक्षया नानागतिषु सततगमनात् मुक्तापेक्षया च भूततद्भावत्वादात्मेति, तस्य चैकत्वं कथञ्चिदेव, तथाहि–द्रव्यार्थतयैकत्वमेकद्रव्यत्वादात्मनः, प्रदेशार्थतया त्वनेकत्वमसङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वात् तस्येति, तत्र द्रव्यं च तदर्थश्चेति द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता–प्रदेशगुणपर्यायाधा-

१ °पदार्थज्ञानप्रा० प्र.



॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा- अर्थ, व्युत्पत्ति, आत्मन: एकत्वं,

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [२]

रता अवयविद्रव्यतेतियावत्, तथा प्रकृष्टो देशः प्रदेशो–निरवयवोंऽशः स चासावर्थश्चेति प्रदेशार्थः तस्य भावः प्रदेशार्थता–गुणपर्यायाधारा ( रता अ ) वयवलक्षणार्थतेतियावत्, नन्ववयवि द्रव्यमेव नास्ति, विकल्पद्वयेन तस्यायुज्यमानत्वात्, खरविषाणवत्, तथाहि–अवयविद्रव्यमवयवेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा स्याद्?, न तावदभिन्नमभेदे हि अवयविद्रव्यवदवयवानामेकत्वं स्याद्, अवयववद्वाऽवयविद्रव्यस्याप्यनेकत्वं स्यात्, अन्यथा भेद एव स्यात्, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदनिबन्धनत्वादिति, भिन्नं चेत् तत्तेभ्यस्तदा किमवयविद्रव्यं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवैति देशतो वेति?, यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसङ्ख्यमवयविद्रव्यं स्यात् कथमेकत्वं तस्य?, अथ देशैः समवैति ततो यैर्देशैरवयवेषु तद्वर्त्तते तेष्वपि देशेषु तत्कथं प्रवर्त्तते देशतः सर्वतो वेति?, सर्वतश्चेत्तदेव दूषणं, देशतश्चेत् तेष्वपि देशेषु कथमित्यादिरनवस्था स्यादिति, अत्रोच्यते, यदुक्तम्—'विकल्पद्वयेन तस्यायुज्यमानत्वा'दिति तदयुक्तम्, एकान्तेन भेदाभेदयोरनभ्युपगमात्, अवयवा एव हि तथाविधैकपरिणामितया अवयविद्रव्यतया व्यपदिश्यन्ते, त एव च तथाविधविचित्रपरिणामापेक्षया अवयवा इति, अवयविद्रव्याभावे तु एते घटावयवा एते च पटावयवा इत्येवमसङ्कीर्णावयवव्यवस्था न स्यात्, तथा च प्रतिनियतकार्यार्थिनां प्रतिनियतवस्तूपादानं न स्यात्, तथा च सर्वमसमञ्जसमापनीपद्येत, सन्निवेशविशेषाद् घटाद्यवयवानां प्रतिनियतता भविष्यतीति चेत्, सत्यं, केवलं स एव सन्निवेशविशेषोऽवयविद्रव्यमिति, यच्चोच्यते–विरुद्धधर्माध्यासो भेदनिबन्धनमिति, तदपि न सूक्तं, प्रत्यक्षसंवेदनस्य परमार्थापेक्षया भ्रान्तत्वेन संव्यवहारापेक्षया त्वभ्रान्तत्वेनाभ्युपगमादिति, यदि नाम भ्रान्तमभ्रान्तं कथमित्येवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च–विद्यते

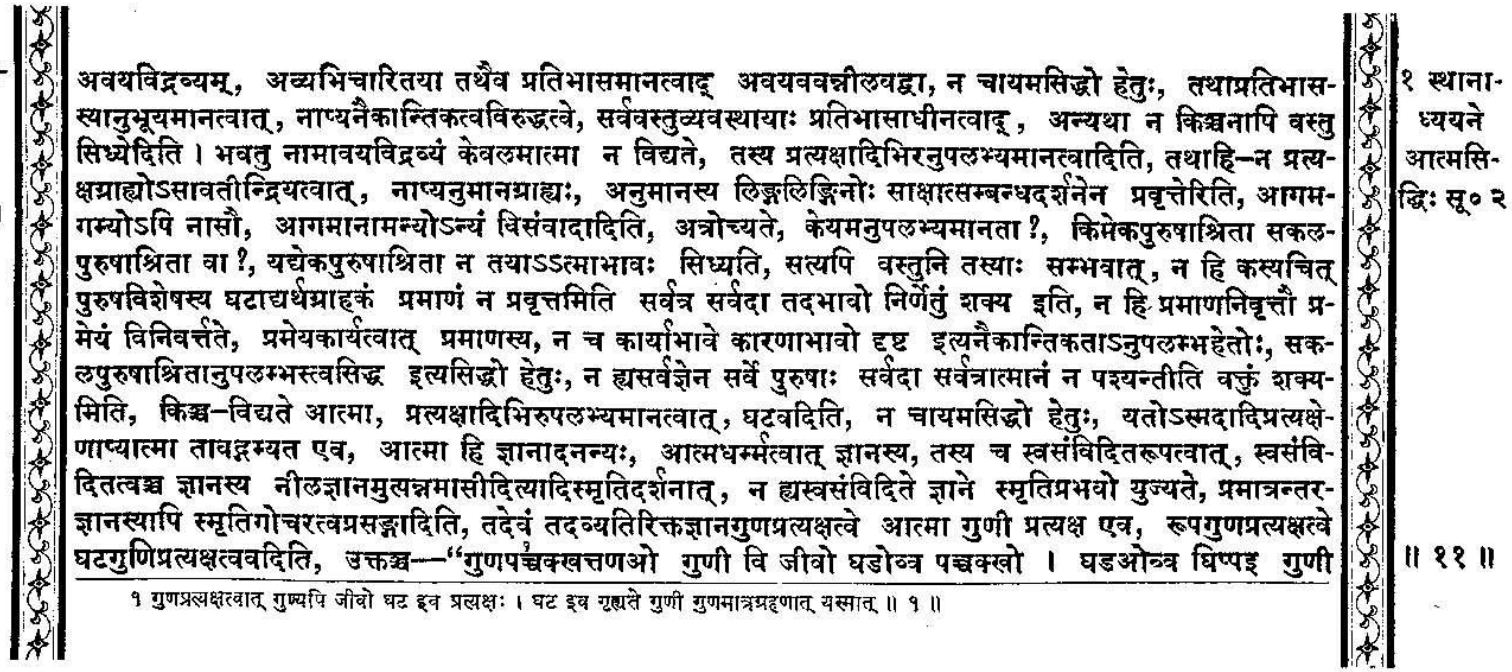
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मन: सिध्धि:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३] अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [२]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

अवयविद्रव्यम्, अव्यभिचारितया तथैव प्रतिभासमानत्वाद् अवयववन्नीलवद्वा, न चायमसिद्धो हेतुः, तथाप्रतिभासस्यानुभूयमानत्वात्, नाप्यनैकान्तिकत्वविरुद्धत्वे, सर्ववस्तुव्यवस्थायाः प्रतिभासाधीनत्वाद्, अन्यथा न किञ्चनापि वस्तु सिध्येदिति । भवतु नामावयविद्रव्यं केवलमात्मा न विद्यते, तस्य प्रत्यक्षादिभिरनुपलभ्यमानत्वादिति, तथाहि–न प्रत्यक्षग्राह्योऽसावतीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमानग्राह्यः, अनुमानस्य लिङ्गलिङ्गिनोः साक्षात्सम्बन्धदर्शनेन प्रवृत्तेरिति, आगमगम्योऽपि नासौ, आगमानामन्योऽन्यं विसंवादादिति, अत्रोच्यते, केयमनुपलभ्यमानता ?, किमेकपुरुषाश्रिता सकलपुरुषाश्रिता वा ?, यद्येकपुरुषाश्रिता न तयाऽऽत्माभावः सिध्यति, सत्यपि वस्तुनि तस्याः सम्भवात्, न हि कस्यचित् पुरुषविशेषस्य घटाद्यर्थग्राहकं प्रमाणं न प्रवृत्तमिति सर्वत्र सर्वदा तदभावो निर्णेतुं शक्य इति, न हि प्रमाणनिवृत्तौ प्रमेयं विनिवर्त्तते, प्रमेयकार्यत्वात् प्रमाणस्य, न च कार्याभावे कारणाभावो दृष्ट इत्यनैकान्तिकताऽनुपलम्भहेतोः, सकलपुरुषाश्रितानुपलम्भस्त्वसिद्ध इत्यसिद्धो हेतुः, न ह्यसर्वज्ञेन सर्वे पुरुषाः सर्वदा सर्वत्रात्मानं न पश्यन्तीति वक्तुं शक्यमिति, किञ्च–विद्यते आत्मा, प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यमानत्वात्, घटवदिति, न चायमसिद्धो हेतुः, यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षेणाप्यात्मा तावद्गम्यत एव, आत्मा हि ज्ञानादनन्यः, आत्मधर्म्मत्वात् ज्ञानस्य, तस्य च स्वसंविदितरूपत्वात्, स्वसंविदितत्वञ्च ज्ञानस्य नीलज्ञानमुत्पन्नमासीदित्यादिस्मृतिदर्शनात्, न ह्यस्वसंविदिते ज्ञाने स्मृतिप्रभवो युज्यते, प्रमात्रन्तरज्ञानस्यापि स्मृतिगोचरत्वप्रसङ्गादिति, तदेवं तदव्यतिरिक्तज्ञानगुणप्रत्यक्षत्वे आत्मा गुणी प्रत्यक्ष एव, रूपगुणप्रत्यक्षत्वे घटगुणिप्रत्यक्षत्ववदिति, उक्तञ्च—"गुणपच्चक्खत्तणओ गुणी वि जीवो घडोव्व पच्चक्खो । घडओव्व घिप्पइ गुणी

१ गुणप्रत्यक्षत्वात् गुण्यपि जीवो घट इव प्रत्यक्षः । घट इव गृह्यते गुणी गुणमात्रग्रहणात् यस्मात् ॥ १ ॥

१ स्थानाध्ययने आत्मसिद्धिः सू० २

॥ ११ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मन: सिध्धि:

गुणमित्तग्गहणओ जम्हा ॥ १ ॥" तथा—"अण्णोऽणन्नो व गुणी होज्ज गुणेहिं ?, जइ णाम सोऽणन्नो । णाणगुणमित्तग्गहणे घिप्पइ जीवो गुणी सक्खं ॥ १ ॥ अह अन्नो तो एवं गुणिणो न घडादयो वि पच्चक्खा । गुणमित्तग्गहणाओ जीवम्मि कुतो विआरोऽयं ? ॥ २ ॥" ति, ये तु सकलपदार्थसार्थस्वरूपाविर्भावनसमर्थज्ञानवन्तस्तेषां सर्वात्मनैव प्रत्यक्ष इति । तथाऽनुमानगम्योऽप्यात्मा, तथाहि–विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वाद्, ओदनादिवत्, व्योमकुसुमं विपक्षः, स च कर्त्ता जीव इति, नन्वोदनकर्तृवन्मूर्त्त आत्मा सिध्यतीति साध्यविरुद्धो हेतुरिति, नैवं, संसारिणो मूर्त्तत्वेनाप्यभ्युपगमाद्, आह च—"[2]जो कत्तादि स जीवो सज्झविरुद्धत्ति ते मई हुज्जा । मुत्ताइपसंगाओ तं नो संसारिणो दोसो ॥ १ ॥" त्ति, न चायमेकान्तो, यदुत–लिङ्ग्यविनाभूतलिङ्गोपलम्भव्यतिरेकेणानुमानस्यैव एकान्ततोऽप्रवृत्तिरिति, हसितादिलिङ्गविशेषस्य ग्रहाख्यलिङ्ग्यविनाभावग्रहणमन्तरेणापि ग्रहगमकत्वदर्शनात्, न च देह एव ग्रहो येनान्यदेहेऽदर्शनमविनाभावग्रहणनियामकं भवतीति, उक्तञ्च—"[3]सोऽणेगंतो जम्हा लिंगेहि समं अदिट्ठपुव्वोवि । गहलिंगदरिसणातो गहोऽणुमेयो सरीरंमि ॥ १ ॥" इति, आगमगम्यत्वं त्वात्मनः 'एगे आया' अत एव वचनात्, नचास्यागमान्तरैर्विसंवादः संभावनीयः, सुनिश्चितासप्रणीतत्वादस्येति, बहु वक्तव्यमत्र तच्च स्थानान्तरादवसेयमिति । किञ्च–

१ अन्योऽनन्यो वा गुणी भवेत् गुणेभ्यः, यदि नाम सोऽनन्यः । ज्ञानमात्रगुणग्रहणे गृह्यते जीवो गुणी साक्षात् ॥ १ ॥ अथान्यस्तदैवं गुणिनो न घटादयोऽपि प्रत्यक्षाः । गुणमात्रग्रहणात् जीवे कुतो विचारोऽयम् ? ॥ २ ॥ २ यः कर्त्रादिः स जीवः साध्यविरुद्ध इति ते मतिर्भवेत् । मूर्त्तत्वादिप्रसङ्गात् तत्र संसारिणो दोषः ॥ १ ॥ ३ सोऽनेकान्तो यस्मात् लिङ्गैः सममदृष्टपूर्वोऽपि । ग्रहलिङ्गदर्शनात् ग्रहोऽनुमेयः शरीरे ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [२]



आत्माभावे जातिस्मरणादयस्तथा प्रेतीभूतपितृपितामहादिकृतावनुग्रहोपघातौ च न प्राप्नुयुरिति । आत्मनस्तु सप्रदेशत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यं, निरवयवत्वे तु हस्ताद्यवयवानामेकत्वप्रसङ्गः प्रत्यवयवं स्पर्शाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्चेति सप्रदेश आत्मा प्रत्यवयवं चैतन्यलक्षणतद्गुणोपलम्भात्, प्रतिग्रीवाद्यवयवमुपलभ्यमानरूपगुणघटवदिति स्थापितमेतत् 'द्रव्यार्थतया एक आत्मे'ति, अथवा एक आत्मा कथञ्चिदिति, प्रतिक्षणं सम्भवदपरापरकालकृतकुमारतरुणनरनारकत्वादिपर्यायैरुत्पादविनाशयोगेऽपि द्रव्यार्थतयैकत्वादस्य, यद्यपि हि कालकृतपर्यायैरुत्पद्यते नश्यति च वस्तु तथापि स्वपरपर्यायरूपानन्तधर्मात्मकत्वात् तस्य न सर्वथा नाशो युक्त इति, आह च—"[१]न हि सव्वहा विणासो अद्धापज्जायमित्तनासंमि । सपरपज्जायाणंतधम्मुणो वत्थुणो जुत्तो ॥ १ ॥" त्ति, किञ्च—'प्रतिक्षणं क्षयिणो भावा' इत्येतस्माद् वचनात् प्रतिपाद्यस्य यत्क्षणभङ्गविज्ञानमुपजायते तदसङ्ख्यातसमयैरेव वाक्यार्थग्रहणपरिणामाज्जायते, न तु प्रतिपत्तुः प्रतिसमयं विनाशे सति, यत एकैकमप्यक्षरं पदसत्कं सङ्ख्यातीतसमयसम्भूतं, सङ्ख्यातानि चाक्षराणि पदं, सङ्ख्यातपदं च वाक्यं, तदर्थग्रहणपरिणामाच्च सर्वं क्षणभङ्गुरमिति विज्ञानं भवेत्, तच्चायुक्तं समयनष्टस्येति, आह च—"कह वा सव्वं खणियं विन्नायं ?, जई मई सुयाओत्ति । तदसंखसमयसुत्तत्थगहणपरिणामओ जुत्तं ॥ १ ॥ नउ पइसमयवि-

१ नैव सर्वथा विनाशोऽद्धापर्यायमात्रनाशे । स्वपरपर्यायानन्तधर्मस्य वस्तुनो युक्तः ॥ १ ॥ २ कथं वा सर्वं क्षणिकं विज्ञातं ? यदि मतिः—श्रुतादिति । तदसङ्ख्यसमयसूत्रार्थग्रहणपरिणामतोऽयुक्तम् ॥ १ ॥ नैव प्रतिसमयविनाशे येनैकैकमक्षरमपि पदस्य । संख्यातीतसामयिकं संख्येयानि पदं तानि ॥ २ ॥ संख्येयपदं वाक्यं तदर्थग्रहणपरिणामतो भवेत् । सर्वक्षणभङ्गज्ञानं तदयुक्तं समयनष्टस्य ॥ ३ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मनः सिध्धिः

णासे जेणेक्केक्कखरंपि य पयस्स । संखाईयसमइयं संखेज्जाइं पयं ताइं ॥ २ ॥ संखेज्जपयं वक्कं तदत्थगहणपरिणामओ होज्जा । सव्वखणभंगनाणं तदजुत्तं समयनद्वस्स ॥ ३ ॥" इति, तथा सर्वथोच्छेदे तृप्त्यादयो न घटन्ते, पूर्वसंस्कारानुवृत्तावेव तेषां युज्यमानत्वाद्, आह च—"तित्ती समो किलामो सारिक्खविवक्खपच्चयाईणि । अज्झयणं झाणं भावणा य का सव्वनासंमि ? ॥ १ ॥" त्ति, तत्र तृप्तिः–प्राणिः श्रमः–अध्वादिखेदः क्लमो–ग्लानिः सादृश्यं–साधर्म्यं विपक्षो–वैधर्म्यं प्रत्ययः–अवबोधः, शेषपदानि प्रतीतानि, इत्यादि बहु वक्तव्यं तत्तु स्थानान्तरादवसेयमिति । तदेवमात्मा स्थितिभवनभङ्गरूपः स्थिररूपापेक्षया नित्यो नित्यत्वाच्चैकः भवनभङ्गरूपापेक्षया त्वनित्यः अनित्यत्वाच्चानेक इति, आह च—"जमणंतपज्जयमयं वत्थुं भवणं च चित्तपरिणामं । ठिइविभवभङ्गरूवं णिच्चाणिच्चाइ तोऽभिमयं ॥ १ ॥" ति, एवं च—"सुहदुक्खबंधमोक्खा उभयनयमयाणुवत्तिणो जुत्ता । एगयरपरिच्चाए सव्वव्ववहारवुच्छित्ति ॥ २ ॥" त्ति, अथवा–एक आत्मा कथञ्चिदेवेति, यतो जैनानां न हि सर्वथा किञ्चिद्वस्तु एकमनेकं वाऽस्ति, सामान्यविशेषरूपत्वाद्वस्तुनः, अथ ब्रूयात्–विशेषरूपमेव वस्तु, सामान्यस्य विशेषेभ्यो भेदाभेदाभ्यां चिन्त्यमानस्यायोगात्, तथाहि–सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा स्यात् ?, न भिन्नमुपलम्भाभावाद्, न चानुपलभ्यमानमपि सत्तया व्यवहर्त्तुं शक्यं, खरविषाणस्यापि तथाप्रसङ्गात्, अथाभिन्नमिति पक्षः, तथा च सामान्यमात्रं वा स्याद्विशेषमात्रं वेति, न ह्येकस्मिन्

स्था० ३

१ तृप्तिः श्रमः क्लमः सादृश्यविपक्षप्रत्ययादयः । अध्ययनध्याने भावना च का सर्वनाशे ॥ १ ॥ २ यदनन्तपर्ययमयं वस्तु भवनं च चित्रपरिणामम् । स्थितिविभवभङ्गरूपं नित्यानित्यादि ततोऽभिमतम् ॥ १ ॥ सुखदुःखबन्धमोक्षा उभयनयमतानुवर्त्तिनो युक्ताः । एकतरपरित्यागे सर्वव्यवहारव्युच्छित्तिः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | आत्मन: सिध्धि: |

सामान्यमेकं विशेषास्त्वनेकरूपा इत्यसङ्कीर्णवस्तुव्यवस्था स्यादिति, अत्रोच्यते, न ह्यस्माभिः सामान्यविशेषयोरेकान्तेन भेदोऽभेदो वाऽभ्युपगम्यते, अपि तु विशेषा एव प्रधानीकृतातुल्यरूपा उपसर्जनीकृततुल्यरूपा विषमतया प्रज्ञायमाना विशेषा व्यपदिश्यन्ते, त एव च विशेषा उपसर्जनीकृतातुल्यरूपाः प्रधानीकृततुल्यरूपाः समतया प्रज्ञायमानाः सामान्यमिति व्यपदिश्यन्त इति, आह च—"निर्विशेषं गृहीताश्च, भेदाः सामान्यमुच्यते । ततो विशेषात्सामान्यविशिष्टत्वं न युज्यते ॥ १ ॥ वैषम्यसमभावेन, ज्ञायमाना इमे किल । प्रकल्पयन्ति सामान्यविशेषस्थितिमात्मनि ॥ २ ॥" इति, तदेवं सामान्यरूपेणात्मा एको विशेषरूपेण त्वनेकः, न चात्मनां तुल्यरूपं नास्ति, एकात्मव्यतिरेकेण शेषात्मनामनात्मत्वप्रसङ्गादिति, तुल्यं च सरूपमुपयोगः 'उपयोगलक्षणो जीव' इति वचनात्, तदेवमुपयोगरूपैकलक्षणत्वात् सर्वे एवात्मान एकरूपाः, एवं चैकलक्षणत्वादेक आत्मेति, अथवा जन्ममरणसुखदुःखादिसंवेदनेष्वसहायत्वादेक आत्मेति भावनीयमिति । इह च सर्वसूत्रेषु कथञ्चिदित्यनुस्मरणीयं, कथञ्चिद्वादस्याविरोधेन सर्ववस्तुव्यवस्थानिबन्धनत्वात्, उक्तञ्च—"स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः । लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमियूति ॥ १ ॥" तथा "नयास्तव स्यात्पदसत्त्वलाञ्छिता, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ १ ॥" इति । आत्मन एकत्वमुक्तन्यायतोऽभ्युपगच्छद्भिरपि कैश्चिन्निष्क्रियत्वं तस्याभ्युपगतमतस्तन्निराकरणाय तस्य क्रियावत्त्वमभिधित्सुः क्रियायाः कारणभूतं (त)दण्डस्वरूपं प्रथमं तावदभिधातुमाह—

एगे दंडे ( सू० ३ ) एगा किरिया ( सू० ४ ) एगे लोए ( सू० ५ ) एगे अलोए ( सू० ६ )




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३-६]

दीप अनुक्रम [३-६]


'एगे दंडे' एकोऽविवक्षितविशेषत्वात् दण्ड्यते–ज्ञानाद्यैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते आत्माऽनेनेति दण्डः, स च द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो यष्टिर्भावतो दुष्प्रयुक्तं मनःप्रभृति ॥ तेन चात्मा क्रियां करोतीति तामाह—'एगा किरिया' एका–अविवक्षितविशेषतया करणमात्रविवक्षणात् करणं क्रिया–कायिक्यादिकेति, अथवा 'एगे दंडे एगा किरिय'त्ति सूत्रद्वयेनात्मनोऽक्रियत्वनिरासेन सक्रियत्वमाह, यतो दण्डक्रियाशब्दाभ्यां त्रयोदश क्रियास्थानानि प्रतिपादितानि, तत्रार्थदण्डानर्थदण्डहिंसादण्डाकस्माद्दण्डदृष्टिविपर्यासदण्डरूपः पञ्चविधो दण्डः परप्राणापहरणलक्षणो दण्डशब्देन गृहीतः, तस्य चैकत्वं वधसामान्यादिति, क्रियाशब्देन तु मृषाप्रत्यया अदत्तादानप्रत्यया आध्यात्मिकी मानप्रत्यया मित्रद्वेषप्रत्यया मायाप्रत्यया लोभप्रत्यया ऐर्यापथिकीत्यष्टविधा क्रियोक्ता, तदेकत्वञ्च करणमात्रसामान्यादिति, दण्डक्रिययोश्च स्वरूपविशेषमुपरिष्टात् स्वस्थान एव वक्ष्याम इति । अक्रियावत्त्वनिरासश्चात्मन एवं, यैः किलाक्रियावत्त्वमभ्युपगतमात्मनस्तैर्भोक्तृत्वमप्यभ्युपगतमतो भुजिक्रियानिर्वर्त्तनसामर्थ्ये सति भोक्तृत्वमुपपद्यते तदेव च क्रियावत्त्वं नामेति, अथ प्रकृतिः करोति पुरुषस्तु भुङ्क्ते प्रतिबिम्बन्यायेनेति, तदयुक्तम्, कथञ्चित् सक्रियत्वमन्तरेण प्रकृत्युपधानयोगेऽपि प्रतिबिम्बभावानुपपत्तेः, रूपान्तरपरिणमनरूपत्वात् प्रतिबिम्बस्येति, अथ प्रकृतिविकाररूपाया बुद्धेरेव सुखाद्यर्थप्रतिबिम्बनं नात्मनः, तर्हि नास्य भोगः, तदवस्थत्वात्तस्येति, अत्रापि बहु वक्तव्यं तत्तु स्थानान्तरादवसेयमिति ॥ उक्तस्वरूपस्यात्मन आधारस्वरूपनिरूपणायाह–'एगे लोए' एकोऽविवक्षितासङ्ख्यप्रदेशाधस्तिर्यगादिदिग्भेदतया लोक्यते–दृश्यते केवलालोकेनेति लोकः–धर्मास्तिकायादिद्रव्याधारभूत आकाशविशेषः, तदुक्तम्—"धर्मादीनां वृत्तिर्द्र-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


| | |
|---|---|
| | दंड, क्रिया, लोक, अलोक शब्दस्य व्याख्या |

व्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥ १ ॥" इति, अथवा लोको नामादिरष्टधा, आह च—"नामं ठवणादविए खित्ते काले भवे य भावे य । पज्जवलोए य तहा अट्ठविहो लोयनिक्खेवो ॥१॥" त्ति, नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्यलोको जीवाजीवद्रव्यरूपः, क्षेत्रलोक आकाशमात्रमनन्तप्रदेशात्मकं, काललोकः समयावलिकादिः, भवलोको नारकादयः स्वस्मिन् २ भवे वर्त्तमाना यथा मनुष्यलोको देवलोक इति, भावलोकः षडौदयिकादयो भावाः, पर्यवलोकस्तु द्रव्याणां पर्यायमात्ररूप इति, एतेषां चैकत्वं केवलज्ञानालोकनीयत्वसामान्यादिति ॥ लोकव्यवस्था ह्यलोके तद्विपक्षभूते सति भवतीति तमाह–'एगे अलोए' एकोऽनन्तप्रदेशात्मकत्वेऽप्यविवक्षितभेदत्वादलोको लोकव्युदासात् तत्त्वनालोकनीयतया, केवलालोकेन तस्याप्यालोक्यमानत्वादिति, ननु लोकैकदेशस्य प्रत्यक्षत्वात् तद्देशान्तरमपि बाधकप्रमाणाभावात् सम्भावयामो योऽयं पुनरलोकोऽस्य देशतोऽप्यप्रत्यक्षत्वात् कथमसावस्तीत्यध्यवसातुं शक्यो ? येनैकत्वेन प्ररूप्यत इति, उच्यते, अनुमानादिति, तच्चेदं–विद्यमानविपक्षो लोको, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वाद्, इह यद्व्युत्पत्तिमता शुद्धशब्देनाभिधीयते तस्य विपक्षोऽस्तीति द्रष्टव्यं, यथा घटस्याघटः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदवाच्यश्च लोकस्तस्मात् सविपक्ष इति, यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकस्तस्मादस्त्यलोक इति, अथ न लोकोऽलोक इति घटादीनामेवान्यतमो भविष्यति किमिह वस्त्वन्तरकल्पनयेति ?, नैवं, यतो निषेधसद्भावान्निषेध्यस्यैवानुरूपेण भवितव्यं निषेध्यश्च लोकः स चाकाशविशेषो जीवादिद्रव्यभाजनमतः खल्वलोकेनाप्याकाशविशेषेणैव भवितव्यम्, यथेहापण्डित इत्युक्ते



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोक, अलोक शब्दस्य व्याख्या

विशिष्टज्ञानविकलश्चेतन एव गम्यते न घटादिरचेतनस्तद्वदलोकेनापि लोकानुरूपेणेति, आह च—"लोगस्सऽत्थि विवक्खो सुद्धत्तणओ घडस्स अघडोव्व । [ प्रेरकः ] स घडादी चेव मती [ गुरुः ] न निसेहाओ तदणुरूवो ॥ १ ॥" त्ति ॥ लोकालोकयोश्च विभागकरणं धर्मास्तिकायोऽतस्तत्स्वरूपमाह—

एगे धम्मे (सू० ७) एगे अधम्मे (सू० ८) एगे बंधे (सू० ९) एगे मोक्खे (सू० १०) एगे पुण्णे (सू० ११) एगे पावे (सू० १२) एगे आसवे (सू० १३) एगे संवरे (सू० १४) एगा वेयणा (सू० १५) एगा निज्जरा (सू० १६) ॥ १ ॥

एकः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्यातप्रदेशात्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात्, जीवपुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे सति गतिपरिणतानां तत्स्वभावधारणाद् धर्म्मः, स चास्तीनां–प्रदेशानां सङ्घातात्मकत्वात् कायोऽस्तिकाय इति ॥ धर्मस्यापि विपक्षस्वरूपमाह—'एगे अधम्मे' एको द्रव्यत एव न धर्म्मोऽधर्म्मः अधर्म्मास्तिकाय इत्यर्थः, धर्म्मो हि जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी, अयं तु तद्विपरीतत्वात् स्थित्युपष्टम्भकारीति, ननु धर्म्मास्तिकायाधर्मास्तिकाययोः कथमस्तित्वावगमः ?, प्रमाणादिति ब्रूमः, तच्चेदम्–इह गतिः स्थितिश्च सकललोकप्रसिद्धं कार्यं, कार्यं च परिणाम्यपेक्षाकारणायत्तात्मलाभं वर्त्तते, घटादिकार्येषु तथादर्शनात्, तथा च मृत्पिण्डभावेऽपि दिग्देशकालाकाशप्रकाशाद्यपेक्षाकारणमन्तरेण न घटो भवति यदि स्यात् मृत्पिण्डमात्रादेव स्यात् न च भवति, गतिस्थिती अपि जीवपुद्गलाख्यपरिणामिकारणभावेऽपि

१ लोकस्यास्ति विपक्षः शुद्ध( पद )त्वात् घटस्याघट इव । स घटादिरेव मतिः न निषेधात् तदनुरूपः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-१६]

दीप अनुक्रम [७-१६]



नापेक्षाकारणमन्तरेण भवितुमर्हतः दृश्यते च तद्भावोऽतस्तत्सत्ता गम्यते यच्चापेक्षाकारणं स धर्मोऽधर्मश्चेति भावार्थः, गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायो, मत्स्यानामिव जलं, तथा स्थितिपरिणामपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भकोऽधर्मास्तिकायो, मत्स्यादीनामिव मेदिनी, विवक्षया जलं वा, प्रयोगश्च–गतिस्थिती अपेक्षाकारणवत्यौ, कार्यत्वात्, घटवत्, विपक्षस्त्रैलोक्यशुषिरमभावो वेति, किञ्च–अलोकाभ्युपगमे सति धर्माधर्माभ्यां लोकपरिमाणकारिभ्यामवश्यं भवितव्यम्, अन्यथाऽऽकाशसाम्ये सति लोकोऽलोको वेति विशेषो न स्यात्, तथा चाविशिष्ट एवाकाशे गतिमतामात्मनां पुद्गलानाञ्च प्रतिघाताभावादनवस्थानम्, अतः सम्बन्धाभावात् सुखदुःखबन्धादिसंव्यवहारो न स्यादिति, उक्तञ्च—"तम्हा धम्माधम्मा लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता। इहराऽऽगासे तुल्ले लोगोऽलोगोत्ति को भेओ? ॥ १ ॥ लोगविभागाभावे पडिघाताभावओऽणवत्थाओ। संववहाराभावो संबंधाभावओ होज्जा ॥ २ ॥" इति। आत्मा च लोकवृत्तिर्धर्माधर्मास्तिकायोपगृहीतः सदण्डः सक्रियश्च कर्मणा बध्यत इति बन्धनिरूपणायाह–'एगे बंधे' बन्धनं बन्धः, सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यत् स बन्ध इति भावः, स च प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावविभेदात् चतुर्विधोऽपि बन्धसामान्यादेकः, मुक्तस्य सतः पुनर्बन्धाभावाद्वा एको बन्ध इति, अथवा द्रव्यतो बन्धो निगडादिभिर्भावतः कर्मणा तयोश्च बन्धनसामान्यादेको बन्ध इति, ननु बन्धो जीवकर्मणोः

१ तस्मात् धर्माधर्मौ लोकपरिच्छेदकारिणौ युक्तौ। इतरथाऽऽकाशे तुल्ये लोकोऽलोक इति को भेदः? ॥ १ ॥ लोकविभागाभावे प्रतिघाताभावतोऽनवस्थानात्। संव्यवहाराभावः संबन्धाभावतो भवेत् ॥ २ ॥ २ सदण्डाद्यपेक्षया.





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्ष, पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या

संयोगोऽभिप्रेतः, स खल्वादिमानादिरहितो वा स्यादिति कल्पनाद्वयं, तत्र यद्यादिमानिति पक्षस्तदा किं पूर्वमात्मा पश्चात् कर्म्म अथ पूर्वं कर्म्म पश्चादात्मा उत युगपत्कर्मात्मानौ संप्रसूयेतामिति त्रयो विकल्पाः, तत्र न तावत् पूर्वमात्मसंभूतिः सम्भाव्यते, निर्हेतुकत्वात्, खरविषाणवत्, अकारणप्रसूतस्य च अकारणत एवोपरमः स्याद्, अथानादिरेव आत्मा तथाप्यकारणत्वान्नास्य कर्मणा योग उपपद्यते नभोवत्, अथाकारणोऽपि कर्मणा योगः स्यात् तर्हि स मुक्तस्यापि स्यादिति, अथासावात्मा नित्यमुक्त एव तर्हि किं मोक्षजिज्ञासया ?, बन्धाभावे च मुक्तव्यपदेशाभाव एव, आकाशवदिति, नापि कर्मणः प्राक् प्रसूतिरिति द्वितीयो विकल्पः सङ्गच्छते, कर्त्तुरभावात्, न चाक्रियमाणस्य कर्मव्यपदेशोऽभिमतः, अकारणप्रसूतेश्चाकारणत एवोपरमः स्यादिति, युगपदुत्पत्तिलक्षणस्तृतीयपक्षोऽपि न क्षमः, अकारणत्वादेव, न च युगपदुत्पत्तौ सत्यामयं कर्त्ता कर्म्मेदमिति व्यपदेशो युक्तरूपः, सव्येतरगोविषाणवदिति, अथादिरहितो जीवकर्मयोग इति पक्षः, ततश्चानादित्वादेव नात्मकर्मवियोगः स्यात्, आत्माऽऽकाशसंयोगवदिति, अत्रोच्यते, आदिमत्संयोगपक्षदोषा अनभ्युपगमादेव निरस्ताः, यच्चादिरहितजीवकर्मयोगेऽभिधीयते 'अनादित्वान्नात्मकर्म्मवियोग' इति, तदयुक्तम्, अनादित्वेऽपि संयोगस्य वियोगोपलब्धेः, काञ्चनोपलयोरिवेति, यदाह—"जह वेह कंचणोवलसंजोगोऽणाइसंतइगओऽवि । वोच्छिज्जइ सोवायं तह जोगो जीवकम्माणं ॥ १ ॥"ति, तथा अनादेरपि सन्तानस्य विनाशो

१ नभोऽङ्गिरोमनुषां वेति संज्ञाविषयं छन्दोविषयं वा, भाष्यप्रदीपेऽत एवोक्तं उपसंख्यानान्येतानि छन्दोविषयाणीत्याहुरिति. २ यथा वेह काञ्चनोपलसंयोगोऽनादिसंततिगतोऽपि व्युच्छिद्यते सोपायं तथा योगो जीवकर्मणोः ॥ १ ॥

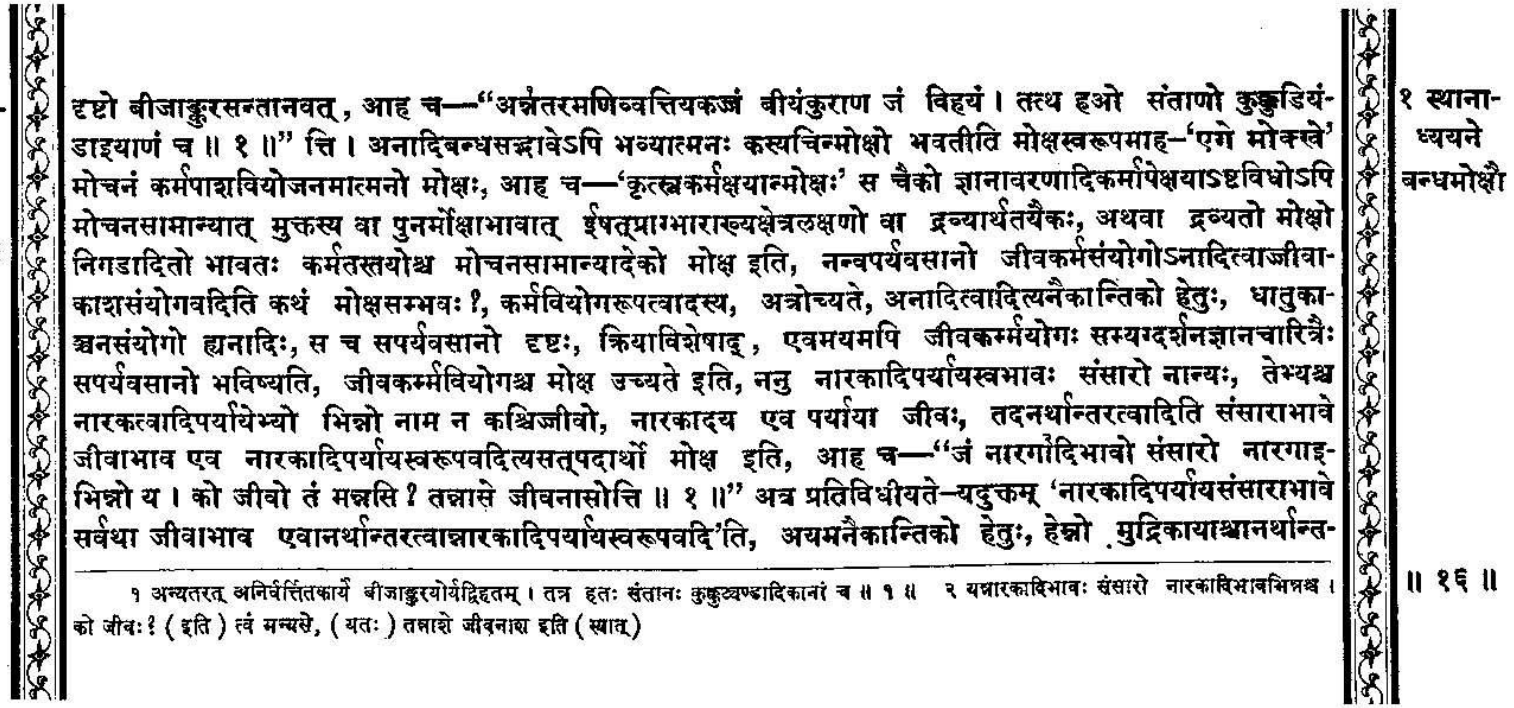

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


"बन्ध, मोक्ष, पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-१६]

दीप अनुक्रम [७-१६]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १६ ॥

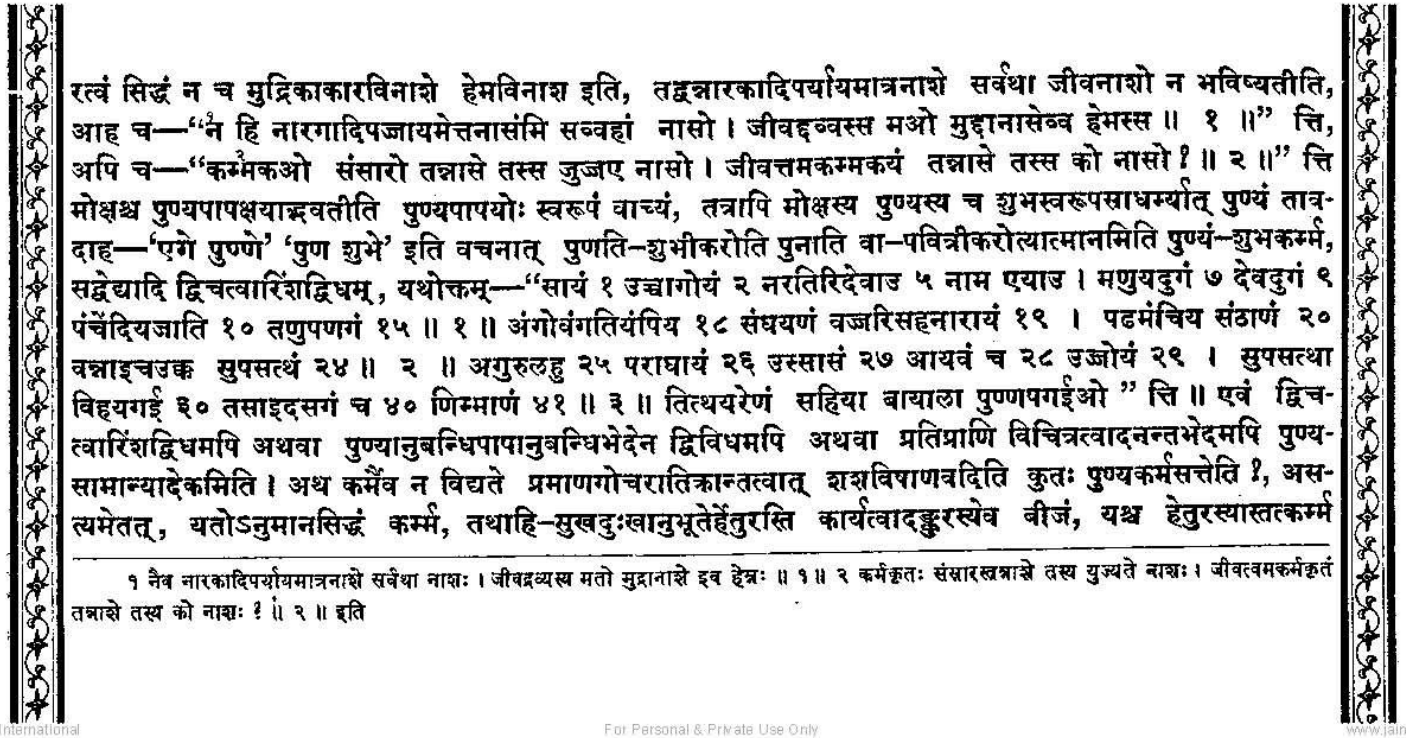
दृष्टो बीजाङ्कुरसन्तानवत्, आह च—"अन्नंतरमणिव्वत्तियकज्जं बीयंकुराण जं विहयं। तत्थ हओ संताणो कुक्कुडियंडाइयाणं च ॥ १ ॥" त्ति। अनादिबन्धसद्भावेऽपि भव्यात्मनः कस्यचिन्मोक्षो भवतीति मोक्षस्वरूपमाह–'एगे मोक्खे' मोचनं कर्मपाशवियोजनमात्मनो मोक्षः, आह च—'कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः' स चैको ज्ञानावरणादिकर्मापेक्षयाऽष्टविधोऽपि मोचनसामान्यात् मुक्तस्य वा पुनर्मोक्षाभावात् ईषत्प्राग्भाराख्यक्षेत्रलक्षणो वा द्रव्यार्थतयैकः, अथवा द्रव्यतो मोक्षो निगडादितो भावतः कर्मतस्तयोश्च मोचनसामान्यादेको मोक्ष इति, नन्वपर्यवसानो जीवकर्मसंयोगोऽनादित्वाज्जीवाकाशसंयोगवदिति कथं मोक्षसम्भवः?, कर्मवियोगरूपत्वादस्य, अत्रोच्यते, अनादित्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, धातुकाञ्चनसंयोगो ह्यनादिः, स च सपर्यवसानो दृष्टः, क्रियाविशेषाद्, एवमयमपि जीवकर्म्मयोगः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः सपर्यवसानो भविष्यति, जीवकर्म्मवियोगश्च मोक्ष उच्यते इति, ननु नारकादिपर्यायस्वभावः संसारो नान्यः, तेभ्यश्च नारकत्वादिपर्यायेभ्यो भिन्नो नाम न कश्चिज्जीवो, नारकादय एव पर्याया जीवः, तदनर्थान्तरत्वादिति संसाराभावे जीवाभाव एव नारकादिपर्यायस्वरूपवदित्यसत्पदार्थो मोक्ष इति, आह च—"जं नारगादिभावो संसारो नारगाइभिन्नो य। को जीवो तं मन्नसि? तन्नासे जीवनासोत्ति ॥ १ ॥" अत्र प्रतिविधीयते–यदुक्तम् 'नारकादिपर्यायसंसाराभावे सर्वथा जीवाभाव एवानर्थान्तरत्वान्नारकादिपर्यायस्वरूपवदि'ति, अयमनैकान्तिको हेतुः, हेम्नो मुद्रिकायाश्चानर्थान्त-

१ अन्यतरत् अनिर्वर्त्तितकार्यं बीजाङ्कुरयोर्यद्विहतम्। तत्र हतः संतानः कुक्कुट्यण्डादिकानां च ॥ १ ॥ २ यन्नारकादिभावः संसारो नारकादिभावभिन्नश्च। को जीवः? (इति) त्वं मन्यसे, (यतः) तन्नाशे जीवनाश इति (स्यात्)

१ स्थानाध्ययने बन्धमोक्षौ ॥ १६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"मोक्ष, पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या



रत्वं सिद्धं न च मुद्रिकाकारविनाशे हेमविनाश इति, तद्वन्नारकादिपर्यायमात्रनाशे सर्वथा जीवनाशो न भविष्यतीति, आह च—"[1]न हि नारगादिपज्जायमेत्तनासंमि सव्वहा नासो। जीवद्दव्वस्स मओ मुद्दानासेव्व हेमस्स ॥ १ ॥" त्ति, अपि च—"[2]कम्मकओ संसारो तन्नासे तस्स जुज्जए नासो। जीवत्तमकम्मकयं तन्नासे तस्स को नासो? ॥ २ ॥" त्ति मोक्षश्च पुण्यपापक्षयाद्भवतीति पुण्यपापयोः स्वरूपं वाच्यं, तत्रापि मोक्षस्य पुण्यस्य च शुभस्वरूपसाधर्म्यात् पुण्यं तावदाह—'एगे पुण्णे' 'पुण शुभे' इति वचनात् पुणति—शुभीकरोति पुनाति वा—पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यं—शुभकर्म्म, सद्वेद्यादि द्विचत्वारिंशद्विधम्, यथोक्तम्—"सायं १ उच्चागोयं २ नरतिरिदेवाउ ५ नाम एयाउ। मणुयदुगं ७ देवदुगं ९ पंचेंदियजाति १० तणुपणगं १५ ॥ १ ॥ अंगोवंगतियंपिय १८ संघयणं वज्जरिसहनारायं १९ । पढमंचिय संठाणं २० वन्नाइचउक्क सुपसत्थं २४ ॥ २ ॥ अगुरुलहु २५ पराघायं २६ उस्सासं २७ आयवं च २८ उज्जोयं २९ । सुपसत्था विहयगई ३० तसाइदसगं च ४० णिम्माणं ४१ ॥ ३ ॥ तित्थयरेणं सहिया बायाला पुण्णपगईओ" त्ति ॥ एवं द्विचत्वारिंशद्विधमपि अथवा पुण्यानुबन्धिपापानुबन्धिभेदेन द्विविधमपि अथवा प्रतिप्राणि विचित्रत्वादनन्तभेदमपि पुण्यसामान्यादेकमिति। अथ कर्मैव न विद्यते प्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वात् शशविषाणवदिति कुतः पुण्यकर्मसत्तेति?, असत्यमेतत्, यतोऽनुमानसिद्धं कर्म्म, तथाहि—सुखदुःखानुभूतेर्हेतुरस्ति कार्यत्वादङ्कुरस्येव बीजं, यश्च हेतुरस्यास्तत्कर्म

१ नैव नारकादिपर्यायमात्रनाशे सर्वथा नाशः। जीवद्द्रव्यस्य मतो मुद्रानाशे इव हेम्नः ॥ १ ॥ २ कर्मकृतः संसारस्तन्नाशे तस्य युज्यते नाशः। जीवत्वमकर्मकृतं तन्नाशे तस्य को नाशः? ॥ २ ॥ इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | "मोक्ष, पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या |

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-१६]

दीप अनुक्रम [७-१६]



॥ १७ ॥

तस्मादस्ति कर्म्मेति, स्यान्मतिः–सुखदुःखानुभूतेर्दृष्ट एव हेतुरिष्टानिष्टविषयप्राप्तिमयो भविष्यति, किमिह कर्म्मपरिकल्पनया ?, न हि दृष्टं निमित्तमपास्य निमित्तान्तरान्वेषणं युक्तरूपमिति, नैवं, व्यभिचारात्, इह यो हि द्वयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य तत्फले विशेषो–दुःखानुभूतिमयो यश्चानिष्टसाधनसमेतयोरेकस्य तत्फले विशेषः सुखानुभूतिमयो नासौ हेतुमन्तरेण सम्भाव्यते, न च तद्धेतुक एवासौ युक्तः, साधनानां विपर्यासादिति पारिशेष्याद्विशिष्टहेतुमानसौ, कार्यत्वात्, घटवत्, यश्च समानसाधनसमेतयोस्तत्फलविशेषहेतुस्तत् कर्म्म, तस्मादस्ति कर्म्मेति, आह च—"जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो न सो विणा हेउं। कज्जत्तणओ गोयम! घडो व्व हेऊ य से कम्मं ॥ १ ॥" ति, किञ्च–अन्यदेहपूर्वकमिदं बालशरीरं, इन्द्रियादिमत्त्वात्, यदिहेन्द्रियादिमत्तदन्यदेहपूर्वकं दृष्टं, यथा बालदेहपूर्वकं युवशरीरम्, इन्द्रियादिमच्चेदं बालशरीरकं तस्मादन्यशरीरपूर्वकं, यच्छरीरपूर्वकं चेदं बालकशरीरं तत्कर्म, तस्मादस्ति कर्म्मेति, आह च—"बालसरीरं देहंतरपुव्वं इंदियाइमत्ताओ। जह बालदेहपुव्वो जुवदेहो पुव्वमिह कम्मं ॥ १ ॥" ति, ननु कर्म्मसद्भावेऽपि पापमेवैकं विद्यते पदार्थो न पुण्यं नामास्ति, यत्तु पुण्यफलं सुखमुच्यते तत्पापस्यैव तरतमयोगादपकृष्टस्य फलं, यतः पापस्य परमोत्कर्षेऽत्यन्ताधमफलता, तस्यैव च तरतमयोगापकर्षभिन्नस्य मात्रापरिवृद्धिहान्या यावत् प्रकृष्टोऽपकर्षस्तत्र या काचित्पापमात्रा अवतिष्ठते तस्यामत्यन्तं शुभफलता पापापकर्षात्, तस्यैव च पापस्य सर्वा-

१ तुल्यसाधनयोः फले विशेषः स न विना हेतुम्। कार्यत्वात् गौतम! घट इव हेतुश्च तस्य कर्म ॥ १ ॥ २ बालशरीरं देहान्तरपूर्वं इन्द्रियादिमत्त्वात्। यथा बालदेहपूर्वो युवदेहः पूर्वमिह कर्म ॥ १ ॥



॥ १७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या

त्मना क्षयो मोक्षः, यथाऽत्यन्तापथ्याहारसेवनादनारोग्यम्, तस्यैवापथ्यस्य किञ्चित्किञ्चिदपकर्षात् यावत् स्तोकापथ्याहारत्वमारोग्यकरं, सर्वाहारपरित्यागाच्च प्राणमोक्ष इति, आह च—"पावुक्करिसेऽधमया तरतमजोगाऽवकरिसओ सुभया । तस्सेव खए मोक्खो अपत्थभत्तोवमाणाओ ॥१॥" त्ति, अत्रोच्यते, यदुक्तम्—'अत्यन्तापचितात् पापात् सुखप्रकर्ष' इति, तदयुक्तम्, यतो येयं सुखप्रकर्षानुभूतिः सा स्वानुरूपकर्मप्रकर्षजनिता, प्रकर्षानुभूतित्वात्, दुःखप्रकर्षानुभूतिवत्, यथा हि दुःखप्रकर्षानुभूतिः स्वानुरूपपापकर्म्मप्रकर्षजनितेति त्वयाऽभ्युपगम्यते तथेयमपि सुखप्रकर्षानुभूतिः (प्रकर्षानुभूतिरिति)स्वानुरूपपुण्यकर्मप्रकर्षजनिता भविष्यतीति प्रमाणफलमिति। पुण्यप्रतिपक्षभूतं पापमिति तत्स्वरूपमाह—'एगे पावे' पाशयति—गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्, तच्च ज्ञानावरणादि द्व्यशीतिभेदम्, यदाऽऽह—"नाणंतरायदसगं १० दंसण णव १९ मोहणीयछव्वीसं ४५। अस्सायं ४६ निरयाऊ ४७ नीयागोएण अडयाला ४८ ॥ १ ॥ निरयदुगं २ तिरियदुगं ४ जाइचउक्कं च ८ पंच संघयणा १३। संठाणाविय पंच उ १८ वन्नाइ चउक्कमपसत्थं २२ ॥ २ ॥ उवघाय २३ कुविहयगई २४ थावरदसगेण होंति चोत्तीसं ३४। सव्वाओ मिलिआओ बासीती पावपगईओ ८२ ॥३॥" तदेवं द्व्यशीतिभेदमपि पुण्यानुबन्धिपापानुबन्धिभेदाद् द्विविधमपि वा अनन्तसत्त्वाश्रितत्वादनन्तमपि वाऽशुभसामान्यादेकमिति । ननु कर्म्मसत्त्वेऽपि पुण्यमेवैकं कर्म्म न तत्प्रतिपक्षभूतं पापं कर्मास्ति, शुभाशुभफलानां पुण्यादेव सिद्धेरिति, तथाहि—यत्परमप्रकृष्टं शुभफलमेतत् पुण्योत्कर्षस्य कार्यं, यत्पुनस्तस्मादवकृष्टमवकृष्टतरमवकृष्टतमं च तत्पु-

१ पापोत्कर्षेऽधमता तरतमयोगाद् अपकर्षतः शुभता । तस्यैव क्षये मोक्षः अपथ्यभक्तोपमानात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | "पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या |

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-१६]

दीप अनुक्रम [७-१६]



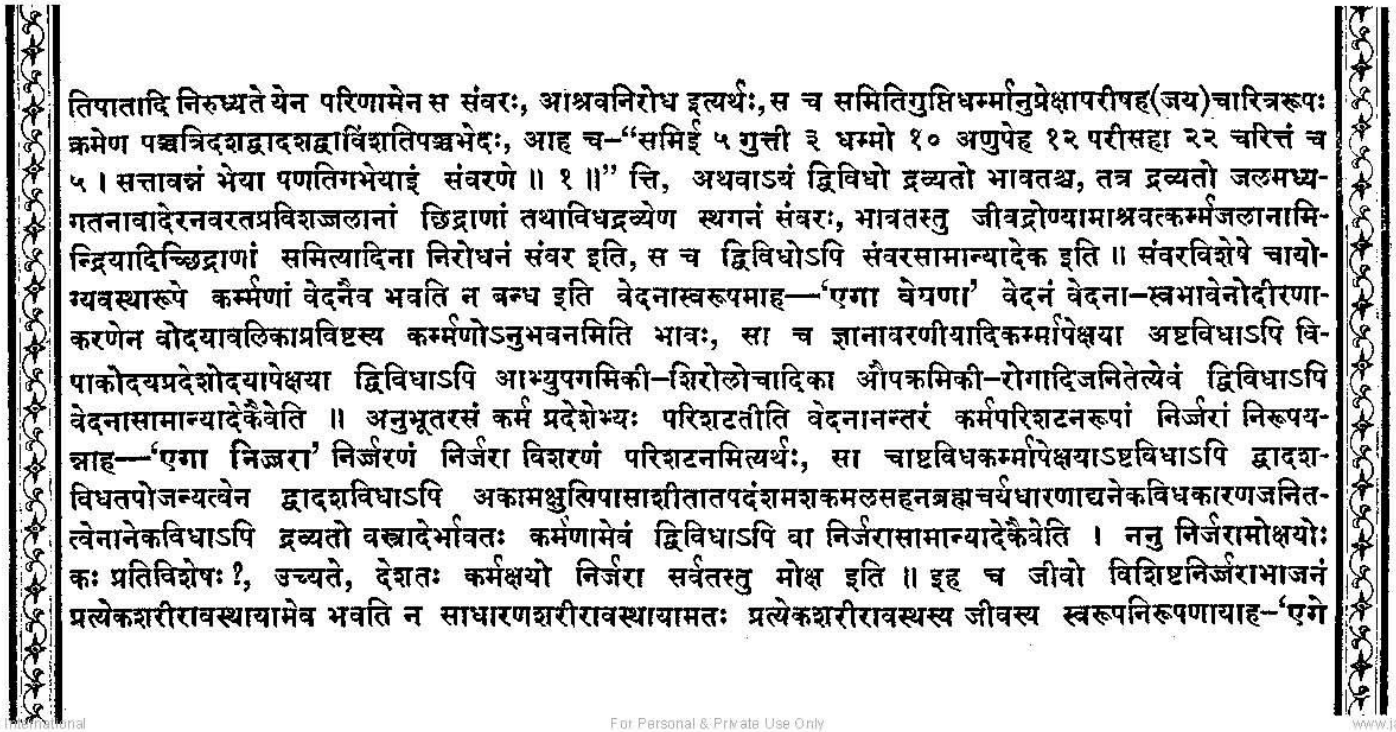


ण्यस्यैव तरतमयोगापकर्षभिन्नस्य यावत्परमप्रकर्षहानिः, परमप्रकर्षहीनस्य च पुण्यस्य परमावकृष्टतमं शुभफलं–या काचित् शुभमात्रेत्यर्थः–दुःखप्रकर्ष इति तात्पर्यं, तस्यैव च परमावकृष्टपुण्यस्य सर्वात्मना क्षये पुण्यात्मकबन्धाभावान्मोक्ष इति, यथा अत्यन्तपथ्याहारसेवनात् पुंसः परमारोग्यसुखं, तस्यैव च किञ्चित्[२]पथ्याहारविवर्जनादपथ्याहारपरिवृद्धेरारोग्यसुखहानिः, सर्वथैवाहारपरिवर्जनात् प्राणमोक्ष इति, पथ्याहारोपमानं चेह पुण्यमिति, अत्रोच्यते, येयं दुःखप्रकर्षानुभूतिः सा स्वानुरूपकर्म्मप्रकर्षप्रभवा, प्रकर्षानुभूतित्वात्, सौख्यप्रकर्षानुभूतिवत्, यथा हि सौख्यप्रकर्षानुभूतिः स्वानुरूपपुण्यकर्मप्रकर्षजनितेति त्वयाऽभ्युपगम्यते तथेयमपि दुःखप्रकर्षानुभूतिः (प्रकर्षानुभूतित्वात्) स्वानुरूपपापकर्मप्रकर्षजनिता भविष्यतीति प्रमाणफलमिति, आह च—"कम्मप्पगरिसजणियं तदवस्सं पगरिसाणुभूइओ । सोक्खप्पगरिसभूई जह पुण्णप्पगरिसप्पभवा ॥१॥" इति, 'तदि'ति दुःखमिति । इदानीमनन्तरोक्तयोः पुण्यपापकर्मणोर्बन्धकारणनिरूपणायाह–'एगे आसवे' आश्रवन्ति–प्रविशन्ति येन कर्म्माण्यात्मनीत्याश्रवः, कर्म्मबन्धहेतुरिति भावः, स चेन्द्रियकषायाव्रतक्रियायोगरूपः क्रमेण पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतित्रिभेदः, उक्तञ्च—"इंदिय ५ कसाय ४ अव्वय ५ किरिया २५ पणचउरपंचपणुवीसा । जोगा तिन्नेव भवे आसवभेया उ बायाला ॥ १ ॥" इति, तदेवमयं द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गतनावादौ तथाविधैश्छिद्रैर्जलप्रवेशनं भावाश्रवस्तु यज्जीवनावीन्द्रियादिच्छिद्रतः कर्मजलसञ्चय इति, स चाश्रवसामान्यादेक एवेति ॥ अथाश्रवप्रतिपक्षभूतसंवरस्वरूपमाह–'एगे संवरे' संव्रियते–कर्मकारणं प्राणा-

१ कर्मप्रकर्षजनितं तद् ( दुःखं ) अवश्यं प्रकर्षानुभूतेः । सौख्यप्रकर्षानुभूतिर्यथा पुण्यप्रकर्षप्रभवा ॥ १ ॥ २ तथाविधपरिणामेन छिद्रै०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | "पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या |



तिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः, आश्रवनिरोध इत्यर्थः, स च समितिगुप्तिधर्म्मानुप्रेक्षापरीषह(जय)चारित्ररूपः क्रमेण पञ्चत्रिदशद्वादशद्वाविंशतिपञ्चभेदः, आह च–"समिई ५ गुत्ती ३ धम्मो १० अणुपेह १२ परीसहा २२ चरित्तं च ५। सत्तावन्नं भेया पणतिगभेयाइं संवरणे ॥ १ ॥" त्ति, अथवाऽयं द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलानां छिद्राणां तथाविधद्रव्येण स्थगनं संवरः, भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्म्मजलानामिन्द्रियादिच्छिद्राणां समित्यादिना निरोधनं संवर इति, स च द्विविधोऽपि संवरसामान्यादेक इति ॥ संवरविशेषे चायोग्यवस्थारूपे कर्म्मणां वेदनैव भवति न बन्ध इति वेदनास्वरूपमाह—'एगा वेयणा' वेदनं वेदना–स्वभावेनोदीरणाकरणेन वोदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्म्मणोऽनुभवनमिति भावः, सा च ज्ञानावरणीयादिकर्म्मापेक्षया अष्टविधाऽपि विपाकोदयप्रदेशोदयापेक्षया द्विविधाऽपि आभ्युपगमिकी–शिरोलोचादिका औपक्रमिकी–रोगादिजनितेत्येवं द्विविधाऽपि वेदनासामान्यादेकैवेति ॥ अनुभूतरसं कर्म प्रदेशेभ्यः परिशटतीति वेदनानन्तरं कर्मपरिशटनरूपां निर्जरां निरूपयन्नाह—'एगा निज्जरा' निर्जरणं निर्जरा विशरणं परिशटनमित्यर्थः, सा चाष्टविधकर्म्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि द्वादशविधतपोजन्यत्वेन द्वादशविधाऽपि अकामक्षुत्पिपासाशीतातपदंशमशकमलसहनब्रह्मचर्यधारणाद्यनेकविधकारणजनितत्वेनानेकविधाऽपि द्रव्यतो वस्त्रादेर्भावतः कर्मणामेवं द्विविधाऽपि वा निर्जरासामान्यादेकैवेति । ननु निर्जरामोक्षयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, देशतः कर्मक्षयो निर्जरा सर्वतस्तु मोक्ष इति ॥ इह च जीवो विशिष्टनिर्जराभाजनं प्रत्येकशरीरावस्थायामेव भवति न साधारणशरीरावस्थायामतः प्रत्येकशरीरावस्थस्य जीवस्य स्वरूपनिरूपणायाह–'एगे

स्था० ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | "पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा" शब्दानाम व्याख्या |

जीवे' इत्यादि, अथवा उक्ताः सामान्यतः प्रस्तुतशास्त्रव्युत्पादनीया जीवादयो नव पदार्थाः, साम्प्रतं जीवपदार्थं विशेषेण प्ररूपयन्नाह—

एगे जीवे पाडिक्कएणं सरीरएणं ( सू० १७ ) एगा जीवाणं अपरिआइत्ता विगुव्वणा ( सू० १८ ) एगे मणे ( सू०१९) एगा वई ( सू० २० ) एगे कायवायामे ( सू० २१ ) एगा उप्पा ( सू० २२ ) एगा वियती ( सू० २३ ) एगा विय्या ( सू० २४ ) एगा गती ( सू० २५ ) एगा आगती ( सू० २६ ) एगे चयणे ( सू० २७ ) एगे उववाए ( सू० २८ ) एगा तक्का ( सू० २९ ) एगा सन्ना ( सू० ३० ) एगा मन्ना ( सू० ३१ ) एगा विन्नू ( सू० ३२ ) एगा वेयणा ( सू० ३३ ) एगा छेयणा ( सू० ३४ ) एगा भेयणा ( सू० ३५ ) एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं ( सू० ३६ ) एगे संसुद्धे अहाभूए पत्ते ( सू० ३७ ) एगदुक्खे जीवाणं एगभूए (सू० ३८) एगा अहम्मपडिमा जं से आया परिकिलेसति ( सू० ३९ ) एगा धम्मपडिमा जं से आया पज्जवजाए ( सू० ४० ) एगे मणे देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि ( सू० ४१ ) एगे उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसकारपरक्कमे देवासुरमणुयाणं तंसि २ समयंसि ( सू० ४२ ) एगे नाणे एगे दंसणे एगे चरित्ते ( सू० ४३ )

'एगे जीवे पाडिक्कएणं सरीरएणं' एकः–केवलो जीवितवान् जीवति जीविष्यति चेति जीवः–प्राणधारणधर्मा आत्मेत्यर्थः, एकं जीवं प्रति गतं यच्छरीरं प्रत्येकशरीरनामकर्मोदयात् तत्प्रत्येकं तदेव प्रत्येककं, दीर्घत्वादि प्राकृतत्वात्, तेन प्रत्येककेन शीर्यत इति शरीरं–देहः तदेवानुकम्पितादिधर्मोपेतं शरीरकं तेन लक्षितः तदाश्रित एको जीव इत्यर्थः,




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा णंकारौ वाक्यालङ्कारार्थौ, तत एको जीवः प्रत्येकके शरीरे वर्त्तत इति वाक्यार्थः स्यादिति, इह च 'पडिक्खएणं'ति क्वचित्पाठो दृश्यते, स च न व्याख्यातः, अनवबोधाद्, इह च वाचनानामनियतत्वात् सर्वासां व्याख्यातुमशक्यत्वात् काञ्चिदेव वाचनां व्याख्यास्याम इति ॥ इह बन्धमोक्षादय आत्मधर्म्मा अनन्तरमुक्तास्ततस्तदधिकारादेवातः परमात्मधर्म्मान् 'एगा जीवाणं इत्यादिना एगे चरित्ते' इत्येतदन्तेन ग्रन्थेनाह—'एगा जीवाणं अपरियाइत्ता विगुव्वणा' 'एगा जीवाणं' ति प्रतीतं 'अपरियाइत्त'त्ति अपर्यादाय परितः–समन्तादगृहीत्वा वैक्रियसमुद्घातेन बाह्यान् पुद्गलान् या विकुर्वणा भवधारणीयवैक्रियशरीररचनालक्षणा स्वस्मिन् २ उत्पत्तिस्थाने जीवैः क्रियते सा एकैव, प्रत्येकमेकत्वाद्भवधारणीयस्येति, सकलवैक्रियशरीरा[र्था]पेक्षया वा भवधारणीयस्यैकलक्षणत्वात् कथञ्चिदिति, या पुनर्बाह्यपुद्गलपर्यादानपूर्विका सोत्तरवैक्रियरचनालक्षणा, सा च विचित्राभिप्रायपूर्वकत्वाद् वैक्रियलब्धिमतस्तथाविधशक्तिमत्त्वाच्चैकजीवस्याप्यनेकापि स्यादिति पर्यवसितम्, अथ बाह्यपुद्गलोपादान एवोत्तरवैक्रियं भवतीति कुतोऽवसीयते ?, येनेह सूत्रे 'अपरियाइत्ता' इत्यनेन तद्विकुर्वणा व्यवच्छिद्यते इति चेत्, उच्यते, भगवतीवचनात्, तथाहि–"देवे णं भंते ! महिड्ढिए जाव महाणुभागे बाहिरए पोग्गलए अपरियाइत्ता पभू एगवन्नं एगरूवं विउव्वित्तए ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, देवे णं भंते ! बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ?, हंता पभू"त्ति, इह हि उत्तरवैक्रियं बाह्यपुद्गलादानाद् भवतीति विवक्षितमिति ॥ 'एगे मणे'त्ति मननं मनः–औदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो, मनोयोग इति भावः, मन्यते वाऽनेनेति मनो–मनोद्रव्यमात्रमेवेति, तच्च सत्यादिभेदादनेकमपि संज्ञिनां वा अ-

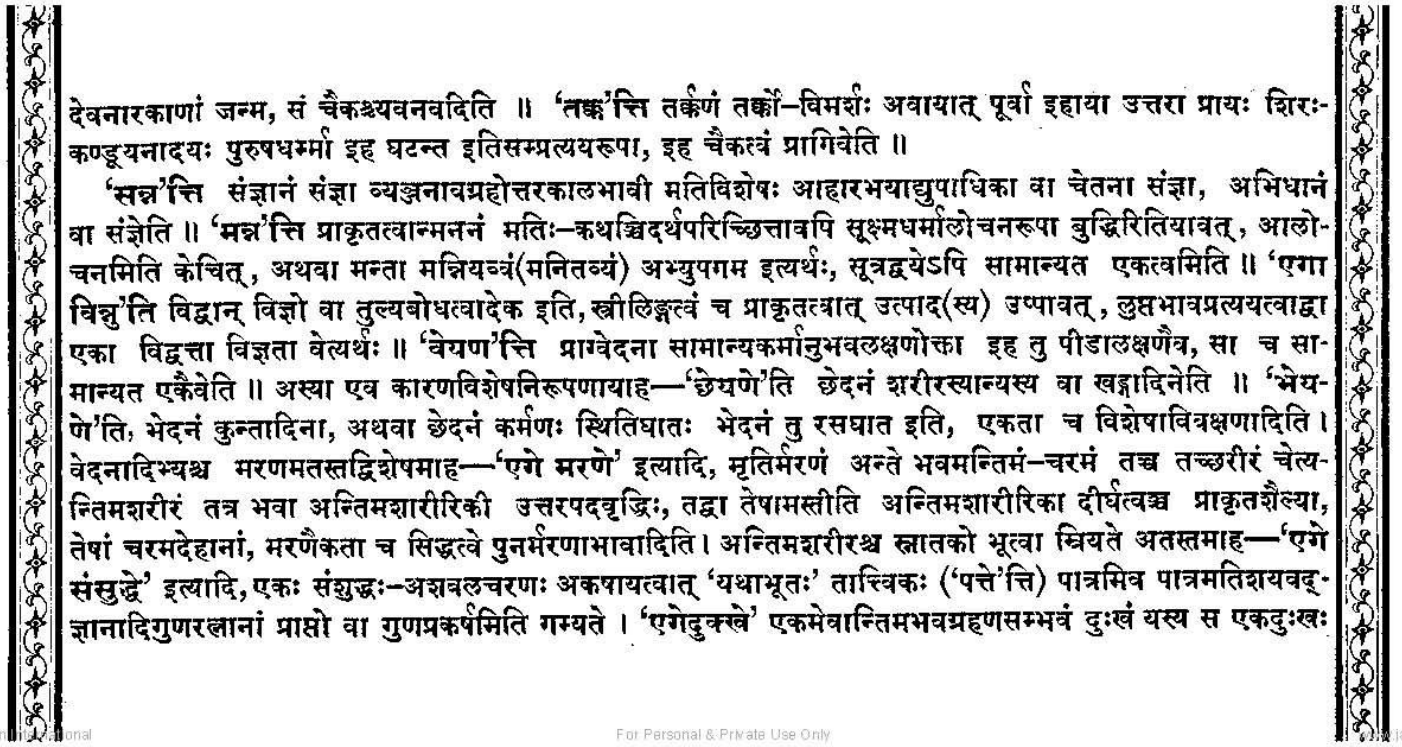
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सङ्ख्यातत्वादसङ्ख्यातभेदमप्येकं मननलक्षणत्वेन सर्वमनसामेकत्वादिति ॥ 'एगा वइ'त्ति वचनं वाक्–औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो, वाग्योग इति भावः, इयं च सत्यादिभेदादनेकाऽप्येकैव, सर्ववाचां वचनसामान्येऽन्तर्भावादिति ॥ 'एगे कायवायामे'त्ति चीयत इति कायः–शरीरं तस्य व्यायामो–व्यापारः कायव्यायामः औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेष इति भावः, स पुनरौदारिकादिभेदेन सप्तप्रकारोऽपि जीवानन्तत्वेनानन्तभेदोऽपि वा एक एव, कायव्यायामसामान्यादिति, यच्चैकस्यैकदा मनःप्रभृतीनामेकत्वं तत् सूत्र एव विशेषेण वक्ष्यति, 'एगे मणे देवासुरे'त्यादिनेति सामान्याश्रयमेवेहैकत्वं व्याख्यातमिति ॥ 'उप्प'त्ति प्राकृतत्वादुत्पादः, स चैक एकसमये एकपर्यायापेक्षया, न हि तस्य युगपदुत्पादद्वयादिरस्ति, अनपेक्षिततद्विशेषकपदार्थतया वैकोऽसाविति ॥ 'वियइ'त्ति विगतिर्विगमः, सा चैकोत्पादवदिति विकृतिर्विगतिरित्यादिव्याख्यान्तरमप्युचितमायोज्यम्, अस्माभिस्तु उत्पादसूत्रानुगुण्यतो व्याख्यातमिति । 'वियच्च'त्ति विगतेः प्रागुक्तत्वादिह विगतस्य विगमवतो जीवस्य मृतस्येत्यर्थः अर्चा–शरीरं विगतार्चा, प्राकृतत्वादिति, विवर्चा वा–विशिष्टोपपत्तिपद्धतिर्विशिष्टभूषा वा, सा चैका सामान्यादिति ॥ 'गइ'त्ति मरणानन्तरं मनुजत्वादेः सकाशान्नारकत्वादौ जीवस्य गमनं गतिः, सा चैकैकस्यैकैव ऋज्वादिका नरकगत्यादिका वा, पुद्गलस्य वा, स्थितिवैलक्षण्यमात्रतया वैकरूपा सर्वजीवपुद्गलानामिति ॥ 'आगइ'त्ति आगमनमागतिः–नारकत्वादेरेव प्रतिनिवृत्तिः, तदेकत्वं गतेरिवेति ॥ 'चयणे'ति च्युतिः च्यवनम्–वैमानिकज्योतिष्काणां मरणं, तदेकमेकजीवापेक्षया नानाजीवापेक्षया च पूर्ववदिति ॥ 'उववाए'त्ति, उपपतनमुपपातो–





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



देवनारकाणां जन्म, सं चैकश्च्यवनवदिति ॥ 'तक्क'त्ति तर्कणं तर्कः–विमर्शः अवायात् पूर्वा इहाया उत्तरा प्रायः शिरः-कण्डूयनादयः पुरुषधर्म्मा इह घटन्त इतिसम्प्रत्ययरूपा, इह चैकत्वं प्रागिवेति ॥

'सन्न'त्ति संज्ञानं संज्ञा व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेषः आहारभयाद्युपाधिका वा चेतना संज्ञा, अभिधानं वा संज्ञेति ॥ 'मन्न'त्ति प्राकृतत्वान्मननं मतिः–कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिरितियावत्, आलोचनमिति केचित्, अथवा मन्ता मन्नियव्वं(मनितव्यं) अभ्युपगम इत्यर्थः, सूत्रद्वयेऽपि सामान्यत एकत्वमिति ॥ 'एगा विन्नु'ति विद्वान् विज्ञो वा तुल्यबोधत्वादेक इति, स्त्रीलिङ्गत्वं च प्राकृतत्वात् उत्पाद(स्य) उप्पावत्, लुप्तभावप्रत्ययत्वाद्वा एका विद्वत्ता विज्ञता वेत्यर्थः ॥ 'वेयण'त्ति प्राग्वेदना सामान्यकर्मानुभवलक्षणोक्ता इह तु पीडालक्षणैव, सा च सामान्यत एकैवेति ॥ अस्या एव कारणविशेषनिरूपणायाह—'छेयणे'ति छेदनं शरीरस्यान्यस्य वा खड्गादिनेति ॥ 'भेयणे'ति, भेदनं कुन्तादिना, अथवा छेदनं कर्मणः स्थितिघातः भेदनं तु रसघात इति, एकता च विशेषाविवक्षणादिति। वेदनादिभ्यश्च मरणमतस्तद्विशेषमाह—'एगे मरणे' इत्यादि, मृतिर्मरणं अन्ते भवमन्तिमं–चरमं तच्च तच्छरीरं चेत्यन्तिमशरीरं तत्र भवा अन्तिमशारीरिकी उत्तरपदवृद्धिः, तद्वा तेषामस्तीति अन्तिमशारीरिका दीर्घत्वञ्च प्राकृतशैल्या, तेषां चरमदेहानां, मरणैकता च सिद्धत्वे पुनर्मरणाभावादिति। अन्तिमशरीरश्च स्नातको भूत्वा म्रियते अतस्तमाह—'एगे संसुद्धे' इत्यादि, एकः संशुद्धः–अशबलचरणः अकषायत्वात् 'यथाभूतः' तात्त्विकः ('पत्ते'त्ति) पात्रमिव पात्रमतिशयवद्-ज्ञानादिगुणरत्नानां प्राप्तो वा गुणप्रकर्षमिति गम्यते। 'एगेदुक्खे' एकमेवान्तिमभवग्रहणसम्भवं दुःखं यस्य स एकदुःखः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'एगहक्खे'त्ति पाठान्तरे त्वेकधैवाख्या–संशुद्धादिर्व्यपदेशो यस्य, न त्वसंशुद्धसंशुद्धासंशुद्ध इत्यादिकोऽपि, व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषायादेरभावादिति स भवत्येकधाख्यः, एकधा अक्षो वा–जीवो यस्य स तथेति, जीवानां–प्राणिनामेकभूतः–एक एव–आत्मोपम इत्यर्थः, एकान्तहितवृत्तित्वाद्, एकत्वं चास्य बहूनामपि समस्वभावत्वादिति, अथवा 'पत्ते' इत्यादि सूत्रान्तरं उक्तरूपसंशुद्धादन्येषां स्वरूपप्रतिपादनपरं, तत्र प्राकृतत्वात् प्रत्येकमेकं दुःखं प्रत्येकैकदुःखं जीवानां स्वकृतकर्म्मफलभोगित्वात्, किंभूतं तदित्याह–एकभूतमनन्यतया व्यवस्थितं प्राणिषु, न साङ्ख्यानामिव बाह्यमिति ॥ दुःखं पुनरधर्म्माभिनिवेशादिति तत्स्वरूपमाह—

'एगा अहम्मे'त्यादि, धारयति दुर्गतौ प्रपततो जीवान् धारयति–सुगतौ वा तान् स्थापयतीति धर्म्मः, उक्तञ्च—"दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म्म इति स्मृतः ॥ १ ॥" स च श्रुतचारित्रलक्षणः, तत्प्रतिपक्षस्त्वधर्म्मस्तद्विषया प्रतिमा–प्रतिज्ञा अधर्म्मप्रधानं शरीरं वा अधर्म्मप्रतिमा, सा चैका, सर्वस्याः परिक्लेशकारणतयैकरूपत्वाद्, अत एवाह—'जं से' इत्यादि, 'यत्' यस्मात् 'से' तस्याः स्वाम्यात्मा–जीवो अथवा 'से'त्ति सोऽधर्म्मप्रतिमावानात्मा परिक्लिश्यते–रागादिभिर्बाध्यते संक्लिश्यत इत्यर्थः, 'जंसी'ति पाठान्तरं वा, ततश्च प्राकृतत्वेन लिङ्गव्यत्ययात् यस्यामधर्म्मप्रतिमायां सत्यामात्मा परिक्लिश्यते सा च एकैवेति । एतद्विपर्ययमाह—'एगा धम्मे'त्यादि, प्राग्वन्नवरं पर्यवाः–ज्ञानादिविशेषा जाता यस्य स पर्यवजातो भवतीति शेषः, विशुध्यतीत्यर्थः, आहिताग्न्या-



॥ २१ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दित्वाच्च जातशब्दस्योत्तरपदत्वमिति, अथवा पर्यवान् पर्यवेषु वा यातः–प्राप्तः पर्यवयातोऽथवा पर्यवः–परिरक्षा परिज्ञानं वा शेषं तथैवेति ॥ धर्म्माधर्म्मप्रतिमे च योगत्रयाद्भवत इति तत्स्वरूपमाह—

'एगे मणे' इत्यादि सूत्रत्रयं, तत्र मन इति मनोयोगः, तच्च यस्मिन् २ समये विचार्यते तस्मिन् २ 'समये' कालविशेष एकमेव, वीप्सानिर्देशेन न क्वचनापि समये तद् द्व्यादिसंख्यं सम्भवतीत्याह, एकत्वं च तस्यैकोपयोगत्वात् जीवानां, स्यादेतत्–नैकोपयोगो जीवो, युगपच्छीतोष्णस्पर्शविषयसंवेदनद्वयदर्शनात्, तथाविधभिन्नविषयोपयोगपुरुषद्वयवत्, अत्रोच्यते, यदिदं शीतोष्णोपयोगद्वयं तत्स्वरूपेण भिन्नकालमपि समयमनसोरतिसूक्ष्मतया युगपदिव प्रतीयते, न पुनस्तद्युगपदेवेति, आह च—"[१]समयातिसुहुमयाओ मन्नसि जुगवं च भिन्नकालंपि । उप्पलदलसयवेहं व जह व तमलायचक्कंति ॥ १ ॥" यदि पुनरेकत्रोपयुक्तं मनोऽर्थान्तरमपि संवेदयति तदा किमन्यत्रगतचेताः पुरोऽवस्थितं हस्तिनमपि न विषयीकरोतीति, आह च—"[२]अन्नविणिउत्तमन्नं विणिओगं लहइ जइ मणो तेणं । हत्थिंपि ठियं पुरओ किमन्नचित्तो न लक्खेइ ? ॥ १ ॥"त्ति इह च बहुवक्तव्यमस्ति तत् स्थानान्तरादवसेयमिति, अथवा सत्यासत्योभयस्वभावानुभयरूपाणां चतुर्णां मनोयोगानामन्यतर एव भवत्येकदा, द्व्यादीनां विरोधेनासम्भवादिति, केषामित्याह—'देवासुरमणुयाणं'ति तत्र दीव्यन्ति इति देवाः–वैमानिकज्योतिष्कास्ते च न सुरा असुराः–भवनपतिव्यन्तरास्ते च मनो-

१ समयातिसौक्ष्म्यात् मन्यसे युगपच्च भिन्नकालमपि । उत्पलदलशतवेध इव यथा वा तदलातचक्रमिति ॥ १ ॥ २ अन्यविनियुक्तमन्यं विनियोगं लभते यदि मनस्तेन । हस्तिनमपि स्थितं पुरतः किमन्यचित्तो न लक्षयति ? ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता मनुजा–मनुष्यास्ते च देवासुरमनुजास्तेषां, तथा 'वागि'ति वाग्योगः, स चैषामेकदा एक एव, तथाविधमनोयोगपूर्वकत्वात् तथाविधवाग्योगस्य, सत्यादीनामन्यतरभावाद्वा, वक्ष्यति च—"[1]छहिं ठाणेहिं णत्थि जीवाणं इड्ढी इ वा जाव परक्कमे इ वा, तंजहा–जीवं वा अजीवं करणयाए १, अजीवं वा जीवं करणयाए २, एगसमएणं दो भासाओ भासित्तए" इति । तथा कायव्यायामः–काययोगः, स चैषामेकदा एक एव, सप्तानां काययोगानामेकदा एकतरस्यैव भावात्, ननु यदाहारकप्रयोक्ता भवति तदौदारिकस्यावस्थितस्य श्रूयमाणत्वात् कथमेकदा न काययोगद्वयमिति ?, अत्रोच्यते, सतोऽप्यौदारिकस्य व्यायामाभावादाहारकस्यैव च तत्र व्याप्रियमाणत्वाद्, अप्यौदारिकमपि तदा व्याप्रियते तर्हि मिश्रयोगता भविष्यति, केवलिसमुद्घाते सप्तमषष्ठद्वितीयसमयेष्वौदारिकमिश्रवत्, तथा चाहारकप्रयोक्ता न लभ्येत, एवं च सप्तविधकाययोगप्रतिपादनमनर्थकं स्यादित्येक एव कायव्यायाम इति, एवं कृतवैक्रियशरीरस्य चक्रवर्त्यादेरप्यौदारिकं निर्व्यापारमेव, व्यापारवच्चेत् उभयस्य व्यापारवत्त्वे केवलिसमुद्घातवन्मिश्रयोगतेत्येवमप्येकयोगत्वमव्याहतमेवेति, तथा काययोगस्याप्यौदारिकतया वैक्रियतया च क्रमेण व्याप्रियमाणत्वे आशुवृत्तितया मनोयोगवद्यदि यौगपद्यभ्रान्तिः स्यात् तदा को दोष इति, एवञ्च काययोगैकत्वे सत्यौदारिकादिकाययोगाहृतमनोद्रव्यवाग्द्रव्यसाचिव्यजातजीवव्यापाररूपत्वात् मनोयोगवाग्योगयोरेककाययोगपूर्वकतयाऽपि प्रागुक्तमेकत्वमवसेयमिति, अथवेदमेव वचनमत्र प्रमाणम्, आज्ञा-

१ स्थानाध्ययने एकयोगता

॥ २२ ॥

१ षड्भिः स्थानैर्नास्ति जीवानां ऋद्धिर्वा यावत्पराक्रम इति वा, तद्यथा—जीवं वाजीवकरणतायै अजीवं वा जीवकरणतायै एकसमयेन द्वे भाषे भाषितुं.


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्राह्यत्वात् अस्य, यतः—"आणागेज्झो अत्थो आणाए चेव सो कहेयव्वो । दिट्ठंता दिट्ठंतिअ कहणविहिविराहणा इह ॥ १ ॥" इति, दृष्टान्ताद्दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्यर्थः । ननु सामान्याश्रयैकत्वेनैव सूत्रं गमकं भविष्यतीति किमनेन विशेषव्याख्यानेनेति ?, उच्यते, नैवं, सामान्यैकत्वस्य पूर्वसूत्रैरेवाभिहितत्वादस्य पुनरुक्तत्वप्रसङ्गाद्, देवादिग्रहणसमयग्रहणयोश्च वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेति । इह च देवादिग्रहणं विशिष्टवैक्रियलब्धिसम्पन्नतयैषामनेकशरीररचने सत्येकदा मनोयोगादीनामनेकत्वं शरीरवद् भविष्यतीति प्रतिपत्तिनिरासार्थं, न तु तिर्यग्नारकाणां व्यवच्छेदार्थं, ननु तिर्यग्नारका अपि वैक्रियलब्धिमन्तस्तेषामपि विक्रियायां शरीरानेकत्वेन मनःप्रभृतीनामनेकत्वप्रतिपत्तिः सम्भाव्यत एवेति तद्ग्रहणमपि न्याय्यमिति, सत्यम्, किन्तु देवादीनां विशिष्टतरलब्धितया शरीराणामत्यन्तानेकतेति तद्ग्रहणं, तथा 'प्रधानग्रहण इतरग्रहणं भवती'ति न्यायाददोषो, नारकादिभ्यश्च देवादीनां प्रधानत्वं प्रतीतमेवेति, एतेषां च मनःप्रभृतीनां यथाप्राधान्यकृतः क्रमः, प्रधानत्वं च बहुल्पाल्पतरकर्मक्षयोपशमप्रभवलाभकृतमिति ॥ कायव्यायामस्यैव भेदानामेकतामाह—'एगे उट्ठाणे'त्यादि, उत्थानं च—चेष्टाविशेषः कर्म च—भ्रमणादिक्रिया बलं च—शरीरसामर्थ्यं वीर्यं च—जीवप्रभवं पुरुषकारश्च—अभिमानविशेषः पराक्रमश्च—पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भावः, एते च वीर्यान्तराय[क्षय]क्षयोपशमसमुत्था जीवपरिणामविशेषाः, एतेषु प्रत्येकमेकशब्दो योजनीयो, वीर्यान्तर[क्षय]क्षयोपशमवैचित्र्यतः प्रत्येकं जघन्यादिभेदैरनेकत्वेऽप्येषामेकजीवस्यैकदा [क्षय]क्षयोपशममात्राया एकविधत्वादेक एव ज-

१ आज्ञाग्राह्योऽर्थ आज्ञयैव स कथयितव्यः । दृष्टान्ताद्दार्ष्टान्तिकः कथनविधेरितरथा विराधना ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन्यादिरेतद्विशेषो भवति कारणमात्राधीनत्वात् कार्यमात्राया इति सूत्रभावार्थः, शेषं प्राग्वदिति ॥ पराक्रमादेश्च ज्ञानादिर्मोक्षमार्गोऽवाप्यते, यत आह—"अब्भुट्ठाणे विणये परक्कमे साहुसेवणाए य । सम्मद्दंसणलंभो विरयाविरइए विरइए ॥ १ ॥" इति, अतो ज्ञानादीनां निरूपणायाह—'एगे नाणे' इत्यादि, अथवा धर्मप्रतिमा प्रागुदिता सा च ज्ञानादिस्वभावेति ज्ञानादीन् निरूपयन्नाह—

ज्ञायन्ते—परिच्छिद्यन्तेऽर्था अनेनास्मिन्नस्माद्वेति ज्ञानं—ज्ञानदर्शनावरणयोः क्षयः क्षयोपशमो वा ज्ञातिर्वा ज्ञानम्—आवरणद्वयक्षयाद्याविर्भूत आत्मपर्यवविशेषः सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषांशग्रहणप्रवणः सामान्यांशग्राहकश्च ज्ञानपञ्चकाज्ञानत्रयदर्शनचतुष्टयरूपः, तच्चानेकमप्यवबोधसामान्यादेकमुपयोगापेक्षया वा, तथाहि—लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽप्युपयोगत एक एव सम्भवति, एकोपयोगत्वाज्जीवानामिति, ननु दर्शनस्य ज्ञानव्यपदेशत्वमयुक्तं, विषयभेदाद्, उक्तञ्च—"जं सामन्नग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं"[1]ति, अत्रोच्यते, ईहावग्रहौ हि दर्शनं, सामान्यग्राहकत्वाद्, अपायधारणे च ज्ञानं, विशेषग्राहकत्वाद्, अथचोभयमपि ज्ञानग्रहणेन गृहीतमागमे "[2]आभिनिबोहियनाणे अट्ठावीसं हवंति पयडीउ"[3]त्ति वचनात्, तस्मादवबोधसामान्यादर्शनस्यापि ज्ञानव्यपदेश्यत्वमविरुद्धमिति, ननु दर्शनं पृथगेवोपात्तमुत्तरसूत्रे तत्किमिह ज्ञानशब्देन दर्शनमपि व्यपदिष्टमिति?, अत्रोच्यते, तत्र हि दर्शनं श्रद्धानं

१ अभ्युत्थाने विनये पराक्रमे साधुसेवनायां च । सम्यग्दर्शनलाभो विरताविरतेर्विरतेश्च ॥ १ ॥ २ यत् सामान्यग्रहणं दर्शनमेतत् विशेषितं ज्ञानम्. ३ आभिनिबोधिकज्ञाने अष्टाविंशतिर्भवन्ति प्रकृतयः.



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षितं, ज्ञानादित्रयस्य सम्यक्शब्दलाञ्छितत्वे सति मोक्षमार्गत्वेन विवक्षितत्वात्, मोक्षमार्गभूतं चैतत्त्रयं श्रद्धानपर्यायेणैव दर्शनेन सहेति। 'एगे दंसणे'त्ति, दृश्यन्ते–श्रद्धीयन्ते पदार्था अनेनास्मादस्मिन् वेति दर्शनं–दर्शनमोहनीयस्य क्षयः क्षयोपशमो वा, दृष्टिर्वा दर्शनं–दर्शनमोहनीयक्षयाद्याविर्भूतस्तत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणामः, तच्चोपाधिभेदादनेकविधमपि श्रद्धानसाम्यादेकम्, एकजीवस्य वैकदा एकस्यैव भावादिति, नन्ववबोधसामान्याज्ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः?, उच्यते, रुचिः सम्यक्त्वं रुचिकारणं तु ज्ञानं, यथोक्तम्—"[1]नाणमवायधिईओ दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ। तह तत्तरुई सम्मं रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥१॥"ति, 'चरित्ते'त्ति चर्यते–मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति चर्यते वा गम्यते अनेन निर्वृताविति चरित्रं अथवा चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणाच्चरित्रं निरुक्तन्यायादिति–चारित्रमोहनीयक्षयाद्याविर्भूत आत्मनो विरतिरूपः परिणाम इति, तदेवं वक्ष्यमाणानां सामायिकादितद्भेदानां विरतिसामान्यान्तर्भावादेकस्यैवैकदा भावाद्वेति, एतेषां च ज्ञानादीनामयमेव क्रमो, यतो नाज्ञातं श्रद्धीयते नाश्रद्धत्तं सम्यगनुष्ठीयत इति। ज्ञानादीनि ह्युत्पत्तिविगतिस्थितिमन्ति, स्थितिश्च समयादिकेति समयं प्ररूपयन्नाह—

एगे समए (सू० ४४) एगे पएसे एगे परमाणू (सू० ४५) एगा सिद्धी। एगे सिद्धे। एगे परिनिव्वाणे। एगे परिनिव्वुए (सू० ४६)

**'एगे समए'** समयः–परमनिरुद्धकाल उत्पलपत्रशतव्यतिभेददृष्टान्ताज्जरत्पटसाटिकापाटनदृष्टान्ताद्वा समयप्रसिद्धा-

[1] ज्ञानमवायधृत्योर्दर्शनमिष्टं यथाऽवग्रहेहे। तथा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं रोच्यते येन तत् ज्ञानम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दवबोद्धव्यः, स चैक एव वर्त्तमानस्वरूपः, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाभावात्, अथवा असावेकः स्वरूपेण निरंशत्वादिति । निरंशवस्त्वधिकारादेवेदं सूत्रद्वयमाह—'एगे पएसे एगे परमाणू' प्रकृष्टो–निरंशो धर्म्माधर्म्माकाशजीवानां देशः–अवयवविशेषः प्रदेशः स चैकः स्वरूपतः सद्वितीयत्वादौ देशव्यपदेशत्वेन प्रदेशत्वाभावप्रसङ्गादिति । 'परमाणु'त्ति परमश्चासावात्यन्तिकोऽणुश्च सूक्ष्मः परमाणुः–द्व्यणुकादिस्कन्धानां कारणभूतः, आह च—"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" इति, स च स्वरूपतः एक एवान्यथा परमाणुरेवासौ न स्यादिति । अथवा समयादीनां प्रत्येकमनन्तानामपि तुल्यरूपापेक्षयैकत्वमिति । यथा परमाणोस्तथाविधैकत्वपरिणामविशेषादेकत्वं भवति तथा तत एवानन्ताणुमयस्कन्धस्यापि स्यादिति दर्शयन् सकलबादरस्कन्धप्रधानभूतमीषत्प्राग्भाराभिधानं पृथिवीस्कन्धं प्ररूपयन्नाह–'एगा सिद्धी' सिध्यन्ति–कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः, सा च यद्यपि लोकाग्रं, यत आह—"[1]इहं बुंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ"त्ति, तथापि तत्प्रत्यासत्त्येषत्प्राग्भाराऽपि तथा व्यपदिश्यते, आह च—"बारस[2]हिं जोयणेहिं सिद्धी सव्वट्ठसिद्धाउ"त्ति, यदि च लोकाग्रमेव सिद्धिः स्यात् तदा कथमेतदनन्तरमुक्तम्—"निम्म[3]लदगरयवण्णा तुसारगोक्खीरहारसरिवन्ने'त्यादि तत्स्वरूपवर्णनं घटते ?, लोकाग्रस्यामूर्त्तत्वादिति, तस्मादीषत्प्राग्भारा सिद्धिरिहोच्यते, सा चैका, द्रव्यार्थतया पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाणस्कन्धस्यैकपरिणामत्वात्, पर्यायार्थतया त्वनन्ता, अथवा कृतकृत्यत्वं लोकाग्रमणिमादिका वा सिद्धिः, एकत्वं च

१ इह तनुं त्यक्त्वा तत्र गत्वा सिध्यन्ति. २ द्वादशभिर्योजनैः सिद्धिः सर्वार्थसिद्धात्. ३ निर्मलदकरजोवर्णा तुषारगोक्षीरहारसदृशवर्णा.



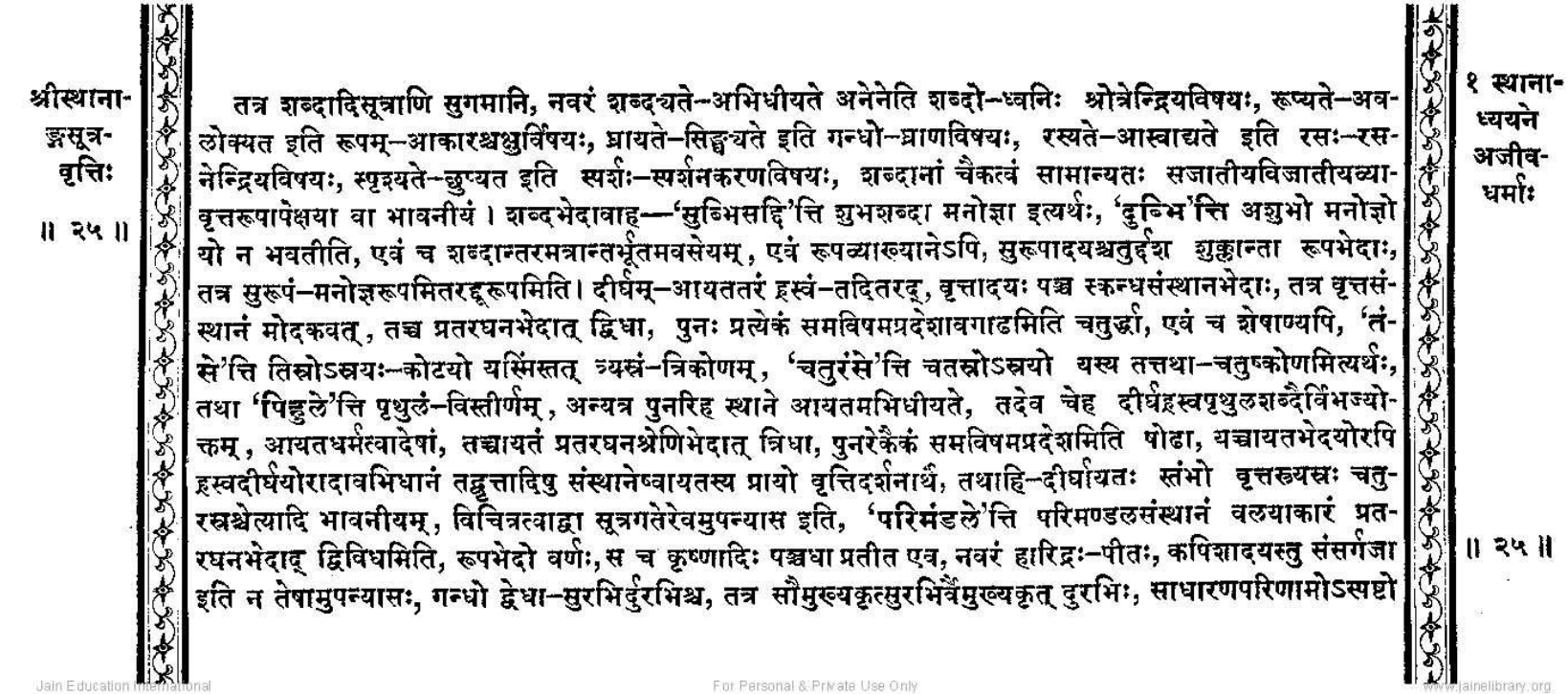

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यत इति । सिद्धेरनन्तरं सिद्धिमन्तमाह—'एगे सिद्धे' सिध्यति स्म–कृतकृत्योऽभवत् सेधति स्म वा–अगच्छत् अपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्धः, सितं वा–बद्धं कर्म्म ध्मातं–दग्धं यस्य स निरुक्तात् सिद्धः–कर्म्मप्रपञ्चनिर्मुक्तः, स च एको द्रव्यार्थतया, पर्यायार्थतस्त्वनन्तपर्याय इति, अथवा सिद्धानां अनन्तत्वेऽपि तत्सामान्यादेकत्वम्, अथवा कर्मशिल्पविद्यामन्त्रयोगागमार्थयात्राबुद्धितपःकर्म्मक्षयभेदेनानेकत्वेऽप्यस्यैकत्वं सिद्धशब्दाभिधेयत्वसाम्यादिति । कर्म्मक्षयसिद्धस्य च परिनिर्वाणं धर्म्मो भवतीति तदाह—'एगे परिनिव्वाणे' परि–समन्तान्निर्वाणं–सकलकर्म्मकृतविकारनिराकरणतः स्वस्थीभवनं परिनिर्व्वाणं तदेकम्, एकदा तस्य सम्भवे पुनरभावादिति । परिनिर्व्वाणधर्म्मयोगात् स एव कर्मक्षयसिद्धः परिनिर्वृत उच्यते इति तद्दर्शनायाह—'एगे परिनिव्वुए' परिनिर्वृतः सर्वतः शारीरमानसास्वास्थ्यविरहित इति भावः, तदेकत्वं सिद्धस्येव भावनीयमिति । तदेतावता ग्रन्थेनैते प्रायो जीवधर्म्मा एकतया निरूपिताः, इदानीं जीवोपग्राहकत्वात् पुद्गलानां तल्लक्षणाजीवधर्म्मा 'एगे सद्दे' इत्यादिना जाव लुक्खे' इत्येतदन्तेन ग्रन्थेनैकतयैव दर्श्यन्ते, पुद्गलादीनां तु सत्ता केषाञ्चिदनुमानतोऽवसीयते घटादिकार्योपलब्धेः केषाञ्चित्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षत इति ॥

एगे सद्दे । एगे रूवे । एगे गंधे । । एगे रसे । एगे फासे । एगे सुब्भिसद्दे । एगे दुब्भिसद्दे । एगे सुरूवे । एगे दुरूवे । एगे दीहे । एगे हस्से । एगे वट्टे । एगे तंसे । एगे चउरंसे । एगे पिहुले । एगे परिमंडले । एगे किण्हे । एगे णीले । एगे लोहिए । एगे हलिद्दे । एगे सुक्किले । एगे सुब्भिगंधे । एगे दुब्भिगंधे । एगे तित्ते । एगे कडुए । एगे कसाए । एगे अंबिले । एगे महुरे । एगे कक्खडे जाव लुक्खे (सू० ४७)

स्था० ५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org





तत्र शब्दादिसूत्राणि सुगमानि, नवरं शब्द्यते–अभिधीयते अनेनेति शब्दो–ध्वनिः श्रोत्रेन्द्रियविषयः, रूप्यते–अवलोक्यत इति रूपम्–आकारश्चक्षुर्विषयः, घ्रायते–सिङ्घ्यते इति गन्धो–घ्राणविषयः, रस्यते–आस्वाद्यते इति रसः–रसनेन्द्रियविषयः, स्पृश्यते–छुप्यत इति स्पर्शः–स्पर्शनकरणविषयः, शब्दानां चैकत्वं सामान्यतः सजातीयविजातीयव्यावृत्तरूपापेक्षया वा भावनीयं । शब्दभेदावाह—'सुब्भिसद्दि'त्ति शुभशब्दा मनोज्ञा इत्यर्थः, 'दुब्भि'त्ति अशुभो मनोज्ञो यो न भवतीति, एवं च शब्दान्तरमत्रान्तर्भूतमवसेयम्, एवं रूपव्याख्यानेऽपि, सुरूपादयश्चतुर्दश शुक्लान्ता रूपभेदाः, तत्र सुरूपं–मनोज्ञरूपमितरद्दूरूपमिति। दीर्घम्–आयततरं ह्रस्वं–तदितरद्, वृत्तादयः पञ्च स्कन्धसंस्थानभेदाः, तत्र वृत्तसंस्थानं मोदकवत्, तच्च प्रतरघनभेदात् द्विधा, पुनः प्रत्येकं समविषमप्रदेशावगाढमिति चतुर्द्धा, एवं च शेषाण्यपि, 'तंसे'त्ति तिस्रोऽस्रयः–कोटयो यस्मिंस्तत् त्र्यस्रं–त्रिकोणम्, 'चतुरंसे'त्ति चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्तथा–चतुष्कोणमित्यर्थः, तथा 'पिहुले'त्ति पृथुलं–विस्तीर्णम्, अन्यत्र पुनरिह स्थाने आयतमभिधीयते, तदेव चेह दीर्घह्रस्वपृथुलशब्दैर्विभज्योक्तम्, आयतधर्मत्वादेषां, तच्चायतं प्रतरघनश्रेणिभेदात् त्रिधा, पुनरेकैकं समविषमप्रदेशमिति षोढा, यच्चायतभेदयोरपि ह्रस्वदीर्घयोरादावभिधानं तद्वृत्तादिषु संस्थानेष्वायतस्य प्रायो वृत्तिदर्शनार्थं, तथाहि–दीर्घायतः स्तंभो वृत्तस्रयस्रः चतुरस्रश्चेत्यादि भावनीयम्, विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरेवमुपन्यास इति, 'परिमंडले'त्ति परिमण्डलसंस्थानं वलयाकारं प्रतरघनभेदाद् द्विविधमिति, रूपभेदो वर्णः, स च कृष्णादिः पञ्चधा प्रतीत एव, नवरं हारिद्रः–पीतः, कपिशादयस्तु संसर्गजा इति न तेषामुपन्यासः, गन्धो द्वेधा–सुरभिर्दुरभिश्च, तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिर्वैमुख्यकृत् दुरभिः, साधारणपरिणामोऽसष्टो



॥ २५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४७]

दीप अनुक्रम [४७]

दुर्ग्रह इति संसर्गजत्वादेव नोक्त इति, रसः पञ्चधा, तत्र श्लेष्मनाशकृत् तिक्तः १ वैशद्यच्छेदनकृत्कटुकः २ अन्नरुचिस्तम्भनकृत्कषायः ३ आश्रवणक्लेदनकृदम्लः ४ ह्लादनबृंहणकृन्मधुरः ५ संसर्गजो लवण इति नोक्त इति, स्पर्शोऽष्टविधः, तत्र कर्कशः कठिनोऽनमनलक्षणः १ यावत्करणात् मृद्वादयः षडन्ये, तत्र मृदुः सन्नतिलक्षणः २ गुरुरधोगमनहेतुः ३ लघुः प्रायस्तिर्यगूर्ध्वगमनहेतुः ४ शीतो वैशद्यकृत् स्तम्भनस्वभावः ५ उष्णो मार्दवपाककृत् ६ स्निग्धः संयोगे सति संयोगिनां बन्धकारणं ७ रूक्षस्तथैवाबन्धकारणमिति ८। उक्ता पुद्गलधर्म्माणामेकता, इदानीं पुद्गलालिङ्गितजीवाप्रशस्तधर्म्माणामष्टादशानां पापस्थानकाभिधानानां 'एगे पाणाइवाए'। इत्यादिना ग्रन्थेन 'दंसणसल्ले' इत्येतदन्तेन तामेवाह—

एगे पाणातिवाए जाव एगे परिग्गहे। एगे कोधे जाव लोभे। एगे पेज्जे एगे दोसे जाव एगे परपरिवाए। एगा अरतिरती। एगे मायामोसे। एगे मिच्छादंसणसल्ले। (सू० ४८)। एगे पाणाइवायवेरमणे जाव परि०वेरमणे। एगे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे (सू० ४९)

तत्र प्राणाः–उच्छ्वासादयस्तेषामतिपातनं–प्राणवता सह वियोजनं प्राणातिपातो हिंसेत्यर्थः, उक्तञ्च—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" इति, स च प्राणातिपातो द्रव्यभावभेदात् द्विविधो, विनाशपरितापसङ्क्लेशभेदात् त्रिविधो वा, आह च—"[1]तप्पज्जायविणासो दुक्खुप्पाओ य संकिलेसो य। एस वहो जिणभणिओ वज्जेयव्वो पयत्तेणं ॥१॥"ति, अथवा मनोवाक्कायैःकरण-

१ तत्पर्यायविनाशो दुःखोत्पादश्च संक्लेशश्च। एष वधो जिनैर्भणितो वर्जयितव्यः प्रयत्नेन ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारणानुमतिभेदान्नवधा, पुनः स क्रोधादिभेदात् षट्त्रिंशद्विधो वेति १, तथा मृषा–मिथ्या वदनं वादो मृषावादः, स च द्रव्यभावभेदात् द्विधा, अभूतोद्भावनादिभिश्चतुर्धा वा, तथाहि–अभूतोद्भावनं यथा सर्वगत आत्मा, भूतनिह्नवो नास्त्यात्मा, वस्त्वन्तरन्यासो यथा गौरपि सन्नश्वोऽयमिति, निन्दा च यथा कुष्ठी त्वमसीति २, तथा अदत्तस्य–स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरवितीर्णस्याननुज्ञातस्य सचित्ताचित्तमिश्रभेदस्य वस्तुनः आदानं–ग्रहणमदत्तादानं, चौर्यमित्यर्थः, तच्च विविधोपाधिवशादनेकविधमिति, तथा मिथुनस्य–स्त्रीपुंसलक्षणस्य कर्म्म मैथुनम्–अब्रह्म, तत् मनोवाक्कायानां कृतकारितानुमतिभिरौदारिकवैक्रियशरीरविषयाभिरष्टादशधा विविधोपाधितो बहुविधतरं वेति ४, तथा परिगृह्यते–स्वीक्रियत इति परिग्रहः, बाह्याभ्यन्तरभेदात् द्विधा, तत्र बाह्यो धर्मसाधनव्यतिरेकेण धनधान्यादिरनेकधा, अ(आ)भ्यन्तरस्तु मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रमादादिरनेकधा, परिग्रहणं वा परिग्रहो मूर्च्छेत्यर्थः ५, तथा क्रोधमानमायालोभाः कषायमोहनीयकर्म्मपुद्गलोदयसम्पाद्या जीवपरिणामा इति, एते चानन्तानुबन्ध्यादिभेदतोऽसङ्ख्याताध्यवसायस्थानभेदतो वा बहुविधाः, तथा 'पेज्जे'त्ति प्रियस्य भावः कर्म्म वा प्रेम, तच्चानभिव्यक्तमायालोभलक्षणभेदस्वभावमभिष्वङ्गमात्रमिति १०, तथा—'दोसे'त्ति द्वेषणं द्वेषः, दूषणं वा दोषः, स चानभिव्यक्तक्रोधमानलक्षणभेदस्वभावोऽप्रीतिमात्रमिति ११, 'जाव'त्ति 'कलहे अब्भक्खाणे पेसुण्णे' इत्यर्थः, तत्र कलहो–राटी १२ अभ्याख्यानं–प्रकटमसद्दोषारोपणं १३ पैशून्यं–पिशुनकर्म्म प्रच्छन्नं सदसद्दोषाविर्भावनं १४, परेषां परिवादः परपरिवादो विकत्थनमित्यर्थः १५, अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजश्चित्तविकार उद्वेगलक्षणो रतिश्च तथाविधानन्दरूपा अरतिरति इत्येकमेव विवक्षितं, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४८-४९]

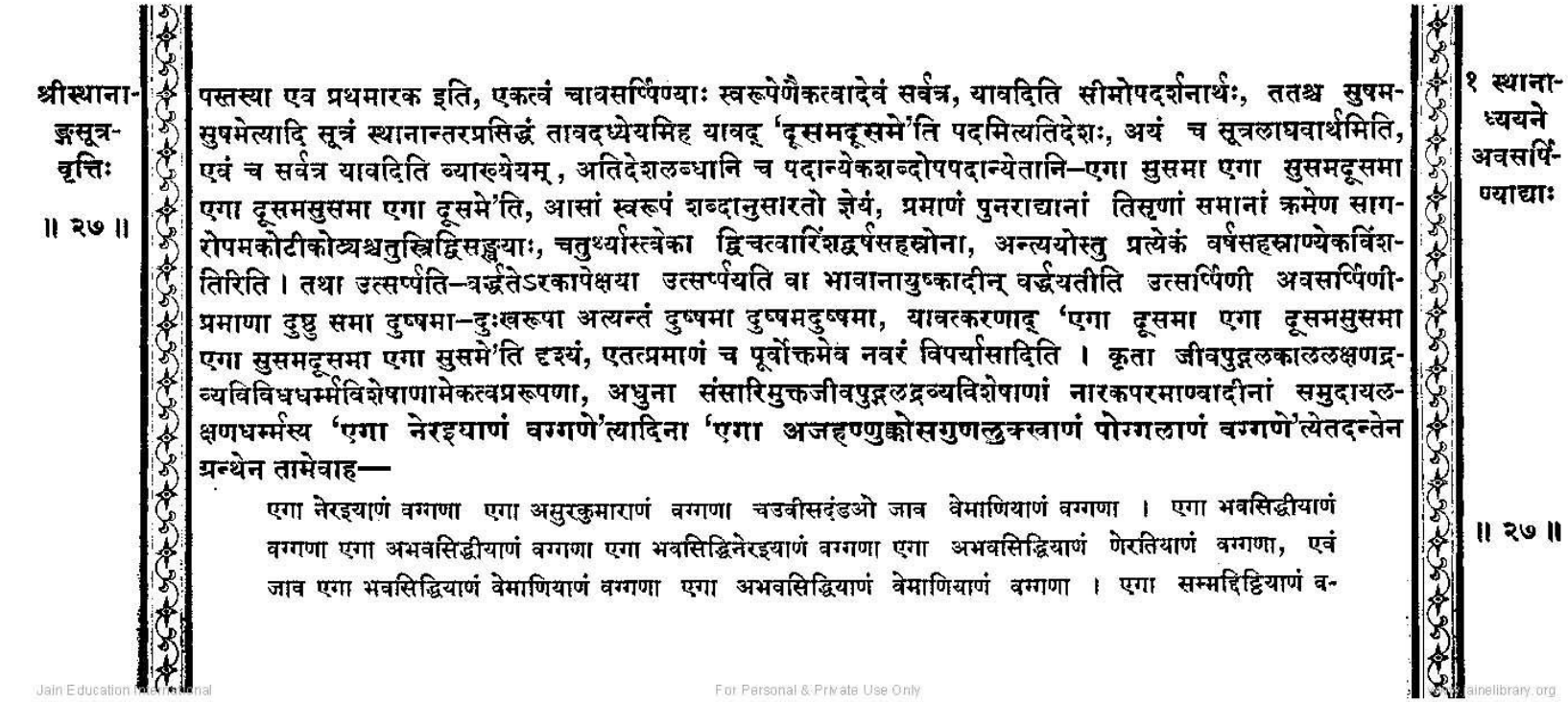
दीप अनुक्रम [४८-४९]


विषयान्तरापेक्षया अरतिं व्यपदिशन्त्येवमरतिमेव रतिमित्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति १६, तथा 'मायामोस'त्ति माया च–निकृतिर्मृषा च–मृषावादो मायया वा सह मृषा मायामृषा प्राकृतत्त्वान्मायामोसं, दोषद्वययोगः, इदं च मानमृषादिसंयोगदोषोपलक्षणं, वेषान्तरकरणेन लोकप्रतारणमित्यन्ये, प्रेमादीनि च बहुविधानि विषयभेदेन अध्यवसायस्थानभेदतो वा १७, मिथ्यादर्शनं–विपर्यस्ता दृष्टिः, तदेव तोमरादिशल्यमिव शल्यं दुःखहेतुत्वात् मिथ्यादर्शनशल्यमिति, मिथ्यादर्शनञ्च पञ्चधा–अभिग्रहिकानभिग्रहिकाभिनिवेशिकानाभोगिकसांशयिकभेदाद् उपाधिभेदतो बहुतरभेदं वेति १८ ॥ एतेषां च प्राणातिपातादीनां उक्तक्रमेणानेकविधत्वेऽपि वधादिसाम्यादेकत्वमवगन्तव्यमिति । उक्तान्यष्टादश पापस्थानानि, इदानीं तद्विपक्षाणामेव 'एगे पाणाइवायवेरमणे' इत्यादिभिरष्टादशभिः सूत्रैरेकतामाह, सुगमानि चैतानि, नवरं विरमणं विरतिः, तथा विवेकस्त्याग इति ॥ उक्तं सपुद्गलजीवद्रव्यधर्म्माणामेकत्वमिदानीं कालस्य स्थितिरूपत्वेन तद्धर्म्मत्वात् तद्विशेषाणां 'एगा ओसप्पिणी'त्यादिना 'सुसमसुसमे'त्येतदन्तेनैतदेवाह—

एगा ओसप्पिणी । एगा सुसमसुसमा जाव एगा दूसमदूसमा । एगा उस्सप्पिणी एगा दुस्समदुस्समा जाव एगा सुसमसुसमा । ( सू० ५० )

अथ काल एव कथमवसीयत इति चेत्?, उच्यते, बकुलचम्पकाशोकादिपुष्पप्रदानस्य नियमेन दर्शनान्नियामकश्च काल इति, तत्र 'ओसप्पिणी'ति अवसर्प्पति हीयमानारकतया अवसर्प्पयति वाऽऽयुष्कशरीरादिभावान् हापयतीत्यवसर्प्पिणी सागरोपमकोटीकोटीदशकप्रमाणः कालविशेषः सुष्ठु समा सुषमा अत्यन्तं सुषमा सुषमसुषमा अत्यन्तसुखस्वरू-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २७ ॥

पत्तस्या एव प्रथमारक इति, एकत्वं चावसर्प्पिण्याः स्वरूपेणैकत्वादेवं सर्वत्र, यावदिति सीमोपदर्शनार्थः, ततश्च सुषमसुषमेत्यादि सूत्रं स्थानान्तरप्रसिद्धं तावदध्येयमिह यावद् 'दूसमदूसमे'ति पदमित्यतिदेशः, अयं च सूत्रलाघवार्थमिति, एवं च सर्वत्र यावदिति व्याख्येयम्, अतिदेशलब्धानि च पदान्येकशब्दोपपदान्येतानि—एगा सुसमा एगा सुसमदूसमा एगा दूसमसुसमा एगा दूसमे'ति, आसां स्वरूपं शब्दानुसारतो ज्ञेयं, प्रमाणं पुनराद्यानां तिसृणां समानां क्रमेण सागरोपमकोटीकोट्यश्चतुस्त्रिद्विसङ्ख्याः, चतुर्थ्यास्त्वेका द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना, अन्त्ययोस्तु प्रत्येकं वर्षसहस्राण्येकविंशतिरिति। तथा उत्सर्प्पति—वर्द्धतेऽरकापेक्षया उत्सर्प्पयति वा भावानायुष्कादीन् वर्द्धयतीति उत्सर्प्पिणी अवसर्प्पिणीप्रमाणा दुष्ठु समा दुष्षमा—दुःखरूपा अत्यन्तं दुष्षमा दुष्षमदुष्षमा, यावत्करणाद् 'एगा दूसमा एगा दूसमसुसमा एगा सुसमदूसमा एगा सुसमे'ति दृश्यं, एतत्प्रमाणं च पूर्वोक्तमेव नवरं विपर्यासादिति। कृता जीवपुद्गलकाललक्षणद्रव्यविविधधर्म्मविशेषाणामेकत्वप्ररूपणा, अधुना संसारिमुक्तजीवपुद्गलद्रव्यविशेषाणां नारकपरमाण्वादीनां समुदायलक्षणधर्म्मस्य 'एगा नेरइयाणं वग्गणे'त्यादिना 'एगा अजहण्णुक्कोसगुणलुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणे'त्येतदन्तेन ग्रन्थेन तामेवाह—

एगा नेरइयाणं वग्गणा एगा असुरकुमाराणं वग्गणा चउवीसदंडओ जाव वेमाणियाणं वग्गणा । एगा भवसिद्धीयाणं वग्गणा एगा अभवसिद्धीयाणं वग्गणा एगा भवसिद्धिनेरइयाणं वग्गणा एगा अभवसिद्धियाणं णेरतियाणं वग्गणा, एवं जाव एगा भवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा एगा अभवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा । एगा सम्मदिट्ठियाणं व-

१ स्थानाध्ययने अवसर्पिण्याद्याः ॥ २७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



ग्गणा एगा मिच्छदिट्ठियाणं वग्गणा एगा सम्मामिच्छदिट्ठियाणं वग्गणा । एगा सम्मदिट्ठियाणं णेरइयाणं वग्गणा एगा मिच्छदिट्ठियाणं णेरइयाणं वग्गणा एगा सम्ममिच्छदिट्ठियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं जाव थणियकुमाराणं वग्गणा । एगा मिच्छादिट्ठियाणं पुढविकाइयाणं वग्गणा एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । एगा सम्मदिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा एगा मिच्छदिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा, एवं तेइंदियाणंपि चउरिंदियाणवि । सेसा जहा नेरइया जाव एगा सम्ममिच्छदिट्ठियाणं वेमाणियाणं वग्गणा ॥ एगा कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा सुक्कपक्खियाणं वग्गणा, एगा कण्हपक्खियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एगा सुक्कपक्खियाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं चउवीसदंडओ भाणियव्वो । एगा कण्हलेसाणं वग्गणा एगा नीललेसाणं वग्गणा एवं जाव सुक्कलेसाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं नेरइयाणं वग्गणा जाव काउलेसाणं णेरइयाणं वग्गणा, एवं जस्स जइ लेसाओ, भवणवइवाणमंतरपुढविआउवणस्सइकाइयाणं च चत्तारि लेसाओ तेउवाउबेइंदियतिइंदिअचउरिंदियाणं तिन्नि लेसाओ, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं छल्लेसाओ, जोतिसियाणं एगा तेउलेसा, वेमाणियाणं तिन्नि उवरिमलेसाओ । एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणा, एवं छसुवि लेसासु दो दो पयाणि भाणियव्वाणि । एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा एगा कण्हलेसाणं अभवसिद्धिआणं णेरइयाणं वग्गणा एवं जस्स जत्ति लेसाओ तस्स तति भाणियव्वाओ जाव वेमाणियाणं । एगा कण्हलेसाणं सम्मदिट्ठिआणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं मिच्छदिट्ठियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं सम्मामिच्छदिट्ठियाणं वग्गणा, एवं छसुवि लेसासु जाव वेमाणियाणं जेसिं जदि दिट्ठीओ । एगा कण्हलेसाणं कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं सुक्कपक्खियाणं वग्गणा, जाव वेमाणियाणं

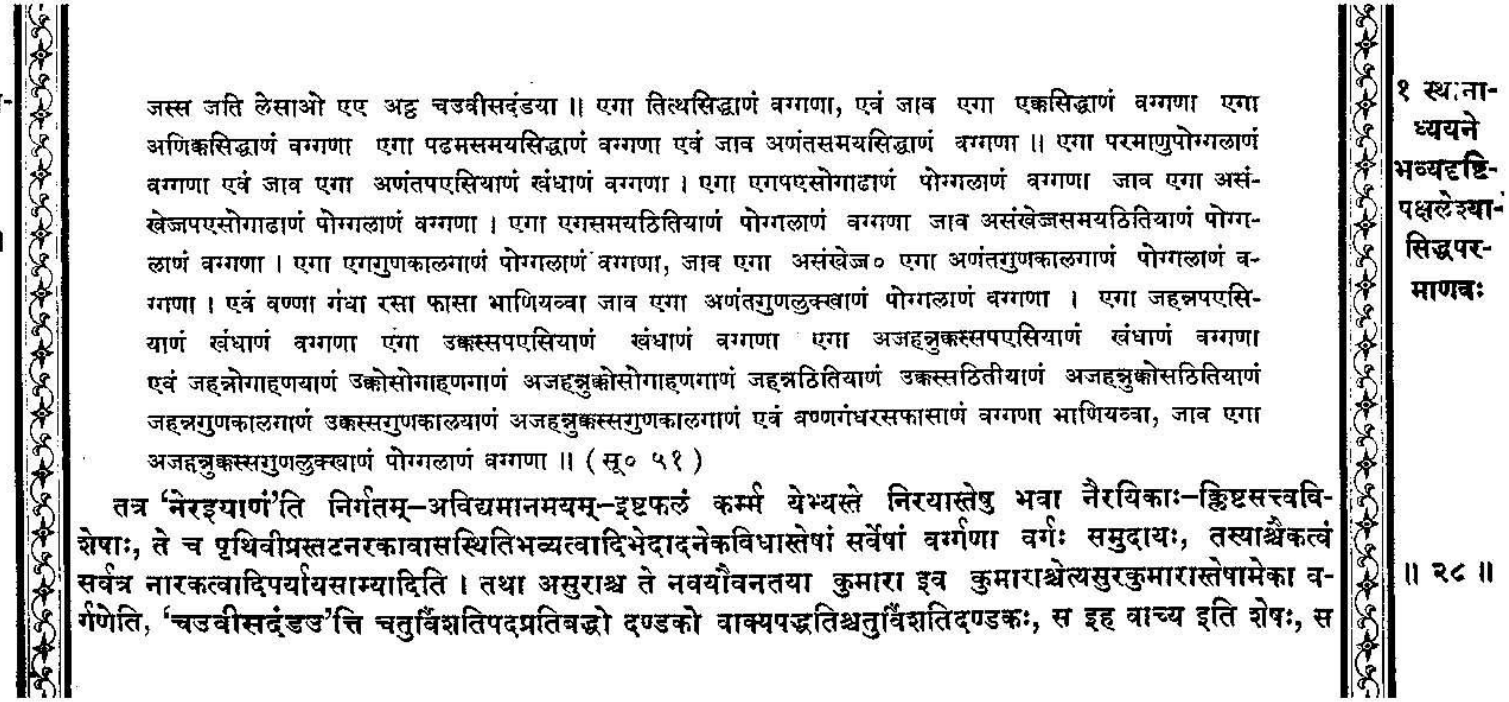


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]





जस्स जति लेसाओ एए अट्ठ चउवीसदंडया ॥ एगा तित्थसिद्धाणं वग्गणा, एवं जाव एगा एक्कसिद्धाणं वग्गणा एगा अणिक्कसिद्धाणं वग्गणा एगा पढमसमयसिद्धाणं वग्गणा एवं जाव अणंतसमयसिद्धाणं वग्गणा ॥ एगा परमाणुपोग्गलाणं वग्गणा एवं जाव एगा अणंतपएसियाणं खंधाणं वग्गणा । एगा एगपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा जाव एगा असंखेज्जपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा । एगा एगसमयठितियाणं पोग्गलाणं वग्गणा जाव असंखेज्जसमयठितियाणं पोग्गलाणं वग्गणा । एगा एगगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा, जाव एगा असंखेज्ज० एगा अणंतगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा । एवं वण्णा गंधा रसा फासा भाणियव्वा जाव एगा अणंतगुणलुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा । एगा जहन्नपएसियाणं खंधाणं वग्गणा एगा उक्कस्सपएसियाणं खंधाणं वग्गणा एगा अजहन्नुक्कस्सपएसियाणं खंधाणं वग्गणा एवं जहन्नोगाहणयाणं उक्कोसोगाहणगाणं अजहन्नुक्कोसोगाहणगाणं जहन्नठितियाणं उक्कस्सठितीयाणं अजहन्नुक्कोसठितियाणं जहन्नगुणकालगाणं उक्कस्सगुणकालयाणं अजहन्नुक्कस्सगुणकालगाणं एवं वण्णगंधरसफासाणं वग्गणा भाणियव्वा, जाव एगा अजहन्नुक्कस्सगुणलुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा ॥ (सू० ५१)

तत्र 'नेरइयाणं'ति निर्गतम्–अविद्यमानमयम्–इष्टफलं कर्म्म येभ्यस्ते निरयास्तेषु भवा नैरयिकाः–क्लिष्टसत्त्वविशेषाः, ते च पृथिवीप्रस्तटनरकावासस्थितिभव्यत्वादिभेदादनेकविधास्तेषां सर्वेषां वग्गणा वर्गः समुदायः, तस्याश्चैकत्वं सर्वत्र नारकत्वादिपर्यायसाम्यादिति । तथा असुराश्च ते नवयौवनतया कुमारा इव कुमाराश्चेत्यसुरकुमारास्तेषामेका वर्गणेति, 'चउवीसदंडउ'त्ति चतुर्विंशतिपदप्रतिबद्धो दण्डको वाक्यपद्धतिश्चतुर्विंशतिदण्डकः, स इह वाच्य इति शेषः, स



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशति दंडकः, तस्य भेदाः

चार्यं—'नेरइया १ असुरादी १० पुढवाइ ५ बेइंदियादयो चेव ४। नर १ वंतर १ जोतिसिय १ वेमाणी १ दंडओ एवं ॥ १ ॥" भवनपतयो दशधा—"असुरा नाग सुवण्णा विज्जू अग्गी य दीव उदही य। दिसि पवणथणियनामा दसहा एए भवणवासि ॥ २ ॥" त्ति, एतदनुसारेण सूत्राणि वाच्यानि, यावच्चतुर्विंशतितमं 'एगा वेमाणियाणं वग्गण'त्ति, एष सामान्यदण्डकः १। ननु नारकसत्तैव दुरुपपादा आस्तां तद्धर्म्मभूताया वर्गणाया एकत्वमनेकत्वं वेति, तथाहि–न सन्ति नारकाः, तत्साधकप्रमाणाभावात्, व्योमकुसुमवत्, अत्रोच्यते, प्रमाणाभावादित्यसिद्धो हेतुः, तत्साधकानुमानसद्भावात्, तथाहि–विद्यमानभोक्तृकं प्रकृष्टपापकर्म्मफलं, कर्म्मफलत्वात्, पुण्यकर्म्मफलवत्, न च तिर्यङ्नरा एव प्रकृष्टपापफलभुजः, तस्यौदारिकशरीरवता वेदयितुमशक्यत्वात्, विशिष्टसुरजन्मनिबन्धनप्रकृष्टपुण्यफलवत्, आह च—"पावफलस्स पगिट्ठस्स भोइणो कम्मओऽवसेसव्व। संति धुवं तेऽभिमया नेरइया अह मई होज्जा ॥ १ ॥ अच्चत्थदुक्खिया जे तिरियनरा नारगत्ति तेऽभिमया। तं न जओ सुरसोक्खप्पगरिससरिसं न तं दुक्खं ॥ २ ॥" ति, 'अवसेसव्व'त्ति यथा नारकेभ्योऽन्ये तिर्यङ्नरा इत्यर्थः, अथ सुराणामपि विवादास्पदीभूतत्वात् विशिष्टसुरजन्मनिबन्धनप्रकृष्ट-

---

१ नैरयिका असुरादयः पृथ्व्यादयो द्वीन्द्रियादयश्चैव। नरा व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका दण्डकश्चैवं ॥ १ ॥ २ असुरा नागाः सुपर्णा विद्युतः अग्नयश्च द्वीपा उदधयश्च। दिशः पवनाः स्तनितनामानः दशधा एते भवनवासिनः ॥ १ ॥ ३ पापफलस्य प्रकृष्टस्य भोगिनः कर्मत्वात् अवशेषा (प्रकृष्टपुण्यफला देवा) इव। सन्ति ध्रुवं तेऽभिमता नैरयिकाः, अथ मतिर्भवेत् ॥ १ ॥ अत्यन्तदुःखिता ये तिर्यङ्नरा नारका इति तेऽभिमताः। तन्न यतः सुरसौख्यप्रकर्षसदृशं न तद्दुःखम् ॥ २ ॥ ४ सव्वत्थ प्र.

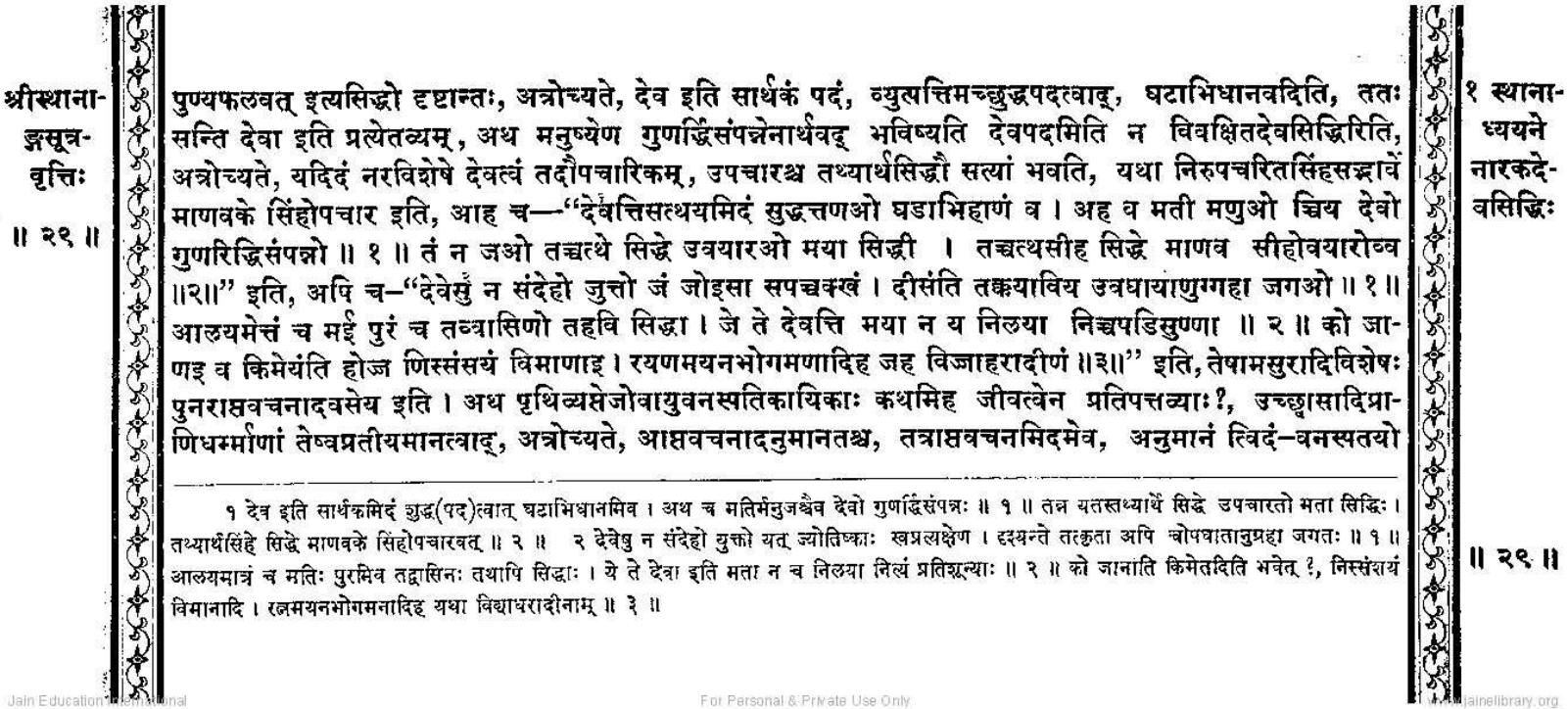
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशति दंडकः, तस्य भेदाः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]





पुण्यफलवत् इत्यसिद्धो दृष्टान्तः, अत्रोच्यते, देव इति सार्थकं पदं, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदत्वाद्, घटाभिधानवदिति, ततः सन्ति देवा इति प्रत्येतव्यम्, अथ मनुष्येण गुणर्द्धिसंपन्नेनार्थवद् भविष्यति देवपदमिति न विवक्षितदेवसिद्धिरिति, अत्रोच्यते, यदिदं नरविशेषे देवत्वं तदौपचारिकम्, उपचारश्च तथ्यार्थसिद्धौ सत्यां भवति, यथा निरुपचरितसिंहसद्भावे माणवके सिंहोपचार इति, आह च—"देवत्तिसत्थयमिदं सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व । अह व मती मणुओ च्चिय देवो गुणरिद्धिसंपन्नो ॥ १ ॥ तं न जओ तच्चत्थे सिद्धे उवयारओ मया सिद्धी । तच्चत्थसीह सिद्धे माणव सीहोवयारोव्व ॥२॥" इति, अपि च—"देवेसुं न संदेहो जुत्तो जं जोइसा सपच्चक्खं । दीसंति तक्कयावि य उवघायाणुग्गहा जगओ ॥ १ ॥ आलयमेत्तं च मई पुरं च तव्वासिणो तहवि सिद्धा । जे ते देवत्ति मया न य निलया निच्चपडिसुण्णा ॥ २ ॥ को जाणइ व किमेयंति होज्ज णिस्संसयं विमाणाइ । रयणमयनभोगमणादिह जह विज्जाहरादीणं ॥३॥" इति, तेषामसुरादिविशेषः पुनरार्षवचनादवसेय इति । अथ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकाः कथमिह जीवत्वेन प्रतिपत्तव्याः?, उच्छ्वासादिप्राणिधर्म्माणां तेष्वप्रतीयमानत्वाद्, अत्रोच्यते, आप्तवचनादनुमानतश्च, तत्राप्तवचनमिदमेव, अनुमानं त्विदं—वनस्पतयो

---

१ देव इति सार्थकमिदं शुद्ध(पद)त्वात् घटाभिधानमिव । अथ च मतिर्मनुजश्चैव देवो गुणर्द्धिसंपन्नः ॥ १ ॥ तन्न यतस्तथ्यार्थे सिद्धे उपचारतो मता सिद्धिः । तथ्यार्थसिंहे सिद्धे माणवके सिंहोपचारवत् ॥ २ ॥ २ देवेषु न संदेहो युक्तो यत् ज्योतिष्काः स्वप्रत्यक्षेण । दृश्यन्ते तत्कृता अपि चोपघातानुग्रहा जगतः ॥ १ ॥ आलयमात्रं च मतिः पुरमिव तद्वासिनः तथापि सिद्धाः । ये ते देवा इति मता न च निलया नित्यं प्रतिश्रुत्याः ॥ २ ॥ को जानाति किमेतदिति भवेत् ?, निस्संशयं विमानादि । रत्नमयनभोगमनादिह यथा विद्याधरादीनाम् ॥ ३ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नारक-देव सिध्धि:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]

विद्रुमलवणोपलादयः[1] स्वस्वाश्रये वर्त्तमानाः सात्मकाः, समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद्, अर्शोविकाराङ्कुरवत्, आह च—"मंसंकुरो[2]व्व[3] सामाणजाइरूवंकुरोवलंभाओ। तरुगणविद्रुमलवणोपलादयो सासयावत्था ॥१॥" इति, इह समानजातिग्रहणं शृङ्गाङ्कुरव्यवच्छेदार्थं, स हि न समानजातीयो भवतीति, तथा सात्मकमम्भो भौमं, भूमिखनने स्वाभाविकसम्भवाद्, दर्दुरवत्, अथवा सात्मकमन्तरिक्षोदकं स्वभावतो व्योमसम्भूतस्य पातात्, मत्स्यवत्, आह च—"भूमिक्खयसाभावियसंभवओ दद्दुरोव्व जलमुत्तं" [सात्मकत्वेनेति]। अहवा मच्छोव्व सहाववोमसंभूयपायाओ ॥ १ ॥" इति, तथा सात्मको वायुरपरप्रेरिततिर्यगनियतदिग्गतित्वाद् गोवत्, इह चापरप्रेरितग्रहणेन लेष्ट्वादिना व्यभिचारः परिहृतः, एवं तिर्यग्ग्रहणेनोर्ध्वगतिना धूमेनानियमितग्रहणेन च नियमितगतिना परमाणुनेति, तथा तेजः सात्मकमाहारोपादानात् तद्वृद्धिविशेषोपलब्धेस्तद्विकारदर्शनाच्च पुरुषवद्, आह च—"अपरेप्पेरियतिरियानियमियदिग्गमणओऽनिलो गोव्व। अनलो आहाराओ विद्धिविगारोवलंभाओ ॥ १ ॥" त्ति, अथवा पृथिव्यप्तेजोवायवो जीवशरीराणि, अभ्रादिविकारवर्जितमूर्त्तजातीयत्वात्, गवादिशरीरवदिति, अभ्रादिविकारा हि मूर्त्तजातीयत्वे सत्यपि न जीवतनवस्तेन तत्परिहारो हेतुविशेषणम्, आह च—"तणओऽणब्भाइविगारमुत्तजाइत्तओऽनिलंताइं [भूतानीति प्रक्रमः]। सत्थासत्थहयाओ निज्जीव-

१ °दयश्च खा० प्र. २ अस्संकुर० प्र. ३ अर्शोऽ(मांसां)ङ्कुर इव समानजातीयरूपाङ्कुरोपलम्भात् । तरुगणविद्रुमलवणोपलादयः स्वाश्रयस्थाः ॥ १ ॥ ४ भूमिक्षतस्वाभाविकसंभवात् दर्दुरवत् जलमुक्तम् । अथवा मत्स्यवत् स्वभावव्योमसंभूतपातात् ॥ १ ॥ ५ अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनादनिलो गोवत् । अनल आहारात् वृद्धिविकारोपलम्भात् ॥ १ ॥ ६ तनवोऽनभ्रादिविकारा मूर्त्तजातित्वात् अनिलान्तानि । शस्त्राशस्त्रहतानि निर्जीवसजीवरूपाणि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी आदि पञ्च स्थावरानाम जिवत्वस्य सिध्धिः

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]



सजीवरूवाओ ॥ १ ॥" त्ति, वनस्पतीनां विशेषेण सचेतनत्वं भाष्यगाथाभिरभिधीयते—"[1]जम्मजराजीवणमरणरोहणाहारदोहलामयओ । रोगतिगिच्छाईहि य णारिव्व सचेयणा तरवो ॥ १ ॥ छिक्कप्परोइया छिक्कमित्तसंकोयओ कुलिंगिव्व । आसयसंचाराओ वियत्त! वल्ली वियाणाहि ॥ २ ॥" [ 'वियत्त'त्ति गणधरामन्त्रणमिति ] [2]सम्मादयो व सावप्पबोहसंकोयणादिओऽभिमया । बउलादयो य सद्दाइविसयकालोवलंभाओ ॥ ३ ॥ त्ति [ 'सम्मादउ'त्ति शम्यादयः 'विसयकालोवलंभाओ'त्ति विषयाणां–गीतसुरागण्डूषकामिनीचरणताडनादीनां कालो वसन्तादिरिति ] १ 'एगा भवसिद्धिये'त्यादि, भविष्यतीति भवा–भाविनी सा सिद्धिः–निर्वृतिर्येषां ते भवसिद्धिका–भव्याः, तद्विपरीतास्त्वभवसिद्धिका अभव्या इत्यर्थः । ननु जीवत्वे समाने सति को भव्याभव्ययोर्विशेषः?, उच्यते, स्वभावकृतो, [3]द्रव्यत्वेन समानयोर्जीवनभसोरिव, आह च—"[3]दव्वाइत्ते तुले जीवनभाणं सभावओ भेदो । जीवाजीवाइगओ जह तह भव्वेयरविसेसो ॥ १ ॥" त्ति, आभ्यां विशेषितोऽन्यो दण्डकः २ । 'एगा सम्मद्दिट्ठियाण'मित्यादि, सम्यग्–अविपरीता दृष्टिः–दर्शनं रुचिस्तत्त्वानि प्रति येषां ते सम्यग्दृष्टिकाः, ते च मिथ्यात्वमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमेभ्यो भवन्ति, तथा मिथ्या–विपर्यासवती जिनाभिहितार्थसार्थाश्रद्धानवती दृष्टिः–दर्शनं श्रद्धानं येषां ते मिथ्यादृष्टिकाः–मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादरुचितजिनव-

१ जन्मजराजीवनमरणरोहणाहारदोहदामयात् । रोगचिकित्सादिभिश्च नारीव सचेतनास्तरवः ॥ १ ॥ स्पृष्टप्ररोदिका स्पृष्टमात्रात् संकोचतः कुलिङ्गिवत् । आश्रयसंचारात् व्यक्त! वल्लीर्विजानीहि (सचेतनाः) ॥ २ ॥ २ शम्यादयश्च स्वापावबोधसंकोचनादितोऽभिमताः । बकुलादयश्च शब्दादिविषयकालोपलम्भात् ॥ १ ॥
३ द्रव्यादित्वे तुल्ये जीवनभसोः स्वभावतो भेदः । जीवाजीवादिगतो यथा तथा भव्येतरविशेषः ॥ १ ॥



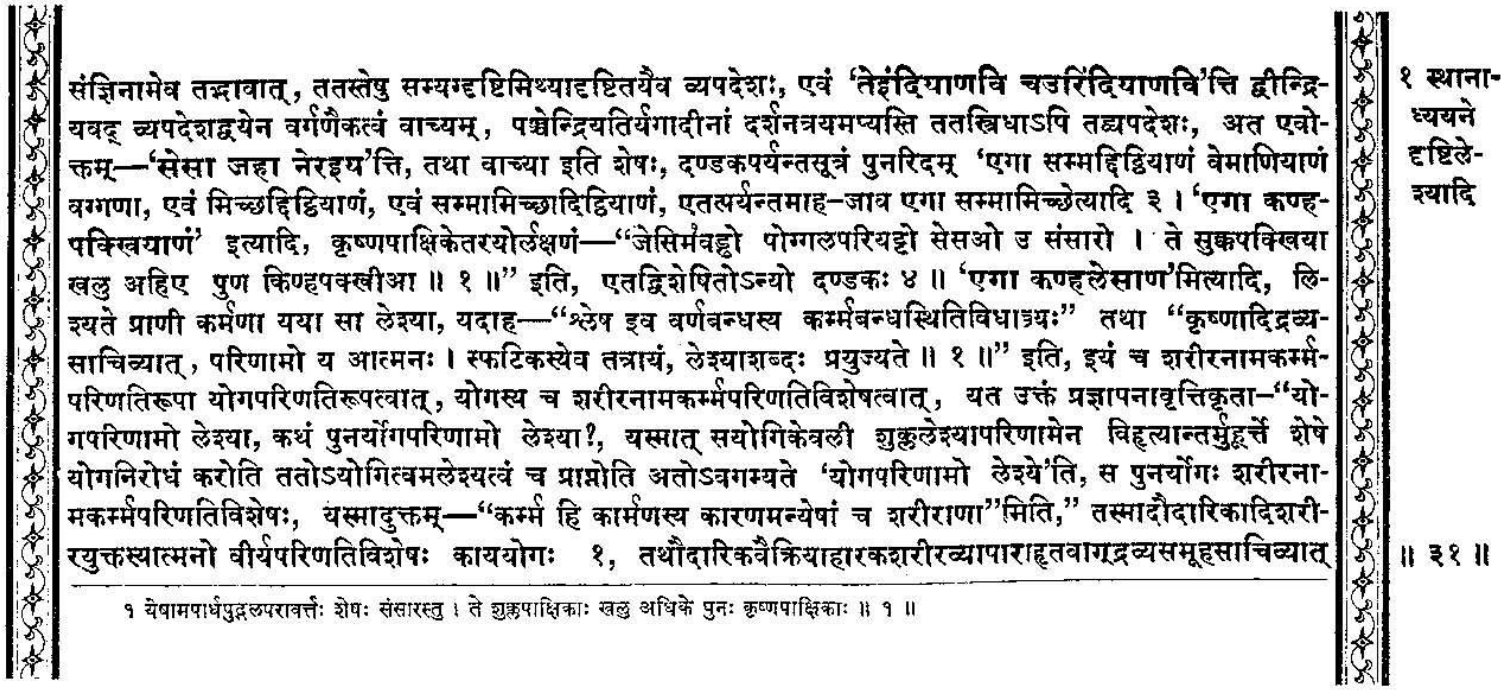
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी आदि पञ्च स्थावरानाम जिवत्वस्य सिध्धि:

चना इति भावः, उक्तञ्च—"सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥" इति । तथा सम्यक् मिथ्या च दृष्टिर्येषां ते सम्यग्मिथ्यादृष्टिकाः–जिनोक्तभावान् प्रत्युदासीनाः, इह च गम्भीरभवोदधिमध्यविपरिवर्त्ती जन्तुरनाभोगनिर्वर्त्तितेन गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेन यथाप्रवृत्तिकरणेन संपादितान्तःसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकस्य मिथ्यात्ववेदनीयस्य कर्मणः स्थितेरन्तर्मुहूर्त्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञिताभ्यां विशुद्धिविशेषाभ्यामन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणमन्तरकरणं करोति, तस्मिन् कृते तस्य कर्म्मणः स्थितिद्वयं भवति, अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा, तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिः, अन्तर्मुहूर्त्तेन तु तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात्, यथा हि दवानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनाग्निरन्तरकरणमवाप्य विध्यायतीति, तदेवं सम्यक्त्वमौषधविशेषकल्पमासाद्य मदनकोद्रवस्थानीयं दर्शनमोहनीयमशुद्धं कर्म त्रिधा भवति–अशुद्धमर्धविशुद्धं विशुद्धं चेति, त्रयाणां तेषां पुञ्जानां मध्ये यदाऽर्द्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयवशादर्द्धविशुद्धमर्हद्दृष्टतत्त्वश्रद्धानं भवति जीवस्य, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवति अन्तर्मुहूर्त्तं यावत्, तत ऊर्द्धं सम्यक्त्वपुञ्जं मिथ्यात्वपुञ्जं वा गच्छतीति, सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिमिश्रविशेषितोऽन्यो दण्डकः, तत्र च नारकादिष्वेकादशसु पदेषु दर्शनत्रयमस्ति, अत उक्तम्—'एवं जाव थणिए'त्यादि, पृथिव्यादीनां मिथ्यात्वमेव, तेन तेषां तेनैव व्यपदेशः, उक्तञ्च—'चोद्दस तस सेसया मिच्छ'त्ति चतुर्दशगुणस्थानकवन्तस्त्रसाः स्थावरास्तु मिथ्यादृष्टय एवेत्यर्थः । द्वीन्द्रियादीनां मिश्रं नास्ति,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ३१ ॥

संज्ञिनामेव तद्भावात्, ततस्तेषु सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टितयैव व्यपदेशः, एवं 'तेइंदियाणवि चउरिंदियाणवि'त्ति द्वीन्द्रियवद् व्यपदेशद्वयेन वर्गणैकत्वं वाच्यम्, पञ्चेन्द्रियतिर्यगादीनां दर्शनत्रयमप्यस्ति ततस्त्रिधाऽपि तद्व्यपदेशः, अत एवोक्तम्—'सेसा जहा नेरइय'त्ति, तथा वाच्या इति शेषः, दण्डकपर्यन्तसूत्रं पुनरिदम् 'एगा सम्मद्दिट्ठियाणं वेमाणियाणं वग्गणा, एवं मिच्छद्दिट्ठियाणं, एवं सम्मामिच्छादिट्ठियाणं, एतत्पर्यन्तमाह–जाव एगा सम्मामिच्छेत्यादि ३। 'एगा कण्हपक्खियाणं' इत्यादि, कृष्णपाक्षिकेतरयोर्लक्षणं—"जेसिमवड्ढो पोग्गलपरियट्टो सेसओ उ संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु अहिए पुण किण्हपक्खीआ ॥ १ ॥" इति, एतद्विशेषितोऽन्यो दण्डकः ४ ॥ 'एगा कण्हलेसाण'मित्यादि, लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या, यदाह—"श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्म्मबन्धस्थितिविधायिन्यः" तथा "कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥ १ ॥" इति, इयं च शरीरनामकर्म्मपरिणतिरूपा योगपरिणतिरूपत्वात्, योगस्य च शरीरनामकर्म्मपरिणतिविशेषत्वात्, यत उक्तं प्रज्ञापनावृत्तिकृता–"योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या?, यस्मात् सयोगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्त्ते शेषे योगनिरोधं करोति ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति अतोऽवगम्यते 'योगपरिणामो लेश्ये'ति, स पुनर्योगः शरीरनामकर्म्मपरिणतिविशेषः, यस्मादुक्तम्—"कर्म्म हि कार्मणस्य कारणमन्येषां च शरीराणा"मिति," तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः १, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्यात्

१ स्थानाध्ययने दृष्टिलेश्यादि ॥ ३१ ॥

१ येषामपार्धपुद्गलपरावर्त्तः शेषः संसारस्तु। ते शुक्लपाक्षिकाः खलु अधिके पुनः कृष्णपाक्षिकाः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवव्यापारो यः स वाग्योगः २, तथौदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्यात् जीवव्यापारो यः स मनोयोग इति ३, ततो यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिर्योग उच्यते तथैव लेश्यापीति, अन्ये तु व्याचक्षते —'कर्म्मनिस्यन्दो लेश्ये'ति, सा च द्रव्यभावभेदात् द्विधा, तत्र द्रव्यलेश्या कृष्णादिद्रव्याण्येव, भावलेश्या तु तज्जन्यो जीवपरिणाम इति, इयं च षट्प्रकारा जम्बूफलखादकपुरुषषट्कदृष्टान्ताद् ग्रामघातकचौरपुरुषषट्कदृष्टान्ताद्वा आगमप्रसिद्धादवसेयेति, तत्सूत्राणि सुगमानि, नवरं कृष्णवर्णद्रव्यसाचिव्यात् जाताऽशुभपरिणामरूपा कृष्णा सा लेश्या येषां ते तथा, एवं शेषाण्यपि पदानि, नवरं नीला ईषत्सुन्दररूपैवमिति–अनेनैव क्रमेण यावत्करणात् 'एगा काओयलेस्साण'मित्यादि सूत्रत्रयं दृश्यं, तत्र कपोतस्य–पक्षिविशेषस्य वर्णेन तुल्यानि यानि द्रव्याणि धूम्राणि इत्यर्थः, तत्साहाय्याज्जाता कापोतलेश्या मनाक् शुभतरा सा लेश्या येषां ते तथा, तेजः–अग्निज्वाला तद्वर्णानि यानि द्रव्याणि लोहितानीत्यर्थः, तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या शुभस्वभावा, पद्मगर्भवर्णानि यानि द्रव्याणि पीतानीत्यर्थः तत्साचिव्याज्जाता पद्मलेश्या शुभतरा, शुक्लवर्णद्रव्यजनिता शुक्ला, अत्यन्तशुभेति, एतासां च विशेषतः स्वरूपं लेश्याध्ययनादवसेयमिति, 'एवं जस्स जइ'त्ति नारकाणामिव यस्यासुरादेर्या यावत्यो लेश्यास्तदुद्देशेन तद्वर्गणैकत्वं वाच्यं, 'भवणे'त्यादिना तल्लेश्यापरिमाणमाह, अत्र सङ्ग्रहणी—"काऊ नीला किण्हा लेसाओ तिन्नि होंति नरएसुं । तइयाए काउनीला [ पृथिव्यामित्यर्थः ] नीला किण्हा य रिट्ठाए ॥ १ ॥ [ पञ्चम्यामित्यर्थः ] किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया ।

१ कापोता नीला कृष्णा लेश्यास्तिस्रो भवन्ति नरकेषु। तृतीयायां कापोता नीला (च) नीला कृष्णा च रिष्टायाम् ॥ १ ॥ कृष्णानीलाकापोतातेजोलेश्याश्च भवनव्यन्तराः।


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जोइससोहंमीसाण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥२॥ कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोए य । एएसु पम्हलेसा तेण परं सुक्कलेसा उ ॥ ३ ॥ पुढवी आउ वणस्सइ बायर पत्तेय लेस चत्तारि । गब्भयतिरियनरेसुं छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥४॥" अयं सामान्यो लेश्यादण्डकः ५ । अयमेव भव्याभव्यविशेषणादन्यः, 'एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणे'त्यादि, 'एव'मिति कृष्णलेश्यायामिव 'छसुवि'त्ति कृष्णया सह षट्सु, अन्यथा अन्या पञ्चैवातिदेश्या भवन्तीति, द्वे द्वे पदे प्रतिलेश्यं भव्याभव्यलक्षणे वाच्ये, यथा 'एगा नीललेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणे'त्यादि ६, लेश्यादण्डक एव दर्शनत्रयविशेषितोऽन्यः, 'एगा कण्हलेसाणं सम्मद्दिट्ठियाण'मित्यादि, 'जेसिं जइ दिट्ठीओ'त्ति येषां नारकादीनां या यावत्यो दृष्टयः सम्यक्त्वाद्यास्तेषां ता वाच्या इति, तत्र एकेन्द्रियाणां मिथ्यात्वमेव, विकलेन्द्रियाणां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे, शेषाणां तिस्रोऽपि दृष्टय इति ७, लेश्यादण्डक एव कृष्णशुक्लपक्षविशिष्टोऽन्यः, 'एगा कण्हलेसाणं कण्हपक्खियाण'मित्यादि, एते 'अट्ठ चउवीस दंडय'त्ति, एते चैवं—ओहो १ भव्वाईहिं विसेसिओ २ दंसणेहि ३ पक्खेहिं ४ । लेसाहिं ५ भव्व ६-दंसण ७ पक्खेहिं ८ विसिट्ठ लेसाहिं ॥ १ ॥ ति ॥ इतः सिद्धवर्गणा अभिधीयते, तत्र सिद्धा द्विधा—अनन्तरसिद्धपरम्परसिद्धभेदात्, तत्रानन्तरसिद्धाः पञ्चदशविधाः, तद्वर्गणैकत्वमाह—'एगा तित्थे'त्यादिना, तत्र तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं,

१ ज्योतिष्कसौधर्मेशानेषु च तेजोलेश्या मुणितव्याः ॥ २ ॥ कल्पे सनत्कुमारे माहेन्द्रे चैव ब्रह्मलोके च । एतेषु पद्मलेश्यास्ततः परं शुक्ललेश्यास्तु ॥ ३ ॥ पृथ्व्यब्वनस्पतिबादरप्रत्येकेषु लेश्याश्चतस्रः । गर्भजतिर्यग्नरेषु षड्लेश्याः तिस्रः शेषाणाम् ॥ ४ ॥ २ ओघो भव्याभव्यत्वाभ्यां विशेषितः दर्शनैः पक्षाभ्यां । लेश्याभिर्भव्यदर्शनपक्षैर्विशिष्टाभिर्लेश्याभिः ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]


द्रव्यतो मद्यादीनां समोऽनपायश्च भूभागो भौतादिप्रवचनं वा, द्रव्यतीर्थता त्वस्याप्रधानत्वाद्, अप्रधानत्वं च भावतस्तरणीयस्य संसारसागरस्य तेन तरीतुमशक्यत्वात्, सावद्यत्वादस्येति, भावतीर्थं तु सङ्घो, यतो ज्ञानादिभावेन तद्विपक्षादज्ञानादितो भवाच्च भावभूतात् तारयतीति, आह च—"जं णाणदंसणचरित्तभावओ तव्विवक्खभावाओ। भवभावओ य तारेइ तेण तं भावओ तित्थं ॥ १ ॥" ति, त्रिषु वा–क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णानिरासकर्ममलापनयनलक्षणेषु ज्ञानादिलक्षणेषु वा अर्थेषु तिष्ठतीति त्रिस्थं, प्राकृतत्वात् तित्थं, आह च—"दाहोवसमादिसु वा जं तिसु थियमहव दंसणाईसुं। तो तित्थं सङ्घो च्चिय उभयं च विसेसणविसेसं ॥ १ ॥" ति, 'विशेषणविशेष्य'मिति तीर्थं सङ्घ इति सङ्घो वा तीर्थमिति, त्रयो वा क्रोधाग्निदाहोपशमादयोऽर्थाः–फलानि यस्य तत् त्र्यर्थं, तित्थंति पूर्ववत्, आह च—"कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव तिन्नि जस्सऽत्था। होइ तियत्थं तित्थं तमत्थसद्दो फलत्थोऽयं ॥१॥" अथवा त्रयो ज्ञानादयोऽर्थाः–वस्तूनि यस्य तत्त्र्यर्थम्, आह च—"अहवा सम्मद्दंसणनाणचरित्ताइं तिन्नि जस्सऽत्था। तं तित्थं पुव्वोदियमिहमत्थो वत्थुपज्जाओ ॥ १ ॥" त्ति ॥ तत्र तीर्थे सति सिद्धाः–निर्वृतास्तीर्थसिद्धा ऋषभसेनगणधरादिवत् तेषां वर्गणेति १, तथा

१ यत् ज्ञानदर्शनचारित्रभावतस्तद्विपक्षभावात्। भवभावतश्च तारयति तेन तद्भावतस्तीर्थम् ॥ १ ॥ २ दाहोपशमादिषु वा यत्रिषु स्थितमथवा दर्शनादिषु। ततस्तीर्थं सङ्घ एवोभयं च विशेषणविशेष्यम् ॥ १ ॥ ३ क्रोधाग्निदाहशमनादयो वा ते चैव त्रयो यस्यार्थाः। भवति त्र्यर्थं तीर्थं तत् अर्थशब्दः फलार्थोऽयम् ॥ १ ॥ ४ अथवा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि त्रयो यस्यार्थाः। तत् तीर्थं पूर्वोदितमिहार्थो वस्तुपर्यायः ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


सिध्धानाम पंचदश-भेदाः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]



अतीर्थे–तीर्थान्तरे साधुव्यवच्छेदे जातिस्मरणादिना प्राप्तापवर्गमार्गा मरुदेवीवत् सिद्धा अतीर्थसिद्धास्तेषा २, एवंकरणात् 'एगा तित्थगरसिद्धाणं वग्गणे'त्यादि दृश्यं, तीर्थमुक्तलक्षणं तत्कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया वेति तीर्थकराः, आह च—"[1]अणुलोमहेउतस्सीलयाय जे भावतित्थमेयं तु । कुव्वंति पगासंति उ ते तित्थगरा हियत्थकरा ॥ १ ॥" इति, तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धास्ते तीर्थकरसिद्धा ऋषभादिवत् तेषां ३, अतीर्थकरसिद्धाः सामान्यकेवलिनः सन्तो ये सिद्धा गौतमादिवत् तेषाम् ४, तथा स्वयम्–आत्मना बुद्धाः–तत्त्वं ज्ञातवन्तः स्वयम्बुद्धास्ते सन्तो ये सिद्धास्ते तथा तेषां ५, तथा प्रतीत्यैकं किञ्चित् वृषभादिकं अनित्यतादिभावनाकारणं वस्तु बुद्धाः–बुद्धवन्तः परमार्थमिति प्रत्येकबुद्धास्ते सन्तो ये सिद्धास्ते तथा तेषां ६, स्वयम्बुद्धप्रत्येकबुद्धानां च बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषः, तथाहि–स्वयम्बुद्धानां बाह्यनिमित्तमन्तरेणैव बोधिः प्रत्येकबुद्धानां तु तदपेक्षया, करकण्डुबादीनामिवेति, उपधिः स्वयम्बुद्धानां पात्रादिर्द्वादशविधः, तद्यथा–'[2]पत्तं १ पत्ताबंधो २ पायठवणं ३ च पायकेसरिया ४ । पडलाइ ५ रयत्ताणं च ६ गोच्छओ ७ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥ तिन्नेव य पच्छागा १० रयहरणं ११ चेव होइ मुहपोत्ति १२ ॥" त्ति, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्ज इति, स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीते श्रुते अनियमः प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव, लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयम्बुद्धा-

१ अनादि तीर्थमित्युत्पन्नेऽपि तीर्थान्तरता अत एव विशिष्टता साधुव्यवच्छेदादिना. २ आनुलोम्यहेतुतच्छीलतया ये भावतीर्थमेतत्तु । कुर्वन्ति प्रकाशयन्ति तु ते तीर्थकरा हितार्थकराः ॥ १ ॥ ३ पात्राणि पात्रबन्धः पात्रस्थापनं पात्रकेसरिका । पटलानि रजस्त्राणं च गोच्छकः पात्रनियोगः ॥ १ ॥ त्रय एव प्रच्छादका रजोहरणमेव भवति मुखवस्त्रिका ।





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिध्धानाम पंचदश-भेदाः

नामाचार्यसन्निधावपि भवति प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीति। बुद्धबोधिताः–आचार्यादिबोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते बुद्धबोधितसिद्धास्तेषां ७, एतेषामेव स्त्रीलिङ्गसिद्धानां ८ पुंलिङ्गसिद्धानां ९ नपुंसकलिङ्गसिद्धानां १० स्वलिङ्गसिद्धानां रजोहरणाद्यपेक्षया ११ अन्यलिङ्गसिद्धानां परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धानां १२ गृहिलिङ्गसिद्धानां मरुदेवीप्रभृतीनां १३ एकसिद्धानामेकैकस्मिन् समये एकैकसिद्धानां १४ अनेकसिद्धानामेकसमये द्व्यादीनां अष्टशतान्तानां सिद्धानामेका वर्गणेति १५। तत्रानेकसमयसिद्धानां प्ररूपणा गाथा—'बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा। चुलसीई छन्नउई दुरहिय अट्ठोत्तर सयं च ॥ १ ॥" एतद्विवरणं–यदा एकसमयेन एकादय उत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति तदा द्वितीयेऽपि समये द्वात्रिंशद्, एवं नैरन्तर्येण अष्टौ समयान् यावत् द्वात्रिंशत् सिध्यन्ति, तत ऊर्ध्वमवश्यमेवान्तरं भवतीति, यदा पुनस्त्रयस्त्रिंशद(त आ)रभ्य अष्टचत्वारिंशदन्ताः एकसमयेन सिद्ध्यन्ति तदा निरन्तरं सप्त समयान् यावत् सिद्ध्यन्ति, ततोऽवश्यमेवान्तरं भवतीति, एवं यदा एकोनपञ्चाशतमादि कृत्वा यावत् षष्टिरेकसमयेन सिद्ध्यन्ति तदा निरन्तरं षट् समयान् सिद्ध्यन्ति, तदुपरि अन्तरं समयादिर्भवति, एवमन्यत्रापि योज्यम्, यावत् अष्टशतमेकसमयेन यदा सिद्ध्यति तदाऽवश्यमेव समयाद्यन्तरं भवतीति। अन्ये तु व्याचक्षते–अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धिस्तदा प्रथमसमये जघन्येनैकः सिध्यत्युत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति, द्वितीयसमये जघन्येनैकः उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत्, तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः समय उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं भावनीयः बत्तीसेत्यादि ॥ एवमनन्तरसिद्धानां तीर्थादिना भूतभावेन प्रत्यासत्तिव्यपदेश्यत्वेन पञ्चदशविधानां वर्गणैकत्वमुक्तमिदानीं परम्परसिद्धानामुच्यते, तत्र 'अपढमसमयसिद्धाण'मित्यादित्रयो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिध्धानाम पंचदश-भेदा:

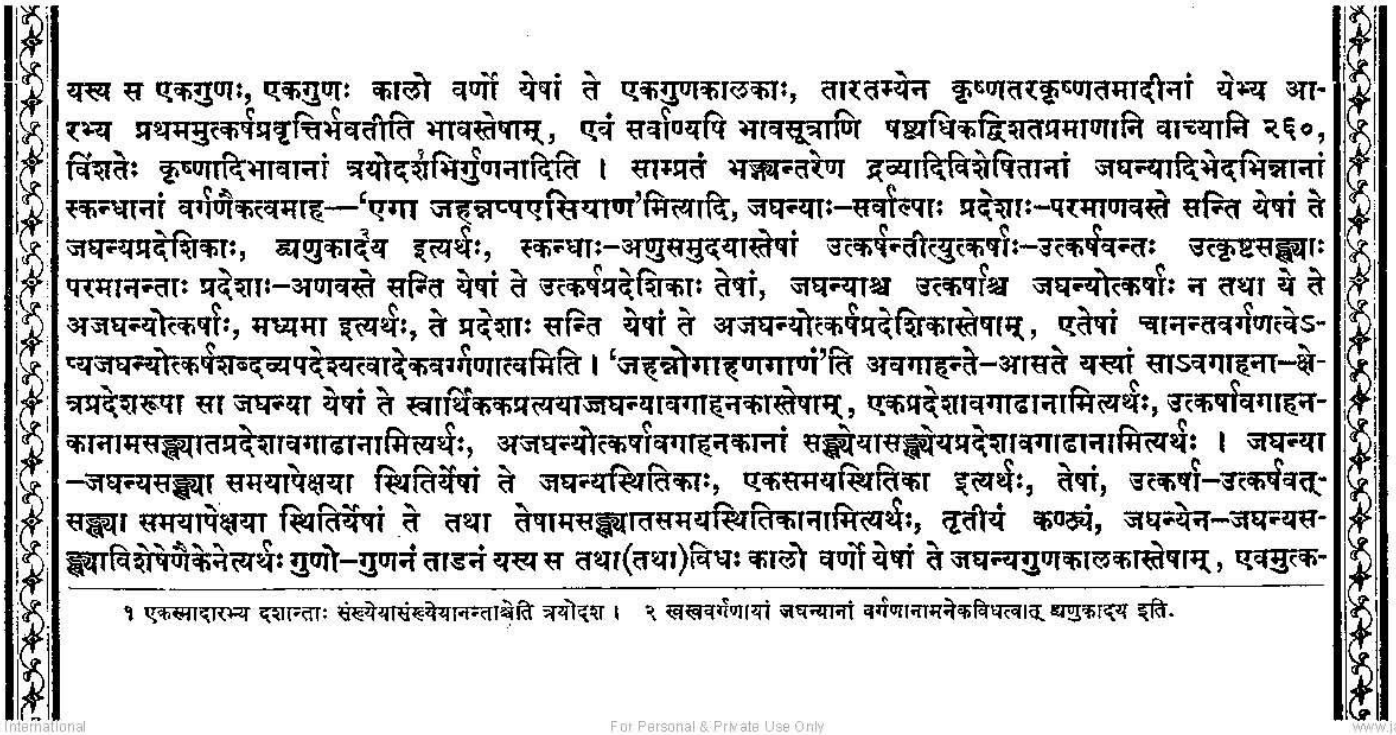
दशसूत्री, न प्रथमसमयसिद्धाः अप्रथमसमयसिद्धाः सिद्धत्वद्वितीयसमयवर्त्तिनः तेषामेवं 'जाव'त्तिकरणाद् 'दुसमयसिद्धाणं तिचउपंचछसत्तट्ठनवदससंखेज्जासंखेज्जसमयसिद्धाण'मिति दृश्यं, तत्र सिद्धत्वस्य तृतीयादिषु समयेषु द्विसमयसिद्धादयः प्रोच्यन्ते, यद्वा सामान्येनाप्रथमसमयाभिधानं विशेषतो द्विसमयाद्यभिधानमिति, अतस्तेषां वर्गणा, क्वचित् 'पढमसमयसिद्धाणं'ति पाठः, तत्र अनन्तरपरम्परसमयसिद्धलक्षणं भेदमकृत्वा प्रथमसमयसिद्धा अनन्तरसिद्धा एव व्याख्यातव्याः, द्व्यादिसमयसिद्धास्तु यथाश्रुता एवेति ॥ इतो द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य पुद्गलवर्गणैकत्वं चिन्त्यते—पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, ते च स्कन्धा अपि स्युरिति विशेषयति–परमाणवो–निष्प्रदेशास्ते च पुद्गलाश्चेति विग्रहस्तेषां, एवंकरणात् 'दुपएसियाणं खंधाणं तिचउपंचछसत्तट्ठनवदससंखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाण'मिति दृश्यमिति, कृता द्रव्यतः पुद्गलचिन्ता, अतः क्षेत्रतः क्रियते—'एगा एगपएसे'त्यादि, एकस्मिन् प्रदेशे क्षेत्रस्यावगाढाः–अवस्थिता एकप्रदेशावगाढास्तेषां ते च परमाण्वादयोऽनन्तप्रादेशिकस्कन्धान्ताः स्युः, अचिन्त्यत्वात् द्रव्यपरिणामस्य, यथा पारदस्यैकेन कर्षेण चारिताः सुवर्णस्य ते सप्ताप्येकीभवन्ति, पुनर्वामिताः प्रयोगतः ससैव त इति, 'जाव एगा असंखेज्जपएसोगाढाणं'ति, अनन्तप्रदेशावगाहित्वं तु नास्ति पुद्गलानां, लोकलक्षणस्यावगाहक्षेत्रस्याप्यसङ्ख्येयप्रदेशत्वादिति, कालत आह—'एगा एगसमए'त्यादि, एकं समयं यावत् स्थितिः–परमाणुत्वादिना एकप्रदेशावगाढादित्वेन एकगुणकालादित्वेन वाऽवस्थानं येषां ते एकसमयस्थितिकास्तेषामिति, इह च अनन्तसमयस्थितेः पुद्गलानामभावाद् असङ्ख्येजसमयद्वितीयाणमित्युक्तमिति, भावतः पुद्गलानाह—एकेन गुणो—गुणनं ताडनं






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


सिध्धानाम पंचदश-भेदा:



यस्य स एकगुणः, एकगुणः कालो वर्णो येषां ते एकगुणकालकाः, तारतम्येन कृष्णतरकृष्णतमादीनां येभ्य आरभ्य प्रथममुत्कर्षप्रवृत्तिर्भवतीति भावस्तेषाम्, एवं सर्वाण्यपि भावसूत्राणि षष्ट्यधिकद्विशतप्रमाणानि वाच्यानि २६०, विंशतेः कृष्णादिभावानां त्रयोदशभिर्गुणनादिति । साम्प्रतं भङ्ग्यन्तरेण द्रव्यादिविशेषितानां जघन्यादिभेदभिन्नानां स्कन्धानां वर्गणैकत्वमाह—'एगा जहन्नप्पएसियाण'मित्यादि, जघन्याः–सर्वाल्पाः प्रदेशाः–परमाणवस्ते सन्ति येषां ते जघन्यप्रदेशिकाः, द्व्यणुकादेय इत्यर्थः, स्कन्धाः–अणुसमुदयास्तेषां उत्कर्षन्तीत्युत्कर्षाः–उत्कर्षवन्तः उत्कृष्टसङ्ख्याः परमानन्ताः प्रदेशाः–अणवस्ते सन्ति येषां ते उत्कर्षप्रदेशिकाः तेषां, जघन्याश्च उत्कर्षाश्च जघन्योत्कर्षाः न तथा ये ते अजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः, ते प्रदेशाः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकास्तेषाम्, एतेषां चानन्तवर्गणत्वेऽप्यजघन्योत्कर्षशब्दव्यपदेश्यत्वादेकवर्गणात्वमिति । 'जहन्नोगाहणगाणं'ति अवगाहन्ते–आसते यस्यां साऽवगाहना–क्षेत्रप्रदेशरूपा सा जघन्या येषां ते स्वार्थिककप्रत्ययाजघन्यावगाहनकास्तेषाम्, एकप्रदेशावगाढानामित्यर्थः, उत्कर्षावगाहनकानामसङ्ख्यातप्रदेशावगाढानामित्यर्थः, अजघन्योत्कर्षावगाहनकानां सङ्ख्येयासङ्ख्येयप्रदेशावगाढानामित्यर्थः । जघन्या–जघन्यसङ्ख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते जघन्यस्थितिकाः, एकसमयस्थितिका इत्यर्थः, तेषां, उत्कर्षा–उत्कर्षवत्सङ्ख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते तथा तेषामसङ्ख्यातसमयस्थितिकानामित्यर्थः, तृतीयं कण्ठ्यं, जघन्येन–जघन्यसङ्ख्याविशेषेणैकेनेत्यर्थः गुणो–गुणनं ताडनं यस्य स तथा(तथा)विधः कालो वर्णो येषां ते जघन्यगुणकालकास्तेषाम्, एवमुत्क-

१ एकस्मादारभ्य दशान्ताः संख्येयासंख्येयानन्ताश्चेति त्रयोदश । २ खखवर्गणायां जघन्यानां वर्गणानामनेकविधत्वात् द्व्यणुकादय इति.

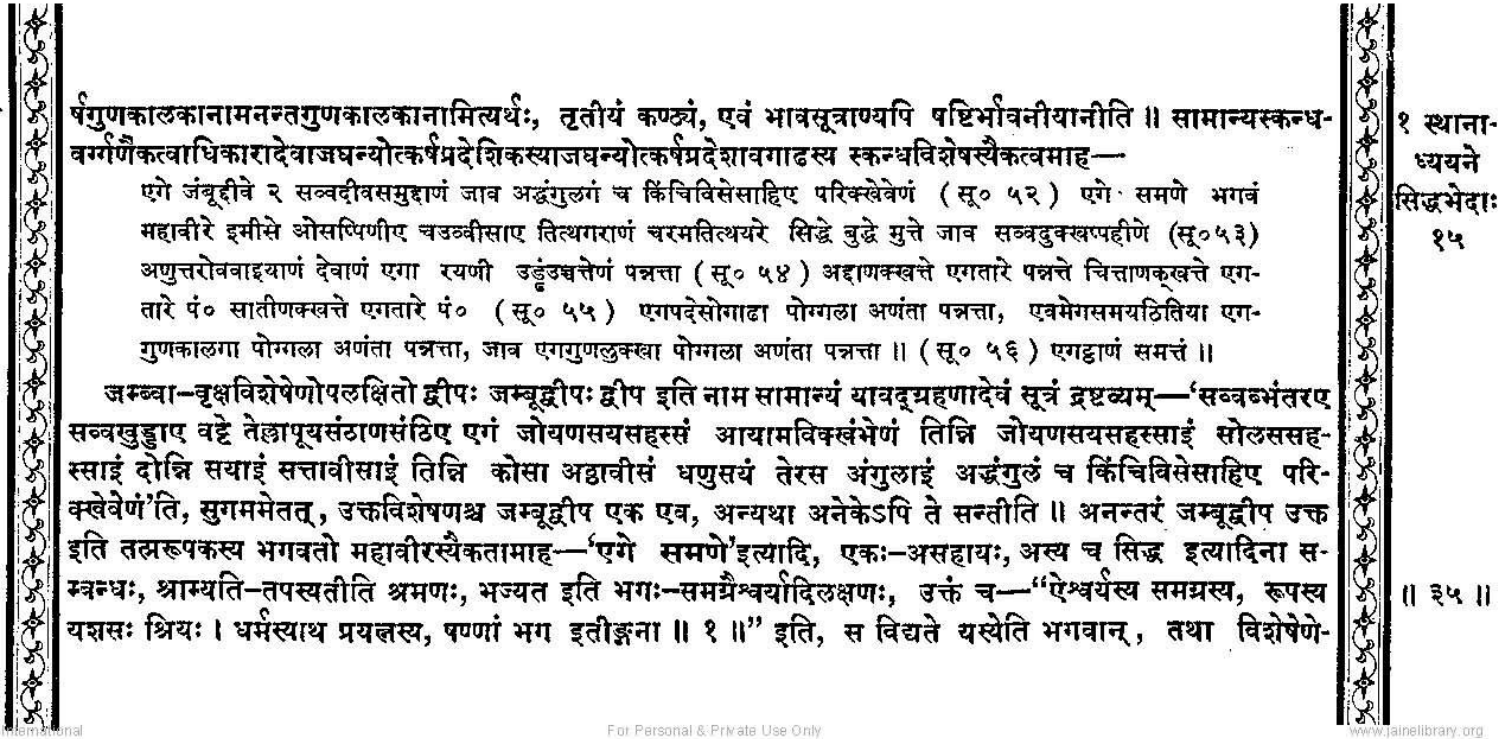
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | सिध्धानाम पंचदश-भेदा: |

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५१]

दीप अनुक्रम [५१]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ३५ ॥

षर्गुणकालकानामनन्तगुणकालकानामित्यर्थः, तृतीयं कण्ठ्यं, एवं भावसूत्राण्यपि षष्टिर्भावनीयानीति ॥ सामान्यस्कन्धवर्गणैकत्वाधिकारादेवाजघन्योत्कर्षप्रदेशिकस्याजघन्योत्कर्षप्रदेशावगाढस्य स्कन्धविशेषस्यैकत्वमाह—

एगे जंबूदीवे २ सव्वदीवसमुद्दाणं जाव अद्धंगुलगं च किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं (सू० ५२) एगे समणे भगवं महावीरे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसाए तित्थगराणं चरमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे (सू०५३) अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं एगा रयणी उड्ढुच्चत्तेणं पन्नत्ता (सू० ५४) अद्दाणक्खत्ते एगतारे पन्नत्ते चित्ताणक्खत्ते एगतारे पं० सातीणक्खत्ते एगतारे पं० (सू० ५५) एगपदेसोगाढा पोग्गला अणंता पन्नत्ता, एवमेगसमयठितिया एगगुणकालगा पोग्गला अणंता पन्नत्ता, जाव एगगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पन्नत्ता ॥ (सू० ५६) एगट्ठाणं समत्तं ॥

जम्बा–वृक्षविशेषेणोपलक्षितो द्वीपः जम्बूद्वीपः द्वीप इति नाम सामान्यं यावद्ग्रहणादेवं सूत्रं द्रष्टव्यम्—'सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोन्नि सयाइं सत्तावीसाइं तिन्नि कोसा अट्ठावीसं धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं'ति, सुगममेतत्, उक्तविशेषणश्च जम्बूद्वीप एक एव, अन्यथा अनेकेऽपि ते सन्तीति ॥ अनन्तरं जम्बूद्वीप उक्त इति तत्प्ररूपकस्य भगवतो महावीरस्यैकतामाह—'एगे समणे'इत्यादि, एकः–असहायः, अस्य च सिद्ध इत्यादिना सम्बन्धः, श्राम्यति–तपस्यतीति श्रमणः, भज्यत इति भगः–समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, उक्तं च—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥" इति, स विद्यते यस्येति भगवान्, तथा विशेषेणे-

१ स्थानाध्ययने सिद्धभेदाः १५

॥ ३५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

*** न अत्र सिध्धानाम भेदा: वर्तते, यत् मूल सम्पादकेन शीर्षके लिखितम् तत् मुद्रण-अशुध्धि: वर्तते

रयति–मोक्षं प्रति गच्छति गमयति वा प्राणिनः प्रेरयति वा–कर्म्माणि निराकरोति वीरयति वा–रागादिशत्रून् प्रति पराक्रमयति इति वीरः, निरुक्तितो वा वीरो, यदाह—"विदारयति यत्कर्म्म, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद् वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥" इतरवीरापेक्षया महांश्चासौ वीरश्चेति महावीरः, भाष्योक्तं च—'तिहुयणविक्खायजसो महाजसो नामओ महावीरो । विक्कंतो य कसायाइसत्तुसेन्नप्पराजयओ ॥ १ ॥ ईरेइ विसेसेण व खिवइ कम्माइं गमयइ सिवं वा । गच्छइ अ तेण वीरो स महं वीरो महावीरो ॥ २ ॥" त्ति ॥ अस्यामवसर्प्पिण्यां चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणां मध्ये चरमतीर्थकरः सिद्धः–कृतार्थो जातः बुद्धः–केवलज्ञानेन बुद्धवान् बोध्यं मुक्तः–कर्म्मभिः यावत्करणात् 'अंतकडे' अन्तो भवस्य कृतो येन सोऽन्तकृतः 'परिनिव्वुडे' परिनिर्वृतः कर्म्मकृतविकारविरहात् स्वस्थीभूतः, किमुक्तं भवति?–सव्वदुक्खप्पहीणे–सर्वाणि शारीरादीनि दुःखानि प्रक्षीणानि प्रहीणानि वा यस्य स सर्वदुःखप्रक्षीणः सर्वदुःखप्रहीणो वा, सर्वत्र बहुव्रीहौ क्तान्तस्य यः परनिपातः स आहिताग्न्यादिदर्शनादिति, इह च तीर्थकरेष्वेतस्यैवैकत्वं मोक्षगमने, न तु ऋषभादीनां, दशसहस्रादिपरिवृतत्वेन तेषां सिद्धत्वाद्, उक्तं च—"एगो भगवं वीरो तेत्तीसाए सह निव्वुओ पासो । छत्तीसएहिं पंचहिं सएहिं नेमी उ सिद्धि गओ ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ एकाकी वीरो निर्वृत इत्युक्तं, निर्वृतिक्षेत्रासन्नानि चानुत्तरविमाना-

---

१ त्रिभुवनविख्यातयशा महायशा नामतो महावीरः । विक्रान्तश्च कषायादिशत्रुसैन्यपराजयात् ॥ १ ॥ ईरयति विशेषेण वा क्षपयति कर्माणि गमयति शिवं वा । गच्छति च तेन वीरः स महान् वीरो महावीरः ॥ १ ॥ २ एवं प्रकारेण तु भाष्योक्तमिति संबन्धः. ३ एको भगवान् वीरस्त्रयस्त्रिंशता सह निर्वृतः पार्श्वः । षट्त्रिंशदधिकैः पञ्चभिः शतैर्नेमिस्तु सिद्धिं गतः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

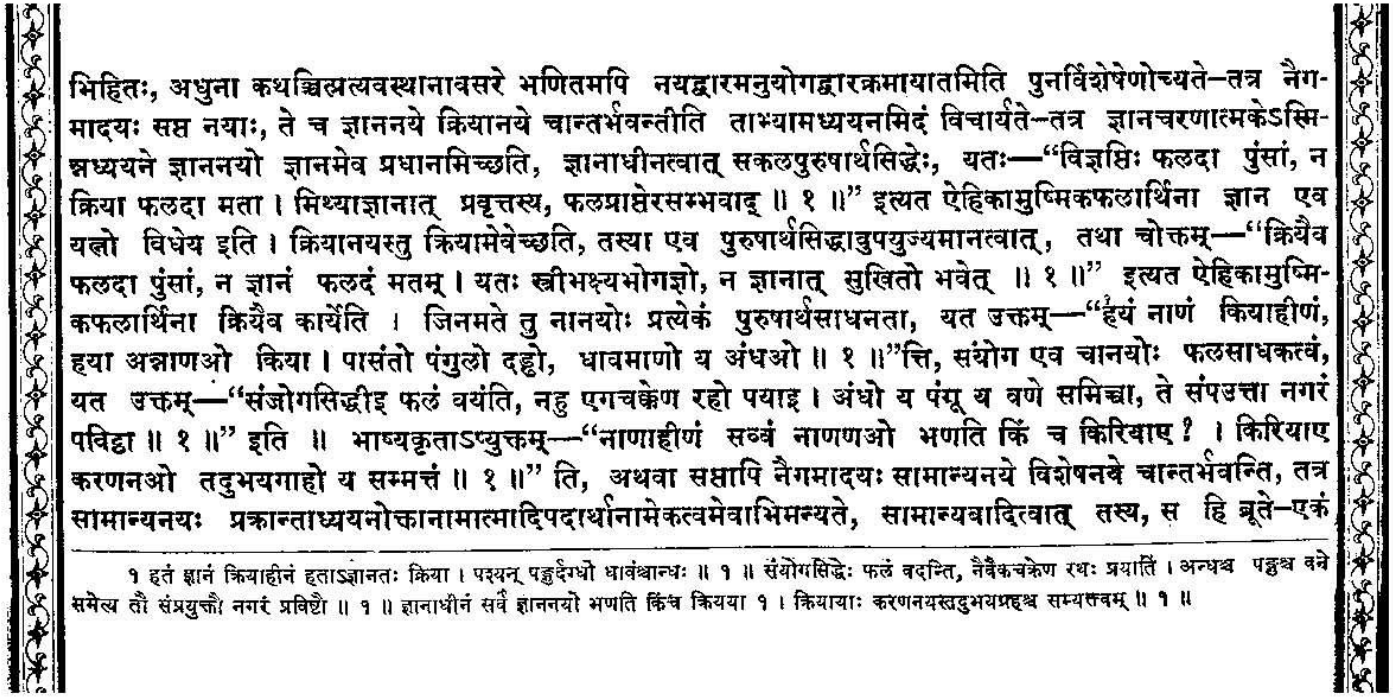
नीति तन्निवासिदेवमानमाह— 'अनुत्तरे'त्यादि, अनुत्तरत्वादनुत्तराणि–विजयादिविमानानि तेषु य उपपातो–जन्म स विद्यते येषां तेऽनुत्तरोपपातिकास्ते, णंकारौ वाक्यालङ्कारे, देवाः–सुरा एकां रत्निं–हस्तं यावत् 'क्रोशं कौटिल्येन नदी'तिवदिह द्वितीया, 'उड्ढंउच्चत्तेणं' ति वस्तुनो ह्यनेकधोच्चत्वम्, ऊर्द्धस्थितस्यैकमपरं तिर्यक्स्थितस्यान्यत् गुणोन्नतिरूपम्, तत्रेतरापोहेनोर्ध्वस्थितस्य यदुच्चत्वं तदूर्ध्वोच्चत्वमित्यागमे रूढमिति तेनोर्द्धोच्चत्वेन, अनुस्वारः प्राकृतत्वात्, प्रज्ञप्ताः–प्ररूपिताः सर्वविद्भिरिति, अथवा अनुत्तरोपपातिकानां देवानामूर्ध्वोच्चत्वेन प्रमाणमिति शेषः, एका रत्निः प्रज्ञप्तेति व्याख्येयमिति ॥ देवाधिकारादेव नक्षत्रदेवानां 'अदा नक्खत्ते'इत्यादिना कण्ठ्येन सूत्रत्रयेण तारैकत्वमुक्तम्, तारा च–ज्योतिर्विमानरूपेति, कृत्तिकादिषु च नक्षत्रेष्विदं ताराप्रमाणम्—'छ ६ प्पंच ५ तिन्नि ३ एगं १ चेउ ४ तिगं ३ रस ६ वेय ४ जुयल २ जुयलं च २। इंदिय ५ एगं १ एगं १ विसय ५ गिरि ३ समुद ४ बारसगं १२ ॥ १ ॥ चउरो ४ तिय ३ तिय ३ तिय ३ पंच ५ सत्त ७ बे २ बे २ भवे तिया तिन्नि ३-३-३। रिक्खे तारपमाणं जइ तिहितुल्लं हयं कज्जं ॥ २॥" ति, इह चैकस्थानकानुरोधान्नक्षत्रत्रयस्य ताराप्रमाणमुक्तं, शेषनक्षत्राणां तु प्रायोऽग्रेतनाध्ययनेषु तद् वक्ष्यति, यस्तु क्वचिद्विसंवादस्ताराप्रमाणस्य स तथाविधप्रयोजनेषु तिथिविशेषस्य नक्षत्रविशेषयुक्तस्याशुभत्वसूचनार्थत्वेनोक्तगाथयोर्मतान्तरभूतत्वान्न बाधक इति। तारा पुद्गलरूपेति पुद्गलस्वरूपमभिधातुमाह—'एगप्पएसोगाढे'इत्यादि सुगमं, नवरमेकत्र प्रदेशे–क्षेत्रस्यांशविशेषे अवगाढाः–आश्रिता एकप्रदेशावगाढाः, ते च परमाणुरूपाः स्कन्धरूपाश्चेति, एवं वर्ण ५-गन्ध २ रस ५ स्पर्श ५ भेदविशिष्टाः पुद्गला वाच्याः, अत एवोक्तम्—'जाव एगगुणलुक्खे'इत्यादि ॥ तदेवमनुगमोऽ-

१ °वदेहमान० मुद्रिते.




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


*** न अत्र सिध्धानाम भेदा: वर्तते, यत् मूल सम्पादकेन शीर्षके लिखितम् तत् मुद्रण-अशुध्धि: वर्तते



भिहितः, अधुना कथञ्चिल्लत्यवस्थानावसरे भणितमपि नयद्वारमनुयोगद्वारक्रमायातमिति पुनर्विशेषेणोच्यते–तत्र नैगमादयः सप्त नयाः, ते च ज्ञाननये क्रियानये चान्तर्भवन्तीति ताभ्यामध्ययनमिदं विचार्यते–तत्र ज्ञानचरणात्मकेऽस्मिन्नध्ययने ज्ञाननयो ज्ञानमेव प्रधानमिच्छति, ज्ञानाधीनत्वात् सकलपुरुषार्थसिद्धेः, यतः—"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता। मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलप्राप्तेरसम्भवाद् ॥ १ ॥" इत्यत ऐहिकामुष्मिकफलार्थिना ज्ञान एव यत्नो विधेय इति। क्रियानयस्तु क्रियामेवेच्छति, तस्या एव पुरुषार्थसिद्धावुपयुज्यमानत्वात्, तथा चोक्तम्—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥ १ ॥" इत्यत ऐहिकामुष्मिकफलार्थिना क्रियैव कार्येति। जिनमते तु नानयोः प्रत्येकं पुरुषार्थसाधनता, यत उक्तम्—"[१]हयं नाणं किया हीणं, हया अन्नाणओ किया। पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥ १ ॥"त्ति, संयोग एव चानयोः फलसाधकत्वं, यत उक्तम्—"संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, नहु एगचक्केण रहो पयाइ। अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥ १ ॥" इति ॥ भाष्यकृताऽप्युक्तम्—"नाणाहीणं सव्वं नाणणओ भणति किं च किरियाए? । किरियाए करणनओ तदुभयगाहो य सम्मत्तं ॥ १ ॥" ति, अथवा सप्तापि नैगमादयः सामान्यनये विशेषनये चान्तर्भवन्ति, तत्र सामान्यनयः प्रक्रान्ताध्ययनोक्तानामात्मादिपदार्थानामेकत्वमेवाभिमन्यते, सामान्यवादित्वात् तस्य, स हि ब्रूते–एकं

स्था० ७

१ हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हताऽज्ञानतः क्रिया। पश्यन् पङ्गुर्दग्धो धावंश्चान्धः ॥ १ ॥ संयोगसिद्धेः फलं वदन्ति, नैवैकचक्रेण रथः प्रयाति। अन्धश्च पङ्गुश्च वने समेत्य तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥ १ ॥ ज्ञानाधीनं सर्वं ज्ञाननयो भणति किंच क्रियया १। क्रियायाः करणनयस्तदुभयग्रहश्च सम्यक्त्वम् ॥ १ ॥

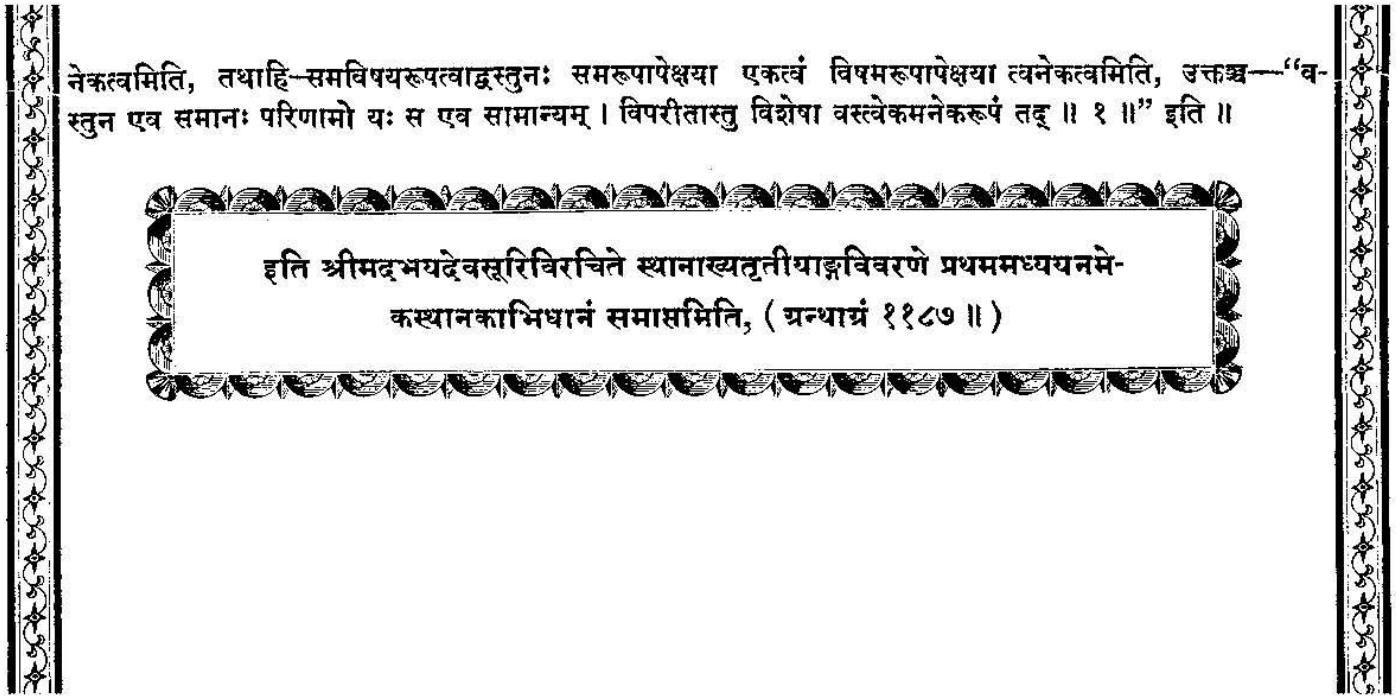
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नित्यं निरवयवं निष्क्रियं सर्वगं च सामान्यमेवास्ति, न विशेषो, निःसामान्यत्वात्, इह यन्निःसामान्यं तन्नास्ति यथा खरविषाणं, यच्चास्ति न तन्निःसामान्यं यथा घट इति, तथा सामान्यादन्येऽनन्ये वा विशेषाः प्रतिपद्येरन्?, यद्यन्ये ननूक्तमसन्तस्ते निःसामान्यत्वात् खपुष्पवत्, अथानन्ये तदा सामान्यमात्रमेव, तत्र वा विशेषोपचारः, न चोपचारेणार्थतत्त्वं चिन्त्यत इति, आह च—"एकं नित्यं निरवयवमक्रियं सव्वगं च सामन्नं । निस्सामन्नत्ताओ नत्थि विसेसो खपुप्फं व ॥ १ ॥ तथा–सामन्नाओ विसेसो अन्नोऽनन्नो व होज्ज? जइ अन्नो । सो नत्थि खपुप्फं पिवऽणन्नो सामन्नमेव तयं ॥ २ ॥" ति, तदेवं सामान्यनयाभिप्रायेणात्मादीनामेकत्वमेव । विशेषनयमतेन तु तेषामनेकत्वमेव, स हि ब्रूते–विशेषेभ्यः सामान्यं भिन्नमभिन्नं वा स्यात्?, न भिन्नमत्यन्तानुपलम्भात् खपुष्पवत्, तथा–न सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमस्ति, दाहपाकस्नानपानावगाहवाहदोहादिसर्वसंव्यवहाराभावात् खरविषाणवत्, अथाभिन्नं तदा विशेषमात्रं वस्तु न नाम सामान्यमस्ति, तेषु वा सामान्यमात्रोपचार इति, न चोपचारेणार्थतत्त्वं चिन्त्यत इति, आह च—"[१]न विसेसत्थंतरभूयमत्थि सामन्नमाह ववहारो । उवलंभव्ववहाराभावाओ खरविसाणं व ॥ १ ॥" इति, तदेवमात्मादीनामनेकत्वमेवेति । ननु पक्षद्वयेऽपि युक्तिसम्भवात् किं तत्त्वं प्रतिपत्तव्यमिति?, उच्यते, स्यादेकत्वं स्याद-

१ एकं नित्यं निरवयवमक्रियं सर्वगं च सामान्यम् । निस्सामान्यत्वात् नास्ति विशेषः खपुष्पवत् ॥ १ ॥ सामान्याद्विशेषः अन्योऽनन्यो वा भवेत्? यद्यन्यः । स नास्ति खपुष्पमिव अनन्यः सामान्यमेव तकत् ॥ २ ॥ २ न विशेषादर्थान्तरभूतमस्ति सामान्यमाह व्यवहारः । उपलम्भव्यवहाराभावात् खरविषाणमिव ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



नेकत्वमिति, तथाहि–समविषयरूपत्वाद्धस्तुनः समरूपापेक्षया एकत्वं विषमरूपापेक्षया त्वनेकत्वमिति, उक्तञ्च—"व-
स्तुन एव समानः परिणामो यः स एव सामान्यम् । विपरीतास्तु विशेषा वस्त्वेकमनेकरूपं तद् ॥ १ ॥" इति ॥

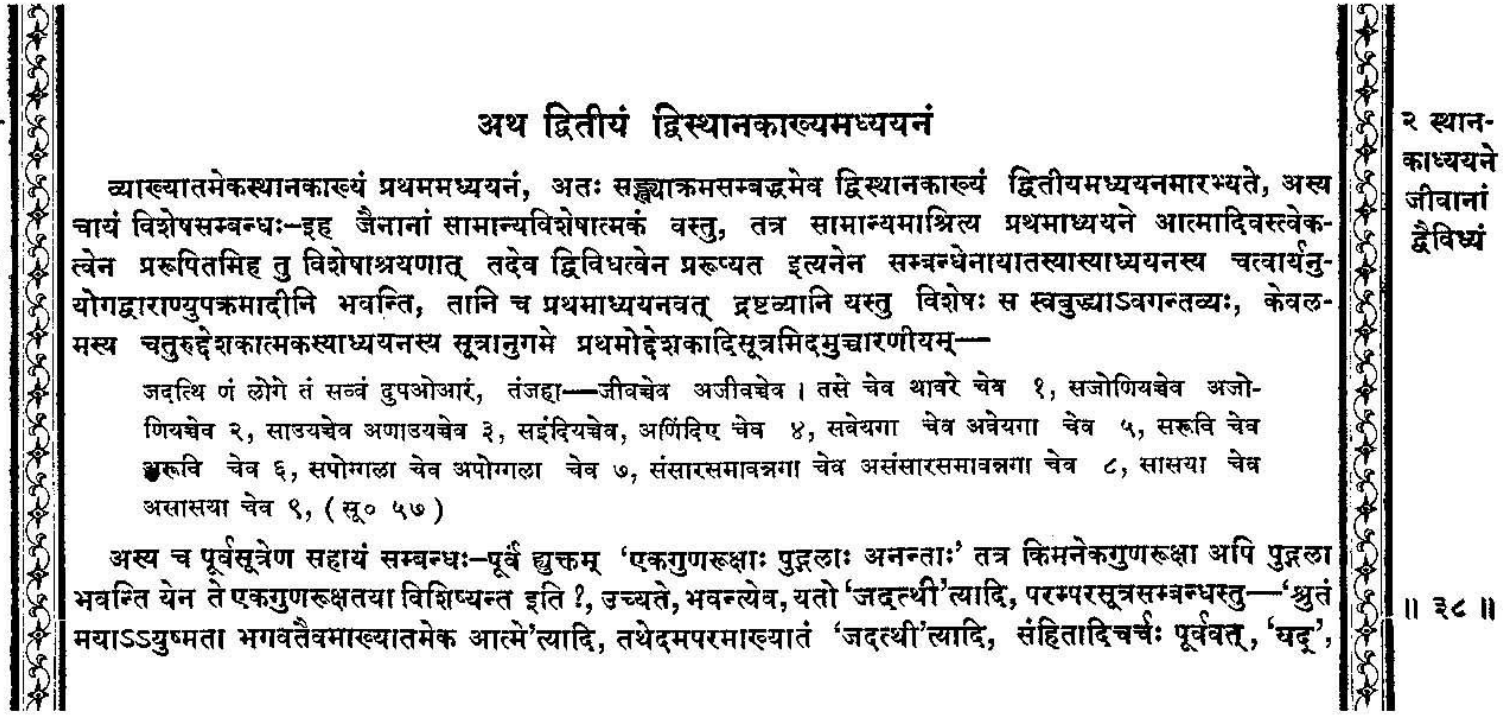
इति श्रीमदभयदेवसूरिविरचिते स्थानाख्यतृतीयाङ्गविवरणे प्रथममध्ययनमे-
कस्थानकाभिधानं समाप्तमिति, ( ग्रन्थाग्रं ११८७ ॥ )

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | अत्र प्रथमं स्थानं (अध्ययनं) परिसमाप्तं |

प्रत सूत्रांक [५७]

दीप अनुक्रम [५७]



श्रीस्थाना-ङ्गसूत्र-वृत्तिः ॥ ३८ ॥

## अथ द्वितीयं द्विस्थानकाख्यमध्ययनं

व्याख्यातमेकस्थानकाख्यं प्रथममध्ययनं, अतः सङ्ख्याक्रमसम्बद्धमेव द्विस्थानकाख्यं द्वितीयमध्ययनमारभ्यते, अस्य चायं विशेषसम्बन्धः—इह जैनानां सामान्यविशेषात्मकं वस्तु, तत्र सामान्यमाश्रित्य प्रथमाध्ययने आत्मादिवस्त्वेकत्वेन प्ररूपितमिह तु विशेषाश्रयणात् तदेव द्विविधत्वेन प्ररूप्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति, तानि च प्रथमाध्ययनवत् द्रष्टव्यानि यस्तु विशेषः स स्वबुद्ध्याऽवगन्तव्यः, केवलमस्य चतुरुद्देशकात्मकस्याध्ययनस्य सूत्रानुगमे प्रथमोद्देशकादिसूत्रमिदमुच्चारणीयम्—

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं, तंजहा—जीवच्चेव अजीवच्चेव । तसे चेव थावरे चेव १, सजोणियच्चेव अजोणियच्चेव २, साउयच्चेव अणाउयच्चेव ३, सइंदियच्चेव, अणिंदिए चेव ४, सवेयगा चेव अवेयगा चेव ५, सरूवि चेव अरूवि चेव ६, सपोग्गला चेव अपोग्गला चेव ७, संसारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव ८, सासया चेव असासया चेव ९, (सू० ५७)

अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायं सम्बन्धः—पूर्वं ह्युक्तम् 'एकगुणरूक्षाः पुद्गलाः अनन्ताः' तत्र किमनेकगुणरूक्षा अपि पुद्गला भवन्ति येन ते एकगुणरूक्षतया विशिष्यन्त इति ?, उच्यते, भवन्त्येव, यतो 'जदत्थी'त्यादि, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु—'श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातमेक आत्मे'त्यादि, तथेदमपरमाख्यातं 'जदत्थी'त्यादि, संहितादिचर्चः पूर्ववत्, 'यद्',

२ स्थान-काध्ययने जीवानां द्वैविध्यं ॥ ३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र द्वितीयं स्थानं (अध्ययनं) आरभ्यते, जीवानाम् द्वैविध्यं

प्रत सूत्रांक [५७]

दीप अनुक्रम [५७]


जीवादिकं वस्तु 'अस्ति' विद्यते, णमितिवाक्यालङ्कारे, क्वचित्पाठो 'जदत्थि च णं'ति, तत्रानुस्वार आगमिकश्चशब्दः पुनरर्थः एवं चास्य प्रयोगः–अस्त्यात्मादि वस्तु, पूर्वाध्ययनप्ररूपितत्वाद्, यच्चास्ति 'लोके' पञ्चास्तिकायात्मके लोक्यते–प्रमीयत इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपे वा तत् 'सर्वं' निरवशेषं द्वयोः पदयोः–स्थानयोः पक्षयोर्विवक्षितवस्तुतद्विपर्ययलक्षणयोरवतारो यस्य तद् द्विपदावतारमिति, 'दुपडोयारं'ति क्वचित् पठ्यते, तत्र द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तत् द्विप्रत्यवतारमिति, स्वरूपवत् प्रतिपक्षवच्चेत्यर्थः, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासे, 'जीवच्चेव अजीवच्चेव'त्ति, जीवाश्चैवाजीवाश्चैव, प्राकृतत्वात् संयुक्तपरत्वेन ह्रस्वः, चकारौ समुच्चयार्थौ, एवकारावधारणे, तेन च राश्यन्तरापोहमाह, नोजीवाख्यं राश्यन्तरमस्तीति चेत्, नैवम्, सर्वनिषेधकत्वे नोशब्दस्य नोजीवशब्देनाजीव एव प्रतीयते, देशनिषेधकत्वे तु जीवदेश एव प्रतीयते, न च देशो देशिनोऽत्यन्तव्यतिरिक्त इति जीव एवासाविति, 'चेय' इति वा एवकारार्थः 'चिय चेय एवार्थे' इति वचनात्, ततश्च जीवा एवेति विवक्षितवस्तु अजीवा एवेति च तत्प्रतिपक्ष इति, एवं सर्वत्र, अथवा 'यदस्ति' अस्तीति यत् सन्मात्रं यदित्यर्थः तद् द्विपदावतारं–द्विविधं, जीवाजीवभेदादिति, शेषं तथैव । अथ त्रसेत्यादिकया नवसूत्र्या जीवतत्त्वस्यैव भेदान् सप्रतिपक्षानुपदर्शयति–'तसे चेवे'त्यादि, तत्र त्रसनामकर्मोदयतस्त्रस्यन्तीति त्रसाः–द्वीन्द्रियादयः स्थावरनामकर्मोदयात् तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः–पृथिव्यादयः, सह योन्या–उत्पत्तिस्थानेन सयोनिकाः–संसारिणस्तद्विपर्यासभूताः अयोनिकाः–सिद्धाः, सहायुषा वर्तन्त इति सायुषस्तदन्येऽनायुषः–सिद्धाः, एवं सेन्द्रियाः–संसारिणः,


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


जीवानाम् द्वैविध्यं,

अनिन्द्रियाः–सिद्धादयः, सवेदकाः–स्त्रीवेदाद्युदयवन्तः, अवेदकाः–सिद्धादयः, सह रूपेण–मूर्त्त्या वर्त्तन्त इति समासान्ते इन्प्रत्यये सति सरूपिणः–संस्थानवर्णादिमन्तः सशरीरा इत्यर्थः, न रूपिणोऽरूपिणो–मुक्ताः, सपुद्गलाः कर्म्मादिपुद्गलवन्तो जीवाः, अपुद्गलाः–सिद्धाः, संसारं–भवं समापन्नकाः–आश्रिताः संसारसमापन्नकाः–संसारिणः, तदितरे सिद्धाः, शाश्वताः–सिद्धाः जन्ममरणादिरहितत्वाद्, अशाश्वताः–संसारिणस्तद्युक्तत्वादिति ॥ एवं जीवतत्त्वस्य द्विपदावतारं निरूप्याजीवतत्त्वस्य तं निरूपयन्नाह–

आगासा चेव नोआगासा चेव । धम्मे चेव अधम्मे चेव । (सू० ५८) बंधे चेव मोक्खे चेव १ पुन्ने चेव पावे चेव २ आसवे चेव संवरे चेव ३ वेयणा चेव निज्जरा चेव ४ (सू० ५९) दो किरियाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—जीवकिरिया चेव अजीवकिरिया चेव १, जीवकिरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मत्तकिरिया चेव, मिच्छत्तकिरिया चेव २, अजीवकिरिया दुविहा पन्नत्ता, तं०—इरियावहिया चेव संपराइगा चेव ३, दो किरियाओ पं० तं०—काइया चेव अहिगरणिया चेव ४, काइया किरिया दुविहा पन्नत्ता तं०—अणुवरयकायकिरिया चेव, दुप्पउत्तकायकिरिया चेव ५, अहिकरणिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तं०—संजोयणाधिकरणिया चेव निव्वत्तणाधिकरणिया चेव ६, दो किरियाओ पं० तं०—पाउसिया चेव पारियावणिया चेव ७, पाउसिया किरिया दुविहा पं० तं०—जीवपाउसिया चेव अजीवपाउसिया चेव ८, पारियावणिया किरिया दुविहा पं० तं०—सहत्थपारियावणिया चेव परहत्थपारियावणिया चेव ९, दो किरियाओ

१ आदिना सयोगिकेवल्यादयः, तेषां क्षायोपशमिकभावाभावात्, क्षायोपशमिकाणि चेन्द्रियाणि.





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियानाम् द्वैविध्यं

पं० तं०—पाणातिवायकिरिया चेव अपच्चक्खाणकिरिया चेव १०, पाणातिवायकिरिया दुविहा पं० तं०—सहत्थपाणातिवायकिरिया चेव परहत्थपाणातिवायकिरिया चेव ११, अपच्चक्खाणकिरिया दुविहा पं० तं०—जीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव अजीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव १२, दो किरियाओ पं० तं०—आरंभिया चेव परिग्गहिया चेव १३, आरंभिया किरिया दुविहा पं० तं०—जीवआरंभिया चेव अजीवआरंभिया चेव १४, एवं परिग्गहियावि १५, दो किरियाओ पं० तं०—मायावत्तिआ चेव मिच्छादंसणवत्तिया चेव १६, मायावत्तिया किरिया दुविहा पं० तं०—आयभाववंकणता चेव परभाववंकणता चेव १७, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं०—ऊणाइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव १८, दो किरियाओ पं० तं०—दिट्ठिया चेव पुट्ठिया चेव १९, दिट्ठिया किरिया दुविहा पं० तं०—जीवदिट्ठिया चेव अजीवदिट्ठिया चेव २०, एवं पुट्ठियावि २१, दो किरियाओ पं० तं०—पाडुच्चिया चेव सामंतोवणिवाइया चेव २२, पाडुच्चिया किरिया दुविहा पं० तं०—जीवपाडुच्चिया चेव अजीवपाडुच्चिया चेव २३, एवं सामंतोवणिवाइयावि २४, दो किरियाओ पं० तं०—साहत्थिया चेव णेसत्थिया चेव २५, साहत्थियाकिरिया दुविहा पं० तं०—जीवसाहत्थिया चेव अजीवसाहत्थिया चेव २६, एवं णेसत्थियावि २७, दो किरियाओ पं० तं०—आणवणिया चेव वेयारणिया चेव २८, जहेव णेसत्थियाओ २९-३०, दो किरियाओ पं० तं०—अणाभोगवत्तिया चेव अणवकंखवत्तिया चेव ३१, अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं०—अणाउत्तआइयणता चेव अणाउत्तपमज्जणता चेव ३२, अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं०—आयसरीरअणवकंखवत्तिया चेव परसरीरअणव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कंखवत्तिया चेव ३३, दो किरियाओ पं० तं०—पिज्जवत्तिया चेव दोसवत्तिया चेव ३४, पेज्जवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं०—मायावत्तिया चेव लोभवत्तिया चेव ३५, दोसवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं०—कोहे चेव माणे चेव ३६, (सू० ६०)

आकाशं—व्योम नोआकाशम्—तदन्यद्धर्मास्तिकायादि, धर्मः—धर्म्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुणः तदन्योऽधर्मः—अधर्मास्तिकायः स्थित्युपष्टम्भगुणः। सविपक्षबन्धादितत्त्वसूत्राणि चत्वारि प्राग्वदिति। बन्धादयश्च क्रियायां सत्यामात्मनो भवन्तीति क्रियानिरूपणायाह—'दो किरिये'त्यादि सूत्राणि षट्त्रिंशत्, करणं क्रिया क्रियत इति वा क्रिया, ते च द्वे प्रज्ञप्ते—प्ररूपिते जिनैः, तत्र जीवस्य क्रिया—व्यापारो जीवक्रिया, तथा अजीवस्य—पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्म्मतया परिणमनं सा अजीवक्रियेति, इह चियशब्दस्य चैवशब्दस्य च पाठान्तरे प्राकृतत्वाद्भिर्भाव इति, चैवेत्ययं च समुच्चयमात्र एव प्रतीयते, अपिचेत्यादिवदिति, 'जीवकिरिये'त्यादि, सम्यक्त्वं—तत्त्वश्रद्धानं तदेव जीवव्यापारत्वात् क्रिया सम्यक्त्वक्रिया, एवं मिथ्यात्वक्रियाऽपि, नवरं मिथ्यात्वम्—अतत्त्वश्रद्धानं तदपि जीवव्यापार एवेति, अथवा सम्यग्दर्शनमिथ्यात्वयोः सतोर्वे भवतः ते सम्यक्त्वमिथ्यात्वक्रिये इति ॥ तत्र 'ईरियावहिय'त्ति—ईरणमीर्या—गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, व्युत्पत्तिमात्रमिदं, प्रवृत्तिनिमित्तं तु यत्केवलयोगप्रत्ययबन्धोपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्म्मतया अजीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्यापथिकी क्रिया, इह जीवव्यापारेऽप्यजीवप्रधानत्वविवक्ष-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


| | |
|---|---|
| | क्रियानाम् द्वैविध्यं |

याऽजीवक्रियेयमुक्ता, कर्म्मविशेषो वैर्यापथिकीक्रियोच्यते, यतोऽभिहितं—"इरियावहिया किरिया दुविहा—बज्झमाणा वेइज्जमाणा य, जा[व] पढमसमये बद्धा बीयसमये वेइया सा बद्धा पुट्ठा वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मं वावि भवती'ति, तथा सम्परायाः—कषायास्तेषु भवा सांपरायिकी, सा ह्यजीवस्य पुद्गलराशेः कर्म्मतापरिणतिरूपा जीवव्यापारस्याविवक्षणादजीवक्रियेति, सा च सूक्ष्मसम्परायान्तानां गुणस्थानकवतां भवतीति ॥ पुनरन्यथा द्वे 'दो किरिये'त्यादि, 'काइया चेव'त्ति कायेन निर्वृत्ता कायिकी—कायव्यापारः, तथा 'अहिगरणिया चेव'त्ति अधिक्रियते आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणम्—अनुष्ठानं बाह्यं वा वस्तु, इह च बाह्यं विवक्षितं खड्गादि, तत्र भवा आधिकरणिकीति ॥ कायिकी द्विधा—'अणुवरयकायकिरिया चेव'त्ति अनुपरतस्य—अविरतस्य सावद्यात् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रिया—उत्क्षेपादिलक्षणा कर्म्मबन्धनिबन्धनमनुपरतकायक्रिया, तथा 'दुप्पउत्तकायकिरिया चेव'त्ति दुष्प्रयुक्तस्य—दुष्टप्रयोगवतो दुष्प्रणिहितस्येन्द्रियाण्याश्रित्येष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् संवेगेनिर्वेदगमनेन तथा अनिन्द्रियमाश्रित्याशुभमनःसङ्कल्पद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य प्रमत्तसंयतस्येत्यर्थः कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रियेति ५, आधिकरणिकी द्विधा, तत्र 'संजोयणाहिगरणिया चेव'त्ति यत्पूर्वं निर्वर्त्तितयोः खड्गतन्मुष्ट्यादिकयोरर्थयोः संयोजनं क्रियते सा संयोजनाऽधिकरणिकी, तथा 'णिव्वत्तणाहिकरणिया चेव'त्ति यच्चादितस्तयोर्निर्वर्त्तनं सा निर्वर्त्तना-

१ ईर्यापथिकीक्रिया द्विविधा बध्यमाना वेद्यमाना च, या प्रथमसमये बद्धा द्वितीयसमये वेदिता बद्धा स्पृष्टा वेदिता निर्जीर्णा एष्यत्काले अकर्म चापि भवति. २ गुणस्थानानावाधया इष्टे इच्छाप्रतिबन्धेन इतरस्मिन् उद्वेगेन. ३ संवेदनि० प्र.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धिकरणिकीति । पुनरन्यथा द्वे—'पाउसिया चेव'त्ति प्रद्वेषो—मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी, तथा 'पारियावणिया चेव'त्ति परितापनं—ताडनादिदुःखविशेषलक्षणं तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी, आद्या द्विधा—'जीवपाउसिया चेव'त्ति जीवे प्रद्वेषाज्जीवप्राद्वेषिकी, तथा 'अजीवपाउसिया चेव'त्ति अजीवे—पाषाणादौ स्खलितस्य प्रद्वेषादजीवप्राद्वेषिकीति, द्वितीयाऽपि द्विविधा—'सहत्थपारियावणिया चेव'त्ति स्वहस्तेन स्वदेहस्य परदेहस्य वा परितापनं कुर्वतः स्वहस्तपारितापनिकी तथा 'परहत्थपारियावणिया चेव'त्ति परहस्तेन तथैव च तत्कारयतः परहस्तपारितापनिकीति ॥ अन्यथा द्वे 'पाणाइवायकिरिया चेव'त्ति प्रतीता, तथा 'अपच्चक्खाणकिरिया चेव'त्ति अप्रत्याख्यानम्—अविरतिस्तन्निमित्तः कर्मबन्धोऽप्रत्याख्यानक्रिया सा चाविरतानां भवतीति । आद्या द्वेधा—'सहत्थपाणाइवायकिरिया चेव'त्ति स्वहस्तेन स्वप्राणान् निर्वेदादिना परप्राणान् वा क्रोधादिना अतिपातयतः स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया, तथा 'परहत्थपाणाइवायकिरिया चेव'त्ति परहस्तेनापि तथैव परहस्तप्राणातिपातक्रियेति । द्वितीयापि द्विधा, 'जीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव'त्ति जीवविषये प्रत्याख्यानाभावेन यो बन्धादिर्व्यापारः सा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया, तथा 'अजीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव'त्ति यदजीवेषु—मद्यादिष्वप्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यानक्रियेति । पुनरन्यथा द्वे 'आरंभिया चेव'त्ति आरम्भणमारम्भः तत्र भवा आरम्भिकी, तथा 'परिग्गहिया चेव'त्ति 'जीवआ' परिग्रहे भवा पारिग्रहिकी ॥ आद्या द्वेधा 'जीवआरम्भिया चेव'त्ति, यज्जीवानारभमाणस्य—उपमृद्नतः कर्मबन्धनं सा जीवारम्भिकी, तथा 'अजीवारंभिया चेव'त्ति यच्चाजीवान् जीवकडेवराणि पिष्टादिमयजीवाकृतींश्च वस्त्रादीन् वा आरभमाणस्य सा अजीवारम्भि-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियानाम् द्वैविध्यं

कीति, एवं 'पारिग्गहिया चेव'त्ति आरम्भिकीवद् द्विविधेत्यर्थः, जीवाजीवपरिग्रहप्रभवत्वात् तस्या इति भावः। पुनरन्यथा द्वे 'मायावत्तिया चेव'त्ति माया–शाठ्यं प्रत्ययो–निमित्तं यस्याः कर्मबन्धक्रियाया व्यापारस्य वा सा तथा, 'मिच्छादंसणवत्तिया चेव'त्ति मिथ्यादर्शनं–मिथ्यात्वं प्रत्ययो यस्याः सा तथेति, आद्या द्वेधा— 'आयभाववंकणया चेव'त्ति आत्मभावस्याप्रशस्तस्य वङ्कनता–वक्रीकरणं प्रशस्तत्वोपदर्शनता आत्मभाववङ्कनता, वङ्कनानां च बहुत्वविवक्षायां भावप्रत्ययो न विरुद्धः, सा च क्रिया व्यापारत्वात्, तथा 'परभाववंकणया चेव'त्ति परभावस्य वङ्कनता–वञ्चनता या कूटलेखकरणादिभिः सा परभाववङ्कनतेति, यतो वृद्धव्याख्येयं—"तं तं भावमायरइ जेण परो वंचिज्जइ कूडलेहकरणाईहिं"ति, द्वितीयाऽपि द्वेधा—'ऊणाइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव'त्ति ऊनं–स्वप्रमाणाद्धीनमतिरिक्तं–ततोऽधिकमात्मादि वस्तु तद्विषयं मिथ्यादर्शनमूनातिरिक्तमिथ्यादर्शनं तदेव प्रत्ययो यस्याः सा ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययेति, तथाहि–कोऽपि मिथ्यादृष्टिरात्मानं शरीरव्यापकमपि अङ्गुष्ठपर्वमात्रं [यवमात्रं] श्यामाकतन्दुलमात्रं वेति हीनतया वेत्ति तथाऽन्यः पञ्चधनुःशतिकं सर्वव्यापकं वेत्यधिकतयाऽभिमन्यते, तथा 'तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव'त्ति तस्माद्–ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनाद् व्यतिरिक्तं मिथ्यादर्शनं–नास्त्येवात्मेत्यादिमतरूपं प्रत्ययो यस्याः सा तथेति। पुनरन्यथा द्वे—'दिट्ठिया चेव'त्ति दृष्टेर्जाता दृष्टिजा अथवा दृष्टं–दर्शनं वस्तु वा निमित्ततया यस्यामस्ति सा दृष्टिका–दर्शनार्थं या गतिक्रिया, दर्शनाद् वा यत्कर्मोदेति सा दृष्टिजा दृष्टिका वा, तथा 'पुट्ठिया चेव'त्ति पृष्टिः–पृच्छा ततो जाता पृष्टिजा–प्रश्नजनितो व्यापारः, अथवा पृष्टं–प्रश्नः वस्तु वा तदस्ति कारणत्वेन यस्यां सा पृष्टिकेति, अथवा स्पृष्टिः स्पर्शनं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | क्रियानाम् द्वैविध्यं |

ततो जाता सृष्टिजा, तथैव सृष्टिकाऽपीति । आद्या द्वेधा—'जीवदिट्ठिया चेव'त्ति या अश्वादिदर्शनार्थं गच्छतः, तथा 'अजीवदिट्ठिया चेव'त्ति अजीवानां चित्रकर्मादीनां दर्शनार्थं गच्छतो या सा अजीवदृष्टिकेति, एवं 'पुट्ठिया चेव'त्ति 'एव'मिति जीवाजीवभेदेन द्विधैव, तथाहि–जीवमजीवं वा रागद्वेषाभ्यां पृच्छतः स्पृशतो वा या सा जीवपृष्टिका जीवस्पृष्टिका वा अजीवपृष्टिका अजीवस्पृष्टिका वेति । पुनरन्यथा द्वे—'पाडुच्चिया चेव'त्ति बाह्यं वस्तु प्रतीत्य–आश्रित्य भवा प्रातीत्यिकी तथा 'सामन्तोवणिवाइया चेव'त्ति समन्तात्–सर्वत उपनिपातो–जनमीलकस्तस्मिन् भवा सामन्तोपनिपातिकी आद्या द्वेधा—'जीवपाडुच्चिया चेव'त्ति जीवं प्रतीत्य यः कर्मबन्धः सा तथा, तथा 'अजीवपाडुच्चिया चेव'त्ति अजीवं प्रतीत्य यो रागद्वेषोद्भवस्तज्जो वा बन्धः सा अजीवप्रातीत्यिकीति । द्वितीयापि द्विधैवेत्यतिदिशन्नाह—'एवं सामन्तोवणिवाइयावि'त्ति, तथाहि–कस्यापि षण्डो रूपवानस्ति तं च जनो यथा यथा प्रलोकयति प्रशंसयति च तथा तथा तत्स्वामी हृष्यतीति जीवसामन्तोपनिपातिकी, तथा रथादौ तथैव हृष्यतोऽजीवसामन्तोपनिपातिकीति, अन्यथा वा द्वे 'साहत्थिया चेव'त्ति स्वहस्तेन निर्वृत्ता स्वाहस्तिकी तथा 'नेसत्थिया चेव'त्ति, निसर्जनं निसृष्टं, क्षेपणमित्यर्थः, तत्र भवा तदेव वा नैसृष्टिकी, निसृजतो यः कर्म्मबन्ध इत्यर्थः, निसर्ग एव वेति, तत्र आद्या द्वेधा—'जीवसाहत्थिया चेव'त्ति यत् स्वहस्तगृहीतेन जीवेन जीवं मारयति सा जीवस्वाहस्तिकी, तथा 'अजीवसाहत्थिया चेव'त्ति यच्च स्वहस्तगृहीतेनैवाजीवेन–खड्गादिना जीवं मारयति सा अजीवस्वाहस्तिकीर्ति, अथवा स्वहस्तेन जीवं ताडयत एका, अजीवं ताडयतोऽन्येति । द्वितीयाऽपि जीवाजीवभेदैवेत्यतिदिशन्नाह—'एवं नेसत्थिया




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


क्रियानाम् द्वैविध्यं

चेव'त्ति, तथाहि–राजादिसमादेशाद्यदुदकस्य यन्त्रादिभिर्निसर्जनं सा जीवनैसृष्टिकीति, यत्तु काण्डादीनां धनुरादिभिः सा अजीवनैसृष्टिकीति, अथवा गुर्वादौ जीवं–शिष्यं पुत्रं वा निसृजतो–ददत एका, अजीवं पुनरेषणीयभक्तपानादिकं निसृजतो–त्यजतोऽन्येति, पुनरन्यथा द्वे 'आणवणिया चेव'त्ति आज्ञापनस्य–आदेशनस्येयमाज्ञापनमेव वेत्याज्ञापनी सैवाज्ञापनिका तज्जः कर्मबन्धः, आदेशनमेव वेति, आनायनं वा आनायनी, तथा 'वेयारणिया चेव'त्ति विदारणं विचारणं वितारणं वा स्वार्थिकप्रत्ययोपादानाद् वैदारिणीत्यादि वाच्यमिति ॥ एते च द्वे अपि द्वेधा–जीवाजीवभेदादिति, तथाहि–जीवमाज्ञापयत आनाययतो वा परेण जीवाज्ञापनी जीवानायनी वा, एवमेवाजीवविषया अजीवाऽऽज्ञापनी अजीवानायनी वेति ॥ तथा 'वेयारणिय'त्ति जीवमजीवं वा विदारयति–स्फोटयतीति, अथवा जीवमजीवं वाऽऽसमानभाषेषु विक्रीणति सति द्वैभाषिको विचारयति परियैच्छावेइत्ति भणितं होति, अथवा जीवं–पुरुषं वितारयति–प्रतारयति वञ्चयतीत्यर्थः, असद्गुणैरेतादृशः तादृशस्त्वमिति, पुरुषादिविप्रतारणबुद्ध्यैव वाऽजीवं भणत्येतादृशमेतदिति यत्सा 'जीववेयारणिआऽजीववेयारणिया व'त्ति । एतत्सर्वमतिदेशेनाह—'जहेव नेसत्थिय'त्ति, अन्यथा वा द्वे 'अणाभोगवत्तिया चेव'त्ति अनाभोगः–अज्ञानं प्रत्ययो–निमित्तं यस्याः सा तथा, 'अणवकंखवत्तिया चेव'त्ति अनवकाङ्क्षा–स्वशरीराद्यनपेक्षत्वं सैव प्रत्ययो यस्याः साऽनवकाङ्क्षाप्रत्ययेति, आद्या द्विधा—'अणाउत्तआइयणया चेव'त्ति अनायुक्तः–अनाभोगवाननुपयुक्त इत्यर्थः तस्याऽऽदानता–वस्त्रादिविषये ग्रहणता अनायुक्तादानता, तथा 'अणाउत्त-

स्था० ८

१ असमानभागेषु यो विक्रीणाति द्वैभाषिको वि० २ वाऽसमानभावेषु प्र० ३ व्यवहारे द्वारीभवति ( द्विलालः )

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियानाम् द्वैविध्यं

प्रत सूत्रांक [५८-६०]

दीप अनुक्रम [५८-६०]





पमज्जणया चेव'त्ति अनायुक्तस्यैव पात्रादिविषया प्रमार्जनता अनायुक्तप्रमार्जनता, इह च ताप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतत्वेन आदानादीनां भावविवक्षया वेति । द्वितीयाऽपि द्विविधा—'आयसरीरे'त्यादि, तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया स्वशरीररक्षतिकारिकर्माणि कुर्वतः, तथा परशरीररक्षतिकराणि तु कुर्वतो द्वितीयेति । 'दो किरिये'त्यादि त्रीणि सूत्राणि, कण्ठ्यानि, नवरं प्रेम–रागो मायालोभलक्षणः द्वेषः क्रोधमानलक्षण इति, यदत्र न व्याख्यातं तत्सुगमत्वादिति ॥ एताश्च क्रियाः प्रायो गर्हणीया इति गर्हामाह—

दुविहा गरिहा पं० तं०—मणसा वेगे गरहति । वयसा वेगे गरहति । अहवा गरहा दुविहा पं० तं०—दीहं वेगे अद्धं गरहति, रहस्सं वेगे अद्धं गरहति । ( सू० ६१ )

'दुविहा गरहे'त्यादि, विधानं विधा द्वे विधे–भेदौ यस्याः सा द्विविधा, गर्हणं गर्हा–दुश्चरितं प्रति कुत्सा, सा च स्वपरविषयत्वेन द्विविधा, साऽपि मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेश्च द्रव्यगर्हा, अप्रधानगर्हेत्यर्थः, द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थत्वाद्, उक्तं च—"अप्पाहन्नेऽवि इहं कत्थइ दिट्ठो हु दव्वसद्दोत्ति । अंगारमद्दओ जह दव्वायरिओ सयाऽभव्वो ॥ १ ॥"[1] त्ति, सम्यग्दृष्टेस्तूपयुक्तस्य भावगर्हेति, चतुर्द्धा गर्हणीयभेदाद्बहुप्रकारा वा, सा चेह करणापेक्षया द्विविधोक्ता, तथा चाह—'मणसा वेगे गरहइ'त्ति मनसा–चेतसा वाशब्दो विकल्पार्थो अवधारणार्थो वा, ततो मनसैव न वाचेत्यर्थः, कायोत्सर्गस्थो दुर्मुखसुमुखाभिधानपुरुषद्वयनिन्दिताभिष्टुतस्तद्वचनोपलब्धसामन्तपरिभूतस्वतनयराजवार्त्तो मनसा

१ अप्राधान्येऽपि इह क्वचिदृष्ट एव द्रव्यशब्द इति । अङ्गारमर्दको यथा द्रव्याचार्यः सदाऽभव्यः ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६१]

दीप अनुक्रम [६१]

समारब्धपुत्रपरिभवकारिसामन्तसङ्गामो वैकल्पिकप्रहरणक्षये स्वशीर्षकग्रहणार्थव्यापारितहस्तसंस्पृष्टलुञ्चितमस्तकस्ततः समुपजातपश्चात्तापानलज्वालाकलापदन्दह्यमानसकलकर्म्मेन्धनो राजर्षिप्रसन्नचन्द्र इव एकः कोऽपि साध्वादिर्गर्हते–जुगुप्सते गर्ह्यमिति गम्यते, तथा वचसा वा–वाचा वा अथवा वचसैव न मनसा भावतो दुश्चरितादि उक्त्वाजनरञ्जनार्थं गर्हाप्रवृत्ताङ्गारमर्दकादिप्रायसाधुवत् एकोऽन्यो गर्हत इति, अथवा 'मणसाऽवेगे'त्ति इह अपिः, स च सम्भावने, तेन सम्भाव्यते अयमर्थः–अपि मनसैको गर्हते अन्यो वचसेति, अथवा मनसाऽपि न केवलं वचसा एको गर्हते, तथा वचसाऽपि न केवलं मनसा एक इति स एव गर्हते, उभयथाऽप्येक एव गर्हत इति भावः, अन्यथा गर्हाद्वैविध्यमाह—'अहवे'त्यादि, अथवेति पूर्वोक्तद्वैविध्यप्रकारापेक्षो द्विविधा गर्हा प्रज्ञप्तेति प्रागिव, अपिः सम्भावने, तेन अपि दीर्घां–बृहतीं अद्धां–कालं यावदेकः कोऽपि गर्हते गर्हणीयमाजन्मापीत्यर्थः, अन्यथा वा दीर्घत्वं विवक्षया भावनीयम्, आपेक्षिकत्वात् दीर्घह्रस्वयोरिति, एवमपि ह्रस्वाम्–अल्पां यावदेकोऽन्य इति, अथवा दीर्घामेव यावत् ह्रस्वामेव यावदिति व्याख्येयमपेरवधारणार्थत्वादिति, एक एव वा द्विधा कालभेदेन गर्हते भावभेदादिति, अथवा दीर्घं ह्रस्वं वा कालमेव गर्हत इति ॥ अतीते गर्ह्ये कर्मणि गर्हा भवति भविष्यति तु प्रत्याख्यानम्, उक्तं च—"[1]अईयं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामी'ति प्रत्याख्यानमाह—

दुविहे पच्चक्खाणे पं० तं०—मणसा वेगे पच्चक्खाति वयसा वेगे पच्चक्खाति, अहवा पच्चक्खाणे दुविहे पं० तं०—दीहं

१ अतीतं निन्दामि प्रत्युत्पन्नं संवृणोमि अनागतं प्रत्याख्यामि.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | प्रत्याख्यानस्य द्वैविध्यं |

वेगे अद्धं पच्चक्खाति रहस्सं वेगे अद्धं पच्चक्खाति (सू० ६२) दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणादीयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवतेज्जा, तंजहा—विज्जाए चेव चरणेण चेव (सू० ६३)

**'दुविहे पच्चक्खाणे'** इत्यादि, प्रमादप्रातिकूल्येन मर्यादया ख्यानं–कथनं प्रत्याख्यानं, विधिनिषेधविषया प्रतिज्ञेत्यर्थः, तच्च द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वाऽनुपयुक्तस्य कृतचतुर्मासमांसप्रत्याख्यानायाः पारणकदिनमांसदानप्रवृत्ताया राजदुहितुरिवेति, भावप्रत्याख्यानमुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरिति, तच्च देशसर्वमूलगुणोत्तरगुणभेदादनेकविधमपि करणभेदाद् द्विविधम्, आह च—मनसा वैकः प्रत्याख्याति–त्रधादिकं निवृत्तिविषयीकरोति, शेषं प्रागिवेति । प्रकारान्तरेणापि तदाह —**'अहवे'**त्यादि, सुगमं । ज्ञानपूर्वकं प्रत्याख्यानादि मोक्षफलमत आह—**'दोहिं ठाणेही'**त्यादि, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां–गुणाभ्यां सम्पन्नो–युक्तो नास्यागारं–गेहमस्तीत्यनगारः–साधुः नास्त्यादिरस्येत्यनादिकं तत् अवदग्रं–पर्यन्तस्तन्नास्ति यस्य सामान्यजीवापेक्षया तदनवदग्रं तत् दीर्घा अद्धा–कालो यस्य तद् दीर्घाद्धं तत्, मकार आगमिकः, दीर्घो वाऽध्वा –मार्गो यस्मिंस्तद्दीर्घाध्वं तच्चतुरन्तं–चतुर्विभागं नरकादिगतिविभागेन, दीर्घत्वं प्रकटादित्वादिति, संसारकान्तारं–भवारण्यं व्यतिव्रजेद्–अतिक्रामेत्, तद्यथा **'विद्यया चैव'** ज्ञानेन चैव **'चरणेन चैव'** चारित्रेण चैवेति, इह च संसारकान्तारव्यतिव्रजनं प्रति विद्याचरणयोर्यौगपद्येनैव कारणत्वमवगन्तव्यम्, एकैकशो विद्याक्रिययोरैहिकार्थेष्वप्यकारणत्वात्, नन्वनयोः कारणतया अविशेषाभिधानेऽपि प्रधानं ज्ञानमेव न चरणम्, अथवा ज्ञानमेवैकं कारणं न तु क्रिया, यतो ज्ञानफलमेवासौ, किञ्च–यथा क्रिया ज्ञानस्य फलं तथा शेषमपि यत् क्रियानन्तरमवाप्यते बोधकालेऽपि यज्ज्ञे-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यानस्य द्वैविध्यं

यपरिच्छेदात्मकं यच्च रागादिविनिग्रहमयमेषामविशेषेण ज्ञानं कारणं, यथा मृत्तिका घटस्य कारणं भवन्ती तदन्तरालवर्त्तिनां पिण्डशिवकस्थासकोशकुशूलादीनामपि कारणतामापद्यते तथेह ज्ञानमपि भवाभावस्य तदन्तरालवर्त्तिनां च तत्त्वपरिच्छेदसमाधानादीनां कारणमिति, यच्चानुस्मरणमात्रमन्त्रपूतविषभक्षणनभोगमनादिकमनेकविधं फलमुपलभ्यते साक्षात्तदपि क्रियाशून्यस्य ज्ञानस्य, यथा चैतद् दृष्टफलं तथा अदृष्टमप्यनुमीयत इति, आह च—"आह पहाणं नाणं न चरित्तं नाणमेव वा सुद्धं । कारणमिह न उ किरिया साऽवि हु नाणत्फलं जम्हा ॥ १ ॥ जह सा नाणस्स फलं तह सेसंपि तह बोहकालेवि । नेयपरिच्छेयमयं रागादिविणिग्गहो जो य ॥ २ ॥ जं च मणोचिंतियमंतपूयविसभक्खणादि बहुभेयं । फलमिह तं पच्चक्खं किरियारहियस्स नाणस्स ॥ ३ ॥" त्ति, अत्रोच्यते, यत्तावदुक्तम्—'ज्ञानमेव प्रधानं ज्ञानमेव चैकं कारणं न क्रिया, यतो ज्ञानफलमेवासावि'ति, तदयुक्तम्, यतो यत एव ज्ञानात् क्रिया ततश्चेष्टफलप्राप्तिरत एवोभयमपि कारणमिष्यते, अन्यथा हि ज्ञानफलं क्रियेति क्रियापरिकल्पनमनर्थकं, ज्ञानमेव हि क्रियाविकलमपि प्रसाधयेत्, न च साधयति, क्रियाऽभ्युपगमात्, ज्ञानक्रियाप्रतिपत्तौ च ज्ञानं परम्परयोपकुरुते अनन्तरं च क्रिया यतस्तस्मात् क्रियैव प्रधानतरं युक्तं कारणं, नाप्रधानमकारणं चेति, अथ युगपदुपकुरुतस्तत उभयमपि युक्तं, न युक्तमप्राधान्यं क्रियाया अकारणत्वं चेति, यः पुनरकारणत्वमेव क्रियायाः प्रतिपद्यते तं प्रतीदं विशेषेणोच्यते—क्रिया हि साक्षा-

१ आह प्रधानं ज्ञानं न चारित्रं ज्ञानमेव वा शुद्धं कारणमिह नैव क्रिया सापि ज्ञानफलं यस्मात् ॥ १ ॥ यथा सा ज्ञानस्य फलं तथा शेषमपि बोधकालेऽपि ज्ञेयपरिच्छेदमयं रागादिविनिग्रहो यश्च ॥ २ ॥ यच्च मनश्चिन्तिततन्त्रपूतविषभक्षणादि बहुभेदं फलमिह तत् प्रत्यक्षं क्रियारहितस्य ज्ञानस्य ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्कारित्वात् कारणमन्त्यं, ज्ञानं तु परम्परोपकारित्वादनन्त्यम्, अतः को हेतुर्यदन्त्यं विहायानन्त्यं कारणमिष्यते?, अथ सहचारिताऽङ्गीक्रियते अनयोः, अतोऽपि हि ज्ञानमेव कारणं न क्रियेत्यत्र न हेतुरस्तीति, यच्चोक्तम्—'बोधकालेऽपी'त्यादि, तत्र ज्ञेयपरिच्छेदो ज्ञानमेवेति रागादिशमश्च संयमक्रियैव ज्ञानकारणा भवेदिति प्रतिपद्यामहे, किन्तु तत्फले भववियोगाख्येऽयं विचारो, यदुत–किं तत् ज्ञानस्य क्रियायास्तदुभयस्य वा फलमिति?, तत्र न ज्ञानस्यैव, क्रियाफलत्वात् तस्य, नापि केवलक्रियायाः, क्रियामात्रत्वात्, उन्मत्तक्रियावत्, ततः पारिशेष्याज्ज्ञानसहितक्रियाया इति, यच्चोक्तम्—'अनुस्मृतिज्ञानमात्रात् मन्त्रादीनां फलमुपलभ्यते' तत्र ब्रूमो–मन्त्रेष्वपि परिजपनादिक्रियायाः साधनभावो न मन्त्रज्ञानस्य, प्रत्यक्षविरुद्धमिदमिति चेद् यतो दृष्टं हि क्वचित् मन्त्रानुस्मृतिमात्रज्ञानादिष्टफलमिति, अत्रोच्यते, न मन्त्रज्ञानमात्रनिर्वर्त्त्यं तत्फलं, तज्ज्ञानस्याक्रियत्वात्, इह यदक्रियं न तत् कार्यस्य निर्वर्त्तकं दृष्टं, यथाऽऽकाशकुसुमं, यच्च निर्वर्त्तकं तदक्रियं न भवति, यथा कुलालः, न चेदं प्रत्यक्षविरुद्धं, न हि ज्ञानं साक्षात्फलमुपहरदुपलक्ष्यत इति, अथ यदि न मन्त्रज्ञानकृतं तत्फलं ततः कुतः पुनस्तदिति?, तत्समयनिबद्धदेवताविशेषेभ्य इति ब्रूमः, तेषां हि सक्रियत्वेन क्रियानिर्वर्त्त्यमेतत् न मन्त्रज्ञानसाध्यमिति, आह च—"[1]तो तं कत्तो? [ आचार्यः ] भण्णति, तस्समयनिबद्धदेवओवहियं । किरियाफलं चिय जओ न मंतणाणोवओगस्स ॥ १ ॥" त्ति, ननु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति श्रूयते, इह तु ज्ञानक्रियाभ्यामसावुक्त इति कथं न विरोधः?, अथ द्वित्थानकानुरोधादेवं निर्देशोऽपि न वि-

१ ततस्तत् कुतः? भण्यते तत्समयनिबद्धदेवतोपहितम् । क्रियाफलमेव यतो न मन्त्रज्ञानोपयोगस्य ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोधो, नैवमवधारणगर्भत्वात् निर्देशस्येति, अत्रोच्यते, विद्याग्रहणेन दर्शनमप्यविरुद्धं द्रष्टव्यं, ज्ञानभेदत्वात् सम्यग्दर्शनस्य, यथा हि अवबोधात्मकत्वे सति मतेरनाकारत्वादवग्रहेहे दर्शनं साकारत्वाच्चापायधारणे ज्ञानमुक्तमेवं व्यवसायात्मकत्वे सत्यवायस्य रुचिरूपोऽंशः सम्यग्दर्शनमवगमरूपोऽंशोऽवाय एवेति न विरोधः, अवधारणं तु ज्ञानादिव्यतिरेकेण नान्य उपायो भवव्यवच्छेदस्येति दर्शनार्थमिति ॥ विद्याचरणे च कथमात्मा न लभत इत्याह–'दो ठाणाइ'मित्यादि सूत्राण्येकादश,

दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं०—आरंभे चेव परिग्गहे चेव १, दो ठाणाइं अपरियादित्ता आया णो केवलं बोधिं बुज्झेज्जा तं०—आरंभे चेव परिग्गहे चेव २, दो ठाणाइं अपरियाइत्ता आया नो केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा तं०—आरंभे चेव परिग्गहे चेव ३, एवं णो केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा ४, णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ५, नो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ६, नो केवलमाभिणिबोहियणाणं उप्पाडेज्जा ७, एवं सुयनाणं ८ ओहिनाणं ९ मणपज्जवनाणं १० केवलनाणं ११ । (सू० ६४)

'द्वे स्थाने' द्वे वस्तुनी 'अपरियाणित्त'त्ति अपरिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया यथैतावारम्भपरिग्रहावनर्थाय तथा अलं ममाभ्यामिति परिहाराभिमुख्यद्वारेण प्रत्याख्यानपरिज्ञया अप्रत्याख्याय च ब्रह्मदत्तवत्तयोरनिर्विण्ण इत्यर्थः, 'अपरियाइत्त'त्ति क्वचित्पाठः, तत्र स्वरूपतस्तावपर्यादायागृहीत्वेत्यर्थः, आत्मा 'नो' नैव 'केवलिप्रज्ञप्तं' जिनोक्तं 'धम्मं' श्रुतधर्मं लभेत 'श्रवणतया' श्रवणभावेन श्रोतुमित्यर्थः, तद्यथा—'आरम्भाः' कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपमर्दास्तान् 'परिग्रहा'-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म्मसाधनव्यतिरेकेण धनधान्यादयस्तान्, इह चैकवचनप्रक्रमेऽपि व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम्, अवधारणसमुच्चयौ स्वबुद्ध्या ज्ञेयाविति, 'केवलां' शुद्धां 'बोधिं' दर्शनं सम्यक्त्वमित्यर्थो 'बुध्येत' अनुभवेत्, अथवा केवलया बोध्येति विभक्तिपरिणामात् बोध्यं जीवादीति गम्यते 'बुध्येत' श्रद्दधीतेति ॥ मुण्डो द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतः कषायाद्यपनयनेन 'भूत्वा' संपद्य 'अगाराद्' गेहान्निष्क्रम्येति गम्यते, केवलामित्यस्येह सम्बन्धात् 'केवलां' परिपूर्णां विशुद्धां वाऽनगारितां–प्रव्रज्यां 'प्रव्रजेत्' यायादिति, 'एव'मिति यथा प्राक् तथोत्तरवाक्येष्वपि 'दो ठाणाइं' इत्यादि वाक्यं पठनीयमित्यर्थः, 'ब्रह्मचर्येण' अब्रह्मविरमणेन वासो–रात्रौ स्वापः तत्रैव वा वासो–निवासो ब्रह्मचर्यवासस्तमावसेत्–कुर्यादिति, 'संयमेन' पृथिव्यादिरक्षणलक्षणेन संयमयेदात्मानमिति, 'संवरेण' आश्रवनिरोधलक्षणेन संवृणुयादाश्रवद्वाराणीति गम्यते 'केवलं' परिपूर्णं सर्वस्वविषयग्राहकम् 'आभिणिबोहियनाणं'ति अर्थाभिमुखोऽविपर्ययरूपत्वान्नियतोऽसंशयस्वभावत्वाद् बोधो–वेदनमभिनिबोधः स एवाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञानम्–इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमोघतः सर्वद्रव्यासर्वपर्यायविषयं 'उप्पाडेज्ज'त्ति उत्पादयेदिति, तथा 'एव'मित्यनेनोत्तरपदेषु 'नो केवलं उप्पाडेज्ज'त्ति द्रष्टव्यम्, 'सुयनाणं'ति श्रूयते तदिति श्रुतं–शब्द एव स च भावश्रुतकारणत्वात् ज्ञानं श्रुतज्ञानं श्रुतग्रन्थानुसारि ओघतः सर्वद्रव्यासर्वपर्यायविषयमक्षरश्रुतादिभेदमिति, तथा 'ओहिनाणं'ति अवधीयतेऽनेनास्मादस्मिन् वेत्यवधिः, अवधीयते–इत्यधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते मर्यादया वेत्यवधिः–अवधिज्ञानावरणक्षयोपशम एव, तदुपयोगहेतुत्वादिति, अवधानं वाऽवधिर्विषयपरिच्छेदनमिति, अवधिश्चासौ ज्ञानं चेत्यवधिज्ञानं–इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनो



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६४]

दीप अनुक्रम [६४]

रूपिद्रव्यसाक्षात्करणमिति । तथा 'मणपज्जवनाणं'ति मनसि मनसो वा पर्यवः–परिच्छेदः स एव ज्ञानमथवा मनसः पर्यवाः पर्यायाः पर्यया वा–विशेषाः अवस्था मनःपर्यवादयस्तेषां तेषु वा ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानमेवमितरत्रापि, समयक्षेत्रगतसंज्ञिमन्यमानमनोद्रव्यसाक्षात्कारीति । 'केवलनाणं'ति केवलम्–असहायं मत्यादिनिरपेक्षत्वादकलङ्कं वा आवरणमलाभावात् सकलं वा–तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेरसाधारणं वा–अनन्यसदृशत्वादनन्तं वा–ज्ञेयानन्तत्वात् तच्च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानमिति ॥ कथं पुनर्द्धर्मादीनि विद्याचरणस्वरूपाणि प्राप्नोतीत्याह—'दो ठाणाइ'मित्याद्येकादशसूत्री

दो ठाणाइं परियादित्ता आया केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं०—आरंभे चेव परिग्गहे चेव, एवं जाव केवलनाणमुप्पाडेज्जा (सू० ६५)। दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तं०—सोच्च चेव अभिसमेच्च चेव जावकेवलनाणं उप्पाडेज्जा (सू० ६६)।

सुगमा । धर्म्मादिलाभ एव पुनः कारणान्तरद्वयमाह—'दोहि'त्यादि सुगमं, केवलं 'श्रवणतया' श्रवणभावेन, 'सोच्च चेव'त्ति ह्रस्वत्वादि प्राकृतत्वादेव, श्रुत्वा–आकर्ण्य तस्यैवोपादेयतामिति गम्यते, 'अभिसमेत्य' समधिगम्य तामेवावबुध्येत्यर्थः, उक्तं च—"सद्धर्मश्रवणादेव, नरो विगतकल्मषः । ज्ञाततत्त्वो महासत्त्वः, परं संवेगमागतः ॥ १ ॥ धर्म्मोपादेयतां ज्ञात्वा, सञ्जातेच्छोऽत्र भावतः । दृढं स्वशक्तिमालोच्य, ग्रहणे संप्रवर्त्तते ॥ २ ॥" इति, 'एवं दोहिं बुज्झेज्जे'त्यादि यावत् केवलनाणं उप्पाडेज्ज'त्ति । केवलज्ञानं च कालविशेषे भवतीति तमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दो समाओ पन्नत्ताओ, तं०—ओसप्पिणी समा चेव उस्सप्पिणी समा चेव (सू० ६७) दुविहे उम्माए पं० तं०—जक्खावेसे चेव मोहणिज्जस्स चेव कम्मस्स उदएणं, तत्थ णं जे से जक्खावेसे से णं सुहवेयतराए चेव सुहविमोयतराए चेव, तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं से णं दुहवेयतराए चेव दुहविमोयतराए चेव। (सू० ६८) दो दंडा पं० तं०—अट्ठादंडे चेव अणट्ठादंडे चेव, नेरइयाणं दो दंडा पं० तं०—अट्ठादंडे य अणट्ठादंडे य, एवं चउवीसा दंडओ जाव वेमाणियाणं। (सू० ६९)

समा—कालविशेषः, शेषं सुगमम् ॥ केवलज्ञानं मोहनीयोन्मादक्षय एव भवत्यतः सामान्येनोन्मादं निरूपयन्नाह—'दुविहे उम्माए'इत्यादि, उन्मादो ग्रहो बुद्धिविप्लव इत्यर्थः, यक्षावेशः—देवताधिष्ठितत्वं ततो यः स यक्षावेश एवेत्येको, मोहनीयस्य—दर्शनमोहनीयादेः कर्मण उदयेन यः सोऽन्य इति, 'तत्रे'ति तयोर्मध्ये योऽसौ यक्षावेशेन भवति स सुखवेद्यतरक एव—मोहजनितग्रहापेक्षयाऽकृच्छ्रानुभवनीयतर एव, अनैकान्तिकानात्यन्तिकभ्रमरूपत्वादस्येति, अतिशयेन सुखं विमोच्यते—त्याज्यते यः स सुखविमोच्यतरकश्चैव, मन्त्रमूलादिमात्रसाध्यत्वादस्येति, अथवा अत्यन्तं सुखापेयः—सुखापनेयः सुखापेयतरः, तथा अत्यन्तं सुखेनैव विमुञ्चति यो देहिनं स सुखविमोचतरक इति, मोहजस्तु तद्विपरीतः, ऐकान्तिकात्यन्तिकभ्रमस्वभावतयाऽत्यन्तानुचितप्रवृत्तिहेतुत्वेनानन्तभवकारणत्वात् तथाऽऽन्तरकारणजनितत्वेन मन्त्राद्यसाध्यत्वात् कर्मक्षयोपशमादिनैव साध्यत्वादिति, अत एवोक्तं—'दुहवेयतराए चेव दुहविमोअतराए चेव'त्ति, अतिशयेन दुःखवेद्य एव दुःखविमोच्य एव चासाविति ॥ उन्मादात् प्राणी प्राणातिपातादिरूपे दण्डे प्रवर्त्तते दण्डभाजनं



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा भवतीति दण्डं निरूपयन्नाह—'दो दंडे'त्यादि, दण्डः—प्राणातिपातादिः, स चार्थाय—इन्द्रियादिप्रयोजनाय यः सोऽर्थदण्डः, निष्प्रयोजनस्त्वनर्थदण्ड इति। उक्तरूपमेव दण्डं सर्वजीवेषु चतुर्विंशतिदण्डकेन निरूपयन्नाह—'णेरइयाण'मित्यादि, 'एव'मिति नारकवदर्थदण्डानर्थदण्डाभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको ज्ञेयो, नवरं—नारकस्य स्वशरीररक्षार्थं परस्योपहननमर्थदण्डः प्रद्वेषमात्रादनर्थदण्डः, पृथिव्यादीनां त्वनाभोगेनाप्याहारग्रहणे जीववधभावादर्थदण्डोऽन्यथा त्वनर्थदण्डः अथवोभयमपि भवान्तरार्थदण्डादिपरिणतेरिति। सम्यग्दर्शनादित्रयवतामेव च दण्डो नास्तीति त्रितयनिरूपणेच्छुर्दर्शनं सामान्येन तावन्निरूपयति—तत्र

दुविहे दंसणे पन्नत्ते तं०—सम्मद्दंसणे चेव मिच्छादंसणे चेव १, सम्मद्दंसणे दुविहे पं० तं०—णिसग्गसम्मद्दंसणे चेव अभिगमसम्मद्दंसणे चेव २, णिसग्गसम्मद्दंसणे दुविहे पं० तं०—पडिवाई चेव अपडिवाई चेव ३, अभिगमसम्मद्दंसणे दुविहे पं० तं०—पडिवाई चेव अप्पडिवाई चेव ४, मिच्छादंसणे दुविहे पं० तं०—अभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव अणभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव ५, अभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे पं० तं०—सपज्जवसिते चेव अपज्जवसिते चेव ६, एवमणभिग्गहितमिच्छादंसणेऽवि ७। (सू० ७०)

'दुविहे दंसणे'इत्यादि सूत्राणि सप्त सुगमान्येव, नवरं, दृष्टिर्दर्शनम्—तत्त्वेषु रुचिः तच्च सम्यग्—अविपरीतं जिनोक्तानुसारि, तथा मिथ्या—विपरीतमिति। 'सम्मद्दंसणे'इत्यादि, निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरं, अभिगमोऽधिगमो गुरूपदेशादिरिति, ताभ्यां यत्तत् तथा, क्रमेण मरुदेवीभरतवदिति, 'निसर्गे'त्यादि,प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति सम्यग्दर्शनमौपशमिकं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षायोपशमिकं च, अप्रतिपाति क्षायिकं, तत्रैषां क्रमेण लक्षणं–इहौपशमिकीं श्रेणीमनुप्रविष्टस्यानन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रयस्य चोपशमादौपशमिकं भवति, यो वाऽनादिमिथ्यादृष्टिरकृतसम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्राभिधानशुद्धाशुद्धोभयरूपमिथ्यात्वपुद्गलत्रिपुञ्जीक एव अक्षीणमिथ्यादर्शनोऽक्षपक इत्यर्थः, सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तस्यौपशमिकं भवतीति, कथं?–इह यदस्य मिथ्यादर्शनमोहनीयमुदीर्णं तदनुभवेनैवोपक्षीणमन्यत्तु मन्दपरिणामतया नोदितमतस्तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रमुपशान्तमास्ते, विष्कम्भितोदयमित्यर्थः, तावन्तं कालमस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ इति, आह च—"[1]उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामिअं तु सम्मत्तं । जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥ खीणम्मि उदिन्नंमी अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते । अंतोमुहुत्तकालं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ २ ॥" त्ति । अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालत्वादेवास्य प्रतिपातित्वं, यच्चानन्तानुबन्ध्युदये औपशमिकसम्यक्त्वात् प्रतिपततः सास्वादनमुच्यते तदौपशमिकमेव, तदपि च प्रतिपात्येव, जघन्यतः समयमात्रत्वादुत्कृष्टतस्तु षडावलिकामानत्वादस्येति, तथा इह यदस्य मिथ्यादर्शनदलिकमुदीर्णं तदुपक्षीणं यच्चानुदीर्णं तदुपशान्तम्, उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यास्वभावं च, तदिह क्षयोपशमस्वभावमनुभूयमानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते, नन्वौपशमिकेऽपि क्षयश्चोपशमश्च तथेहापीति कोऽनयोर्विशेषः?, उच्यते, अयमेव हि विशेषः–यदिह वेद्यते दलिकं न तत्र, इह हि क्षायोपशमिके पूर्वशमितमनुसमयमुदेति वेद्यते क्षीयते च, औपशमिके तूदयविष्कम्भणमात्रमेव,

१ उपशमश्रेणिगतस्य भवति औपशमिकं तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥ १ ॥ क्षीणे उदीर्णे अनुदीर्णे च शेषमिथ्यात्वे । अन्तर्मुहूर्त्तकालमौपशमिकसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥ २ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आह च—"मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं अणुइयं च उवसंतं । मीसीभावपरिणयं वेइज्जंतं खओवसमं ॥१॥" ति, एतदपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वादुत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वाच्च प्रतिपातीति, यदपि च क्षपकस्य सम्यग्दर्शनदलिकचरमपुद्गलानुभवनरूपं वेदकमित्युच्यते तदपि क्षायोपशमिकभेदत्वात् प्रतिपात्येवेति, तथा मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमोहनीयक्षयात् क्षायिकमिति, आह च—"खीणे दंसणमोहे तिविहंमिवि भवनियाणभूयंमि । निप्पच्चवायमउलं सम्मत्तं खाइयं होइ ॥ १ ॥"त्ति, इदं तु क्षायिकत्वादेवाप्रतिपाति, अत एव सिद्धत्वेऽप्यनुवर्त्तत इति । 'मिच्छादंसणे' इत्यादि, अभिग्रहः—कुमतपरिग्रहः स यत्रास्ति तदाभिग्रहिकं तद्विपरीतम्—अनभिग्रहिकमिति । 'अभिग्गहिए' इत्यादि, अभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं सपर्यवसितं—सपर्यवसानं सम्यक्त्वप्राप्तौ, अपर्यवसितमभव्यस्य सम्यक्त्वाप्राप्तेः, तच्च मिथ्यात्वमात्रमप्यतीतकालनयानुवृत्त्याऽऽभिग्रहिकमिति व्यपदिश्यते, अनभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्यवसितमितरस्यापर्यवसितमिति, अत एवाह—'एवं अणभी'त्यादि । दर्शनमभिहितमथ ज्ञानमभिधीयते, तत्र 'दुविहे नाणे' इत्यादीनि आवस्सगवइरित्ते दुविहे' इत्यादिसूत्रावसानानि त्रयोविंशतिः सूत्राणि ॥

दुविहे नाणे पं० तं०—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव १, पच्चक्खे नाणे दुविहे पन्नत्ते तं०—केवलनाणे चेव णोकेवलनाणे चेव २, केवलणाणे दुविहे पं० तं०—भवत्थकेवलनाणे चेव सिद्धकेवलणाणे चेव ३, भवत्थकेवलणाणे दुविहे पं० तं०

१ मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत् क्षीणं अनुदीर्णं चोपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणतं वेद्यमानं क्षायोपशमिकम् ॥ १ ॥ २ क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि भवनिदानभूते । निष्प्रत्यपायमतुलं सम्यक्त्वं क्षायिकं भवति ॥ १ ॥ ३ संज्ञिनामेवाभिग्रहिकसंभवात्, तत्त्वस्यापर्यवसितत्वाभावात् अतीतेत्यादि.



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—सजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, अजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव ४, सजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव ५, अहवा चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव ६, एवं अजोगिभवत्थकेवलनाणेऽवि ७–८, सिद्धकेवलणाणे दुविहे पं० तं० —अणंतरसिद्धकेवलणाणे चेव परंपरसिद्धकेवलनाणे चेव ९, अणंतरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पं० तं०—एक्काणंतरसिद्धकेवलणाणे चेव अणेक्काणंतरसिद्धकेवलणाणे चेव १०, परंपरसिद्धकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—एक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव अणेक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव ११, णोकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव १२, ओहिणाणे दुविहे पं० तं०—भवपच्चइए चेव खओवसमिए चेव १३, दोण्हं भवपच्चइए पन्नत्ते, तं०—देवाणं चेव नेरइयाणं चेव १४, दोण्हं खओवसमिए पं० तं०—मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव १५, मणपज्जवणाणे दुविहे पं० तं०—उज्जुमति चेव विउलमति चेव १६, परोक्खे णाणे दुविहे पन्नत्ते, तं० आभिणिबोहियणाणे चेव सुयनाणे चेव १७, आभिणिबोहियणाणे दुविहे पं० तं०—सुयनिस्सिए चेव असुयनिस्सिए चेव १८, सुयनिस्सिए दुविहे पं० तं०—अत्थोग्गहे चेव वंजणोग्गहे चेव १९, असुयनिस्सितेऽवि एमेव २०, सुयनाणे दुविहे पं० तं०—अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव २१, अंगबाहिरे दुविहे पं० तं०—आवस्सए चेव आवस्सयवइरित्ते चेव २२, आवस्सयवतिरित्ते दुविहे पं० तं०—कालिए चेव उक्कालिए चेव २३ ॥ (सू० ७१)

सुगमानि, नवरं 'ज्ञानं' विशेषावबोधः अश्नाति–भुङ्क्ते अश्नुते वा–व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्षः–आत्मा तं प्रति यद्



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७१]

दीप अनुक्रम [७१]

वर्त्तते इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत्प्रत्यक्षम्–अव्यवहितत्वेनार्थसाक्षात्करणदक्षमिति, आह च–"अक्खो [1]जीवो अत्थव्वावणभोयणगुणण्णिओ जेण। तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तमिह तिविहं ॥ १ ॥"त्ति, परेभ्यः–अक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य–जीवस्य यत्तत्परोक्षं निरुक्तवशादिति, आह च—'अक्खस्स [2]पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेण। तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ १ ॥"त्ति, अथवा परैरक्षा–सम्बन्धनं जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षम्–इन्द्रियमनोव्यवधानेनात्मनोऽर्थप्रत्यायकमसाक्षात्कारीत्यर्थः ॥ 'पच्चक्खे'त्यादि, केवलम्–एकं ज्ञानं केवलज्ञानं तदन्यन्नोकेवलज्ञानम्–अवधिमनःपर्यायलक्षणमिति। 'केवले'त्यादि, 'भवत्थकेवलनाणे चेव'त्ति भवस्थस्य केवलज्ञानं यत्तत्तथा, एवमितरदपि, 'भवत्थे'त्यादि, सह योगैः–कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी इन्समासान्तत्वात् स चासौ भवस्थश्च तस्य केवलज्ञानमिति विग्रहः, न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी–शैलेशीकरणव्यवस्थितः, शेषं तथैव, 'सयोगी'त्यादि, प्रथमः समयः सयोगित्वे यस्य स तथा, एवमप्रथमो–द्व्यादिसमयो यस्य स तथा, शेषं तथैव, 'अथवे'त्यादि, चरमः–अन्त्यः समयो यस्य सयोग्यवस्थायाः स तथा, शेषं तथैव, 'एव'मिति सयोगिसूत्रवत्प्रथमाप्रथमचरमाचरमविशेषणयुक्तमयोगिसूत्रमपि वाच्यमिति, 'सिद्धे'त्यादि, अनन्तरसिद्धो यः सम्प्रति समये सिद्धः, स चैकोऽनेको वा, तथा परम्परसिद्धो यस्य द्व्यादयः समयाः सिद्धस्य सोऽप्येकोऽनेको वेति, तेषां यत्के-

१ अक्षो जीवोऽर्थव्याप्तभोजनगुणान्वितो येन। तं प्रति वर्त्तते ज्ञानं यत् प्रत्यक्षं तदिह त्रिविधम् ॥ १ ॥ २ अक्षात् पुद्गलमयानि यद्द्रव्येन्द्रियमनांसि परााण्ि तेन। तेभ्यो यत् ज्ञानं परोक्षमिह तदनुमानमिव ॥ १ ॥ ३ पोग्गलमया प्र.


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञानम्

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७१]

दीप अनुक्रम [७१]



वलज्ञानं तत्तथा व्यपदिश्यत इति । 'ओहिनाणे'इत्यादि, 'भवपच्चइए'त्ति क्षयोपशमनिमित्तत्वेऽप्यस्य क्षयोपशमस्यापि भवप्रत्ययत्वेन तत्प्राधान्येन भव एव प्रत्ययो यस्य तद्भवप्रत्ययमिति व्यपदिश्यत इति, इदमेव भाष्यकारेण साक्षेपपरिहारमुक्तं, तत्राक्षेपः—"[1]ओही खओवसमिए भावे भणितो भवो तहोदइए । तो किह भवपच्चइओ वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं ? ॥ १ ॥" ( दोण्हं )ति देवनारकयोः, अत्र परिहारः—"[2]सोऽवि हु खओवसमिओ किन्तु स एव उ खओवसमलाभो । तंमि सइ होइऽवस्सं भण्णइ भवपच्चओ तो सो ॥ १ ॥" यतः—"[3]उदयक्खयखओवसमोवसमावि अ जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प ॥ १ ॥"त्ति, तथा तदावरणस्य क्षयोपशमे भवं क्षायोपशमिकमिति । 'मणपज्जवे'त्यादि, ऋज्वी—सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः—घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायनिबन्धनं मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः, विपुला—विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः—घटोऽनेन चिन्तितः स च सौवर्णः पाटलिपुत्रिकोऽद्यतनो महानित्याद्यध्यवसायहेतुभूता मनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति, आह च—"[4]रिजुं सामण्णं तम्मत्तगाहिणी रिजुमती मणोनाणं । पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चिंतितं मुणइ ॥ १ ॥ विउलं वत्थुविसेसणमाणं तग्गाहिणी मती विउला । चिंतियमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जयसएहिं ॥ २ ॥" 'आभिणिबोहिए'इत्यादि, श्रुतं कर्म्मतापन्नं निश्रितम्—आ-

१ अवधिः क्षायोपशमिके भावे भणितो भवस्तथौदयिके । ततः कथं भवप्रत्ययिको वक्तुं युक्तोऽवधिर्द्वयोः ? ॥ १ ॥ २ सोऽपि क्षायोपशमिकः किन्तु स एव तु क्षयोपशमलाभः । तस्मिन् सति भवस्यवश्यं भण्यते भवप्रत्ययिकस्ततः ॥ १ ॥ ३ उदयक्षयक्षयोपशमोपशमा यच्च कर्मणो भणिताः । द्रव्यं क्षेत्रं कालं भवं च भावं च संप्राप्य ॥ १ ॥ ४ ऋजुः सामान्यं तन्मात्रग्राहिणी ऋजुमतिर्मनोज्ञानम् । प्रायो विशेषविमुखं घटमात्रं चिन्तितं जानाति ॥ १ ॥ विपुलं वस्तुविशेषणमानं तद्ग्राहिणी मतिः विपुला । चिन्तितमनुस्मरति घटं प्रसङ्गतः पर्यायशतैः ॥ २ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


| | |
|---|---|
| | प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञानम् |

श्रितं श्रुतं वा निश्रितमनेनेति श्रुतनिश्रितं, यत्पूर्वमेव श्रुतकृतोपकारस्येदानीं पुनस्तदनपेक्षमेवानुप्रवर्त्तते तदवग्रहादिलक्षणं श्रुतनिश्रितमिति, यत्पुनः पूर्वं तदपरिकर्मितमतेः क्षयोपशमपटीयस्त्वादौत्पत्तिक्यादिलक्षणमुपजायतेऽन्यद्वा श्रोत्रादिप्रभवं तदश्रुतनिश्रितमिति, आह च—"पुव्वं सुयपरिकम्मियमतिस्स जं संपयं सुयाईयं । [तं] सुयनिस्सियमियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं(तं) ॥ १ ॥"ति 'सुए'त्यादि, 'अत्थोग्गहे'त्ति अर्यते—अधिगम्यतेऽर्थ्यते वा अन्विष्यत इत्यर्थः, तस्य सामान्यरूपस्य अशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणं—प्रथमपरिच्छेदनमर्थावग्रह इति, निर्विकल्पकं ज्ञानं दर्शनमिति यदुच्यते इत्यर्थः, स च नैश्चयिको यः स सामयिको यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽयमित्याद्युल्लेखवान् स आन्तर्मौहूर्त्तिक इति, अयं चेन्द्रियमनःसम्बन्धात् षोढा इति, तथा व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं—तच्चोपकरणेन्द्रियं शब्दादित्वपरिणतद्रव्यसङ्घातो वा, ततश्च व्यञ्जनेन—उपकरणेन्द्रियेण शब्दादित्वपरिणतद्रव्याणां व्यञ्जनानामवग्रहो व्यञ्जनावग्रह इति, अथवा व्यञ्जनम्—इन्द्रियशब्दादिद्रव्यसम्बन्धः इति, आह च—"वंजिज्जइ जेणऽत्थो घडोव्व दीवेण वंजणं तो तं । उवगरणिंदियसद्दादिपरिणयद्दव्वसंबंधो ॥ १ ॥"त्ति, अयं च मनोनयनवर्जेन्द्रियाणां भवतीति चतुर्द्धा, नयनमनसोरप्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वात्, इतरेषां पुनरन्यथेति, ननु व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानमेव न भवति, इन्द्रियशब्दादिद्रव्यसम्बन्धकाले तदनुभवाभावात्, बधिरादीनामिवेति, नैवं, व्यञ्जनावग्रहान्ते तद्वस्तुग्रहणादेवोपलब्धिसद्भा-

१ पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्यत् साम्प्रतं श्रुतातीतम् । तन्निश्रितमितरत् पुनरनिश्रितं मतिचतुष्कं तत् ॥ १ ॥ २ व्यज्यते येनार्थो घट इव दीपेन व्यञ्जनं ततस्तत् । उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धः ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञानम्

प्रत सूत्रांक [७१]

दीप अनुक्रम [७१]



वात्, इह यस्य ज्ञेयवस्तुग्रहणस्यान्ते तत एव ज्ञेयवस्तूपादानात् उपलब्धिर्भवति तत् ज्ञानं दृष्टं, यथाऽर्थावग्रहपर्यन्ते तत एवार्थावग्रहग्राह्यवस्तुग्रहणादीहासद्भावात् अर्थावग्रहज्ञानमिति, आह च—"अन्नाणं सो बहिराइणं व तक्कालमणुवलंभाओ । [आचार्यः] न तदन्ते तत्तोच्चिय उवलंभाओ तयं नाणं ॥ १ ॥"ति, किञ्च—व्यञ्जनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात्तु नोपलभ्यते, सुप्ताव्यक्तविज्ञानवदिति, ईहादयोऽपि श्रुतनिश्रिता एव, न तूक्ताः, द्विस्थानकानुरोधादिति । 'अस्सुयनिस्सिएऽवि एमेव'त्ति अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहभेदेनाश्रुतनिश्रितमपि द्विधैवेति, इदं च श्रोत्रादिप्रभवमेव, यत्तु औत्पत्तिक्याद्यश्रुतनिश्रितं तत्रार्थावग्रहः सम्भवति, यदाह—"किह्[1] पडिकुक्कुडहीणो जुज्झे बिंबेण उग्गहो ईहा । किं सुसिलिट्ठभवाओ दप्पणसंकंत बिंबंति[2] ॥ १ ॥" न तु व्यञ्जनावग्रहः, तस्येन्द्रियाश्रितत्वात्, बुद्धीनां तु मानसत्वात्, ततो बुद्धिभ्योऽन्यत्र व्यञ्जनावग्रहो मन्तव्य इति । 'सुयणाणे'इत्यादि, प्रवचनपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि तेषु प्रविष्टं—तदभ्यन्तरं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तच्च गणधरकृतं 'उप्पन्ने इ वे'त्यादिमातृकापदत्रयप्रभवं वा ध्रुवश्रुतं वा आचारादि, यत्पुनः स्थविरकृतं मातृकापदत्रयव्यतिरिक्तव्याकरणनिबद्धमध्रुवश्रुतं वोत्तराध्ययनादि तदङ्गबाह्यमिति, आह च—"गणहर[3] थेराइकतं २ आएसा १ मुक्कवागरणओ वा २। धुव १ चलविसेसणाओ २ अंगाणंगेसु नाणत्तं ॥१॥"ति, 'अंगबाहि'त्यादि अवश्यं कर्त्तव्यमित्यावश्यकं—सामायिकादि षड्विधम्, आह च—"समणेण[4] सावएण य

१ अज्ञानं स बधिरादीनामिव तत्कालमनुपलम्भात् । न तदन्ते तत एवोपलम्भात्तकत् ज्ञानम् ॥ १ ॥ २ कथं प्रतिकुक्कुटहीनो युध्यति बिम्बेनावग्रह ईहा किं सुश्लिष्टभवायो दर्पणसंक्रान्तं बिम्बमिति ॥ १ ॥ ३ गणधरस्थविरादिकृतं आदेशात् मुक्तव्याकरणतो वा । ध्रुवचलविशेषणाद्वा अङ्गानङ्गयोः नानात्वम् ॥ १ ॥ ४ श्रमणेन श्रावकेण चावश्यं कर्तव्यं भवति यस्मात् । अन्तेऽहो निशश्च तस्मादावश्यकं नाम ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञानम् |

प्रत सूत्रांक [७१]

दीप अनुक्रम [७१]

अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहो णिसस्स य तम्हा आवस्सयं नामं ॥ १ ॥" ॥ आवश्यकाद् व्यतिरिक्तं ततो यदन्यदिति । 'आवस्सगवतिरित्ते'इत्यादि, यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत्कालेन निर्वृत्तं कालिकम्–उत्तराध्ययनादि, यत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदूर्ध्वं कालिकादित्युत्कालिकं–दशकालिकादीति ॥ उक्तं ज्ञानं, चारित्रं प्रस्तावयति—

दुविहे धम्मे पं० तं०—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव, सुयधम्मे दुविहे पं०.तं०—सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे दुविहे पं० तं०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव, दुविहे संजमे पं० तं०—सरागसंजमे चेव वीतरागसंजमे चेव, सरागसंजमे दुविहे पं० तं०—सुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव बादरसंपरायसरागसंजमे चेव, सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पन्नत्ते, तं०—पढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव अपढमसमयसु०, अथवा चरमसमयसु० अचरिमसमयसु०, अहवा सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पं० तं०—संकिलेसमाणए चेव विसुज्झमाणए चेव, बादरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमयबादर० अपढमसमयबादरसं०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, अहवा बायरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पं० तं०—पडिवाति चेव अपडिवाति चेव, वीयरागसंजमे दुविहे पं० तं०—उवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव खीणकसायवीयरागसंजमे चेव, उवसंतकसायवीयरागसंजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमयउवसंतकसायवीतरागसंजमे चेव अपढमसमयउव०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, खीणकसायवीतरागसंजमे दुविहे पं० तं०—छउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे चेव केवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव, छउमत्थखीणकसायवी-

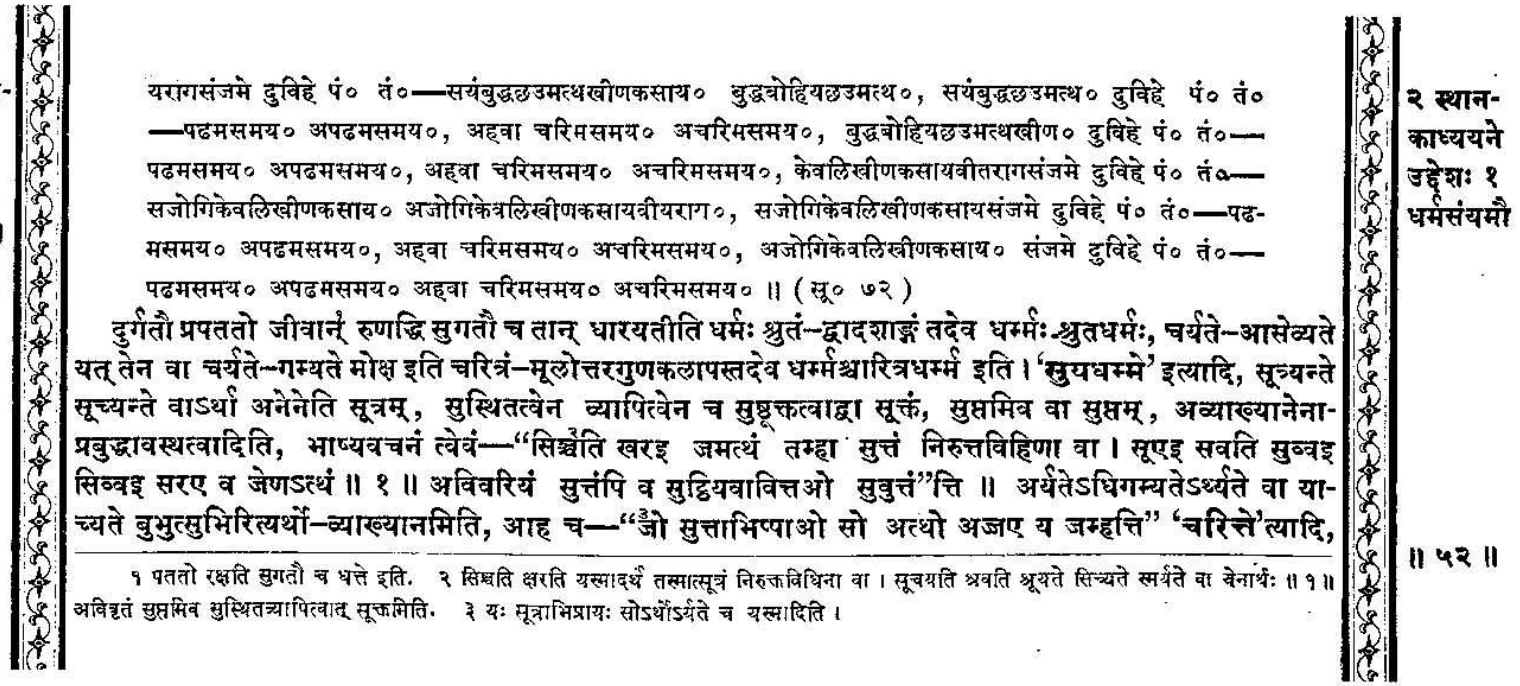
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मानाम् द्विविधाः भेदाः, संयमानाम् द्विविधाः भेदाः,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७२]

दीप अनुक्रम [७२]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ५२ ॥

यरागसंजमे दुविहे पं० तं०—सयंबुद्धछउमत्थखीणकसाय० बुद्धबोहियछउमत्थ०, सयंबुद्धछउमत्थ० दुविहे पं० तं० —पढमसमय० अपढमसमय०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, बुद्धबोहियछउमत्थखीण० दुविहे पं० तं०— पढमसमय० अपढमसमय०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, केवलिखीणकसायवीतरागसंजमे दुविहे पं० तं०— सजोगिकेवलिखीणकसाय० अजोगिकेवलिखीणकसायवीयराग०, सजोगिकेवलिखीणकसायसंजमे दुविहे पं० तं०—पढ-मसमय० अपढमसमय०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, अजोगिकेवलिखीणकसाय० संजमे दुविहे पं० तं०— पढमसमय० अपढमसमय० अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय० ॥ (सू० ७२)

दुर्गतौ प्रपततो जीवान् रुणद्धि सुगतौ च तान् धारयतीति धर्मः श्रुतं—द्वादशाङ्गं तदेव धर्म्मः श्रुतधर्मः, चर्यते—आसेव्यते यत् तेन वा चर्यते—गम्यते मोक्ष इति चरित्रं—मूलोत्तरगुणकलापस्तदेव धर्म्मश्चारित्रधर्म्म इति। 'सुयधम्मे' इत्यादि, सूच्यन्ते सूच्यन्ते वाऽर्था अनेनेति सूत्रम्, सुस्थितत्वेन व्यापित्वेन च सुष्ठूक्तत्वाद्वा सूक्तं, सुप्तमिव वा सुप्तम्, अव्याख्यानेना-प्रबुद्धावस्थत्वादिति, भाष्यवचनं त्वेवं—"सिच्चंति खरइ जमत्थं तम्हा सुत्तं निरुत्तविहिणा वा। सूएइ सवति सुव्वइ सिव्वइ सरए व जेणऽत्थं ॥ १ ॥ अविवरियं सुत्तंपि व सुट्ठियवावित्तओ सुवुत्तं"त्ति ॥ अर्यतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वा या-च्यते बुभुत्सुभिरित्यर्थो—व्याख्यानमिति, आह च—"जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हत्ति" 'चरित्ते'त्यादि,

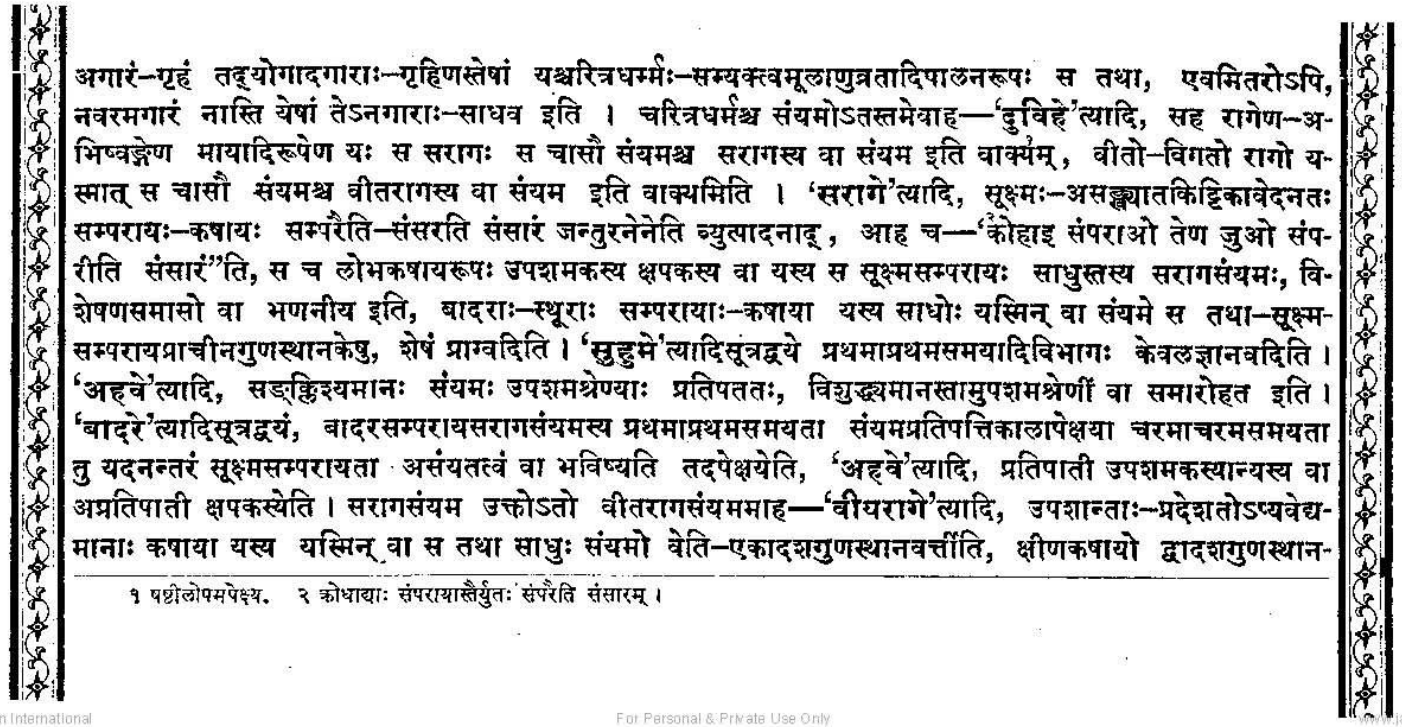
१ पततो रक्षति सुगतौ च धत्ते इति. २ सिच्यति क्षरति यस्मादर्थं तस्मात्सूत्रं निरुक्तविधिना वा। सूचयति श्रवति श्रूयते सिच्यते स्मर्यते वा येनार्थः ॥ १ ॥ अविवृतं सुप्तमिव सुस्थितव्यापित्वात् सूक्तमिति. ३ यः सूत्राभिप्रायः सोऽर्थोऽर्यते च यस्मादिति।

२ स्थान-काध्ययने उद्देशः १ धर्मसंयमौ

॥ ५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मानाम् द्विविधा: भेदा:, संयमानाम् द्विविधा: भेदा:,



अगारं–गृहं तद्योगादगाराः–गृहिणस्तेषां यश्चरित्रधर्म्मः–सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा, एवमितरोऽपि, नवरमगारं नास्ति येषां तेऽनगाराः–साधव इति । चरित्रधर्मश्च संयमोऽतस्तमेवाह—'दुविहे'त्यादि, सह रागेण–अभिष्वङ्गेण मायादिरूपेण यः स सरागः स चासौ संयमश्च सरागस्य वा संयम इति वाक्यम्, वीतो–विगतो रागो यस्मात् स चासौ संयमश्च वीतरागस्य वा संयम इति वाक्यमिति । 'सरागे'त्यादि, सूक्ष्मः–असङ्ख्यातकिट्टिकावेदनतः सम्परायः–कषायः सम्परैति–संसरति संसारं जन्तुरनेनेति व्युत्पादनाद्[1], आह च—'कोहाइ संपराओ तेण जुओ संपरीति संसारं"ति[2], स च लोभकषायरूपः उपशमकस्य क्षपकस्य वा यस्य स सूक्ष्मसम्परायः साधुस्तस्य सरागसंयमः, विशेषणसमासो वा भणनीय इति, बादराः–स्थूराः सम्परायाः–कषाया यस्य साधोः यस्मिन् वा संयमे स तथा–सूक्ष्मसम्परायप्राचीनगुणस्थानकेषु, शेषं प्राग्वदिति । 'सुहुमे'त्यादिसूत्रद्वये प्रथमाप्रथमसमयादिविभागः केवलज्ञानवदिति । 'अहवे'त्यादि, सङ्क्लिश्यमानः संयमः उपशमश्रेण्याः प्रतिपततः, विशुद्ध्यमानस्तामुपशमश्रेणीं वा समारोहत इति । 'बादरे'त्यादिसूत्रद्वयं, बादरसम्परायसरागसंयमस्य प्रथमाप्रथमसमयता संयमप्रतिपत्तिकालापेक्षया चरमाचरमसमयता तु यदनन्तरं सूक्ष्मसम्परायता असंयतत्वं वा भविष्यति तदपेक्षयेति, 'अहवे'त्यादि, प्रतिपाती उपशमकस्यान्यस्य वा अप्रतिपाती क्षपकस्येति । सरागसंयम उक्तोऽतो वीतरागसंयममाह—'वीयरागे'त्यादि, उपशान्ताः–प्रदेशतोऽप्यवेद्यमानाः कषाया यस्य यस्मिन् वा स तथा साधुः संयमो वेति–एकादशगुणस्थानवर्त्तीति, क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थान-

१ षष्ठीलोपमपेक्ष्य. २ कोधाद्याः संपरायास्तैर्युतः संपरैति संसारम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | धर्मानाम् द्विविधा: भेदा:, संयमानाम् द्विविधा: भेदा:, |

वर्त्तीति, 'उवसंते'त्यादि सूत्रद्वयं प्रागिव । 'खीणे'त्यादि, छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तच्छद्म–ज्ञानावरणादिघातिकर्म तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः–अकेवली, शेषं तथैव, केवलम्–उक्तस्वरूपं ज्ञानं च दर्शनं चास्यास्तीति केवलीति । 'छउमत्थे'त्यादि, स्वयम्बुद्धादिस्वरूपं प्रागिवेति, 'सयंबुद्धे'त्यादि नव सूत्राणि गतार्थान्येवेति । उक्तः संयमः, स च जीवाजीवविषय इति पृथिव्यादिजीवस्वरूपमाह—'दुविहा पुढवी'त्यादिरष्टाविंशतिः सूत्राणि ॥

दुविहा पुढविकाइया पं० तं०—सुहुमा चेव बायरा चेव १, एवं जाव दुविहा वणस्सइकाइया पं० तं०—सुहुमा चेव बायरा चेव ५, दुविहा पुढविकाइया पं० तं०—पज्जत्तगा चेव अपज्जत्तगा चेव ९, एवं जाव वणस्सइकाइया १०, दुविहा पुढविकाइया पं० तं०—परिणया चेव अपरिणया चेव ११, एवं जाव वणस्सइकाइया १५, दुविहा दव्वा पं० तं० —परिणता चेव अपरिणता चेव १६, दुविहा पुढविकाइया पं० तं०—गतिसमावन्नगा चेव अगइसमावन्नगा चेव १७, एवं जाव वणस्सइकाइया २१, दुविहा दव्वा पं० तं०—गतिसमावन्नगा चेव अगतिसमावन्नगा चेव २२, दुविहा पुढविकाइया पं० तं०—अणंतरोगाढा चेव परंपरोगाढा चेव २३, जाव दव्वा० २८ (सू० ७३)

तत्र पृथिव्येव कायो येषां ते पृथिवीकायिनः समासान्तविधौ एव स्वार्थिकप्रत्ययात् पृथिवीकायिकाः, पृथिव्येव वा कायः–शरीरं सोऽस्ति येषां ते पृथिवीकायिकास्ते सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माश्चैव ये सर्वलोकापन्नाः, बादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो बादरा ये पृथिवीनगादिष्वेवेति, नैषामापेक्षिकं सूक्ष्मबादरत्वमिति, 'एव'मिति पृथिवीसूत्रवदप्तेजोवायूनां सूत्राणि वाच्यानि यावद्वनस्पतिसूत्रम्, अत एवाह–'जावे'त्यादि, 'दुविहे'त्यादि पञ्चसूत्री, तत्र पर्याप्तनामकर्मोदयव-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

र्त्तिनः पर्याप्ताः, ये हि चतस्रः स्वपर्याप्तीः पूरयन्तीति, अपर्याप्तनामकर्मोदयादपर्याप्तका ये स्वपर्याप्तीर्न पूरयन्तीति, इह च पर्याप्तिर्नाम शक्तिः सामर्थ्यविशेष इतियावत्, सा च पुद्गलद्रव्योपचयादुत्पद्यते, षड्भेदा चेयं, तद्यथा–आहार १ सरीरिं २ दिय ३ पज्जत्ती आणपाण ४ भास ५ मणे ६। चत्तारि पंच छप्पिय एगिंदियविगलसन्नीणं ॥१॥"त्ति, तत्र एकेन्द्रियाणां चतस्रो विकलेन्द्रियाणां पञ्च संज्ञिनां षट्, तत्र आहारपर्याप्तिर्नाम खलरसपरिणमनशक्तिः १, शरीरपर्याप्तिः सप्तधातुतया रसस्य परिणमनशक्तिः २, इन्द्रियपर्याप्तिः पञ्चानामिन्द्रियाणां योग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्त्तितेन वीर्येण तद्भावनयनशक्तिः ३, आनप्राणपर्याप्तिः उच्छ्वासनिश्वासयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा तथा परिणमय्याऽऽनप्राणतया निसर्जनशक्तिः, ४ भाषापर्याप्तिर्वचोयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य वाग्योगतया निसर्जनशक्तिः ५, मनःपर्याप्तिर्मनोयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा मनस्तया परिणमय्य मनोयोगतया निसर्जनशक्तिरिति ६, एताः पर्याप्तयः पर्याप्तनामकर्मोदयेन निर्वर्त्त्यन्ते, तद् येषामस्ति ते पर्याप्तकाः, अपर्याप्तनामकर्मोदयेनानिर्वृत्ताः येषामेताः सन्तीति तेऽपर्याप्तका इति, एताश्च युगपदारभ्यन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तेन च निर्वर्त्त्यन्ते, तत्र आहारपर्याप्तेर्निर्वृत्तिकालः समय एव, कथम्?, उच्यते, यस्मात् प्रज्ञापनायामुक्तं—'आहारपज्जत्तीए अपज्जत्तए णं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए?, गोयमा! नो आहारए अणाहारए"त्ति, स च विग्रहे आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तको लभ्यते, यदि पुनरुपपातक्षेत्रप्राप्तोऽप्याहारपर्याप्त्याऽपर्याप्तको भवेत्तदैवं व्याकरणं भवेद्–गोयमा! सिय आहारए सिय अणाहारए'त्ति, यथा

१ आहारपर्याप्त्याऽपर्याप्तो भदन्त! जीवः किमाहारकोऽनाहारकः? गौतम! नो आहारकोऽनाहारकः। २ गौतम! स्यादाहारकः स्यादनाहारकः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीरादिपर्याप्तिषु 'सिय आहारए सिय अणाहारए'त्ति, शेषाः पुनरसङ्ख्यातसमया अन्तर्मुहूर्त्तेन निर्वर्त्स्यन्त इति, अपर्याप्तकास्तु उच्छ्वासपर्याप्त्या अपर्याप्ता एव म्रियन्ते, न तु शरीरेन्द्रियपर्याप्तिभ्यां, यस्मादागामिभवायुष्कं बद्ध्वा म्रियन्ते, तच्च शरीरेन्द्रियादिपर्याप्त्या पर्याप्तैरेव बध्यत इति। 'एव'मिति पूर्ववदेवेति । 'दुविहा पुढवी'त्यादिषट्सूत्री, परिणताः–स्वकायपरकायशस्त्रादिना परिणामान्तरमापादिताः, अचित्तीभूता इत्यर्थः, तत्र द्रव्यतः क्षत्रादिना मिश्रेण द्रव्येण कालतः पौरुष्यादिना [मिश्रेण] कालेन भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथात्वेन परिणताः क्षेत्रतस्तु 'जोयणसयं तु गंता अणहारेणं तु भंडसंकंती । वायागणिधूमेण य विद्धत्थं होइ लोणाइ ॥ १ ॥ हरियाल मणोसिल पिप्पली य खज्जूर मुद्दिया अभया । आइन्नमणाइन्ना तेऽवि हु एमेव णायव्वा ॥ २ ॥ आरुहणे ओरुहणे णिसियण गोणाइणं च गाउम्हा । भूमाहारच्छेदे उवक्कमेणेव परिणामो ॥ ३ ॥" 'अणहारेणं'ति स्वदेशजाहाराभावेनेति, 'भंडसंकंती'ति भाजनाद् भाजनान्तरसङ्क्रान्त्या, खर्ज्जूरादयोऽनाचरिताः अभयादयस्तु आचरिता इति, परिणामान्तरेऽपि पृथिवीकायिका एव ते, केवलमचेतना इति, कथमन्यथाऽचेतनैपृथिवीकायपिण्डप्रयोजनाभिधानमिदं स्यात्, यथा—'घट्टगडगलगलेवो एमादि पयोयणं बहुहा' इति। 'एव'मित्यादि प्रागिव, तदेवं पञ्चैतानि सूत्राणि । द्रवन्ति–गच्छन्ति विचित्रपर्यायानिति द्रव्याणि–जीवपुद्गलरूपाणि तानि च विवक्षितपरिणामत्यागेन परिणामान्तरापन्नानि परिणतानि–विवक्षितपरिणामवन्त्येव, अप-

१ क्षेत्रादिना प्र. २ योजनशतं तु गत्वाऽनाहारेण भाण्डसंक्रान्त्या । वृन्ताकधूमेन च विध्वस्तं भवति लवणादि ॥ १ ॥ हरितालमनःशिले पिप्पली च खर्जूरः मुद्रिकाऽभया । आचीर्णा अनाचीर्णास्तेऽपि एवमेव ज्ञातव्याः ॥२॥ आरोहेऽवरोहे निषीदनं गवादीनां च गात्रोष्मा । भौमाहारव्यवच्छेदे उपक्रमेणैव परिणामः ॥३॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिणतानीति द्रव्यसूत्रं षष्ठम्। 'दुविहे'त्यादि षट्सूत्री, गतिर्गमनं तां समापन्नाः–प्राप्तास्तद्वन्तो गतिसमापन्नाः, ये हि पृथिवीकायिकाद्यायुष्कोदयात् पृथिवीकायिकादिव्यपदेशवन्तो विग्रहगत्या उत्पत्तिस्थानं व्रजन्ति, अगतिसमापन्नास्तु स्थितिमन्तः, द्रव्यसूत्रे गतिर्गमनमात्रमेव, शेषं तथैवेति ॥ 'दुविहा पुढवी'त्यादि षट्सूत्री, अनन्तरं–सम्प्रत्येव समये क्वचिदाकाशदेशे अवगाढाः–आश्रितास्त एवानन्तरावगाढकाः, येषां तु द्व्यादयः समया अवगाढानां ते परम्परावगाढकाः, अथवा विवक्षितं क्षेत्रं द्रव्यं वाऽपेक्ष्यानन्तरम्–अव्यवधानेनावगाढा अनन्तरावगाढा, इतरे तु परम्परावगाढा इति ॥ अनन्तरं द्रव्यस्वरूपमुक्तम्, अधुना द्रव्याधिकारादेव द्रव्यविशेषयोः कालाकाशयोर्द्विसूत्र्या प्ररूपणामाह—

दुविहे काले पं० तं०—ओसप्पिणीकाले चेव उस्सप्पिणीकाले चेव, दुविहे आगासे पं० तं०—लोगागासे चेव अलोगागासे चेव, (सू० ७४)

तत्र कल्यते–सङ्ख्यायतेऽसावनेन वा कलनं वा कलासमूहो वेति कालः–वर्त्तनापरापरत्वादिलक्षणः स चावसर्प्पिण्युत्सर्प्पिणीरूपतया द्विविधो द्विस्थानकानुरोधादुक्तः अन्यथाऽवस्थितलक्षणो महाविदेहभोगभूमिसम्भवी तृतीयोऽप्यस्तीति ॥ 'आगासे'त्ति सर्वद्रव्यस्वभावानाकाशयति–आदीपयति तेषां स्वभावलाभेऽवस्थानदानादित्याकाशम्, आङ् मर्यादाऽभिविधिवाची, तत्र मर्यादायामाकाशे भवन्तोऽपि भावाः स्वात्मन्येवाऽऽसते नाकाशतां यान्तीत्येवं तेषामात्मसादकरणाद्, अभिविधौ तु सर्वभावव्यापनादाकाशमिति, तत्र लोको यत्राकाशदेशे धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां वृत्तिरस्ति स एवाकाशं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७४]

दीप अनुक्रम [७४]



लोकाकाशमिति, विपरीतमलोकाकाशमिति ॥ अनन्तरं लोकालोकभेदेनाकाशद्वैविध्यमुक्तं, लोकश्च शरीरिशरीराणां सर्वत आश्रयस्वरूप इति नारकादिशरीरिदण्डकेन शरीरप्ररूपणायाह—

णेरइयाणं दो सरीरगा पं० तं०—अब्भंतरगे चेव बाहिरगे चेव, अब्भंतरए कम्मए बाहिरए वेउव्विए, एवं देवाणं भाणियव्वं, पुढविकाइयाणं दो सरीरगा पं० तं०—अब्भंतरगे चेव बाहिरगे चेव अब्भंतरगे कम्मए बाहिरगे ओरालियगे, जाव वणस्सइकाइयाणं, बेइंदियाणं दो सरीरा पं० तं०—अब्भंतरए चेव बाहिरए चेव, अब्भंतरगे कम्मए, अट्ठिमंससोणितबद्धे बाहिरए ओरालिए, जाव चउरिंदियाणं, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो सरीरगा पं० तं०—अब्भंतरगे चेव बाहिरगे चेव, अब्भंतरगे कम्मए, अट्ठिमंससोणियण्हारुछिराबद्धे बाहिरए ओरालिए, मणुस्साणवि एवं—चेव । विग्गहगइसमावन्नगाणं नेरइयाणं दो सरीरगा पं० तं०—तेयए चेव कम्मए चेव, निरन्तरं जाव वेमाणियाणं, नेरइयाणं दोहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिया, तं०—रागेण चेव दोसेण चेव, जाव वेमाणियाणं, नेरइयाणं दुट्ठाणनिव्वतिए सरीरगे पं० तं०—रागनिव्वत्तिए चेव, दोसनिव्वत्तिए चेव, जाव वेमाणियाणं, दो काया पं० तं०—तसकाए चेव थावरकाए चेव, तसकाए दुविहे पं० तं०—भवसिद्धिए चेव अभवसिद्धिए चेव, एवं थावरकाएऽवि ( सू० ७५ )

'णेरइयाण'मित्यादि, प्रायः कण्ठ्यं, नवरं शीर्यते—अनुक्षणं चयापचयाभ्यां विनश्यतीति शरीरं तदेव शटनादिधर्मतयाऽनुकम्पितत्वात् शरीरकं ते च द्वे प्रज्ञप्ते जिनैः, अभ्यन्तः—मध्ये भवमाभ्यन्तरं, आभ्यन्तरत्वं च तस्य जीवप्रदेशैः



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७५]

दीप अनुक्रम [७५]

सह क्षीरनीरन्यायेन लोलीभवनात् भवान्तरगतावपि च जीवस्यानुगतिप्रधानत्वादपवरकाद्यन्तःप्रविष्टपुरुषवदनतिशयिनामप्रत्यक्षत्वाच्चेति, तथा बहिर्भवं बाह्यं, बाह्यता चास्य जीवप्रदेशैः कस्यापि केषुचिदवयवेष्वव्याप्तेर्भवान्तराननुयायित्वान्निरतिशयानामपि प्रायः प्रत्यक्षत्वाच्चेति, तत्राभ्यन्तरं 'कम्मए'त्ति कार्मणशरीरनामकर्मोदयनिर्वर्त्त्यमशेषकर्मणां प्ररोहभूमिराधारभूतं, तथा संसार्यात्मनां गत्यन्तरसङ्क्रमणे साधकतमं तत् कार्मणवर्गणास्वरूपं, कर्मैव कर्मकमिति, कर्मकग्रहणे च तैजसमपि गृहीतं द्रष्टव्यं, तयोरव्यभिचारित्वेनैकत्वस्य विवक्षितत्वादिति, 'एवं देवाणं भाणियव्वं'ति अयमर्थो—यथा नैरयिकाणां शरीरद्वयं भणितमेवं देवानाम्—असुरादीनां वैमानिकान्तानां भणितव्यम्, कार्मणवैक्रिययोरेव तेषां भावात्, चतुर्विंशतिदण्डकस्य च विवक्षितत्वादिति। 'पुढवी'त्यादि, पृथिव्यादीनां तु बाह्यमौदारिकमौदारिकशरीरनामकर्मोदयादुदारपुद्गलनिर्वृत्तमौदारिकं, केवलमेकेन्द्रियाणामस्थ्यादिविरहितं, वायूनां वैक्रियं यत्तन्न विवक्षितं, प्रायिकत्वात् तस्येति॥ 'बेइंदियाण'मित्यादि, अस्थिमांसशोणितैर्बद्धं—नद्धं यत्तथा, द्वीन्द्रियादीनामौदारिकत्वेऽपि शरीरस्यायं विशेषः। 'पंचेंदिए'त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां पुनरयं विशेषो यदस्थिमांसशोणितस्नायुशिराबद्धमिति, अस्थ्यादयस्तु प्रतीता इति॥ प्रकारान्तरेण चतुर्विंशतिदण्डकेन शरीरप्ररूपणामेवाह—'विग्गहे'त्यादि, विग्रहगतिः—वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानं गन्तव्यं भवति तदा या स्यात्तां समापन्ना विग्रहगतिसमापन्नास्तेषां द्वे शरीरे, इह तैजसकार्मणयोर्भेदेन विवक्षेति, एवं दण्डकः॥ शरीराधिकारात् शरीरोत्पत्तिं दण्डकेन निरूपयन्नाह—'नेरइयाण'मित्यादि, कण्ठ्यं, किन्तु या रागद्वेषजनितकर्मणा शरीरोत्पत्तिः सा रागद्वेषाभ्यामेवेति व्यपदिश्यते, कार्ये कारणोपचारादिति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'जाव वेमाणियाणं'ति दण्डकः सूचितः । शरीराधिकाराच्छरीरनिर्वर्त्तनसूत्रं, तदप्येवं, नवरमुत्पत्तिः–आरम्भमात्रं निर्वर्त्तना तु निष्ठानयनमिति । शरीराधिकाराच्छरीरवतां राशिद्वयेन प्ररूपणामाह—'दो काए'त्यादि, त्रसनामकर्मोदयात् त्रस्यन्तीति त्रसाः तेषां कायो–राशिस्त्रसकायः, स्थावरनामकर्मोदयात् तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावरास्तेषां कायः स्थावरकाय इति । त्रसस्थावरकाययोरेव द्वैविध्यप्ररूपणार्थं 'तसकाये'त्यादि सूत्रद्वयं, सुगमं चेति । पूर्वसूत्रे भव्याः शरीरिण उक्ता इतस्तद्विशेषाणामेव यद्यथा कर्त्तुमुचितं तत् तथा द्विस्थानकानुपातेनाह—

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पव्वावित्तए—पाईणं चेव उदीणं चेव, एवं मुंडावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए संवसित्तए सज्झायमुद्दिसित्तए सज्झायं समुद्दिसित्तए सज्झायमणुजाणित्तए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए निंदित्तए गरहित्तए विउट्टित्तए विसोहित्तए अकरणयाए अब्भुट्टित्तए आहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए, दो दिसातो अभिगिज्झ कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाजूसणाजूसियाणं भत्तपाणपडियाइक्खिताणं पाओवगताणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए, तंजहा—पाईणं चेव उदीणं चेव ॥ (सू० ७६) बिट्ठाणस्स पढमो उद्देसओ समत्तो २–१ ॥

'दो दिसाओ' इत्यादि, द्वे दिशौ–काष्ठे अभिगृह्य–अङ्गीकृत्य तदभिमुखीभूयेत्यर्थः कल्पते–युज्यते निर्गता ग्रन्थाद्–धनादेरिति निर्ग्रन्थाः–साधवस्तेषां, निर्ग्रन्थ्यः–साध्व्यस्तासां प्रव्राजयितुं रजोहरणादिदानेन, 'प्राचीनां' प्राचीं पूर्वामि-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यर्थः, 'उदीचीनाम्' उदीचीमुत्तरामित्यर्थः, उक्तं च–"पुव्वामुहो उ उत्तरमुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा। जाए जिणादओ वा हवेज्ज जिणचेइयाइं वा ॥ १ ॥" इति ॥ 'एवं'मिति यथा प्रव्राजनसूत्रं दिगुद्ग्रथाभिलापेनाधीतमेवं मुण्डनादिसूत्राण्यपि षोडशाध्येतव्यानीति, तत्र मुण्डयितुं शिरोलोचनेन १ शिक्षयितुं ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्राहयितुं आसेवनाशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षणादि शिक्षयितुमिति २, उत्थापयितुं महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुं ३ संभोजयितुं भोजनमण्डल्यां निवेशयितुं ४ संवासयितुं संस्तारकमण्डल्यां निवेशयितुं ५, सुष्ठु आ–मर्यादया अधीयत इति स्वाध्यायः–अङ्गादिस्तमुद्देष्टुं योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येवमुपदेष्टुमिति ६, समुद्देष्टुं योगसामाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विंदमिति वक्तुमिति ७, अनुज्ञातुं तथैव सम्यगेतद् धारय अन्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमिति ८, आलोचयितुं गुरवेऽपराधान्निवेदयितुमिति ९, प्रतिक्रमितुं–प्रतिक्रमणं कर्त्तुमिति १०, निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षं जुगुप्सितुं, आह च—"[1]सचरित्तपच्छयावो निंद"त्ति ११, गर्हितुं गुरुसमक्षं तानेव जुगुप्सितुं, आह च—"[2]गरहाऽवि तहाजातीयमेव नवरं परप्पयासणए"त्ति १२, 'विउट्टित्तए'त्ति व्यतिवर्त्तयितुं वित्रोटयितुं विकुट्टयितुं वा, अतिचारानुबन्धं विच्छेदयितुमित्यर्थः १३, विशोधयितुमतिचारपङ्कापेक्षयाऽऽत्मानं विमलीकर्त्तुमिति १४, अकरणतया–पुनर्न करिष्यामीत्येवमभ्युत्थातुम्–अभ्युपगन्तुमिति १५, 'यथार्हम्' अतिचाराद्यपेक्षया यथोचितं पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तं,

१ पूर्वमुखो वोत्तरमुखो वा दद्यादथवा प्रतीच्छेत्। यस्यां जिनादयो वा भवेयुर्जिनचैत्यानि वा ॥ १ ॥ २ स्वचरितपश्चात्तापो निन्दा, ३ गर्हाऽपि तथाजातीयैव नवरं परस्मै प्रकाशनम्,


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७६]

दीप अनुक्रम [७६]



उक्तं च—"पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं तु भन्नए तेण । पाएण वावि चित्तं विसोहए तेण पच्छित्तं ॥ १ ॥" ति, तपःकर्म—निर्विकृतिकादिकं प्रतिपत्तुम्—अभ्युपगन्तुमिति १६, सप्तदशं सूत्रं साक्षादेवाह—'दो दिसे'त्यादि, पश्चिमैवामङ्गलपरिहारार्थमपश्चिमा सा चासौ मरणमेव योऽन्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी च सा चासौ संलिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना—तपोविशेषः सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना तस्याः 'जूसण'त्ति जोषणा—सेवा तया तल्लक्षणधर्मेणेत्यर्थः 'जूसियाण'न्ति सेवितानां, तद्युक्तानामित्यर्थः, तया वा 'झोषितानां' क्षपितानां क्षपितदेहानामित्यर्थः, तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते यैस्ते तथा तेषां, पादपवदुपगतानाम्—अचेष्टतया स्थितानामनशनविशेषं प्रतिपन्नानामित्यर्थः, 'कालं' मरणकालमनवकाङ्क्षतां—तत्रानुत्सुकानां विहर्त्तुं—स्थातुमिति १७ । एवमेतानि दिक्सूत्राण्यादितोऽष्टादश । सर्वत्र यन्न व्याख्यातं, तत्सुगमत्वादिति ॥ द्विस्थानकस्य प्रथमोद्देशको विवरणतः समाप्तः ॥

इहानन्तरोद्देशके जीवाजीवधर्मा द्वित्वविशिष्टा उक्ताः, द्वितीयोद्देशके तु द्वित्वविशिष्टा एव जीवधर्मा उच्यन्ते, इत्यनेन सम्बन्धेन आयातस्यास्योद्देकशस्येदमादिसूत्रम्—

जे देवा उड्ढोववन्नगा कप्पोववन्नगा विमाणोववन्नगा चारोववन्नगा चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावन्नगा, तेसिणं देवाणं

१ पापं छिनत्ति यस्मात् पापच्छित्तु भण्यते तस्मात् । प्रायेण वाऽपि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तं ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र प्रथमो उद्देशकः समाप्तं, द्वितीयो उद्देशकः आरब्धः

सता समितं जे पावे कम्मे कज्जति तत्थगतावि एगतिया वेदणं वेदेंति अन्नत्थगतावि एगतिया वेअणं वेदेंति, णेरइयाणं सता समियं जे पावे कम्मे कज्जति तत्थगतावि एगतिया वेयणं वेदेंति अन्नत्थगतावि एगतिआ वेयणं वेदेंति, जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं सता समितं जे पावे कम्मे कज्जति इहगतावि एगतिता वेयणं वेयंति अन्नत्थगतावि एगतिया वेयणं वेयंति, मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगमा ॥ (सू० ७७)

'जे देवे'त्यादि, अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायमभिसम्बन्धः–प्रथमोद्देशकान्त्यसूत्रे पादपोपगमनमुक्तम्, तस्माच्च देवत्वं केषाञ्चिद्भवतीति देवविशेषभणनेन तत्कर्मबन्धवेदने प्रतिपादयन्नाह–'जे देवे'त्यादि, ये देवाः–सुराः वक्ष्यमाणविशेषणेभ्यो वैमानिका अनशनादेरुत्पन्नाः, किंभूताः–'उड्ढ'त्ति ऊर्ध्वलोकस्तत्रोपपन्नकाः–उत्पन्ना ऊर्ध्वोपपन्नकास्ते च द्विधा–कल्पोपपन्नकाः–सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नास्तथा विमानोपपन्नकाः–ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोत्पन्नाः कल्पातीता इत्यर्थः, तथा परे 'चारोववन्नग'त्ति चरन्ति–भ्रमन्ति ज्योतिष्कविमानानि यत्र स चारो–ज्योतिश्चक्रक्षेत्रं समस्तमेव, व्युत्पत्त्यर्थमात्रानपेक्षणेन शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयणात्, तत्रोपपन्नकाश्चारोपपन्नकाः–ज्योतिष्काः, न च पादपोपगमनादेर्ज्योतिष्कत्वं न भवति, परिणामविशेषादिति, तेऽपि च द्विधैव, तथाहि–चारे–ज्योतिश्चक्रक्षेत्रे स्थितिरेव येषां ते चारस्थितिकाः–समयक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनो घण्टाकृतय इत्यर्थः, तथा गतौ रतिर्येषां ते गतिरतिकाः, समयक्षेत्रवर्त्तिन इत्यर्थः, गतिरतयश्चाससततगतयोऽपि भवन्तीत्यत आह–गतिं–गमनं समिति–सन्ततमापन्नकाः–प्राप्ता गतिसमापन्नकाः, अनुपरतगतय इत्यर्थः, तेषां देवानां द्विविधानां पुनर्द्विविधानां सदा–नित्यं समितं–सन्ततं यत्पापं कर्म–ज्ञानावरणादि, सततबन्धकत्वात् जीवानां,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियते–बध्यते, कर्मकर्तृप्रयोगोऽयं, भवति सम्पद्यत इत्यर्थः, ते देवास्तस्य–कर्मणः अबाधाकालातिक्रमे सति 'तत्थगयावि'त्ति अपिरेवकारार्थस्तस्य चैवं प्रयोगः–तत्रैव–देवभव एव कल्पातीतानां क्षेत्रान्तरादिगमनासम्भवादिह तत्रान्यत्रशब्दाभ्या भव एव विवक्षितः, न क्षेत्रशयनासनादीति, गताः–वर्त्तमाना 'एके'केचन देवा वेदनाम्–उदयं विपाकं 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, 'अन्नत्थगयावि'त्ति देवभवादन्यत्रैव भवान्तरे गता–उत्पन्ना वेदनामनुभवन्ति, केचित्तूभयत्रापि, अन्ये विपाकोदयापेक्षया नोभयत्रापीति, एतच्च विकल्पद्वयं सूत्रे नाश्रितं, द्वित्वाधिकारादिति ॥ सूत्रोक्तमेव विकल्पद्वयं सर्वजीवेषु चतुर्विंशतिदण्डकेन प्ररूपयन्नाह—'नेरइयाण'मित्यादि, प्रायः सुगमम्, नवरं, "तत्थगयावि अन्नत्थगयावि" एवमभिलापेन दण्डको नेयो यावत्सञ्ज्ञेन्द्रियतिर्यञ्चोऽत एवाह–'जावे'त्यादि, मनुष्येषु पुनरभिलापविशेषो दृश्यः, यथा 'इहगतावि एगइया' इति, सूत्रकारो हि मनुष्योऽतस्तत्रेत्येवंभूतं परोक्षानासन्ननिर्देशं विमुच्य मनुष्यसूत्रे इहेत्येवं निर्दिशति स्म, मनुष्यभवस्य स्वीकृतत्वेन प्रत्यक्षासन्नवाचिन इदंशब्दस्य विषयत्वादिति, अत एवाह—'मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगम'त्ति शेषाः–व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका एकगमाः–तुल्याभिलापाः, ननु प्रथमसूत्र एव ज्योतिष्कवैमानिकदेवानां विवक्षितार्थस्याभिहितत्वात् किं पुनरिह तद्ग्रहणनेनेति ?, उच्यते, तत्रानुष्ठानफलदर्शनप्रसङ्गेन भेदतश्चोक्तत्वाद्, इह तु दण्डकक्रमेण सामान्यतश्चोक्तत्वादिति न दोषो, दृश्यते चेह तत्र तत्र विशेषोक्तावपि सामान्योक्तिरितरोक्तौ त्वितरेति ॥ तत्रगता वेदनां वेदयन्तीत्युक्तमतो नारकादीनां गतिं तद्विपर्यस्तामागतिं च निरूपयन्नाह—

नेरतिता दुगतिया दुयागतिया पं० तं०—नेरइए २ सु उववज्जमाणे मणुस्सेहिंतो वा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से नेरइए णेरइयत्तं विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा पंचेंदियतिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा, एवं असुरकुमारावि, णवरं, से चेव णं से असुरकुमारे असुरकुमारत्तं विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छिज्जा, एवं सव्वदेवा, पुढविकाइया दुगतिया दुयागतिया पं० तं०—पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा णोपुढविकाइएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा णोपुढविकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा, एवं जाव मणुस्सा ॥ (सू० ७८)

दण्डकः कण्ठ्यो, नवरं नैरयिका–नारका द्वयोः–मनुष्यगतितिर्यग्गतिलक्षणयोर्गत्योरधिकरणभूतयोर्गतिर्येषां ते तथा, द्वाभ्यामेताभ्यामेवावधिभूताभ्यामागतिः–आगमनं येषां ते तथा, उदितनारकायुर्नारक एव व्यपदिश्यते, अत उच्यते 'णेरइए णेरइएसु'त्ति, नारकेषु मध्ये इत्यर्थः, इह चोद्देशक्रमव्यत्ययात् प्रथमवाक्येनागतिरुक्ता, 'से चेव णं से'त्ति यो मानुषत्वादितो नरकं गतः स एवासौ नारको नान्यः, अनेनैकान्तानित्यत्वं निरस्तमिति, 'विप्पजहमाणे'त्ति विप्रजहत्–परित्यजन्, इह च भूतभावतया नारकव्यपदेशः, अनेन वाक्येन गतिरुक्ता, इत्थं च व्याख्यानं 'तेजस्कायिका व्यागतयस्तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया एकगतयस्तिर्यगपेक्षये'ति वाक्यमुपजीव्येति, 'एवं असुरकुमारावि'त्ति, नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थः, 'नवरं'ति केवलमयं विशेषः–तिर्यक्षु न पञ्चेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यन्ते पृथिव्यादिष्वपि तदुत्पत्तेरित्यतः सामान्यत आह—'से चेव णं से इत्यादि जाव तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्ज'त्ति, 'एवं सव्वदेव'त्ति असुरवत् द्वादशापि दण्डकदेवपदानि वाच्यानि, तेषामप्येकेन्द्रियेषूत्पत्तेरिति । 'णोपुढविकाइएहिंतो'त्ति अनेन पृथ्वीकायिकनिषेधद्वारेणाप्कायिका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७८]

दीप अनुक्रम [७८]



दयः सर्वे गृहीता द्विस्थानकानुरोधादिति, तेभ्यो वा–नारकवर्जेभ्यः समुत्पद्यते, 'णोपुढविकाइयत्ताए'त्ति, देवनारकवर्जाप्कायादितया गच्छेदिति, 'एवं जाव मणुस्स'त्ति, यथा पृथिवीकायिका 'दुगतिया' इत्यादिभिरभिलापैरुक्ता एवमेभिरेवाप्कायिकादयो मनुष्यावसानाः पृथिवीकायिकशब्दस्थानेऽप्कायादिव्यपदेशं कुर्वद्भिरभिधातव्या इति। व्यन्तरादयस्तु पूर्वमतिदिष्टा एवेति। जीवाधिकारादेव भव्यादिविशेषणैः षोडशभिर्दण्डकप्ररूपणायाह—

दुविहा नेरइया पन्नत्ता, तंजहा—भवसिद्धिया चेव अभवसिद्धिया चेव, जाव वेमाणिया १। दुविहा नेरइया पं० तं०—अणंतरोववन्नगा चेव परंपरोववन्नगा चेव जाव वेमाणिया २। दुविहा णेरइया पं० तं०—गतिसमावन्नगा चेव अगतिसमावन्नगा चेव, जाव वेमाणिया ३। दुविहा नेरइया पं० तं०—पढमसमओववन्नगा चेव अपढमसमओववन्नगा चेव जाव वेमाणिया ४। दुविहा नेरइया पं० तं०—आहारगा चेव अणाहारगा चेव, एवं जाव वेमाणिया ५। दुविहा णेरइया पं० तं०—उस्सासगा चेव णोउस्सासगा चेव, जाव वेमाणिया ६। दुविहा नेरइया पं० तं०—सइंदिया चेव अणिंदिया चेव, जाव वेमाणिया ७। दुविहा नेरइया पं० तं०—पज्जत्तगा चेव अपज्जत्तगा चेव, जाव वेमाणिआ ८। दुविहा नेरइया पं० तं०—सन्नि चेव असन्नि चेव, एवं पंचेंदिया सव्वे विगलिंदियवज्जा, जाव वाणमंतरा (वेमाणिया) ९। दुविहा नेरइया पं० तं०—भासगा चेव अभासगा चेव, एवमेगिंदियवज्जा सव्वे १०। दुविहा नेरइया पं० तं०—सम्मद्दिट्ठीया चेव मिच्छद्दिट्ठीया चेव, एगिंदियवज्जा सव्वे ११। दुविहा नेरइया पं० तं०—परित्तसंसारिता चेव अणंतसंसारिया चेव, जाव वेमाणिया १२। दुविहा नेरइया पं० तं०—संखेज्जकालसमयट्ठितीया चेव असंखेज्जकालसमयट्ठितीया चेव, एवं पंचेंदिया



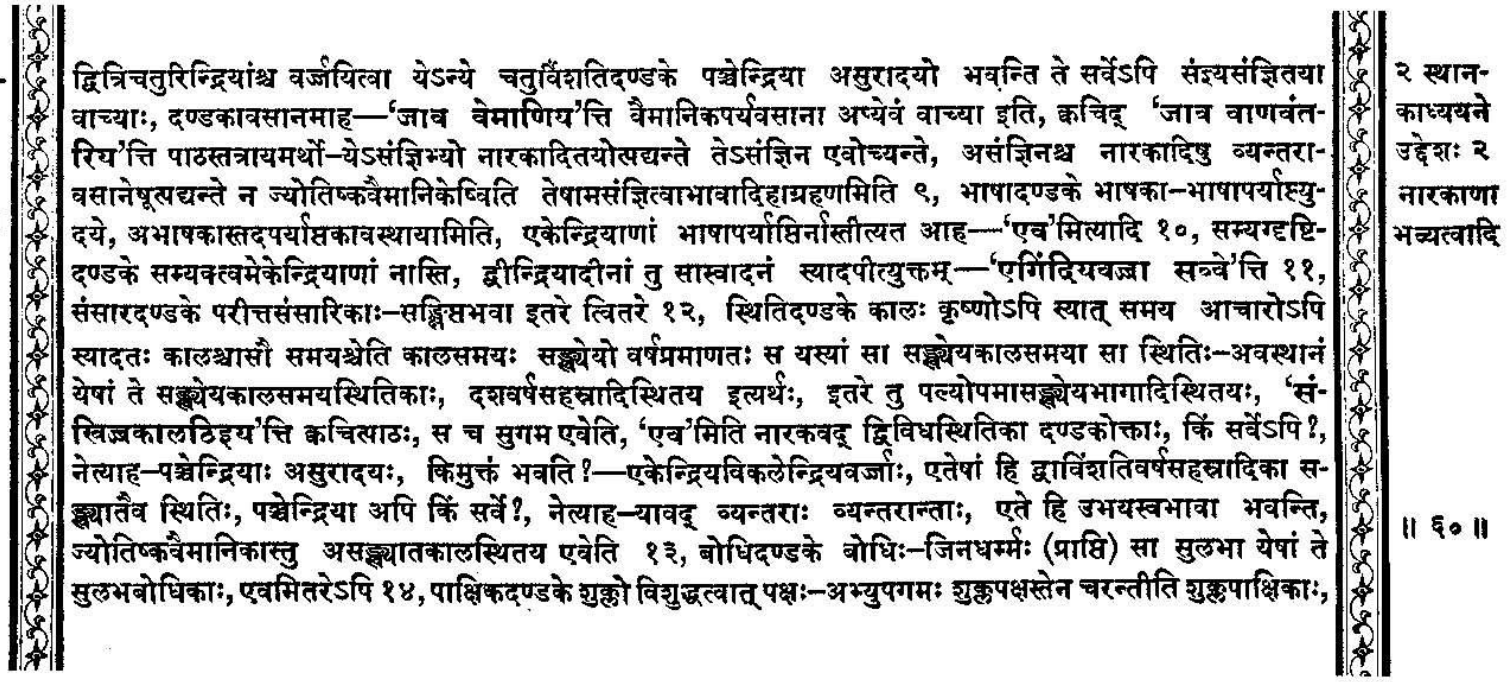
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एगिंदियविगलिंदियवज्जा जाव वाणमंतरा १३ । दुविहा नेरइया पं० तं०—सुलभबोधिया चेव दुलभबोधिया चेव, जाव वेमाणिया १४ । दुविहा नेरइया पं० तं०—कण्हपक्खिया चेव सुक्कपक्खिया चेव, जाव वेमाणिया १५ । दुविहा नेरइया पं० तं०—चरिमा चेव अचरिमा चेव, जाव वेमाणिया १६ (सू० ७९)

तत्र भव्यदण्डकः कण्ठ्यः, अनन्तरदण्डके 'अणंतर'त्ति एकस्मादनन्तरमुत्पन्ना ये तेऽनन्तरोपपन्नकाः, तदन्यथा तु परम्परोपपन्नकाः, विवक्षितदेशापेक्षया वा येऽनन्तरतयोत्पन्नास्ते आद्याः, परम्परया त्वितरे इति २, गतिदण्डके गतिसमापन्नका—नरकं गच्छन्तः इतरे तु तत्र ये गताः, अथवा गतिसमापन्ना—नारकत्वं प्राप्ता इतरे तु द्रव्यनारकाः, अथवा चलस्थिरत्वापेक्षया ते ज्ञेया इति ३, प्रथमसमयदण्डके 'पढमे'त्यादि, प्रथमः समय उपपन्नानां येषां ते प्रथमसमयोपपन्नकाः, तदन्ये अप्रथमसमयोपपन्नका इति ४, आहारकदण्डके आहारकाः सदैव, अनाहारकास्तु विग्रहगतावेकं द्वौ वा समयौ, ये नाडीमध्ये मृत्वा तत्रैवोत्पद्यन्ते, ये त्वन्यथा ते त्रीनिति ५, उच्छ्वासदण्डके उच्छ्वसन्तीत्युच्छ्वासकास्तत्पर्याप्ति (प्त्या) पर्याप्तकाः, तदन्ये तु नोच्छ्वासकाः ६, इन्द्रियदण्डके सेन्द्रियाः—इन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्ताः, तदपर्याप्तास्तु अनिन्द्रियाः ७, पर्याप्तदण्डके पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयादितरे त्वितरोदयादिति ८, संज्ञिदण्डके संज्ञिनो—मनःपर्याप्त्या पर्याप्तकाः तथा अपर्याप्तकास्तु ये (न तथा) ते असंज्ञिन इति, 'एवं पंचिंदिए'त्यादि—अस्यायमर्थः—यथा नारकाः संज्ञ्यसंज्ञिभेदेनोक्ताः 'एवं विगलेंदियवज्ज'त्ति, विकलानि—अपरिपूर्णानि सङ्ख्येयेन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः, तान् पृथिव्यादीन्

१ सामान्यजीवापेक्षया, तेन यदि नाडीबहिःस्थप्रसानां तत्रोत्पादाभावः करणापर्याप्तिकालेऽपर्याप्तनामकर्मोदयस्याभावश्च तदापि न क्षतिः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ६० ॥

द्वित्रिचतुरिन्द्रियांश्च वर्जयित्वा येऽन्ये चतुर्विंशतिदण्डके पञ्चेन्द्रिया असुरादयो भवन्ति ते सर्वेऽपि संज्ञ्यसंज्ञितया वाच्याः, दण्डकावसानमाह—'जाव वेमाणिय'त्ति वैमानिकपर्यवसाना अप्येवं वाच्या इति, क्वचिद् 'जाव वाणवंतरिय'त्ति पाठस्तत्रायमर्थो—येऽसंज्ञिभ्यो नारकादितयोत्पद्यन्ते तेऽसंज्ञिन एवोच्यन्ते, असंज्ञिनश्च नारकादिषु व्यन्तरावसानेषूत्पद्यन्ते न ज्योतिष्कवैमानिकेष्विति तेषामसंज्ञित्वाभावादिहाग्रहणमिति ९, भाषादण्डके भाषका—भाषापर्याप्त्युदये, अभाषकास्तदपर्याप्तकावस्थायामिति, एकेन्द्रियाणां भाषापर्याप्तिर्नास्तीत्यत आह—'एव'मित्यादि १०, सम्यग्दृष्टिदण्डके सम्यक्त्वमेकेन्द्रियाणां नास्ति, द्वीन्द्रियादीनां तु सास्वादनं स्यादपीत्युक्तम्—'एगिंदियवज्जा सव्वे'त्ति ११, संसारदण्डके परीत्तसंसारिकाः—सङ्ख्यिभवा इतरे त्वितरे १२, स्थितिदण्डके कालः कृष्णोऽपि स्यात् समय आचारोऽपि स्यादतः कालश्चासौ समयश्चेति कालसमयः सङ्ख्येयो वर्षप्रमाणतः स यस्यां सा सङ्ख्येयकालसमया सा स्थितिः—अवस्थानं येषां ते सङ्ख्येयकालसमयस्थितिकाः, दशवर्षसहस्रादिस्थितय इत्यर्थः, इतरे तु पल्योपमासङ्ख्येयभागादिस्थितयः, 'संखिज्जकालठिइय'त्ति क्वचित्पाठः, स च सुगम एवेति, 'एव'मिति नारकवद् द्विविधस्थितिका दण्डकोक्ताः, किं सर्वेऽपि?, नेत्याह—पञ्चेन्द्रियाः असुरादयः, किमुक्तं भवति?—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जाः, एतेषां हि द्वाविंशतिवर्षसहस्रादिका सङ्ख्यातैव स्थितिः, पञ्चेन्द्रिया अपि किं सर्वे?, नेत्याह—यावद् व्यन्तराः व्यन्तरान्ताः, एते हि उभयस्वभावा भवन्ति, ज्योतिष्कवैमानिकास्तु असङ्ख्यातकालस्थितय एवेति १३, बोधिदण्डके बोधिः—जिनधर्मः (प्राप्ति) सा सुलभा येषां ते सुलभबोधिकाः, एवमितरेऽपि १४, पाक्षिकदण्डके शुक्लो विशुद्धत्वात् पक्षः—अभ्युपगमः शुक्लपक्षस्तेन चरन्तीति शुक्लपाक्षिकाः,

२ स्थानकाध्ययने उद्देशः २ नारकाणां भव्यत्वादि ॥ ६० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुक्लत्वं च क्रियावादित्वेनेति, आह च—'किरियावाई भव्वे णो अभव्वे सुक्कपक्खिए णो किण्हपक्खिए'त्ति, शुक्लानां वा —आस्तिकत्वेन विशुद्धानां पक्षो—वर्गः शुक्लपक्षस्तत्र भवाः शुक्लपाक्षिकाः, तद्विपरीतास्तु कृष्णपाक्षिका इति १५, चरम-दण्डके येषां स नारकादिभवश्चरमः, पुनस्तेनैव नोत्पत्स्यन्ते सिद्धिगमनात् ते चरमाः, अन्ये त्वचरमा इति १६, एवमेते आदितोऽष्टादश दण्डकाः । प्राग्वैमानिकाश्चरमाचरमत्वेनोक्ताः, ते चावधिनाऽधोलोकादीन् विदन्त्यतस्तद्भेदने जीवस्य प्रकारद्वयमाह—

दोहिं ठाणेहिं आया अधोलोगं जाणइ पासइ तं०—समोहतेणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ असमोहतेणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ, आधोहि समोहतासमोहतेणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ एवं तिरियलोगं २ उड्ढलोगं ३ केवलकप्पं लोगं ४। दोहिं ठाणेहिं आया अधोलोगं जाणइ पासइ तं०—विउव्वितेण चेव अप्पाणेणं आता अधोलोगं जाणइ पासइ अविउव्वितेणं चेव अप्पाणेणं आता अधोलोगं जाणइ पासइ आहोधि विउव्वि-याविउव्वितेण चेव अप्पाणेणं आता अधोलोगं जाणइ(पासइ) १, एवं तिरियलोगं० ४ । दोहिं ठाणेहिं आया सद्दाइं सुणेइ, तं०—देसेणवि आया सद्दाइं सुणेइ सव्वेणवि आया सद्दाइं सुणेति, एवं रूवाइं पासइ, गंधाइं अग्घाति, रसाइं आसा-देति, फासाइं पडिसंवेदेति ५। दोहिं ठाणेहिं आया ओभासइ, तं०—देसेणवि आया ओभासइ सव्वेणवि आया ओभासति, एवं पभासति विकुव्वति परियारेति भासं भासति आहारेति परिणामेति वेदेति निजरेति ९ । दोहिं ठाणेहिं देवे सद्दाइं

१ क्रियावादी भव्यो नो अभव्यः शुक्लपाक्षिको नो कृष्णपाक्षिकः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८०]

दीप अनुक्रम [८०]



सुणेइ, तं०—देसेणवि देवे सद्दाइं सुणेति सव्वेणवि देवे सद्दाइं सुणेइ, जाव निज्जरेति १४। मरुया देवा दुविहा० पं० तं० —एगसरीरे चेव बिसरीरे चेव, एवं किन्नरा किंपुरिसा गंधव्वा णागकुमारा सुवन्नकुमारा अग्गिकुमारा वायुकुमारा ८, देवा दुविहा पं० तं०—एगसरीरे चेव बिसरीरे चेव। (सू० ८०) बिट्ठाणस्स बीओ उद्देसओ समत्तो २–१।

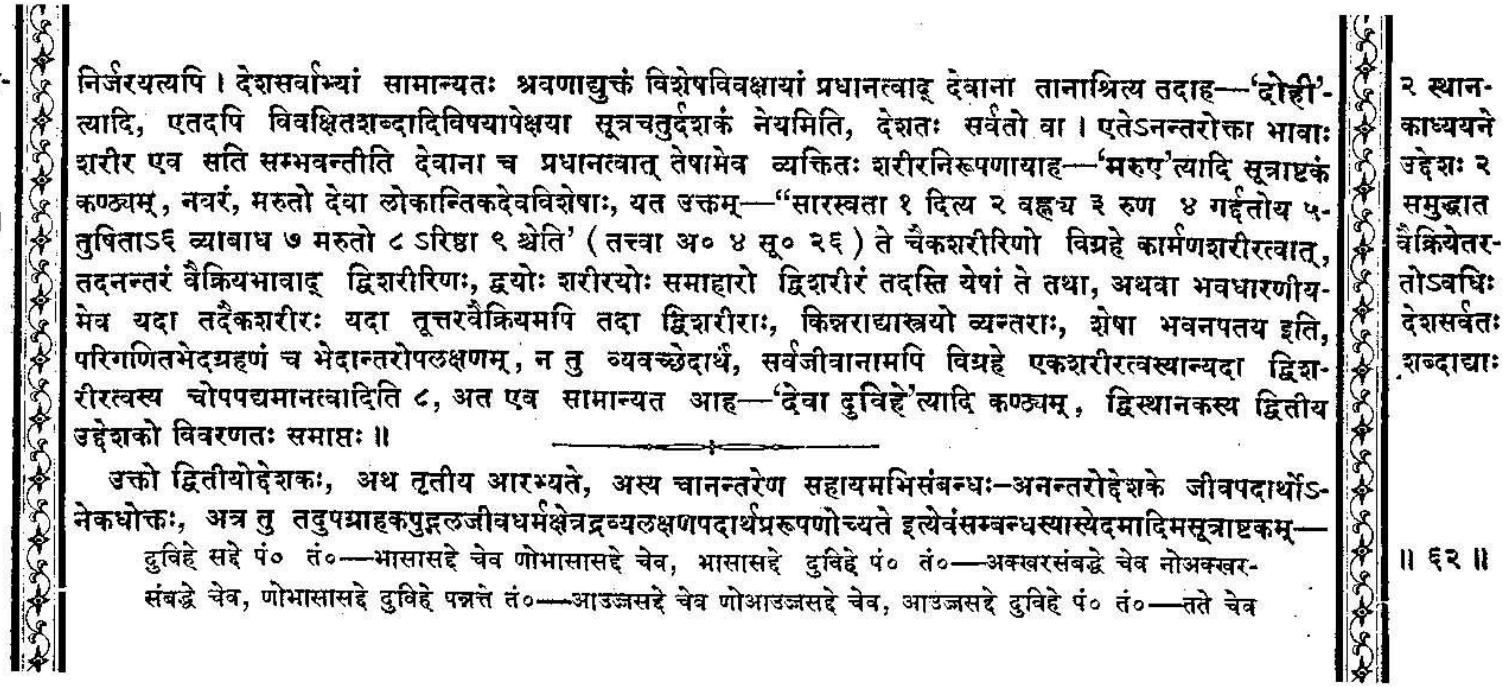
'दोही'त्यादि सूत्रचतुष्टयं, द्वाभ्यां 'स्थानाभ्यां' प्रकाराभ्यामात्मगताभ्यामात्मा–जीवोऽधोलोकं जानात्यवधिज्ञानेन पश्यत्यवधिदर्शनेन 'समवहतेन' वैक्रियसमुद्घातगतेनात्मना–स्वभावेन, समुद्घातान्तरगतेन वा, असमवहतेन त्वन्यथेति, एतदेव व्याख्याति—'आहोही'त्यादि यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथावधिः, आदिदीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, परमावधेर्वाऽधोवर्त्त्यवधिर्यस्य सोऽधोऽवधिरात्मा–नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी स कदाचित् समवहतेन कदाचिदन्यथेति समवहतासमवहतेनेति, 'एव'मित्यादि, 'एव'मिति यथाऽधोलोकः समवहतासमवहतप्रकाराभ्यामवधेर्विषयतयोक्त एवं तिर्यग्लोकादयोऽपीति, सुगमानि च तिर्यग्लोकोर्द्ध्वलोककेवलकल्पसूत्राणि, नवरं केवलः–परिपूर्णः स चासौ स्वकार्यसामर्थ्यात् कल्पश्च केवलज्ञानमिव वा परिपूर्णतयेति केवलकल्पः, अथवा केवलकल्पः समयभाषया परिपूर्णस्तं 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकमिति ॥ वैक्रियसमुद्घातानन्तरं वैक्रियं शरीरं भवतीति वैक्रियशरीरमाश्रित्याधोलोकादिज्ञाने प्रकारद्वयमाह—'दोही'त्यादि सूत्रचतुष्टयं कण्ठ्यम्, नवरं 'विउव्विएणं'ति कृतवैक्रियशरीरेणेति। ज्ञानाधिकार एवेदमपरमाह—'दोही'त्यादि पञ्चसूत्री, द्वाभ्यां 'स्थानाभ्यां' प्रकाराभ्यां 'देसेणवि'त्ति देशेन च शृणोत्येकेन श्रोत्रेणैकश्रोत्रोपघाते सति, सर्वेण वाऽनुपहतश्रोत्रेन्द्रियो, यो वा सम्भिन्नश्रोतोऽभिधानलब्धियुक्तः स सर्वैरिन्द्रियैः शृणो-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते, 'एव'मिति यथा शब्दान् देशसर्वाभ्यां एवं रूपादीनपि, नवरं जिह्वादेशस्य प्रमुख्यादिनोपघातादेशेनास्वादयतीत्यवसेयमिति । शब्दश्रवणादयो जीवपरिणामा उक्ताः, तत्सत्तावात् तत्परिणामान्तराण्याह —'दोही'त्यादि, नव सूत्राणि सुगमानि, नवरम्, अवभासते–द्योतते देशेन खद्योतकवत्, सर्वतः प्रदीपवत्, अथवा अवभासते–जानाति स च देशतः फड्डुकावधिज्ञानी सर्वतोऽभ्यन्तरावधिरिति १, 'एव'मिति देशसर्वाभ्यां प्रभासते–प्रकर्षेण द्योतते २, विकरोति देशेन हस्तादिवैक्रियकरणेन, सर्वेण सर्वस्यैव कायस्येति ३, 'परियारेइ'त्ति मैथुनं सेवते देशेन मनोयोगादीनामन्यतमेन, सर्वेण योगत्रयेणापि ४, भाषां भाषते देशेन जिह्वाग्रादिना सर्वेण समस्ततालवादिस्थानैः ५, आहारयति देशेन मुखमात्रेण सर्वेण ओजआहारापेक्षया ६, आहारमेव परिणमयति–परिणामं नयति खलरसविभागेनेति भक्ताशयदेशस्य प्लीहादिना रुद्धत्वाद् देशतः अन्यथा तु सर्वतः ७, वेदयति–अनुभवति, देशेन हस्तादिना अवयवेन सर्वेण सर्वावयवैराहारसत्कान् परिणमितपुद्गलान् इष्टानिष्टपरिणामतः ८, निर्जरयति–त्यजत्याहारितान् परिणामितान् वेदितान् आहारपुद्गलान् देशेनापानादिना सर्वेण सर्वशरीरेणैव प्रस्वेदवदिति ९, अथवैतानि चतुर्दशापि सूत्राणि विवक्षितविषयवस्त्वपेक्षया नेयानि, तत्र देशसर्वयोजना यथा 'देशेनापी'ति देशतोऽपि शृणोति विवक्षितशब्दानां मध्ये कांश्चिच्छृणोतीति, 'सर्वेणापी'ति सर्वतश्च सामस्त्येन, सर्वानेवेत्यर्थः, एवं रूपादीनपि, तथा विवक्षितस्य देशं सर्वं वा विवक्षितमवभासयत्येवं प्रभासयति एवं विकुर्वणीयं विकुरुते परिचारणीयं स्त्रीशरीरादि परिचारयति भाषणीयापेक्षया देशतो भाषां भाषते सर्वतो वेति अभ्यवहार्यमाहारयति आहृतं परिणमयति वेद्यं कर्म वेदयति देशतः सर्वतो वा, एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ ६२ ॥

निर्जरयत्यपि । देशसर्वाभ्यां सामान्यतः श्रवणाद्युक्तं विशेषविवक्षायां प्रधानत्वाद् देवाना तानाश्रित्य तदाह—'दोही'त्यादि, एतदपि विवक्षितशब्दादिविषयापेक्षया सूत्रचतुर्दशकं नेयमिति, देशतः सर्वतो वा । एतेऽनन्तरोक्ता भावाः शरीर एव सति सम्भवन्तीति देवाना च प्रधानत्वात् तेषामेव व्यक्तितः शरीरनिरूपणायाह—'मरुए'त्यादि सूत्राष्टकं कण्ठ्यम्, नवरं, मरुतो देवा लोकान्तिकदेवविशेषाः, यत उक्तम्—"सारस्वता १ दित्य २ वह्न्य ३ रुण ४ गर्दतोय ५-तुषिताऽ६ व्याबाध ७ मरुतो ८ ऽरिष्टा ९ श्चेति' (तत्त्वा अ० ४ सू० २६) ते चैकशरीरिणो विग्रहे कार्मणशरीरत्वात्, तदनन्तरं वैक्रियभावाद् द्विशरीरिणः, द्वयोः शरीरयोः समाहारो द्विशरीरं तदस्ति येषां ते तथा, अथवा भवधारणीयमेव यदा तदैकशरीरः यदा तूत्तरवैक्रियमपि तदा द्विशरीराः, किन्नराद्यास्त्रयो व्यन्तराः, शेषा भवनपतय इति, परिगणितभेदग्रहणं च भेदान्तरोपलक्षणम्, न तु व्यवच्छेदार्थं, सर्वजीवानामपि विग्रहे एकशरीरत्वस्यान्यदा द्विशरीरत्वस्य चोपपद्यमानत्वादिति ८, अत एव सामान्यत आह—'देवा दुविहे'त्यादि कण्ठ्यम्, द्विस्थानकस्य द्वितीय उद्देशको विवरणतः समाप्तः ॥

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, अथ तृतीय आरभ्यते, अस्य चानन्तरेण सहायमभिसंबन्धः—अनन्तरोद्देशके जीवपदार्थोऽनेकधोक्तः, अत्र तु तदुपग्राहकपुद्गलजीवधर्मक्षेत्रद्रव्यलक्षणपदार्थप्ररूपणोच्यते इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदमादिमसूत्राष्टकम्—

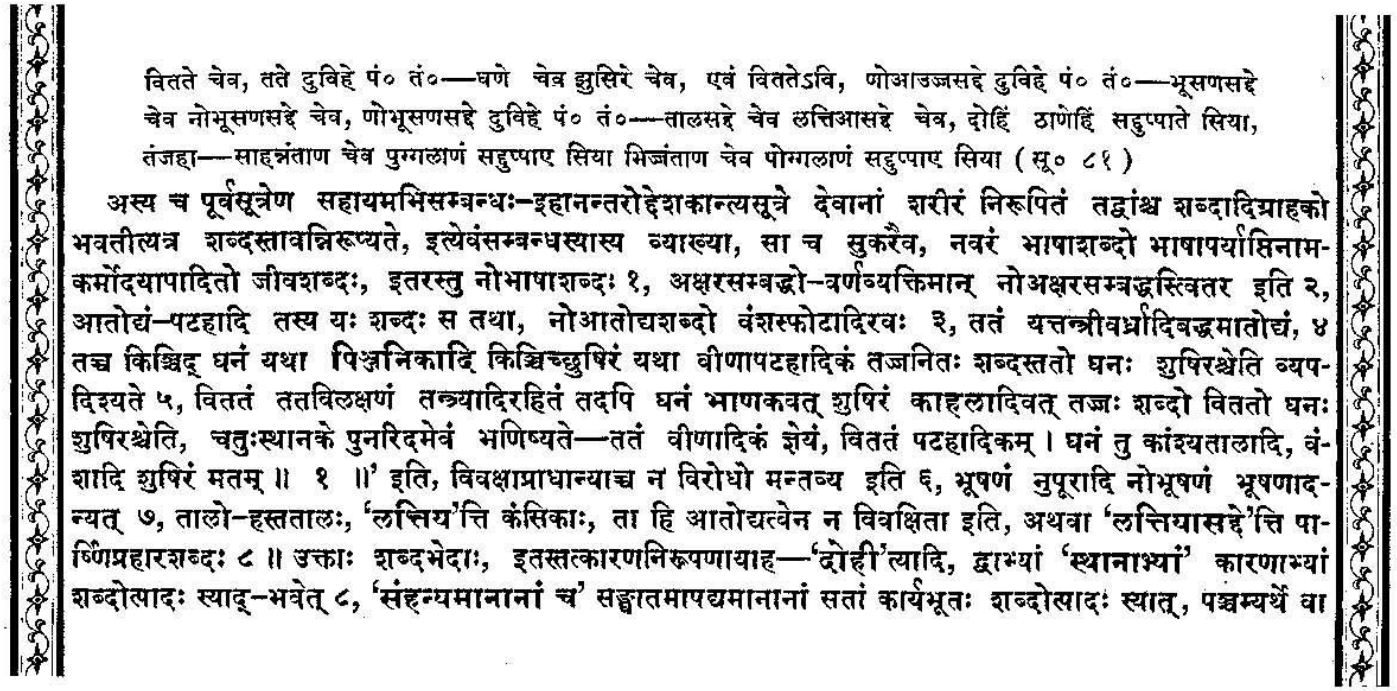
दुविहे सद्दे पं० तं०—भासासद्दे चेव णोभासासद्दे चेव, भासासद्दे दुविहे पं० तं०—अक्खरसंबद्धे चेव नोअक्खरसंबद्धे चेव, णोभासासद्दे दुविहे पन्नत्ते तं०—आउज्जसद्दे चेव णोआउज्जसद्दे चेव, आउज्जसद्दे दुविहे पं० तं०—तते चेव

२ स्थानकाध्ययने उद्देशः २ समुद्घात वैक्रियेतरतोऽवधिः देशसर्वतः शब्दाद्याः

॥ ६२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | अत्र द्वितीयो उद्देशक: समाप्तं, तृतीयो उद्देशक: आरब्ध: |



विततं चेव, ततं दुविहं पं० तं०—घणं चेव झुसिरं चेव, एवं विततेऽवि, णोआउज्जसद्दे दुविहे पं० तं०—भूसणसद्दे चेव णोभूसणसद्दे चेव, णोभूसणसद्दे दुविहे पं० तं०—तालसद्दे चेव लत्तिआसद्दे चेव, दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाते सिया, तंजहा—साहम्मंताण चेव पुग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया भिज्जंताण चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया (सू० ८१)

अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशकान्त्यसूत्रे देवानां शरीरं निरूपितं तद्वांश्च शब्दादिग्राहको भवतीत्यत्र शब्दस्तावन्निरूप्यते, इत्येवंसम्बन्धस्यास्य व्याख्या, सा च सुकरैव, नवरं भाषाशब्दो भाषापर्याप्तिनामकर्मोदयापादितो जीवशब्दः, इतरस्तु नोभाषाशब्दः १, अक्षरसम्बद्धो—वर्णव्यक्तिमान् नोअक्षरसम्बद्धस्त्वितर इति २, आतोद्यं—पटहादि तस्य यः शब्दः स तथा, नोआतोद्यशब्दो वंशस्फोटादिरवः ३, ततं यत्तन्त्रीवर्ध्रादिबद्धमातोद्यं, ४ तच्च किञ्चिद् घनं यथा पिञ्जनिकादि किञ्चिच्छुषिरं यथा वीणापटहादिकं तज्जनितः शब्दस्ततो घनः शुषिरश्चेति व्यपदिश्यते ५, विततं ततविलक्षणं तन्त्र्यादिरहितं तदपि घनं भाणकवत् शुषिरं काहलादिवत् तज्जः शब्दो विततो घनः शुषिरश्चेति, चतुःस्थानके पुनरिदमेवं भणिष्यते—ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम् । घनं तु कांश्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम् ॥ १ ॥' इति, विवक्षाप्राधान्याच्च न विरोधो मन्तव्य इति ६, भूषणं नुपूरादि नोभूषणं भूषणादन्यत् ७, तालो—हस्ततालः, 'लत्तिय'त्ति कंसिकाः, ता हि आतोद्यत्वेन न विवक्षिता इति, अथवा 'लत्तियासद्दे'त्ति पार्ष्णिप्रहारशब्दः ८ ॥ उक्ताः शब्दभेदाः, इतस्तत्कारणनिरूपणायाह—'दोही'त्यादि, द्वाभ्यां 'स्थानाभ्यां' कारणाभ्यां शब्दोत्पादः स्याद्—भवेत् ८, 'संहन्यमानानां च' सङ्घातमापद्यमानानां सतां कार्यभूतः शब्दोत्पादः स्यात्, पञ्चम्यर्थे वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठीति संहन्यमानेभ्य इत्यर्थः, पुद्गलानां बादरपरिणामाना यथा घण्टालालयोः, एवं भिद्यमानानां–वियोज्यमानानां च यथा वंशदलानामिति । पुद्गलसङ्घातभेदयोरेव कारणनिरूपणायाह—

दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहण्णंति, तं०—सइं वा पोग्गला साहन्नंति परेण वा पोग्गला साहन्नंति १। दोहिं ठाणेहिं पोग्गला भिज्जंति तं०—सइं वा पोग्गला भिज्जंति परेण वा पोग्गला भिज्जंति २। दोहिं ठाणेहिं पोग्गला परिसडंति, तं०—सइं वा पोग्गला परिसडंति परेण वा पोग्गला परिसाडिज्जंति ३ एवं परिवडंति ४ विद्धंसंति ५। दुविहा पोग्गला पं० तं०—भिन्ना चेव अभिन्ना चेव १, दुविहा पोग्गला पं० तं०—भेउरधम्मा चेव नोभेउरधम्मा चेव २, दुविहा पोग्गला पं० तं०—परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणुपोग्गला चेव ३, दुविहा पोग्गला पं० तं०—सुहुमा चेव बायरा चेव ४, दुविहा पोग्गला पं० तं० —बद्धपासपुट्ठा चेव नोबद्धपासपुट्ठा चेव ५, दुविहा पोग्गला पन्नत्ता, तं०—परियादितचेव अपरियादितचेव ६, दुविहा पोग्गला पन्नत्ता तं०—अत्ता चेव अणत्ता चेव ७, दुविहा पोग्गला पं० तं०—इट्ठा चेव अणिट्ठा चेव ८, एवं कंता ९ पिया १० मणुन्ना ११ मणामा १२, (सू० ८२)। दुविहा सद्दा पन्नत्ता तं०—अत्ता चेव अणत्ता चेव, १ एवमिट्ठा जाव मणामा ६। दुविहा रूवा पं० तं० अत्ता चेव अणत्ता चेव, जाव मणामा, एवं गंधा रसा फासा, एवमिक्किके छ आलावगा भाणियव्वा (सू० ८३)

'दोही'त्यादि सूत्रपञ्चकं कण्ठ्यम्, नवरं 'स्वयं वे'ति स्वभावेन वा अभ्रादिष्विव पुद्गलाः संहन्यन्ते–सम्बध्यन्ते, कर्मकर्तृप्रयोगोऽयं, परेण वा–पुरुषादिना वा संहन्यन्ते–संहताः क्रियन्ते, कर्मप्रयोगोऽयमेवं भिद्यन्ते–विघटन्ते, तथा परिपतन्ति पर्वतशिखरादेरिवेति, परिशटन्ति कुष्ठादेर्निमित्तादङ्गुल्यादिवत् विध्वस्यन्ते–विनश्यन्ति घनपटलवदिति ५ ॥ पुद्गलानेव



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वादशसूत्र्या निरूपयन्नाह—'दुविहे'त्यादि, भिन्नाः–विचटिता इतरे त्वभिन्नाः १ स्वयमेव भिद्यत इति भिदुरं भिदुरत्वं धर्मो येषां ते भिदुरधर्माणः अन्तर्भूतभावप्रत्ययोऽयं, प्रतिपक्षः प्रतीत एवेति २ परमाश्च ते अणवश्चेति परमाणवः नोपरमाणवः–स्कन्धाः, सूक्ष्माः येषां सूक्ष्मपरिणामः शीतोष्णस्निग्धरूक्षलक्षणाश्चत्वार एव च स्पर्शास्ते च भाषादयः, बादरास्तु येषां बादरः परिणामः पञ्चादयश्च स्पर्शास्ते चौदारिकादयः ४ पार्श्वेन स्पृष्टा देहत्वचा छुप्ता रेणुवत्सार्श्वस्पृष्टास्ततो बद्धाः–गाढतरं श्लिष्टाः तनौ तोयवत् पार्श्वस्पृष्टाश्च ते बद्धाश्चेति राजदन्तादित्वाद् बद्धपार्श्वस्पृष्टाः, आह च —'पुट्ठं रेणुं व तणुंमि बद्धमप्पीकयं पएसेहिं'ति, एते च घ्राणेन्द्रियादिग्रहणगोचराः, तथा नो बद्धाः किन्तु पार्श्वस्पृष्टा इत्येकपदप्रतिषेधः श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचराः, यत उक्तम्—"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु । गंधं रसं च फासं च बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ १ ॥" त्ति, उभयपदनिषेधे श्रोत्राद्यविषयाश्चक्षुर्विषयाश्चेति, इयमिन्द्रियापेक्षया बद्धपार्श्वस्पृष्टता पुद्गलानां व्याख्याता, एवं जीवप्रदेशापेक्षया परस्परापेक्षया च व्याख्येयेति ५ 'परियाइय'त्ति विवक्षितं पर्यायमतीताः पर्यायातीताः पर्याप्ता वा–सामस्त्यगृहीताः कर्मपुद्गलवत्, प्रतिषेधः सुज्ञानः ६ आत्ताः–गृहीताः स्वीकृता जीवेन परिग्रहमात्रतया शरीरादितया वा ७ इष्यन्ते स्म अर्थक्रियार्थिभिरितीष्टाः ८ कान्ताः–कमनीया विशिष्टवर्णादियुक्ताः ९ प्रियाः–प्रीतिकराः इन्द्रियाह्लादकाः १० मनसा ज्ञायन्ते शोभना एत इत्येवंविकल्पमुत्पादयन्तः शोभनत्वप्रकर्षाद्ये ते मनोज्ञाः ११ मनसो मता–वल्लभाः सर्वस्याप्युपभोक्तुः सर्वदा च शोभनत्वप्रकर्षादेव निरुक्तविधिना मणामा १२ इति, व्याख्यानान्तरं त्वेवं–

१ स्पृष्टं रेणुवत्तनौ बद्धमात्मीकृतं प्रदेशैः. २ स्पृष्टं शृणोति शब्दं रूपं पुनः पश्यत्यस्पृष्टं तु । गन्धं रसं च स्पर्शं च बद्धस्पृष्टं व्यागृणीयात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८३]

दीप अनुक्रम [८३]



इष्टाः–वल्लभाः सदैव जीवानां सामान्येन, कान्ताः–कमनीयाः सदैव तद्भावेन, प्रियाः–अद्वेष्याः सर्वेषामेव, मनोज्ञाः–मनोरमाः कथयाऽपि, मनआमा–मनःप्रियाश्चिन्तयाऽपीति, विपक्षः सुज्ञानः सर्वत्रेति ॥ पुद्गलाधिकारादेव तद्धर्मान् शब्दादीन् अनन्तरोक्तसविपर्ययात्तादिविशेषणषट्कविशिष्टान् 'दुविहा सद्दे'त्यादिसूत्रत्रिंशताऽऽह–'दुविहे'त्यादि, कण्ठ्या चेयमिति। उक्ताः पुद्गलधर्माः, सम्प्रति धर्माधिकाराज्जीवधर्मानाह—

दुविहे आयारे पं० तं०—णाणायारे चेव नोनाणायारे चेव १, णोनाणायारे दुविहे पं० तं०—दंसणायारे चेव नोदंसणायारे चेव २, नोदंसणायारे दुविहे पं तं०—चरित्तायारे चेव नोचरित्तायारे चेव ३, णोचरित्तायारे दुविहे पं० तं०—तवायारे चेव वीरियायारे चेव ४। दो पडिमाओ पं० तं०—समाहिपडिमा चेव उवहाणपडिमा चेव १, दो पडिमाओ पं० तं०—विवेगपडिमा चेव विउसग्गपडिमा चेव २, दो पडिमाओ पं० तंजहा—भद्दा चेव सुभद्दा चेव ३, दो पडिमाओ पं० तं—महाभद्दा चेव सव्वतोभद्दा चेव ४, दो पडिमाओ पं० तं०—खुड्डिया चेव मोयपडिमा महल्लिया चेव मोयपडिमा ५, दो पडिमाओ पं० तं०—जवमज्झे चेव चंदपडिमा वइरमज्झे चेव चंदपडिमा ६, दुविहे सामाइए पं० तं०—अगारसामाइए चेव अणगारसामाइए चेव (सू० ८४)।

'दुविहे आयारे'इत्यादि सूत्रचतुष्टयं कण्ठ्यं, नवरं आचरणमाचारो–व्यवहारो ज्ञानं–श्रुतज्ञानं तद्विषय आचारः कालादिरष्टविधो ज्ञानाचारः, आह च—"[1]काले विणए बहुमाणे उवहाणे चेव तहय निण्हवणे। वंजणमत्थ तदुभए अट्ठविहो

१ कालो विनयो बहुमान उपधानं चैव तथैवानिह्नवनम्। व्यञ्जनं अर्थस्तदुभयमष्टविधो



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाणमायारो ॥ १ ॥" त्ति, नोज्ञानाचारः–एतद्विलक्षणो दर्शनाद्याचार इति, दर्शनं–सम्यक्त्वं, तदाचारो निःशङ्कितादि-
रष्टविध एव, आह च—"णिस्संकिय १ निक्कंखिय २ निव्वितिगिच्छा ३ अमूढदिट्ठी ४ य । उववूह ५ थिरीकरणे ६
वच्छल्ल ७ पभावणे ८ अट्ठ ॥ २ ॥" त्ति, नोदर्शनाचारश्चारित्रादिरिति, चारित्राचारः समितिगुप्तिरूपोऽष्टधा, आह च—
"पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं । एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ ३ ॥" त्ति, नोचारित्रा-
चारस्तपआचारप्रभृतिः, तत्र तपआचारो द्वादशधा, उक्तं च—"बारसविहंमिवि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । अगि-
लाइ अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो ॥ ४ ॥" त्ति, वीर्याचारस्तु ज्ञानादिष्वेव शक्तेरगोपनं तदनतिक्रमश्चेति, उक्तं
च—"अणिगूहियबलविरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ य जहाथामं नायव्वो वीरियायारो ॥ ५ ॥" त्ति ॥
अथ वीर्याचारस्यैव विशेषाभिधानाय षट्सूत्रीमाह—'दो पडिमे'त्यादि, प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेतियावत्, समाधानं
समाधिः–प्रशस्तभावलक्षणः तस्य प्रतिमा समाधिप्रतिमा दशाश्रुतस्कन्धोक्ता द्विभेदा–श्रुतसमाधिप्रतिमा सामायिकादि-
चारित्रसमाधिप्रतिमा च, उपधानं–तपस्तत्प्रतिमोपधानप्रतिमा द्वादश भिक्षुप्रतिमा एकादशोपासकप्रतिमाश्चेत्येवंरूपेति ।
विवेचनं विवेकः–त्यागः, स चान्तराणां कषायादीनां बाह्यानां गणशरीरभक्तपानादीनामनुचितानां तत्प्रतिपत्तिर्विवेकप्र-

१ ज्ञानाचारः ॥ १ ॥ २ निश्शङ्कितो निष्काङ्क्षितो निर्विचिकित्सोऽमूढदृष्टिश्च । उपबृंहा स्थिरीकरणं वात्सल्यं प्रभावना अष्टौ ॥ २ ॥ ३ प्रणिधानयोगयुक्तः
पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु । एष चारित्राचारोऽष्टविधो भवति ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ ४ द्वादशविधेऽपि तपसि साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे । अग्लान्याऽनाजीवी ज्ञा-
तव्यः स तपआचारः ॥ १ ॥ ५ अनिगूहितबलवीर्यः पराक्रमते यो यथोक्तमायुक्तः । युनक्ति च यथास्थाम ज्ञातव्यो वीर्याचारः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिमा, व्युत्सर्गप्रतिमा–कायोत्सर्गकरणमेवेति, भद्रा–पूर्वादिदिक्कृचतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयकायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्रद्वयमानेति, सुभद्राऽप्येवंप्रकारैव सम्भाव्यते, अदृष्टत्वेन तु नोक्तेति, महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना, सर्वतोभद्रा तु दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशकप्रमाणेति, मोकप्रतिमा-प्रस्रवणप्रतिमा, सा च कालभेदेन क्षुद्रिका महती च भवतीति, यत उक्तं व्यवहारे—"खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवण्णस्से"त्यादि, इयं च द्रव्यतः प्रस्रवणविषया क्षेत्रतो ग्रामादेर्बहिः कालतः शरदि निदाघे वा प्रतिपद्यते, भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते चतुर्दशभक्तेन समाप्यते, अभुक्त्वा तु षोडशभक्तेन, भावतस्तु दिव्याद्युपसर्गसहनमिति, एवं महत्यपि, नवरं भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते षोडशभक्तेन समाप्यते, अन्यथा त्वष्टादशभक्तेनेति, यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या, चन्द्र इव कलावृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमा, तथाहि–शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यवहृत्य ततः प्रतिदिनं कवलवृद्ध्या पञ्चदश पौर्णमास्यां कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकैकहान्याऽमावास्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते सा यवमध्या चन्द्रप्रतिमेति, यस्यां तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्त्वा एकैकहान्याऽमावास्यायामेकं शुक्लप्रतिपदि चैकमेव ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा वज्रस्येव मध्यं यस्यां तन्विति अर्थः सा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति, एवं भिक्षादावपि वाच्यमिति ॥ प्रतिमाश्च सामायिकवतामेव भवन्तीति सामायिकमाह—'दुविहे'इत्यादि, समानां–ज्ञानादीनामायो–लाभः समायः स एव सामायिकमिति, तद् द्विविधम्–अगारवदनगारस्वामिभेदाद् , देशसर्वविरती इत्यर्थः ॥ जीवधर्माधिकार एव तद्धर्मान्तराणि 'दोण्हं उववाए' इत्यादिभिश्चतुर्विंशत्या सूत्रैराह—



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोण्हं उववाए पं० तं०—देवाण चेव नेरइयाण चेव १ दोण्हं उव्वट्टणा पं० तं०—णेरइयाण चेव भवणवासीण चेव २ दोण्हं चयणे पं० तं०—जोइसियाण चेव वेमाणियाण चेव ३ दोण्हं गब्भवक्कंती पं० तं०—मणुस्साण चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण चेव ४ दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पं० तं०—मणुस्साण चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण चेव ५ दोण्हं गब्भत्थाणं वुड्ढी पं० तं०—मणुस्साण चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण चेव ६ एवं निव्वुड्ढी ७ विगुव्वणा ८ गतिपरियाए ९ समुग्घाते १० कालसंजोगे ११ आयाती १२ मरणे १३ दोण्हं छविपव्वा पं० तं०—मणुस्साण चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण चेव १४ दो सुक्कसोणितसंभवा पं० तं०—मणुस्सा चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया चेव १५ दुविहा ठिती पं० तं०—कायट्ठिती चेव भवट्ठिती चेव १६ दोण्हं कायट्ठिती पं० तं०—मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण चेव १७ दोण्हं भवट्ठिती पं० तं०—देवाण चेव नेरइयाण चेव १८ दुविहे आउए पं० तं—अद्धाउए चेव भवाउए चेव १९ दोण्हं अद्धाउए पं० तं०—मणुस्साण चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण चेव २० दोण्हं भवाउए पं० तं०—देवाण चेव णेरइयाण चेव २१ दुविहे कम्मे पं० तं०—पदेसकम्मे चेव अणुभावकम्मे चेव २२ दो अहाउयं पालेंति तं० देवचेव नेरइयचेव २३ दोण्हं आउयसंवट्टए पं० तं०—मणुस्साण चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण चेव २४ (सू० ८५)

सुगमानि चैतानि नवरं 'दोण्हं'ति द्वयोर्जीवस्थानकयोरुपपतनमुपपातो–गर्भसंमूर्छनलक्षणजन्मप्रकारद्वयविलक्षणो जन्मविशेष इति, दीव्यन्ति इति देवाः–चतुर्निकायाः सुरा नैरयिकाः प्राग्वत्तेषाम् १, उद्वर्त्तनमुद्वर्त्तना तत्कायान्निर्गमो मरणमित्यर्थः, तच्च नैरयिकभुवनवासिनामेवैवं व्यपदिश्यते, अन्येषां तु मरणमेवेति, नैरयिकाणां–नारकाणां तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवनेषु–अधोलोकदेवावासविशेषेषु वस्तुं शीलमेषामिति भवनवासिनस्तेषाम् २, च्युतिश्चयवनं मरणमित्यर्थः, तच्च ज्योतिष्कवैमानिकानामेव व्यपदिश्यते, ज्योतिष्षु–नक्षत्रेषु भवाः ज्योतिष्काः, शब्दव्युत्पत्तिरेवेयं, प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयणात्तु चन्द्रादयो ज्योतिष्का इति, विमानेषु–ऊर्द्धलोकवर्त्तिषु भवाः वैमानिकाः–सौधर्मादिवासिनस्तेषां ३, गर्भे–गर्भाशये व्युत्क्रान्तिः–उत्पत्तिर्गर्भव्युत्क्रान्तिः, मनोरपत्यानि मनुष्यास्तेषां, तिरोऽञ्चन्ति–गच्छन्तीति तिर्यञ्चस्तेषां सम्बन्धिनी योनिः–उत्पत्तिस्थानं येषां ते तिर्यग्योनिकाः, ते चैकेन्द्रियादयोऽपि भवन्तीति विशिष्यन्ते–पञ्चेन्द्रियाश्च ते तिर्यग्योनिकाश्चेति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्तेषाम् ४, तथा द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽन्येषां गर्भस्थैवाभावादिति ५, वृद्धिः–शरीरोपचयः ६, निवृद्धिस्तद्धानिर्वातपित्तादिभिः, निशब्दस्याभावार्थत्वात्, निवरा कन्योत्यादिवत् ७, वैक्रियलब्धिमतां विकुर्वणा ८, गतिपर्यायः–चलनं मृत्वा वा गत्यन्तरगमनलक्षणः, यच्च वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो बहिः सङ्क्रामयति स वा गतिपर्यायः, उक्तं च भगवत्यां–"जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे णेरइएसु उववज्जेज्जा?, गोतमा!, अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा, से केणट्ठेणं०?, गोतमा! से णं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए विउव्विअलद्धीए पराणीयं आगतं सोच्चा णिसम्म पएसे निच्छुब्भइ २ वेउव्वियसमुग्घाएणं

१ जीवो भदन्त! गर्भगतः सन् नैरयिकेषूत्पद्येत?, गौतम! अस्त्येकक उत्पद्येत अस्त्येककको नोत्पद्येत, तत्केनार्थेन०?, गौतम! स संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तको वीर्यलब्ध्या वैक्रियलब्ध्या परानीकमागतं श्रुत्वा निशम्य प्रदेशान् निष्काशयति वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्ति २ चतुरङ्गिणीं सेनां विकुर्वति २ चतुरङ्गिण्या सेनया परानीकेन सार्धं संग्रामं संग्रामयति.




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समोहन्नइ २ चाउरंगिणिं सेणं विउव्वइ २ चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेई"त्यादि ९, समुद्घातो मारणान्तिकादिः १०, कालसंयोगः–कालकृतावस्था ११, आयातिः–गर्भान्निर्गमो १२, मरणं–प्राणत्यागः १३, 'दोण्हं छविपव्व'त्ति द्वयानां–उभयेषां 'छवि'त्ति मतुब्लोपाच्छविमन्ति–त्वग्वन्ति 'पव्व'त्ति पर्वाणि सन्धिबन्धनानि छविपर्वाणि क्वचित् 'छवियत्त'त्ति पाठः तत्र छवियोगाच्छविः स एव छविकः स चासौ 'अत्त'त्ति आत्मा च–शरीरं छविकात्मेति, 'छविपत्त'त्ति पाठान्तरे छविः प्राप्ता जातेत्यर्थः, गर्भस्थानामिति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् १४, 'दो सुक्के'त्यादि, द्वयोः शुक्रं–रेतः शोणितम्–आर्त्तवं ताभ्यां सम्भवो येषां ते तथा १५, 'कायट्ठिति'त्ति काये–निकाये पृथिव्यादिसामान्यरूपेण स्थितिः कायस्थितिः असङ्ख्योत्सर्पिण्यादिका, भवे भवरूपा वा स्थितिः भवस्थितिर्भवकाल इत्यर्थः १६, 'दोण्हं'ति द्वयानामुभयेषामित्यर्थः, कायस्थितिः सप्ताष्टभवग्रहणरूपा, पृथिव्यादीनामपि साऽस्ति, न चानेन तद्व्यवच्छेदः, अयोगव्यवच्छेदपरत्वात् सूत्राणामिति १७, 'दोण्हे'त्यादि, देवनारकाणां भवस्थितिरेव, देवादेः पुनर्देवादित्वेनानुत्सत्तेरिति १८, 'दुविहे'इत्यादि अद्धा–कालः तत्प्रधानमायुः–कर्मविशेषोऽद्धायुः, भवात्ययेऽपि कालान्तरानुगामीत्यर्थो, यथा मनुष्यायुः, कस्यापि भवात्यय एव नापगच्छत्यपि तु सप्ताष्टभवमात्रं कालमुत्कर्षतोऽनुवर्त्तत इति, तथा भवप्रधानमायुर्भवायुः, यद्भवात्यये अपगच्छत्येव न कालान्तरमनुयाति, यथा देवायुरिति, १९, 'दोण्ह'मित्यादि सूत्रद्वयं भावितार्थमेव २१, 'दुविहे कम्मे'इत्यादि, प्रदेशा एव–पुद्गला एव यस्य वेद्यन्ते न यथा बद्धो रसस्तत्प्रदेशमात्रतया वेद्यं कर्म प्रदेशकर्म, यस्य त्वनुभावो यथाबद्धरसो वेद्यते तदनुभावतो वेद्यं कर्मानुभावकर्मेति २२, 'दो' इत्यादि, यथाबद्धमायुर्यथायुः पाल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यन्ति–अनुभवन्ति नोपक्रम्यते तदितियावदिति,–'देवा नेरइयावि य असंखवासाउया य तिरिमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवक्कमा ॥ १ ॥' इति वचने सत्यपि देवनारकयोरेवेह भणनं द्विस्थानकानुरोधादिति । 'दोण्ह'-मित्यादि, संवर्त्तनमपवर्त्तनं संवर्तः स एव संवर्त्तकः, उपक्रम इत्यर्थः, आयुषः संवर्त्तकः आयुःसंवर्त्तक इति २३ । पर्याया-याधिकारादेव नियतक्षेत्राश्रितत्वात् क्षेत्रव्यपदेश्यान् पुद्गलपर्यायानभिधित्सुः 'जंबुद्दीवे' इत्यादिना क्षेत्रप्रकरणमाह—

जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा [पं० तं०—]बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णातिव-ट्टंति आयामविक्खंभसंठाणपरिणाहेणं तं०—भरहे चेव एरवए चेव, एवमेएणमहिलावेणं हिमवए चेव हेरन्नवते चेव, हरि-वासे चेव रम्मयवासे चेव, जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं दो खित्ता [पं० तं०—]बहुसमतुल्ला अविसेस जाव पुव्वविदेहे चेव अवरविदेहे चेव, जंबूमंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो कुराओ [पं० तं०—]बहुसमतु-ल्लाओ जाव देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव, तत्थ णं दो महतिमहालया महादुमा [पं० तं०—]बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोव्वेहसंठाणपरिणाहेणं तं०—कूडसामली चेव जंबू चेव सुदंसणा । तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव महासोक्खा पलिओवमट्ठितीया परिवसन्ति, तं०—गरुले चेव वेणुदेवे अणाढिते चेव जंबूद्दीवाहि-वती (सू० ८६)

सुगमं चैतत्, नवरमिह जम्बूद्वीपप्रकरणं परिपूर्णचन्द्रमण्डलाकारं जम्बूद्वीपं तन्मध्ये मेरुं उत्तरदक्षिणतः क्रमेण

१ देवा नैरयिका अपि च असंख्यवर्षायुष्काश्च तिर्यङ्मनुष्याः । उत्तमपुरुषाश्च तथा चरमशरीराश्च निरुपक्रमाः ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्षाणि च स्थापयित्वा, तद्यथा,–'[3]भरहं हेमवयंति य हरिवासंति य महाविदेहंति । रम्मय एरन्नवयं एरवयं चेव वासाइं ॥ १ ॥' ति, तथा वर्षान्तरेषु वर्षधरपर्वतान् कल्पयित्वा, तद्यथा–'हिमवंत १ महाहिमवंत २ पव्वया निसढ ३ नीलवंता य ४। रुप्पी ५ सिहरी ६ एए वासहरगिरी मुणेयव्वा ॥ १ ॥' इति सर्वमवबोद्धव्यमिति । मन्दरस्य–मेरोः उत्तरा च दक्षिणा च उत्तरदक्षिणे तयोरुत्तरदक्षिणयोरिति वाक्ये उत्तरदक्षिणेनेति स्याद्, एनप्रत्ययविधानादिति, द्वे वर्षे–क्षेत्रे प्रज्ञप्ते जिनैः, समतुल्यशब्दः सदृशार्थः अत्यन्तं समतुल्ये बहुसमतुल्ये प्रमाणतः अविशेषे–अविलक्षणे नगनगरनद्यादिकृतविशेषरहिते अनानात्वे–अवसर्पिण्यादिकृतायुरादिभावभेदवर्जिते, किमुक्तं भवतीत्याह—'अन्योऽन्यं' परस्परं नातिवर्त्तेते, इतरेतरं न लङ्घयत इत्यर्थः, कैरित्याह—'आयामेन' दैर्घ्येण 'विष्कम्भेन' पृथुत्वेन 'संस्थानेन' आरोपितज्याधनुराकारेण 'परिणाहेन' परिधिनेति, इह च द्वन्द्वैकवद्भावः कार्य इति, अथवा बहुसमतुल्ये आयामतः, तथाहि–भरतपर्यन्तश्रेणीयं 'चोद्दस य सहस्साइं सयाइँ चत्तारि एगसयराइं । भरहुत्तरजीवा छा य कला ऊणिया किंचि ॥ १ ॥' कला च योजनस्यैकोनविंशतितमो भाग इति १४४७१$\frac{६}{१९}$, एरवतेऽप्येवं । तथा अविशेषे विष्कम्भतः, तथाहि—'पंच[2] सए छव्वीसे छच्च कला विक्खडं भरहवासं'ति, ५२६$\frac{६}{१९}$ अयमेव चैरवतस्यापीति, अनानात्वे संस्थानतः अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते, परिणाहतः परिणाहश्च ज्याधनुःपृष्ठयोर्यत्प्रमाणं, तत्र ज्याप्रमाणमुक्तं, धनुः–

१ भरतं हैमवतं हरिवर्षं महाविदेहमिति च । रम्यकैरण्यवतं ऐरवतं चैव वर्षाणि ॥ १ ॥ हिमवदाद्या वर्षधरगिरय एते २ चतुर्दश सहस्राणि चत्वारि शतानि एकसप्तत्यधिकानि भरतार्द्धोत्तरजीवा षड्ढ कला ऊनाः किंचित् ॥ १ ॥ ३ पंच शतानि षड्विंशत्यधिकानि षट्कला विस्तरं भरतवर्षे. ५२६–६–विस्तारः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठप्रमाणं त्विदम्—'चोद्दस य सहस्साइं पंचेव सयाइं अट्ठवीसाइं । एगारस य कलाओ धणुपुट्ठं उत्तरद्धस्स ॥ १ ॥' १४५२८$\frac{११}{१९}$ । यथा च भरतस्यैरवतस्यापि तथैवेति । एकार्थिकानि वैतानि पदानि, भृशार्थत्वाच्च न पुनरुक्ततेति, उक्तं च —"अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥ १ ॥" इति, तद्यथा, 'भरहे चेवे'त्यादि, 'उत्तरदाहिणेणं'त्येतस्य पाठस्य यथासङ्ख्यन्यायानाश्रयणाद् यथासत्तिन्यायाश्रयणाच्च जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे भागे भरतमाहिमवतः, तस्यैवोत्तरे भागे ऐरवतं शिखरिणः परत इति, 'एव'मिति भरतैरवतवत् 'एतेनाभिलापेन' 'जंबूदीवे दीवे मंदरस्से'त्यादिना उच्चारणेनापरं सूत्रद्वयं वाच्यं, तयोश्चायं विशेषः—'हेमवए चेवे'त्यादि, तत्र हैमवतं दक्षिणतो हिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये हिरण्यवतमुत्तरतः रुक्मिशिखरिणोरन्तः हरिवर्षं दक्षिणतो महाहिमवन्निषधयोरन्तः रम्यकवर्षं चोत्तरतो नीलरुक्मिणोरन्तरिति, 'जंबूदीवे'इत्यादि, 'पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं'ति पुरस्तात्—पूर्वस्यां दिशि पश्चात्—पश्चिमायामित्यर्थः, यथाक्रमं, पूर्वश्चासौ विदेहश्चेति पूर्वविदेहः, एवमपरविदेह इति, एतेषां चायामादि ग्रन्थान्तरादवसेयमिति । 'जंबू'इत्यादि, दक्षिणेन देवकुरवः उत्तरेण उत्तरकुरवः, तत्र आद्या विद्युत्प्रभसौमनसाभिधानवक्षस्कारपर्वताभ्यां गजदन्ताकाराभ्यामावृताः, इतरे तु गन्धमादनमाल्यवद्भ्यामावृताः, उभये चामी अर्द्धचन्द्राकाराः दक्षिणोत्तरतो विस्तृताः, तत्प्रमाणं चेदम्—'[३]अट्ठसया बायाला एक्कारस सहस दो कलाओ य । विक्खंभो य कुरूणं ते-

१ चतुर्दश सहस्राणि पंचैव शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि एकादश च कला धनुःपृष्ठं उत्तरार्द्धस्य. १४५२८-११ धनुःपृष्ठं. २ एकादश सहस्राणि अष्ट शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि द्वे कले च विष्कम्भस्तु देवकुरूणां त्रिपंचाशत्सहस्राणि जीवाऽनयोः ॥ १ ॥ १२८४२-२ विष्कम्भः ५३००० जीवा.



॥ ६८ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वन्नसहस्स जीवा सिं ॥ १ ॥" पूर्वापरायामाश्चैता इति, 'महइमहालय'त्ति महान्तौ गुरू 'अती'ति अत्यन्तं महसां–तेजसां महानां वा–उत्सवानामालयौ–आश्रयौ महातिमहआलयौ महातिमहालयौ वा समयभाषया महान्तावित्यर्थः, महाद्रुमौ प्रशस्ततया आयामो–दैर्घ्यं विष्कम्भो–विस्तारः उच्चत्वम्–उच्छ्रयः उद्वेधो–भुवि प्रवेशः संस्थानम्–आकारः परिणाहः–परिधिरिति, तत्रानयोः प्रमाणम्—"[1]रयणमया पुप्फफला विक्खंभो अट्ठ अट्ठ उच्चत्तं । जोयणमद्धुव्वेहो खंधो दोजोयणुव्विद्धो ॥ १ ॥ दो कोसे विच्छिन्नो विडिमा छज्जोयणाणि जंबूए । चाउहिसिंपि साला पुव्विल्ले तत्थ सालंमि ॥ २ ॥ भवणं कोसपमाणं सयणिज्जं तत्थऽणाढियसुरस्स । तिसु पासाया सालेसु तेसु सीहासणा रम्मा ॥ ३ ॥" इति, शाल्मल्यामप्येवमेवेति, कूटाकारा–शिखराकारा शाल्मली कूटशाल्मलीति संज्ञा, सुष्ठु दर्शनमस्या इति सुदर्शनेतीयमपि संज्ञेति, 'तत्थ'त्ति तयोर्महाद्रुमयोः 'महे'त्यादि महती ऋद्धिः–आवासपरिवाररत्नादिका ययोस्तौ महर्द्धिकौ यावद्ग्रहणात् 'महज्जुइया महाणुभागा महायसा महाबल'त्ति, तत्र द्युतिः–शरीराभरणदीप्तिः अनुभागः–अचिन्त्या शक्तिर्वैक्रियकरणादिका यशः–ख्यातिः बलं–सामर्थ्यं शरीरस्य सौख्यम्–आनन्दात्मकं, 'महेसक्खा' इति क्वचित्पाठः, महेशौ–महेश्वराविति[2]ख्या ययोस्तौ मेहशाख्याविति, पल्योपमं यावत् स्थितिः–आयुर्ययोस्तौ तथा । गरुडः–सुपर्णकुमारजातीयः वेणुदेवो नाम्ना, अणाढिउत्ति नाम्ना ॥

१ रत्नमयानि पुष्पफलानि अष्ट विष्कम्भोऽष्ट उच्चत्वं अर्द्धयोजनमुद्वेधः स्कन्धो द्वियोजनोद्वेधः ॥ १ ॥ क्रोशद्वयं विस्तीर्णो विटपो जम्ब्वाः शाखा षट् योजनाः चतुर्दिशमपि शालाः पौरस्त्यां तत्र शालायां ॥ २ ॥ भवनं कोशप्रमाणं शयनीयं तत्रानादृतसुरस्य तिसृषु प्रासादाः शालासु तासु सिंहासनानि रम्याणि ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८७]

दीप अनुक्रम [८७]



जंबूमंदरस्स पव्वयस्स य उत्तरदाहिणेणं दो वासहरपव्वया [पं० तं०—] बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णातिवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोव्वेहसंठाणपरिणाहेणं, तंजहा—चुल्लहिमवंते चेव सिहरिचेव, एवं महाहिमवंते चेव रुप्पिचेव, एवं णिसढे चेव णीलवंते चेव, जंबूमंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं हेमवंतेरण्णवतेसु वासेसु दो वट्टवेतड्ढपव्वता [पं० तं०—] बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता जाव सद्दावाती चेव वियडावाती चेव, तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति तं०—साती चेव पभासे चेव, जंबूमंदरस्स उत्तरदाहिणेणं हरिवासरम्मतेसु वासेसु दो वट्टवेयड्ढपव्वया [पं० तं०—] बहुसम० जाव गंधावाती चेव मालवंतपरियाए चेव, तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया चेव जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं०—अरुणे चेव पउमे चेव, जंबूमंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं देवकुराए पुव्वावरे पासे एत्थ णं आसक्खंधगसरिसा अद्धचंदसंठाणसंठिया दो वक्खारपव्वया पं० तं०—बहुसमा जाव सोमणसे चेव विज्जुप्पभे चेव, जंबूमंदर० उत्तरेणं उत्तरकुराए पुव्वावरे पासे एत्थ णं आसक्खंधगसरिसा अद्धचंदसंठाणसंठिया दो वक्खारपव्वया पं० तं०—बहु० जाव गंधमायणे चेव मालवंते चेव, जंबूमंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो दीहवेयड्ढपव्वया पं० तं०—बहुसमतुल्ला जाव भारहे चेव दीहवेयड्ढे एरावते चेव दीहवेयड्ढे, भारहए णं दीहवेयड्ढे दो गुहाओ पं० तं०—बहुसमतुल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अन्नमन्नं णातिवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं, तं०—तिमिसगुहा चेव खंडगप्पवायगुहा चेव, तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं०—कयमालए चेव नट्टमालए चेव, एरावयए णं दीहवेयड्ढे दो गुहाओ पं० तं०—जाव कयमालए चेव नट्टमालए चेव। जंबूमंदरस्स पव्व-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पं० तं०—बहुसमतुल्ला जाव विक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं, तं० —चुल्लहिमवंतकूडे चेव वेसमणकूडे चेव, जंबूमंदरदाहिणेणं महाहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पं० तं०—बहुसम० जाव महाहिमवन्तकूडे चेव वेरुलियकूडे चेव, एवं निसढे वासहरपव्वए दो कूडा पं० तं०—बहुसमा० जाव निसढकूडे चेव रुयगप्पभे चेव। जंबूमंदर० उत्तरेणं नीलवंते वासहरपव्वए दो कूडा पं० तं०—बहुसम० जाव तं०—नीलवंतकूडे चेव उवदंसणकूडे चेव, एवं रुप्पिमि वासहरपव्वए दो कूडा पं० बहुसम० जाव तं०—रुप्पिकूडे चेव मणिकंचणकूडे चेव, एवं सिहरिमि वासहरपव्वते दो कूडा पं० तं०—बहुसम० जाव तं०—सिहरिकूडे चेव तिगिंछिकूडे चेव (सू० ८७)

'जंबू' इत्यादि, वर्ष–क्षेत्रविशेषं धारयतो–व्यवस्थापयत इति वर्षधरौ 'चुल्लो'त्ति महदपेक्षया लघुर्हिमवान् चुल्लहिमवान् भरतानन्तरः, शिखरी पुनर्ऐरवतम्, तौ च पूर्वापरतो लवणसमुद्रावबद्धावायामतश्च '[1]चउवीस सहस्साइं णव य सए जोयणाण वत्तीसे। चुल्लहिमवंतजीवा आयामेणं कलद्धं च ॥ १ ॥' २४९३२ $\frac{1}{19}$ एवं शिखरिणोऽपि, तथा भरतद्विगुणविस्तारौ योजनशतोच्छ्रायौ पञ्चविंशतियोजनावगाढौ आयतचतुरस्रसंस्थानसंस्थितौ, परिणाहस्तु तयोः '[2]पणयालीस सहस्सा सयमेगं नव य बारस कलाओ। अद्धं कलाएँ हिमवंतपरिरओ सिहरिणो चेव ॥ १ ॥' त्ति, ४५१०९ $\frac{12}{19}$ $\frac{1}{38}$ 'एव'मिति यथा हिमवच्छिखरिणौ 'जंबुद्दीवे'त्यादिनाऽभिलापेनोक्तौ एवं महाहिमवदादयोऽपीति, तत्र

१ चतुर्विंशतिः सहस्राणि नव च शतानि द्वात्रिंशच्च योजनानां क्षुल्लहिमवज्जीवाऽऽयामेन कलार्द्धं च. २४९३२$\frac{1}{38}$ हि० जीवा. २ पंचचत्वारिंशत्सहस्राणि एकं शतं नवाधिकं द्वादश च कलाः। कलाया अर्द्धं च हिमवत्परिरयः शिखरिणश्चैव ॥ १ ॥ हि० परि० ४५१०९–$\frac{12}{19}$–$\frac{1}{38}$.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महाहिमवाँल्लघ्वपेक्षया, स च दक्षिणतः रुक्मी चोत्तरतः, एवमेव निषधनीलवन्तौ, नवरं एतेषामायामादयो विशेषतः क्षेत्रसमासाद् अवसेयाः, किञ्चित्तु तद्गाथाभिरेवोच्यते—'पंचसए छव्वीसे छच्च कला वित्थडं भरहवासं। दससय बावन्नऽहिया बारस य कलाओ हिमवंते ॥ १ ॥ हेमवए पंचहिया इगवीससया उ पंच य कलाओ। दसहियबायालसया दस य कलाओ महाहिमवे ॥ २ ॥ हरिवासे इगवीसा चुलसीइ सया कला य एक्का य। सोलससहस्स अट्ठ य बायाला दो कला णिसढे ॥ ३ ॥ तेत्तीसं च सहस्सा छच्च सया जोयणाण चुलसीया। चउरो य कला सकला महाविदेहस्स विक्खंभो ॥ ४ ॥ जोयणसयमुव्विद्धा कणगमया सिहरिचुल्लहिमवंता। रुप्पिमहाहिमवंता दुसउच्चा रुप्पकणगमया ॥ ५ ॥ चत्तारि जोयणसए उव्विद्धा णिसढणीलवन्ता य। णिसहो तवणिज्जमओ वेरुलिओ नीलवंतगिरी ॥ ६ ॥ उस्सेहचउब्भागो ओगाहो पायसो नगवराणं। वट्टपरिही उ तिउणो किंचूणछभायजुत्तो य ॥ ७ ॥' त्ति, चतुरस्रपरिधिस्तु आयामविष्कम्भद्विगुण इति। 'जंबू' इत्यादि 'दो वट्टवेयड्ढपव्वय'त्ति, द्वौ वृत्तौ पल्याकारत्वाद् वैताढ्यौ नामतः तौ च तौ पर्वतौ चेति वि-



१ षड्विंशत्यधिकानि पंच शतानि षट् च कला विस्तृतं भरतक्षेत्रं। द्विपंचाशदधिकानि दश शतानि द्वादश च कला हिमवतः ॥ १ ॥ हैमवते पंचाधिकान्येकविंशतिशतानि पंच च कलाः। दशाधिकानि द्विचत्वारिंशच्छतानि दश च कलाः महाहिमवति ॥ २ ॥ हरिवर्षे एकविंशत्यधिकानि चतुरशीतिः शतानि कला चैका षोडशसहस्राणि अष्टशताधिकानि द्विचत्वारिंशत् द्वे च कले निषधे ॥ ३ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि षट्च शतानि चतुरशीत्यधिकानि योजनानां। चतस्रश्च कलाः सकलाः महाविदेहस्य विष्कम्भः ॥ ४ ॥ शतयोजनोच्चौ कनकमयौ शिखरिक्षुल्लहिमवन्तौ। रुक्मिमहाहिमवन्तौ द्विशतोच्चौ रूप्यकनकमयौ ॥ ५ ॥ योजनचतुःशतोच्चौ निषधनीलवन्तौ निषधस्तपनीयमयो वैडूर्यो नीलवान् गिरिः ॥६॥ उत्सेधचतुर्भागोऽवगाहः प्रायशो नगवराणां। वृत्तपरिरयस्त्रिगुणः किंचिदूनषड्भागयुक्त इति ॥ ७ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहः, सर्वतः सहस्रपरिमाणौ रजतमयौ, तत्र हैमवते शब्दापाती, उत्तरतस्तु ऐरण्यवते विकटापातीति, 'तत्थ'त्ति तयोर्वृत्तवैताढ्ययोः क्रमेण स्वातिप्रभासौ देवौ वसतः, तद्भवनभावादिति । एवं हरिवर्षे गन्धापाती रम्यग्वर्षे माल्यवत्पर्यायो देवौ च क्रमेणैवेति ॥ 'जंबू' इत्यादि 'पुव्वावरे पासे'त्ति, पार्श्वशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पूर्वपार्श्वेऽपरपार्श्वे च, किंभूते?—'एत्थ'त्ति प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमाने क्रमेण सौमनसविद्युत्प्रभौ प्रज्ञप्तौ, किम्भूतौ?–अश्वस्कन्धसदृशावादौ निम्नौ पर्यवसान उन्नतौ, यतो निषधसमीपे चतुःशतोच्छ्रितौ मेरुसमीपे तु पञ्चशतोच्छ्रताविति, आह च—"वासहरगिरिंतेणं रुंदा पंचेव जोयणसयाइं । चत्तारिसउव्विद्धा ओगाढा जोयणाण सयं ॥ १ ॥ पंचसए उव्विद्धा ओगाढा पंच गाउयसयाइं । अंगुलअसंखभागो विच्छिन्ना मंदरंतेणं ॥ २ ॥ वक्खारपव्वयाणं आयामो तीस जोयणसहस्सा । दोन्नि य सया णवहिया छच्च कलाओ चउण्हं पि ॥ ३ ॥" त्ति, 'अवड्ढचंद'त्ति अपकृष्टमर्द्धं चन्द्रस्यापार्द्धचन्द्रस्तस्य यत्संस्थानम्–आकारो गजदन्ताकृतिरित्यर्थः, तेन संस्थितावपार्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितौ, अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिताविति क्वचित्पाठः, तत्र अर्द्धशब्देन विभागमात्रं विवक्ष्यते, नतु समप्रविभागतेति, ताभ्यां चार्द्धचन्द्राकारा देवकुरवः कृता, अत एव वक्षाराकारक्षेत्रकारिणौ पर्वतौ वक्षारपर्वताविति । 'जंबू' इत्यादि तथैव, नवरं अपरपार्श्वे गन्धमादनः पूर्वपार्श्वे माल्यवानिति । 'दो दीहवेयड्ढ'त्ति, वृत्तवैताढ्यव्यवच्छेदार्थं दीर्घग्रहणं, वैताढ्यौ विजयार्द्धौ वेति संस्कारः, तौ च भरतैरा-

१ वर्षधरगिर्यन्ते विस्तृताः पंचैव योजनशतानि चतुःशतोच्चाः योजनानां शतमवगाढाः.॥१॥ २ पंचशतोद्वेधाः पंचशतगव्यूतावगाढाः । अंगुलासंख्यभागविस्तीर्णा मन्दरसमीपे. ॥ २ ॥ ३ वक्षस्कारपर्वतानामायामस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे शते नवाधिके षट्च कलाः चतुर्णामपि ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वतयोर्मध्यभागे पूर्वापरतो लवणोदधिं स्पृष्टवन्तौ पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रितौ तत्तादावगाढौ पञ्चाशद्विस्तृतौ आयतसंस्थितौ सर्वराजतावुभयतो बहिः काञ्चनमण्डनाङ्काविति, आह च—"पणुवीसं उविद्धो पन्नासं जोयणाण विच्छिन्नो। वेयड्ढो रययमओ भारहखेत्तस्स मज्झम्मि ॥ १ ॥" त्ति, 'भारहए ण'मित्यादि, वैताढ्येऽपरतस्तमिश्रागुहा गिरिविस्तारायामा द्वादशयोजनविस्तारोऽष्टयोजनोच्छ्रया आयतचतुरस्रसंस्थाना विजयद्वारप्रमाणद्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजनविस्ताराभ्यामुन्मग्नजलानिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां युक्ता, तद्वत् पूर्वतः खण्डप्रपाता गुहेति। 'तत्थ णं'ति तयोः तमिस्रायां गुहायां कृतमाल्यक इतरस्यां नृत्तमालक इति। 'एरावए'इत्यादि तथैव। 'जंबू' इत्यादि, हिमवद्वर्षधरपर्वते ह्येकादश कूटानि सिद्धायतन १ क्षुल्लहिमवत् २ भरत ३ इला ४ गङ्गा ५ श्री ६ रोहितांशा ७ सिन्धु ८ सुरा ९ हैमवत १० वैश्रमण ११ कूटाभिधानानि भवन्ति, पूर्वदिशि सिद्धायतनकूटं ततः क्रमेणापरतोऽन्यानि सर्वरत्नमयानि स्वनामदेवतास्थानानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रयाणि तावदेव मूले विस्तृतानि उपरि तदर्द्धविस्तृतानि, आद्ये सिद्धायतनं पञ्चाशद्योजनायामं तदर्द्धविष्कम्भं षट्त्रिंशदुच्चं अष्टयोजनायामैश्चतुर्योजनविष्कम्भप्रवेशैस्त्रिभिर्द्वारैरुपेतं जिनप्रतिमाष्टोत्तरशतसमन्वितं, शेषेषु प्रासादाः सार्द्धद्विषष्टियोजनोच्चास्तदर्द्धविस्तृतास्तन्निवासिदेवतासिंहासनवन्त इति। इह तु प्रकृतनगनायकनिवासभूतत्वादेवनिवासभूतानां तेषां मध्ये आद्यत्वाच्च हिमवत्कूटं गृहीतं सर्वान्तिमत्वाच्च वश्रवणकूटं द्विस्थानकानुरोधेनेति, आह च—"कत्थइ देसग्गहणं कत्थइ घेप्पंति निरवसेसाइं। उक्कमकमजुत्ताइं कार-

१ पंचविंशतिरुद्वेधः पंचाशद्योजनानां विस्तीर्णः। वैताढ्यो रजतमयो भरतक्षेत्रस्य मध्ये ॥ १ ॥ २ कुत्रचिद्देशग्रहणं क्वापि गृह्यन्ते निरवशेषाणि। उक्रमक्रमयुक्तानि कारणवशतो नियुक्तानि ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णवसओ निउत्ताइं ॥ १ ॥" ति कूटसङ्ग्रहश्चायं—"वेयड्ढ ९ मालवंते ९ विज्जुप्पह ९ निसह ९ णीलवंते य ९ । णव णव कूडा भणिया एकारस सिहरि ११ हिमवंते ११ ॥ १ ॥ रुप्पि ८ महाहिमवंते ८ सोमणसे ७ गंधमायणनगे य ७ । अट्ठट्ठ सत्त सत्त य वक्खारगिरीसु चत्तारि ॥ २ ॥" त्ति । 'जंबू' इत्यादि, महाहिमवति ह्यष्टौ कूटानि, सिद्ध १ महाहिमवत् २ हैमवत् ३ रोहिता ४ ह्री ५ हरिकान्ता ६ हरि ७ वैडूर्य ८ कूटाभिधानानि, द्वयग्रहणे च कारणमुक्तमिति । 'एव'मित्यादि, एवंकरणात् 'जंबू' इत्यादिरभिलापो द्रष्टव्यः, निषधवर्षधरपर्वते हि सिद्ध १ निषध २ हरिवर्ष ३ प्राग्विदेह ४ हरि ५ धृति ६ शीतोदा ७ अपरविदेह ८ रुचकाख्यानि ९ स्वनामदेवतानि नव कूटानि, इहापि द्वितीयान्त्ययोर्ग्रहणं प्राग्वद् व्याख्येयमिति । 'जंबू'इत्यादि, नीलवर्षधरपर्वते हि सिद्ध १ नील २ पूर्वविदेह ३ शीता ४ कीर्त्ति ५ नारीकान्ता ६ ऽपरविदेह ७ रम्यक ८ उपदर्शना ९ ख्यानि नव कूटानि, इहापि द्वितीयान्त्यग्रहणं प्राग्वदिति । 'एव'मित्यादि, रुक्मिवर्षधरे हि सिद्ध १ रुक्मि २ रम्यक ३ नरकान्ता ४ बुद्धि ५ रौप्यकूला ६ हैरण्यवत् ७ मणिकाञ्चनकूटा ८ ख्यानि अष्ट कूटानि, द्वयाभिधानं च प्राग्वदिति । 'एव'मित्यादि शिखरिणि हि वर्षधरे सिद्ध १ शिखरि २ हैरण्यवत ३ सुरादेवी ४ रक्ता ५ लक्ष्मी ६ सुवर्णकूला ७ रक्तोदा ८ गन्धापाति ९ ऐरावती १० तिगिच्छिकूटा ११ ख्यानि एकादश कूटानि, इहापि द्वयोर्ग्रहणं तथैवेति ॥

१ वैताढ्ये माल्यवति । विद्युत्प्रभे निषधे नीलवति च नव नव कूटानि भणितानि एकादश शिखरि हिमवति ॥ १ ॥ रुक्मिमहाहिमवतोः सौमनसगन्धमादननगयोः । अष्टाष्ट सप्त सप्त च वक्षस्कारगिरिषु चत्वारि ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जंबूमंदर० उत्तरदाहिणेणं चुल्लहिमवंतसिहरीसु वासहरपव्वयेसु दो महद्दहा पं० तं०—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति, आयामविक्खंभउव्वेहसंठाणपरिणाहेणं, तं०—पउमद्दहे चेव पुंडरीयद्दहे चेव, तत्थ णं दो देवयाओ महड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठितीयाओ परिवसंति, तं०—सिरी चेव लच्छी चेव, एवं महाहिमवंतरुप्पीसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पं० तं०—बहुसम० जाव तं०—महापउमद्दहे चेव महापोंडरीयद्दहे चेव, देवताओ हिरिच्चेव बुद्धिच्चेव, एवं निसढनीलवंतेसु तिगिंछिद्दहे चेव केसरिद्दहे चेव, देवताओ धिती चेव कित्तिच्चेव, जंबूमंदर० दाहिणेणं महाहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ महापउमद्दहाओ दहाओ दो महाणईओ पवहंति, तं०—रोहियच्चेव हरिकंतच्चेव, एवं निसढाओ वासहरपव्वताओ तिगिंछिद्दहाओ दो म० तं०—हरिच्चेव सीओअच्चेव, जंबूमंदर० उत्तरेणं नीलवंताओ वासहरपव्वताओ केसरिदहाओ दो महानईओ पवहंति, तं०—सीता चेव नारिकंता चेव, एवं रुप्पीओ वासहरपव्वताओ महापोंडरीयद्दहाओ दो महानईओ पवहंति, तं०—णरकंता चेव रुप्पकूला चेव, जंबूमंदरदाहिणेणं भरहे वासे दो पवायद्दहा पं० तं०— बहुसम० तं०—गंगप्पवातद्दहे चेव सिंधुप्पवायद्दहे चेव । एवं हिमवए वासे दो पवायद्दहा पं० तं० —बहु० तं०—रोहियप्पवातद्दहे चेव रोहियंसपवातद्दहे चेव, जंबूमंदरदाहिणेणं हरिवासे वासे दो पवायद्दहा पं० बहुसम० तं०—हरिपवातद्दहे चेव हरिकंतपवातद्दहे चेव, जंबूमंदरउत्तरदाहिणेणं महाविदेहवासे दो पवायद्दहा पं० बहुसम० जाव सीअप्पवातद्दहे चेव सीतोदप्पवायदहे चेव, जंबूमंदरस्स उत्तरेणं रम्मए वासे दो पवायद्दहा पं० तं०—बहु० जाव नरकंतप्पवायद्दहे चेव णारीकंतप्पवायद्दहे चेव, एवं हेरन्नवते वासे दो पवायद्दहा पं० तं०—बहु० सुवन्नकूलप्पवायद्दहे




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चेव रुप्पकूलप्पवायद्दहे चेव, जंबूमंदरउत्तरेणं एरवए वासे दो पवायद्दहा पं० बहु० जाव रत्तप्पवायद्दहे चेव रत्तावइप्पवायद्दहे चेव, जंबूमंदरदाहिणेणं भरहे वासे दो महानईओ पं० बहु० जाव गंगा चेव सिंधू चेव, एवं जधा पवातद्दहा एवं णईओ भाणियव्वाओ, जाव एरवए वासे दो महानईओ पं०—बहुसमतुल्लाओ जाव रत्ता चेव रत्तवती चेव॥(सू०८८)

'जंबू'इत्यादि, इह च हिमवदादिषु षट्सु वर्षधरेषु क्रमेणैते पद्मादयः षडेव ह्रदाः, तद्यथा—"पउमे य १ महापउमे २ तिगिंछी ३ केसरी ४ दहे चेव । हरए महपुंडरिए ५ पुंडरीए चेव य ६ दहाओ ॥ १ ॥" हिमवत उपरि बहुमध्यभागे पद्मह्रद इति पद्मह्रदनामा ह्रदः, एवं शिखरिणः† पौण्डरीकः, तौ च पूर्वापरायतौ सहस्रं पञ्चशतविस्तृतौ चतुष्कोणौ दशयोजनावगाढौ रजतकूलौ वज्रमयपाषाणौ तपनीयतलौ सुवर्णमध्यरजतमणिवालुकौ चतुर्दशमणिसोपानौ शुभावतारौ तोरणध्वजच्छत्रादिविभूषितौ नीलोत्पलपुण्डरीकादिचितौ विचित्रशकुनिमत्स्यविचरितौ षट्पदपटलोपभोग्यावितिं । 'तत्थ णं'ति, तयोः—महाह्रदयोर्द्वे देवते परिवसतः, पद्मह्रदे श्रीः पौण्डरीके लक्ष्मीः, ते च भवनपतिनिकायाभ्यन्तरभूते, पल्योपमस्थितिकत्वाद्, व्यन्तरदेवीनां हि पल्योपमार्द्धमेवायुरुत्कर्षतोऽपि भवति, भवनपतिदेवीनां तूत्कर्षतोऽर्द्धपञ्चमपल्योपमान्यायुर्भवतीति, आह च—"अड्ढुड्ढ अद्धपंचम पलिओवम असुरजुयलदेवीणं । सेस

१ पद्मो महापद्मश्च तिगिच्छी केशरी ह्रदश्चैव । ह्रदो महापुण्डरीकः पुण्डरीकश्चैव च ह्रदाः ॥ १ ॥ † शिखरिपर्वतस्योपरि बहुमध्यभागे ह्रदः प्र. अधिकम् ।
* निर्मलकेवलालोकालोकितत्रिभुवनश्रीजिनराजपरिभाषितानि आ० प्र. अधिकम्. २ सार्धत्रयार्धपंचमपल्योपमानि असुरयुगलदेवीनां शेषाणां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वणदेवयाणं देसूणं अद्धपलियमुक्कोसं ॥ १ ॥" ति, तयोश्च महाह्रदयोर्मध्ये योजनमाने पद्मे अर्द्धयोजनबाहल्ये दशावगाहे जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्राये वज्र १ रिष्ठ २ वैडूर्य ३ मूल १ कन्द २ नाले वैडूर्य १ जाम्बूनद २मयबाह्याभ्यन्तरपत्रे कनककर्णिके तपनीयकेसरे, तयोः कर्णिके अर्द्धयोजनमाने तदर्द्धबाहल्ये तदुपरि देव्योर्भवने इति । 'एव'मित्यादि, महाहिमवति महापद्मो रुक्मिणि तु महापौण्डरीकः, तौ च द्विसहस्रायामौ तदर्द्धविष्कम्भौ द्वियोजनमानपद्मव्यासवन्तौ, तयोर्देवते परिवसतो महापद्मे ह्रीर्महापुण्डरीके बुद्धिरिति । 'एव'मित्यादि, निषधे तिगिंछह्रदे धृतिर्देवता नीलवति केसरिह्रदे कीर्त्तिर्देवता, तौ च ह्रदौ चतुर्द्विसहस्रायामविष्कम्भाविति, भवति चात्र गाथा—"एएसु सुरवहूओ वसंति पलिओवमट्ठितीयाओ । सिरिहिरिधितिकित्तीओ बुद्धीलच्छीसनामाओ ॥ १ ॥" त्ति । 'जंबू' इत्यादि, तत्र रोहिन्नदी महापद्मह्रदादक्षिणतोरणेन निर्गत्य षोडश पञ्चोत्तराणि योजनशतानि सातिरेकाणि दक्षिणतो गिरिणा गत्वा हाराकारधारिणा सातिरेकयोजनद्विशतिकेन प्रपातेन मकरमुखप्रणालेन महाहिमवतो रोहिदभिधानकुण्डे निपतति, मकरमुखजिह्वा योजनमायामेन अर्द्धत्रयोदशयोजनानि विष्कम्भेन क्रोशं बाहल्येन, रोहित्प्रपातकुण्डाच्च दक्षिणतोरणेन निर्गत्य हैमवतवर्षमध्यभागवर्त्तिनं शब्दापातिवृत्तवैताढ्यमर्द्धयोजनेनाप्राप्याष्टाविंशत्या नदीसहस्रैः संयुज्याधो जगतीं विदार्य पूर्वतो लवणसमुद्रमतिगच्छतीति, रोहिन्नदी हि प्रवाहेऽर्द्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भा क्रोशोद्वेधा ततः क्रमेण वर्द्धमाना मुखे पञ्चविंशत्यधिकयोजनशतविष्कम्भा सार्द्धद्वियोजनोद्वेधा, उभयतो वेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां च युक्ता, एवं

१ वनदेवतानां देशोनमर्धपल्यमुत्कृष्टं ॥ १ ॥ २ एतेषु (ह्रदेषु) सुरवध्वो वसन्ति पल्योपमस्थितिकाः । श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मीसनाम्न्यः ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वा महानद्यः पर्वताः कूटानि च वेदिकादियुक्तानीति, हरिकान्ता तु महापद्महृदादेवोत्तरतोरणेन निर्गत्य पञ्चोत्तराणि षोडश शतानि सातिरेकाणि उत्तराभिमुखी पर्वतेन गत्वा सातिरेकयोजनशतद्वयप्रमाणेन प्रपातेन हरिकान्ताकुण्डे तथैव प्रपतति, मकरमुखजिह्विकाप्रमाणं पूर्वोक्तद्विगुणं, ततः प्रपातकुण्डादुत्तरतोरणेन निर्गत्य हरिवर्षमध्यभागवर्त्तिनं गन्धापातिवृत्तवैताढ्यं योजनेनासम्प्राप्ता पश्चिमाभिमुखीभूता षट्पञ्चाशता सरित्सहस्रैः समग्रा समुद्रमभिगच्छति, इयं च हरिकान्ता प्रमाणतो रोहिन्नदीतो द्विगुणेति । 'एव'मित्यादि, एवमिति 'जंबूदीवे'त्याद्यभिलापसूचनार्थः । हरिन्महानदी तिगिंछिहृदस्य दक्षिणतोरणेन निर्गत्य सप्त योजनसहस्राणि चत्वारि चैकविंशत्यधिकानि योजनशतानि सातिरेकाणि दक्षिणाभिमुखी पर्व्वतेन गत्वा सातिरेकचतुर्योजनशतिकेन प्रपातेन हरिकुण्डे निपत्य पूर्वसमुद्रे प्रपतति, शेषं हरिकान्तासमानमिति । शीतोदामहानदी तिगिंछिहृदस्योत्तरतोरणेन निर्गत्य तावन्त्येव योजनसहस्राणि गिरिणा उत्तराभिमुखी गत्वा सातिरेकचतुर्योजनशतिकेन प्रपातेन शीतोदाकुण्डे निपततीति, जिह्विका मकरमुखस्य चत्वारि योजनानि आयामेन पञ्चाशद्विष्कम्भेण योजनं बाहल्येन, कुण्डादुत्तरतोरणेन निर्गत्य देवकुरून् विभजन्ती चित्रविचित्रकूटौ पर्वतौ निषधहृदादींश्च पञ्च हृदान् द्विधा कुर्वती चतुरशीत्या नदीसहस्रैरापूर्यमाणा भद्रशालवनमध्येन मेरुं योजनद्वयेनाप्राप्ता प्रत्यङ्मुखी आवर्त्तमाना अधो विद्युत्प्रभं वक्षारपर्वतं दारयित्वा मेरोरपरतोऽपरविदेहमध्यभागेन एकैकस्माद् विजयादष्टाविंशत्या अष्टाविंशत्या नदीसहस्रैरापूर्यमाणा अधो जयन्तद्वारस्य अपरसमुद्रं प्रविशतीति, शीतोदा हि प्रवाहे पञ्चाशद्योजनविष्कम्भा योजनोद्वेधा ततो मात्रया परिवर्द्धमाना मुखे पञ्चयोजनशतविष्कम्भा दशयोजनोद्वेधेति । 'जंबू' इत्यादि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८८]

दीप अनुक्रम [८८]



शीता महानदी केसरिहृदस्य दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य कुण्डे पतित्वा मेरोः पूर्वतः पूर्वविदेहमध्येन विजयद्वारस्याधः पूर्वसमुद्रं शीतोदासमानशेषवक्तव्या प्रविशतीति । नारीकान्ता तु उत्तरतोरणेन निर्गत्य रम्यकवर्षं विभजन्ती हरिन्महानदीसमानवक्तव्या रम्यकवर्षमध्येनापरसमुद्रं प्रविशतीति । 'एव'मित्यादि, नरकान्ता महापुण्डरीकहृदादक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य रम्यकवर्षं विभजन्ती हरिकान्तातुल्यवक्तव्या पूर्वसमुद्रमधिगता । रूप्यकूला तु तस्यैवोत्तरतोरणेन विनिर्गत्य ऐरण्यवद्वर्षं विभजन्ती रोहिन्नदीतुल्यवक्तव्या अपरसमुद्रं गच्छतीति । 'जंबू' इत्यादि, 'पवायद्दह'त्ति प्रपतनं प्रपातस्तदुपलक्षितौ ह्रदौ प्रपातह्रदौ, इह यत्र हिमवदादेर्नगात् गङ्गादिका महानदी प्रणालेनाधो निपतति स प्रपातह्रद इति, प्रपातकुण्डमित्यर्थः, 'गंगापवायद्दहे चेव'त्ति हिमवद्वर्षधरपर्वतोपरिवर्त्तिपद्मह्रदस्य पूर्वतोरणेन निर्गत्य पूर्वाभिमुखी पञ्च योजनशतानि गत्वा गङ्गावर्त्तनकूटे आवृत्ता सती पञ्च त्रयोविंशत्यधिकानि योजनशतानि साधिकानि दक्षिणाभिमुखी पर्वतेन गत्वा गङ्गामहानदी अर्द्धयोजनायामया सक्रोशषड्योजनविष्कम्भयाऽर्धक्रोशबाहल्यया जिह्विकया युक्तेन विवृतमहामकरमुखप्रणालेन सातिरेकयोजनशतिकेन च मुक्तावलीकल्पेन प्रपातेन यत्र प्रपतति यश्च षष्टियोजनायामविष्कम्भः किञ्चिन्यूननवत्युत्तरशतपरिक्षेपो दशयोजनोद्वेधो नानामणिनिबद्धः यस्य च पूर्वापरदक्षिणासु त्रयस्त्रिंसोपानप्रतिरूपकाः सविचित्रतोरणाः मध्यभागे च गङ्गादेवीद्वीपोऽष्टयोजनायामविष्कम्भः सातिरेकपञ्चविंशतिपरिक्षेपः जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितो वज्रमयो गङ्गादेवीभवनेन क्रोशायामेन तदर्द्धविष्कम्भेन किञ्चिदूनक्रोशोच्चेनानेकस्तम्भशतसन्निविष्टेनालङ्कृतोपरितनभागः, यतश्च दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य प्रवाहे सक्रोशषड्योजनविष्कम्भाऽर्द्धक्रोशोद्वेधा गङ्गा उत्त-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रभरतार्द्धं विभजन्ती सप्तभिः नदीसहस्रैरापूर्यमाणा अधः पूर्वतः खण्डप्रपातगुहाया वैताढ्यपर्वतं विदार्य दक्षिणार्द्धभरतं विभजन्ती तन्मध्यभागेन गत्वा पूर्वाभिमुखी आवृत्ता सती चतुर्दशभिर्नदीसहस्रैः समग्रा मुखे सार्द्धद्विषष्टियोजनविष्कम्भा सक्रोशयोजनोद्वेधा जगतीं विदार्य पूर्वलवणसमुद्रं प्रविशति स गङ्गाप्रपातह्रदः, एतदनुसारेण सिन्धुप्रपातह्रदोऽपि व्याख्यातव्यः, अत एव एतौ बहुसमादिविशेषणावायामविष्कम्भोद्वेधपरिणाहैर्भावनीयाविति, सर्व एव प्रपातह्रदा दशयोजनोद्वेधा वक्तव्या इति। यच्चेह वर्षधरनद्यधिकारे गङ्गासिन्धुरोहितांशानां तथा सुवर्णकूलारक्तारक्तवतीनामनभिधानं तद् द्विस्थानकानुरोधात्, तासां हि एकैकस्मात् पर्वतात् त्रयं त्रयं प्रवहतीति द्विस्थानके नावतार इति। 'एव'मित्यादि, एवमिति प्राग्वत् 'रोहियप्पवायद्दहे चेव'त्ति रोहिद्-उक्तस्वरूपा यत्र प्रपतति यश्च सविंशतिकं योजनशतमायामविष्कम्भाभ्यां किञ्चिन्यूनाशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि परिक्षेपेण यस्य च मध्यभागे रोहिद्द्वीपः षोडशयोजनायामविष्कम्भः सातिरेकपञ्चाशद्योजनपरिक्षेपः जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितो यश्च रोहिद्देवताभवनेन गङ्गादेवताभवनसमानेन विभूषितोपरितनभागः स रोहित्प्रपातह्रद इति। 'रोहियंसप्पवायद्दहे चेव'त्ति हिमवद्वर्षधरपर्वतोपरिवर्त्तिपद्मह्रदोत्तरतोरणेन निर्गत्य रोहितांशा महानदी द्वे षट्सप्तत्युत्तरे योजनशते सातिरेकं उत्तराभिमुखी पर्वतेन गत्वा योजनायामया अर्द्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भया क्रोशबाहल्यया जिह्विकया विवृतमकरमुखप्रणालेन हाराकारेण च सातिरेकयोजनशतिकेन प्रपातेन यत्र प्रपतति यश्च रोहित्प्रपातकुण्डसमानमानः तस्य मध्ये रोहितांशद्वीपो रोहिद्द्वीपसमानमानः रोहितांशभवनेन प्रागुक्तमानेनालङ्कृतः, यतश्च रोहितांशानदी रोहिन्नदीसमानमाना उत्तरतोरणेन निर्गत्य पश्चिमसमुद्रं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८८]

दीप अनुक्रम [८८]



प्रविशति स रोहितांशाप्रपातह्रद इति । 'जंबू' इत्यादि, 'हरिप्पवायद्दहे चेव'त्ति हरिन्नदी प्रागुक्तलक्षणा यत्र निपतति यश्च द्वे शते चत्वारिंशदधिके आयामविष्कम्भाभ्यां सप्त शतानि एकोनषष्ट्यधिकानि परिक्षेपेण यस्य च मध्यभागे हरिद्देवताद्वीपः द्वात्रिंशद्योजनायामविष्कम्भः एकोत्तरशतपरिक्षेपः जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितो हरिद्देवताभवनभूषितोपरितनभागोऽसौ हरिन्नपातह्रद इति । 'हरिकंतप्पवायद्दहे चेव'त्ति हरिकान्तोक्तरूपा महानदी यत्र निपतति यश्च हरित्कुण्डसमानो हरिद्द्वीपसमानेन हरिकान्तादेवीद्वीपेन सभवनेन भूषितमध्यभागः स हरिकान्ताप्रपातह्रद इति । 'जंबू' इत्यादि, 'सीयप्पवायद्दहे चेव'त्ति यत्र नीलवतः शीता निपतति यश्च चत्वार्यशीत्यधिकानि योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चदशाष्टादशोत्तराणि विशेषन्यूनानि परिक्षेपेण यस्य च मध्ये शीताद्वीपश्चतुःषष्टियोजनायामविष्कम्भो द्व्युत्तरयोजनशतद्वयपरिक्षेपः जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितः शीतादेवीभवनेन विभूषितोपरितनभागः स शीताप्रपातह्रद इति, 'सीतोदप्पवायद्दहे चेव'त्ति यत्र निषधाच्छीतोदा निपतति स शीतोदाप्रपातह्रदः शीताप्रपातह्रदसमानः स शीतादेवीद्वीपभवनसमानशीतोदादेवीद्वीपभवनश्चेति । 'जंबू' इत्यादि, नरकान्तानारीकान्ताप्रपातह्रदौ च हरिकान्ताहरिन्नपातह्रदसमानौ स्वसमाननामद्वीपदेविकाविति । 'एव'मित्यादि, सुवर्णकूलारूप्यकूलाप्रपातह्रदौ रोहितांशारोहिन्नपातह्रदसमानवक्तव्यौ, विशेषस्तूह्य इति । 'जंबू' इत्यादि रक्तारक्तवतीप्रपातह्रदौ गङ्गासिन्धुप्रपातह्रदसमानवक्तव्यौ, नवरं रक्ता पूर्वोदधिगामिनी रक्तवती तु पश्चिमोदधिगामिनीति । 'जंबू' इत्यादि 'जंबुद्दीवे २ मंदरस्स दाहिणेणं भरहे वासे दो महानदीओ' इत्यादि, 'एव'मिति अनन्तरक्रमेण 'जह'त्ति यथा पूर्वं वर्षे २ द्वौ द्वौ प्रपातह्रदावुक्तौ एवं नद्यो वाच्याः,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ताश्चैवं—"गंगा १ सिंधू २ तह रोहियंस ३ रोहीणदी य ४ हरिकंता ५। हरिसलिला ६ सीयोया ७ सत्तेया होंति दाहिणओ ॥ १ ॥ सीया य १ नारिकांता २ नरकांता चेव ३ रुप्पकूला ४ य। सलिला सुवण्णकूला ५ रत्तवती रत्त ७ उत्तरओ ॥ २ ॥" इति। जम्बूद्वीपाधिकारात् क्षेत्रव्यपदेश्यपुद्गलधर्माधिकाराच्च जम्बूद्वीपसम्बन्धिभरतादिसत्ककाललक्षणपर्यायधर्माननेकधाऽष्टादशसूत्र्याऽऽह—

जंबुदीवे २ भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीए सुसमदूसमाए समाए दो सागरोवमकोडाकोडीओ काले होत्था १, एवमिमीसे ओसप्पिणीए जाव पन्नत्ते २, एवं आगमिस्साए उस्सप्पिणीए जाव भविस्सति ३, जंबूदीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीए सुसमाए समाए मणुया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ४, दोन्नि य पलिओवमाइं परमाउं पालइत्था ५, एवमिमीसे ओसप्पिणीए जाव पालयित्था ६, एवमागमेस्साते उस्सप्पिणीए जाव पालिस्संति ७, जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगसमये एगजुगे दो अरिहंतवंसा उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा ८, एवं चक्कवट्टिवंसा ९, दसारवंसा १०, जंबूभरहेरवएसु एगसमते दो अरहंता उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा ११, एवं चक्कवट्टिणो १२, एवं बलदेवा एवं वासुदेवा (दसारवंसा) जाव उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा १३, जंबू० दोसु कुरासु मणुआ सया सुसमसुसममुत्तमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं०—देवकुराए चेव उत्तर-

१ गंगासिन्धू तथा रोहितांशा रोहित्नदी च हरिकान्ता। हरिसलिला शीतोदा सप्तैता भवन्ति दक्षिणस्यां ॥ १ ॥ शीता च नारीकान्ता नरकान्ता चैव रूप्यकूला च। सलिला सुवर्णकूला रक्तवती रक्ता चोत्तरस्यां ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८९]

दीप अनुक्रम [८९]



कुराए चेव १४, जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसमुत्तमं इड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति तं०—हरिवासे चेव रम्मगवासे चेव १५, जंबू० दोसु वासेसु मणुया सया सुसममुत्तममिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति तं०—हेमवए चेव एरन्नवए चेव १६, जंबुद्दीवे दीवे दोसु खित्तेसु मणुया सया दूसमसुसममुत्तममिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं०—पुव्वविदेहे चेव अवरविदेहे चेव १७, जंबूदीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं०—भरहे चेव एरवते चेव १८, (सू० ८९)

सुगमानि चैतानि, नवरं 'तीताए'त्ति अतीता या उत्सर्पिणी प्राग्वत् तस्यां तस्या वा सुषमदुष्षमायाः—बहुसुषमायाः समायाः—कालविभागस्य चतुर्थारकलक्षणस्य 'कालो'त्ति स्थितिः प्रमाणं वा 'होत्थ'त्ति बभूवेति । 'एव'मिति जंबुद्दीवे २ इत्यादि उच्चारणीयम्, णवरं 'इमीसे'त्ति अस्यां प्रत्यक्षायां वर्त्तमानायामित्यर्थः, अवसर्पिण्यां—उक्तार्थायां, 'जाव'त्ति सुसमदूसमाए समाए—तृतीयारक इत्यर्थः, 'दो सागरोवमकोडाकोडीओ काले' 'पण्णत्ते' प्रज्ञप्ते इति पूर्वसूत्राद्विशेषः, पूर्वसूत्रे हि होत्थत्ति भणितमिति । 'एव'मित्यादि, 'आगमिस्साए'त्ति आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामिति भविष्यतीति पूर्वसूत्राद्विशेषः, 'जम्बू' इत्यादि सुषमायां पञ्चमारके 'होत्थ'त्ति बभूवुः, 'पालयित्थ'त्ति पालितवन्तः पूर्वसूत्राद्विशेषः । 'जंबु' इत्यादि, 'एगजुगे'त्ति पञ्चाब्दिकः कालविशेषो युगं तत्रैकस्मिन् तस्याप्येकस्मिन् समये 'एगसमए एगजुगे' इत्येवं पाठेऽपि व्याख्योक्तक्रमेणैव, इत्थमेवार्थसम्बन्धादन्यथा वा भावनीयेति । द्वावर्हतां वंशौ—प्रवाहावेको भरतप्रभवोऽन्य ऐरवतप्रभव इति । 'दसार'त्ति दसाराः—समयभाषया वासुदेवाः । 'जंबू' इत्यादि, सदा—सर्वदा 'सुसमसुसमं'ति



॥ ७६ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमारकानुभागः सुषमसुषमा तस्याः सम्बन्धिनी या सा सुषमसुषमैव तां उत्तमर्द्धि–प्रधानविभूतिं उच्चैस्त्वायुःकल्पवृक्षदत्तभोगोपभोगादिकां प्राप्ताः सन्तस्तामेव प्रत्यनुभवन्तो–वेदयन्तो न सत्तामात्रेणेत्यर्थः, अथवा सुषमसुषमां–कालविशेषं प्राप्ताः–अधिगता उत्तमामृद्धिं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति–आसत इति, अभिधीयते च—"दोसुवि कुरासु मणुया तिपल्लपरमाउणो तिकोसुच्चा । पिट्ठिकरंडसयाइं दो छप्पन्नाइं(तु) मणुयाणं॥ १ ॥सुसमसुसमाणुभावं अणुभवमाणाणऽवच्चगोवणया । अउणापन्नदिणाइं अट्ठमभत्तस्स आहारो ॥ २ ॥" इति । देवकुरवो दक्षिणाः उत्तरकुरव उत्तरास्तेष्विति । 'जंबू' इत्यादि, 'सुसमं'ति सुषमा द्वितीयारकानुभागः, शेषं तथैव, पठ्यते च—"हरिवासरंमएसुं आउपमाणं सरीरउस्सेहो । पलिओवमाणि दोन्नि उ दोन्नि य कोसा समा भणिया ॥ १ ॥ छट्ठस्स य आहारो चउसट्ठिदिणाणुपालणा तेसिं । पिट्ठिकरंडाण सयं अट्ठावीसं मुणेयव्वं ॥ २ ॥" इति । 'जंबू' इत्यादि, 'सुसमदुस्समं'ति सुषमदुष्षमा–तृतीयारकानुभागस्तस्या या सा सुषमदुष्षमा ऋद्धिः, शेषं तथैव, उच्यते च—"गाउयमुच्चा पलिओवमाउणो वज्जरिसहसंघयणा । हेमवएरन्नवए अहमिंदणरा मिहुणवासी ॥ १ ॥ चउसट्ठी पिट्ठिकरंडयाण मणुयाण तेसिमाहारो । भत्तस्स चउत्थस्स य उणसीतिदिणाणुपालणया ॥ २ ॥" इति । 'जंबू' इत्यादि, दूसमसुसमं'ति दुष्षमसुषमा चतुर्थारकप्रतिभागस्तत्सम्ब-

१ द्वयोरपि कुर्वोर्मनुष्यास्त्रिपल्यपरमायुषस्त्रिक्रोशोच्चाः । पृष्ठकरण्डानि द्वे शते षट्पंचाशदधिके मनुजानां ॥ १ ॥ सुषमसुषमानुभावमनुभवतामपत्यगोपनता । एकोनपंचाशद्दिनानि अष्टमभक्तेन आहारः ॥ २ ॥ २ हरिवर्षरम्यकयोरायुषः प्रमाणं शरीरस्योच्छ्रयः । द्वे पल्योपमे च द्वौ क्रोशौ च समौ भणितौ ॥ १ ॥ षष्ठेन आहारश्चतुःषष्टिदिनान्यनुपालना तेषां पृष्ठकरण्डानां अष्टाविंशत्यधिकं शतं ज्ञातव्यं ॥ २ ॥ ३ ग. १ प. १ वज्र. ६४ पृष्ठ. दि. आ. १९ पालना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्धिनी ऋद्धिर्दुष्षमसुषमैव, शेषं तथैव, अधीयते च—"मणुयाण पुव्वकोडी आउं पंचुस्सिया धणुसयाइं। दूसमसुसमाणुभावं अणुहोंति णरा निययकालं ॥ १ ॥" इति। 'जंबूदीवे' इत्यादि, 'छव्विहंपि'त्ति सुषमसुषमादिकं उत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपमिति। अनन्तरं जम्बूद्वीपे काललक्षणद्रव्यपर्यायविशेषा उक्ताः, अधुना तु जम्बूद्वीप एव कालपदार्थव्यञ्जकानां ज्योतिषां द्विस्थानकानुपातेन प्ररूपणामाह—

जंबुद्दीवे दीवे दो चंदा पभासिंसु वा पभासंति वा पभासिस्संति वा, दो सूरिआ तविंसु वा तवंति वा तविस्संति वा, दो कत्तिया, दो रोहिणीओ, दो मगसिराओ, दो अद्दाओ, एवं भाणियव्वं, "कत्तिय रोहिणि मगसिर अद्दा य पुणव्वसू अ पूसो य। तत्तोऽवि अस्सलेसा मघा य दो फग्गुणीओ य ॥ १ ॥ हत्थो चित्ता साई, विसाहा तहय होति अणुराहा। जेट्ठा मूलो पुव्वा य आसाढा उत्तरा चेव ॥ २ ॥ अभिई सवणो धणिट्ठा सयभिसया दो य होंति भद्दवया। रेवति अस्सिणि भरणी नेतव्वा आणुपुव्वीए ॥ ३ ॥ एवं गाहाणुसारेणं णेयव्वं जाव दो भरणीओ। दो अग्गी दो पयावती दो सोमा दो रुद्दा दो अदिती दो बहस्सती दो सप्पी दो पीती दो भगा दो अज्जमा दो सविता दो तट्ठा दो वाऊ दो इंदग्गी दो मित्ता दो इंदा दो निरती दो आऊ दो विस्सा दो बम्हा दो विण्हू दो वसू दो वरुणा दो अया दो विविद्धी दो पुस्सा दो अस्सा दो यमा। दो इंगालगा दो वियालगा दो लोहितक्खा दो सणिचरा दो आहुणिया दो पाहुणिया दो कणा दो कणगा दो कणकणगा दो कणगवितागणगा दो कणगसंताणगा दो सोमा दो सहिया दो आसासणा दो

१ मनुजानां पूर्वकोट्यायुः पंचधनुःशतोच्छ्रितानि। दुष्षमसुषमानुभावमनुभवंति नरा नियतकाले ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९०] गाथांक १-३

दीप अनुक्रम [९०-९४]

कज्जोवगा दो कव्वडगा दो अयकरगा दो दुंदुभगा दो संखा दो संखवन्ना दो संखवन्नाभा दो कंसा दो कंसवन्ना दो कंसवन्नाभा दो रुप्पी दो रुप्पाभासा दो णीला दो णीलोभासा दो भासा दो भासरासी दो तिला दो तिलपुप्फवण्णा दो दगा दो दगपंचवन्ना दो काका दो कक्कंधा दो इंदग्गीवा दो धूमकेऊ दो हरी दो पिंगला दो बुद्धा दो सुक्का दो बहस्सती दो राहू दो अगत्थी दो माणवगा दो कासा दो फासा दो धुरा दो पमुहा दो वियडा दो विसंधी दो नियल्ला दो पइल्ला दो जडियाइलगा दो अरुणा दो अग्गिल्ला दो काला दो महाकालगा दो सोत्थिया दो सोवत्थिया दो वद्धमाणगा दो पूंस-समाणगा दो अंकुसा दो पलंबा दो निच्चालोगा दो णिच्चुज्जोता दो सयंपभा दो ओभासा दो सेयंकरा दो खेमंकरा दो आभंकरा दो पभंकरा दो अपराजिता दो अरया दो असोगा दो विगतसोगा दो विमला दो वितत्ता दो वितत्था दो वि-साला दो साला दो सुव्वता दो अणियट्टी दो एगजडी दो दुजडी दो करकरिगा दो रायग्गला दो पुप्फकेतू दो भाव-केऊ। (सू० ९०)

'जंबुद्दीवे' इत्यादि सूत्रद्वयं, 'पभासिंसु व'त्ति प्रभासितवन्तौ वा प्रकाशनीयमेवं प्रभासयतः प्रभासयिष्यतः, चन्द्र-योश्च सौम्यदीप्तिकत्वात् प्रभासनमात्रमुक्तम्, आदित्ययोश्च खररश्मित्वात्तापितवन्तौ वा एवं तापयतस्तापयिष्यत इति वस्तुनस्तापनमुक्तम्, अनेन कालत्रयप्रकाशनभणनेन सर्वकालं चन्द्रादीनां भावानामस्तित्वमुक्तम्, अत एव चोच्यते—'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति, न वा विद्यमानस्य जगतः कर्त्ता कल्पयितुं युक्तः, अप्रमाणकत्वात्, अथ यत्सन्निवे-

१ नेमे संख्यया तद्दर्शकपाठेन च संवदत इति नाङ्कनीये.

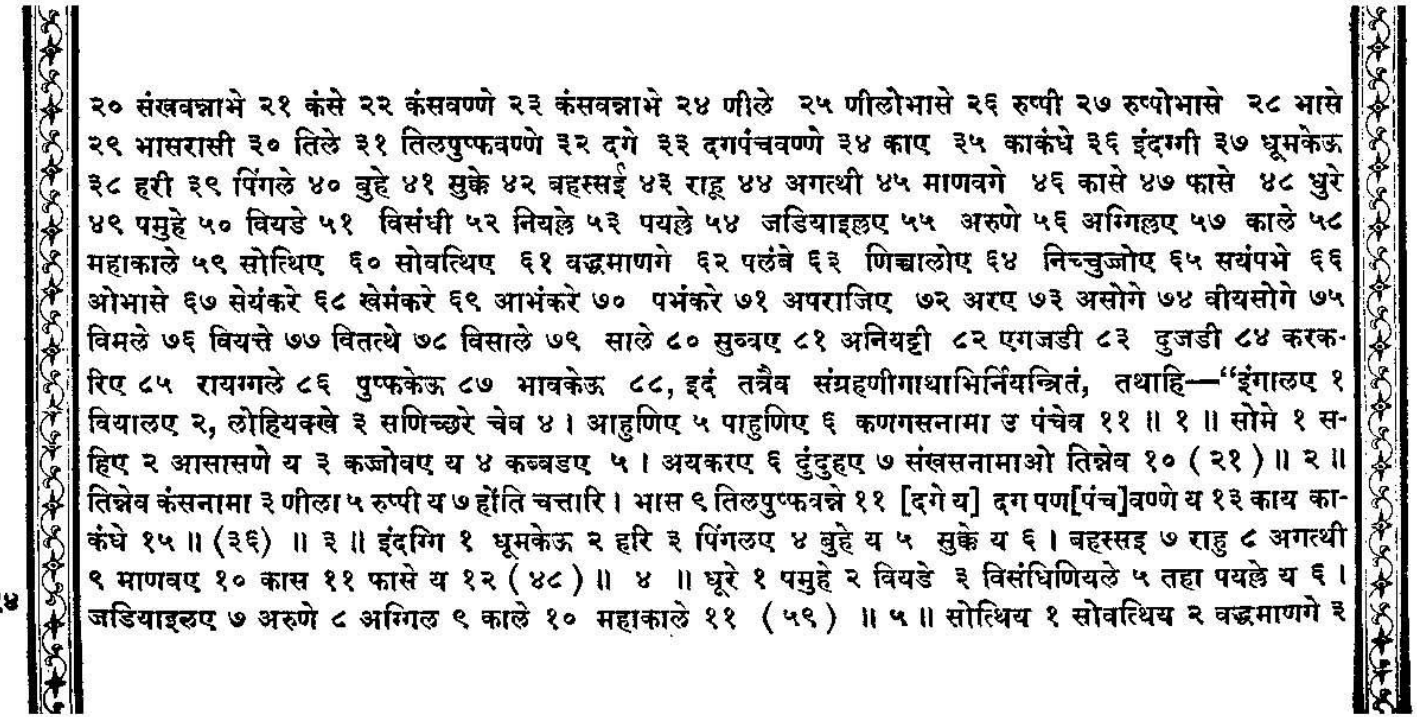
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शविशेषवत् तद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं दृष्टं, यथा घटः, सन्निवेशविशेषवन्तश्च भूभूधरादयः, यश्च बुद्धिमानसावीश्वरो जगत्कर्त्तेति, नैवम्, सन्निवेशविशेषवत्यपि वल्मीके बुद्धिमत्कारणत्वस्यादर्शनादित्यत्र बहु वक्तव्यं तच्च स्थानान्तरादवसेयमिति। द्विसङ्ख्यत्वाच्चन्द्रयोस्तत्परिवारस्यापि द्वित्वमाह—'दो कत्तिए'त्यादिना 'दो भावकेऊ' इत्येतदवसानेन ग्रन्थेन, सुगमश्चायं, नवरं द्वे कृत्तिके नक्षत्रापेक्षया, न तु तारिकापेक्षयेत्येवं सर्वत्रेति, 'कत्तिए'त्यादिगाथात्रयेण नक्षत्रसूत्रसङ्ग्रहः, कृत्तिकादीनामष्टाविंशतिनक्षत्राणां क्रमेणाग्न्यादयोऽष्टाविंशतिरेव देवता भवन्ति, आह च–द्वावग्नी १ एवं प्रजापती २ सोमौ ३ रुद्रौ ४ अदिती ५ बृहस्पती ६ सर्प्पौ ७ पितरौ ८ भगौ ९ अर्यमणौ १० सवितारौ ११ त्वष्टारौ १२ वायू १३ इन्द्राग्नी १४ मित्रौ १५ इन्द्रौ १६ निर्ऋती १७ आपः १८ विश्वौ १९ ब्रह्माणौ २० विष्णू २१ वसू २२ वरुणौ २३ अजौ २४ विवृद्धी २५ ग्रन्थान्तरे अहिर्बुध्नावुक्तौ, पूषणौ २६ अश्विनौ २७, यमाविति २८, ग्रन्थान्तरे पुनरश्विनीत आरभ्यैता एवमुक्ताः, "अश्वियमदहनकमलजशशिशूलभृददितिजीवफणिपितरः योन्यर्यमदिनकृत्त्वष्टृपवनशक्राग्निमित्राख्याः ॥ १ ॥ ऐन्द्रो निर्ऋतिस्तोयं विश्वो ब्रह्मा हरिर्वसुर्वरुणः। अजपादोऽहिर्बुध्नः पूषा चेतीश्वरा भानाम् ॥ २ ॥" अङ्गारकादयोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः सूत्रसिद्धाः, केवलमस्मद्दृष्टपुस्तकेषु केषुचिदेव यथोक्तसङ्ख्या संवदतीति सूर्यप्रज्ञप्त्यनुसारेणासाविह संवादनीया, तथाहि तत्सूत्रम्—"तत्थ खलु इमे अट्ठासीई महागहा पन्नत्ता, तंजहा–इंगालए १ वियालए २ लोहियक्खे ३ सणिच्छरे ४ आहुणिए ५ पाहुणिए ६ कणे ७ कणए ८ कणकणए ९ कणवियाणए १० कणसंताणए ११ सोमे १२ सहिए १३ अस्सासणे १४ कज्जोयए १५ कव्वडए १६ अयकरए १७ दुंदुभए १८ संखे १९ संखवण्णे





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



स्था० १४

२० संखवन्नाभे २१ कंसे २२ कंसवण्णे २३ कंसवन्नाभे २४ णीले २५ णीलोभासे २६ रुप्पी २७ रुप्पोभासे २८ भासे २९ भासरासी ३० तिले ३१ तिलपुप्फवण्णे ३२ दगे ३३ दगपंचवण्णे ३४ काए ३५ काकंधे ३६ इंदग्गी ३७ धूमकेऊ ३८ हरी ३९ पिंगले ४० बुहे ४१ सुक्के ४२ बहस्सई ४३ राहू ४४ अगत्थी ४५ माणवगे ४६ कासे ४७ फासे ४८ धुरे ४९ पमुहे ५० वियडे ५१ विसंधी ५२ नियले ५३ पयले ५४ जडियाइलए ५५ अरुणे ५६ अग्गिलए ५७ काले ५८ महाकाले ५९ सोत्थिए ६० सोवत्थिए ६१ वद्धमाणगे ६२ पलंबे ६३ णिच्चालोए ६४ निच्चुज्जोए ६५ सयंपभे ६६ ओभासे ६७ सेयंकरे ६८ खेमंकरे ६९ आभंकरे ७० पभंकरे ७१ अपराजिए ७२ अरए ७३ असोगे ७४ वीयसोगे ७५ विमले ७६ वियत्ते ७७ वितत्थे ७८ विसाले ७९ साले ८० सुव्वए ८१ अनियट्टी ८२ एगजडी ८३ दुजडी ८४ करकरिए ८५ रायग्गले ८६ पुप्फकेऊ ८७ भावकेऊ ८८, इदं तत्रैव संग्रहणीगाथाभिर्निर्यन्त्रितं, तथाहि—"इंगालए १ वियालए २, लोहियक्खे ३ सणिच्छरे चेव ४। आहुणिए ५ पाहुणिए ६ कणगसनामा उ पंचेव ११ ॥ १ ॥ सोमे १ सहिए २ आसासणे य ३ कज्जोवए य ४ कव्वडए ५। अयकरए ६ दुंदुहए ७ संखसनामाओ तिन्नेव १० (२१) ॥ २ ॥ तिन्नेव कंसनामा ३ णीला ५ रुप्पी य ७ होंति चत्तारि। भास ९ तिलपुप्फवन्ने ११ [दगे य] दग पण[पंच]वण्णे य १३ काय काकंधे १५ ॥ (३६) ॥ ३ ॥ इंदग्गि १ धूमकेऊ २ हरि ३ पिंगलए ४ बुहे य ५ सुक्के य ६। बहस्सइ ७ राहु ८ अगत्थी ९ माणवए १० कास ११ फासे य १२ (४८) ॥ ४ ॥ धूरे १ पमुहे २ वियडे ३ विसंधिणियले ५ तहा पयले य ६। जडियाइलए ७ अरुणे ८ अग्गिल ९ काले १० महाकाले ११ (५९) ॥ ५ ॥ सोत्थिय १ सोवत्थिय २ वद्धमाणगे ३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तहा पलंबे य ४। निच्चालोए ५ णिच्चुज्जोए ६ सयंपभे ७ चेव ओभासे ८ (६७) ॥ ६ ॥ सेयंकर १ खेमंकर २ आभंकर ३ पभंकरे य ४ बोद्धव्वे। अरए ५ विरए य ६ तहा असोग ७ तह वीयसोगे य ८ (७५) ॥ ७ ॥ विमल १ वितत्त २ वितत्थे ३ विसाल ४ तह साल ५ सुव्वए ६ चेव। अनियट्टी ७ एगजडी ८ य होइ बिजडी य ९ बोद्धव्वे (८४) ॥ ८ ॥ करकरए १ रायग्गल २ बोद्धव्वे पुप्फ ३ भावकेऊ य ४। अट्ठासीई गहा खलु णेयव्वा आणुपुव्वीए ॥ ९ ॥" इति। जम्बूद्वीपाधिकारादेवेदमपरमाह—

जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स वेइआ दो गाउयाइं उद्धं उच्चत्तेणं पन्नत्ता । लवणे णं समुद्दे दो जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पन्नत्ते। लवणस्स णं समुद्दस्स वेतिया दो गाउयाइ उद्धं उच्चत्तेणं पन्नत्ता। (सूत्रं ९१) धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पन्नत्ता बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरवए चेव, एवं जहा जंबुद्दीवे तहा एत्थवि भाणियव्वं जाव दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुभवमाणा विहरंति तं० भरहे चेव एरवते चेव, णवरं कूडसामली चेव धायइरुक्खे चेव, देवा गरुले चेव वेणुदेवे सुदंसणे चेव, धाततीसंडदीवपच्चच्छिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पन्नत्ता बहु० जाव भरहे चेव एरवए चेव जाव छव्विहंपि कालं पच्चणुभवमाणा विहरंति भरहे चेव एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव महाधायतीरुक्खे चेव, देवा गरुले चेव वेणुदेवे पियदंसणे चेव, धायइसंडे णं दीवे दो भरहाइं दो एरवयाइं दो हेमवयाइं दो हेरन्नवयाइं दो हरिवासाइं दो रम्मगवासाइं दो पुव्वविदेहाइं दो अवरविदेहाइं दो देवकुराओ दो देवकुरुमहद्दुमा दो देवकुरुमहद्दुमवासी देवा दो उत्तरकुराओ दो उत्तरकुरुमहद्दुमा दो





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरकुरुमहद्दुमवासी देवा दो चुल्लहिमवंता दो महाहिमवंता दो निसहा दो नीलवंता दो रुप्पी दो सिहरी दो सद्दावाती दो सद्दावातवासी साती देवा दो वियडावाती दो वियडावातिवासी पभासा देवा दो गंधावाती दो गंधावातिवासी अरुणा देवा दो मालवंतपरियागा दो मालवंतपरियागावासी पउमा देवा दो मालवंता दो चित्तकूडा दो पम्हकूडा दो नलिण-कूडा दो एगसेला दो तिकूडा दो वेसमणकूडा दो अंजणा दो मातंजणा दो सोमणसा दो विज्जुप्पभा दो अंकावती दो पम्हावती दो आसीविसा दो सुहावहा दो चंदपव्वता दो सूरपव्वता दो णागपव्वता दो देवपव्वया दो गंधमायणा दो उसुगारपव्वया, दो चुल्लहिमवंतकूडा दो वेसमणकूडा दो महाहिमवंतकूडा दो वेरुलियकूडा दो निसहकूडा दो रुयगकूडा दो नीलवंतकूडा दो उवदंसणकूडा दो रुप्पिकूडा दो मणिकंचणकूडा दो सिहरिकूडा दो तिगिच्छिकूडा दो पउमद्दहा दो पउमद्दहवासिणीओ सिरीदेवीओ दो महापउमद्दहा दो महापउमद्दहवासिणीओ हिरीतो देवीओ एवं जाव दो पुंडरीयद्दहा दो पोंडरीयद्दहवासिणीओ लच्छीदेवीओ, दो गंगापवायदहा जाव दो रत्तवतिपवातद्दहा दो रोहियाओ जाव दो रुप्पकूलातो दो गाहवतीओ दो दहवतीओ दो पंकवतीओ दो तत्तजलाओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरो-याओ दो सीहसोताओ दो अंतोवाहिणीओ दो उम्मिमालिणीओ दो फेणमालिणीओ दो गंभीरमालिणीओ दो कच्छा दो सुकच्छा दो महाकच्छा दो कच्छगावती दो आवत्ता दो मंगलावत्ता दो पुक्खला दो पुक्खलावई दो वच्छा दो सुवच्छा दो महावच्छा दो वच्छगावती दो रम्मा दो रम्मगा दो रमणिज्जा दो मंगलावती दो पम्हा दो सुपम्हा दो महापम्हा दो पम्ह-गावती दो संखा दो णलिणा दो कुमुया दो स(ण)लिला(णा)वती दो वप्पा दो सुवप्पा दो महावप्पा दो वप्पगावती दो वग्गू दो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुवग्गू दो गंधिला दो गंधिलावती ३२ दो खेमाओ दो खेमपुरीओ दो रिट्ठाओ दो रिट्ठपुरीओ दो खग्गीतो दो मंजुसाओ दो ओसधीओ दो पोंडरिगिणीओ दो सुसीमाओ दो कुंडलाओ दो अपराजियाओ दो पभंकराओ दो अंकावईओ दो पम्हावईओ दो सुभाओ दो रयणसंचयाओ दो आसपुराओ दो सीहपुराओ दो महापुराओ दो विजयपुराओ दो अपराजिताओ दो अवराओ दो असोयाओ दो विगयसोगाओ दो विजयातो दो वेजयंतीओ दो जयंतीओ दो अपराजियाओ दो चक्कपुराओ दो खग्गपुराओ दो अवज्झाओ दो अउज्झाओ ३२ दो भद्दसालवणा दो णंदणवणा दो सोमणसवणा दो पंडगवणाइं दो पंडुकंबलसिलाओ दो अतिपंडुकंबलसिलाओ दो रत्तकंबलसिलाओ दो अइरत्तकंबलसिलाओ दो मंदरा दो मंदरचूलिताओ, धायतिसंडस्स णं दीवस्स वेदिया दो गाउयाइं उद्धमुच्चत्तेणं पन्नत्ता। (सूत्रं ९२) कालोदस्स णं समुद्दस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता। पुक्खरवरदीवड्ढपुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पं० बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरवए चेव तहेव जाव दो कुराओ पं० देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव, तत्थ णं दो महतिमहालता महद्दुमा पं० तं०—कूडसामली चेव पउमरुक्खे चेव, देवा गरुले चेव वेणुदेवे पउमे चेव, जाव छव्विहंपि कालं पच्चणुभवमाणा विहरंति। पुक्खरवरदीवड्ढपच्चच्छिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पं० तं०—तहेव णाणत्तं कूडसामली चेव महापउमरुक्खे चेव, देवा गरुले चेव वेणुदेवे पुंडरीए चेव, पुक्खरवरदीवड्ढे णं दीवे दो भरहाइं दो एरवयाइं जाव दो मंदरा दो मंदरचूलियाओ, पुक्खरवरस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढमुच्चत्तेणं पन्नत्ता, सव्वेसिंपि णं दीवसमुद्दाणं वेदियाओ दो गाउयाइं उड्ढमुच्चत्तेणं पण्णत्ताओ (सू० ९३)





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'जंबू' इत्यादि कंठ्यं, नवरं, वज्रमय्याः अष्टयोजनोच्छ्रायायाश्चतुर्द्वारदशोपर्यधोविस्तृतायाः जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनुःशतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्तायाः उपरि वेदिकेति पद्मवरवेदिकेत्यर्थः, पञ्चधनुःशतविस्तीर्णा गवाक्षहेमकिङ्किणीघण्टायुक्ता देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डवतीति ॥ जम्बूद्वीपवक्तव्यतानन्तरं तदनन्तरत्वादेव लवणसमुद्रवक्तव्यतामाह—'लवणे ण'मित्यादि कण्ठ्यम्, नवरम्, चक्रवालस्य—मण्डलस्य विष्कम्भः—पृथुत्वं चक्रवालविष्कम्भस्तेनेति, समुद्रवेदिकासूत्रं जम्बूद्वीपवेदिकासूत्रवद्वाच्यमिति । क्षेत्रप्रस्तावाल्लवणसमुद्रवक्तव्यतानन्तरं धातकीखण्डवक्तव्यतां 'धायइ संडे दीवे' इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाह—कण्ठ्यश्चायम्, नवरं धातकीखण्डप्रकरणमपि जम्बूद्वीपलवणसमुद्रमध्यं वलयाकृतिं धातकीखण्डमालिख्य हिमवदादिवर्षधरान् जम्बूद्वीपानुसारेणैवोभयतः पूर्वापरविभागेन भरतहैमवतादिवर्षाणि च व्यवस्थाप्य पूर्वापरदिशोर्वलयविष्कम्भमध्ये मेरुं च कल्पयित्वाऽवबोद्धव्यम् । अनेनैव च क्रमेण पुष्करवरद्वीपार्द्धप्रकरणमपीति । तत्र धातकीनां—वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डस्तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते, यथा दण्डयोगाद्दण्ड इति, धातकीखण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपस्तस्य 'पुरच्छिमं'ति पौरस्त्यं पूर्वमित्यर्थो यदर्द्ध—विभागस्तद्धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धं, पूर्वापरार्द्धता च लवणसमुद्रवेदिकातो दक्षिणत उत्तरतश्च धातकीखण्डवेदिकां यावद् गताभ्यामिषुकारपर्वताभ्यां धातकीखण्डस्य विभक्तत्वादिति, उक्तं च—"पंचसयजोयणुच्चा सहस्समेगं च होंति विच्छिन्ना । कालोयणलवणजले

१ पंचशतयोजनोच्चौ सहस्रमेकं च भवतो विस्तीर्णौ । कालोदकलवणजले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुट्ठा ते दाहिणुत्तरओ ॥ १ ॥ दो इसुयारनगवरा धायइसंडस्स मज्झयारठिया । तेहि दुहा णिद्दिस्सइ पुव्वद्धं पच्छिमद्धं च ॥ २ ॥" इति, तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, 'मन्दरस्य' मेरोरित्येवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धप्रकरणे प्रत्येकमेकोनसप्ततिसूत्रप्रमाणे जम्बूद्वीपप्रकरणवदध्येतव्ये व्याख्येये च, अत एवाह-'एवं जहा जंबुद्दीवे तहे'त्यादि, नवरं वर्षधरादिस्वरूपमायामादिसमता चैवं भावनीया—"पुव्वद्धस्स य मज्झे मेरू तस्स पुण दाहिणुत्तरओ । वासाइं तिन्नि तिन्निवि विदेहवासं च मज्झंमि ॥ १ ॥ अरविवरसंठियाइं चउरो लक्खाइं ताइं खेत्ताइं ( दीर्घतया ) । अंतो संखित्ताइं रुंदतराइं कमेण पुणो ॥ २ ॥ भरहे मुहविक्खंभो छावट्ठिसयाइं चोद्दसहियाइं । अउणत्तीसं च सयं बारसहियदुसयभागाणं ॥ ३ ॥ ६६१४$\frac{12}{19}$ । अट्ठारस य सहस्सा पंचेव सया हवंति सीयाला । पणपण्णं अंससयं बाहिरओ भरहविक्खंभो ॥ ४ ॥ १८५४७$\frac{5}{19}$ । चउगुणिय भरहवासो [व्यास इत्यर्थः] हेमवए तं चउग्गुणं तइयं [हरिवर्षमित्यर्थः] । हरिवासं चउगुणितं महाविदेहस्स विक्खंभो ॥ ५ ॥ जह विक्खंभा दाहिणदिसाए तह उत्तरेऽवि वासतिए । जह पुव्वद्धे सत्त उ

१ स्पृष्टौ तौ दक्षिणोत्तरयोः ॥ १ ॥ द्वौ इषुकारौ नगवरौ धातकीखंडस्य मध्ये स्थितौ । ताभ्यां द्विधा निर्दिश्यते पूर्वार्धं पश्चिमार्धं च ॥ २ ॥ २ पूर्वार्धस्य च मध्ये मेरुः पुनस्तस्य दक्षिणोत्तरतः । वर्षाणि त्रीणि त्रीणि विदेहवर्षं च मध्यभागे ॥ १ ॥ अरविवरसंस्थितानि चत्वारो लक्षा क्षेत्राणि तानि (दैर्घ्येण) । अन्तः संक्षिप्तानि विस्तृतानि क्रमेण पुनः ॥ २ ॥ भरते मुखविष्कंभः षट्षष्टिशतानि चतुर्दशाधिकानि । एकोनत्रिंशच्च शतं द्वादशाधिकद्विशतभागानां ॥ ३ ॥ अष्टादश सहस्राणि पंचैव च शतानि भवंति सप्तचत्वारिंशदधिकानि । पंचपंचाशदधिकं अंशशतं बाह्यतो भरतविष्कम्भः ॥ ४ ॥ चतुर्गुणितो भरतव्यासो हेमवति तच्चतुर्गुणं तृतीयं । हरिवर्षचतुर्गुणो महाविदेहस्य विष्कम्भः ॥ ५ ॥ यथा विष्कम्भा दक्षिणस्यां दिशि तथोत्तरस्यामपि वर्षत्रिके । यथा पूर्वार्द्धे सप्तैव





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेह अवरद्धेऽवि वासाइं ॥ ६ ॥ सत्ताणउई सहस्सा सत्ताणउयाइं अट्ठ य सयाइं । तिन्नेव य लक्खाइं कुरूण भागा य बाणउई ॥ ७ ॥ [विष्कम्भ इति] ३९७८९७३/९२ । अडवण्णसयं तेवीस सहस्सा दो य लक्ख जीवाओ । दोण्ह गिरीणायामो संखित्तो तं धणू कुरूणं ॥ ८ ॥ वासहरगिरी १२ वक्खारपव्वया ३२ पुव्वपच्छिमद्धेसु । जंबुदीवगदुगुणा वित्थरओ उस्सए तुल्ला ॥ ९ ॥ कंचणगजमगसुरकुरुनगा य वेयड्ढ वट्टदीहा य । विक्खंभोव्वेहसमुस्सएण जह जंबुदीविच्चा ॥ १० ॥ लक्खाइं तिन्नि दीहा विज्जुप्पभगंधमादणा दो वि । छप्पन्नं च सहस्सा दोन्नि सया सत्तवीसा य ॥ ११ ॥ अउणट्ठा दोन्नि सया उणसत्तरि सहस्स पंचलक्खा य । सोमणस मालवंता दीहा रुंदा दस सयाइं ॥ १२ ॥ सव्वाओऽवि णईओ विक्खंभोव्वेहदुगुणमाणाओ । सीयासीयोयाणं वणाणि दुगुणाणि विक्खंभो ॥ १३ ॥" [विस्तरतो वनमुखानीत्यर्थः] "वासहरकुरुसु दहा [वर्षधरेषु कुरुषु च ये ह्रदा इत्यर्थः] नदीण कुंडाइं तेसु जे दीवा । उव्वेहुस्सयतुल्ला विक्खंभायामओ दुगुणा ॥ १४ ॥" [जम्बूद्वीपकापेक्षयेति] कियद्दूरं जम्बूद्वीपप्रकरणं धातकीखण्डपूर्वार्द्धा-

१ तथाऽपरार्धेऽपि वर्षाणि ॥ ६ ॥ सप्तनवतिः सहस्राणि सप्तनवत्यधिकाष्टशतानि । त्रय एव च लक्षाः कुर्वोर्विष्कम्भो द्विनवतिश्च भागाः ॥ ७ ॥ अष्टपंचाशदधिकं शतं त्रयोविंशतिसहस्राणि द्वे लक्षे जीवा तु । द्वयोर्गिर्योरायामः कुरूणां तत्संक्षिप्तं धनुः ॥ ८ ॥ वर्षधरगिरिवक्षस्कारपर्वताः पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धयोः । जंबुद्वीपद्विगुणा विस्तरत उच्छ्रयेन तुल्याः ॥ ९ ॥ कांचनयमकदेवकुरुनगाश्च वृत्तदीर्घवैताढ्याश्च । विष्कंभोद्वेधसमुच्छ्रयैर्यथा जंबूद्वीपगताः ॥ १० ॥ लक्षाम् दीर्घौ त्रीन् विद्युत्प्रभगंधमादनौ द्वावपि । षट्पंचाशत्सहस्राणि सप्तविंशत्यधिके द्वे शते ॥ ११ ॥ एकोनषष्ट्यधिके द्वे शते एकोनसप्ततिः सहस्राणि पंच लक्षाश्च । सौमनसमाल्यवंतौ दीर्घौ रुंदौ दश शतानि ॥ १२ ॥ सर्वा अपि नद्यो विष्कंभोद्वेधद्विगुणमानाः । सीतासीतोदयोः वनमुखानि द्विगुणानि विस्तरतः ॥ १३ ॥ वर्षधरकुरुषु हृदा नदीनां कुंडानि तेषु ये द्वीपाः । उद्वेधोच्छ्रयाभ्यां तुल्याः विष्कंभायामतो द्विगुणाः ॥ १४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [९३]

दीप अनुक्रम [९७]



भिलापेन वाच्यमित्याह–'जाव दोसु वासेसु मणुए'त्यादि, एतस्माद्धि सूत्रात् परतो जम्बूद्वीपप्रकरणे चन्द्रादिज्योतिषां सूत्राण्यधीतानि तानि च धातकीखण्डपुष्करार्द्धपूर्वार्द्धादिप्रकरणेषु न सम्भवन्ति, द्विस्थानकत्वाद् अस्याध्ययनस्य, धातकीखण्डादौ च चन्द्रादीनां बहुत्वादिति, आह च—"दो[1] चंदा इह दीवे चत्तारि य सायरे लवणतोए। धायइसंडे दीवे बारस चंदा य सूरा य ॥ १ ॥" इति चन्द्राणामद्वित्वेन नक्षत्रादीनामपि द्वित्वं न स्यात् ततो द्विस्थानकेऽनवतार इति। जम्बूद्वीपप्रकरणादस्य विशेषं दर्शयन्नाह–णवरमित्यादि, नवरं केवलमयं विशेष इत्यर्थः, कुरुसूत्रानन्तरं तत्र 'कूडसामली चेव जंबू चेव सुदंसणे'ति उक्तमिह तु जम्बूस्थाने 'धायइरुक्खे चेव'त्ति वक्तव्यम्, प्रमाणं च तयोर्जम्बूद्वीपकशाल्मल्यादिवत्, तयोरेव देवसूत्रे 'अणाढिए चेव जंबुद्दीवाहिवई'त्यत्र वक्तव्ये 'सुदंसणे चेव'त्तीह वक्तव्यमिति। 'धायइसंडे दीवे'इत्यादि पश्चिमार्द्धप्रकरणं पूर्वार्द्धवदनुसर्त्तव्यम्, अत एवाह—'जाव छव्विहंपि काल'मित्यादि, विशेषमाह—'णवरं कूडसामली'त्यादि, धातकीखण्डपूर्वार्द्धोत्तरकुरुषु धातकीवृक्ष उक्त इह तु महाधातकीवृक्षोऽध्येतव्यः, देवसूत्रे द्वितीयः सुदर्शनस्तत्राधीतः इह तु प्रियदर्शनोऽध्येतव्य इति, पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धमीलनेन धातकीखण्डद्वीपं सम्पूर्णमाश्रित्य द्विस्थानकं 'धायइसंडे ण'मित्यादिनाह–द्वे भरते पूर्वार्द्धपश्चार्द्धयोर्यदक्षिणदिग्भागे तयोर्भावादित्येवं सर्वत्र, भरतादीनां स्वरूपं प्रागुक्तम्, 'दो देवकुरुमहद्दुमे'ति द्वौ कूटशाल्मलीवृक्षावित्यर्थः द्वौ तद्वासिदेवौ वेणुदेवावित्यर्थः, 'दो उत्तरकुरुमहद्दुमे'ति धातकीवृक्षमहाधातकीवृक्षाविति, तद्देवौ सुदर्शनप्रियदर्शनाविति, चुल्लहिमवदादयः षड् वर्ष-

१ द्वौ चंद्राविह द्वीपे चत्वारश्च सागरे लवणतोये धातकीखंडे द्वीपे द्वादश चंद्राश्च सूर्याश्च ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धरपर्वताः शब्दापातिविकटापातिगन्धापातिमालवत्पर्यायाख्यवृत्तवैताढ्याश्च तन्निवासिस्वातिप्रभासारुणपद्मनामदेवानां द्वयेन द्वयेन सहिताः क्रमेण द्वौ द्वावुक्तौ, 'दो मालवंत'त्ति मालवन्तावुत्तरकुरुतः पूर्वदिग्वर्त्तिनौ गजदन्तकौ स्तः, ततो भद्रशालवनतद्वेदिकाविजयेभ्यः परौ शीतोत्तरकूलवर्त्तिनौ दक्षिणोत्तरायतौ चित्रकूटौ वक्षस्कारपर्वतौ, ततो विजयेनान्तरनद्या विजयेन चान्तरितावन्यौ तथैवान्यौ पुनस्तथैवान्याविति पुनः पूर्ववनमुखवेदिकाविजयाभ्यामर्वाक् शीतादक्षिणकूलवर्त्तीनि तथैव त्रिकूटादीनां चत्वारि द्वयानि, ततः सौमनसौ देवकुरुपूर्वदिग्वर्त्तिनौ गजदन्तकौ, ततो गजदन्तकावेव देवकुरुप्रत्यग्भागवर्त्तिनौ विद्युत्प्रभौ, ततो भद्रशालवनतद्वेदिकाविजयेभ्यः परतः तथैवाङ्कावत्यादीनां चत्वारि द्वयानि शीतोदादक्षिणकूलवर्त्तीनि, पुनरन्यानि पश्चिमवनमुखवेदिकान्त्यविजयाभ्यां पूर्वतः क्रमेण तथैव चन्द्रपर्वतादीनां चत्वारि द्वयानि, ततो गन्धमादनावुत्तरकुरुपश्चिमभागवर्त्तिनौ गजदन्तकाविति, एते धातकीखण्डस्य पूर्वार्द्धे पश्चिमार्द्धे च भवन्तीति द्वौ द्वावुक्ताविति, इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोर्धातकीखण्डविभागकारिणाविति, 'दो चुल्लहिमवंतकूडा' इत्यादि, हिमवदादयः षड् वर्षधरपर्वताः तेषु ये द्वे द्वे कूटे जम्बूद्वीपप्रकरणे अभिहिते ते पर्वतानां द्विगुणत्वाद् एकैकशो द्वे द्वे स्याताामिति, वर्षधराणां द्विगुणत्वात् पद्मादिह्रदा अपि द्विगुणास्तद्देव्योऽप्येवमिति। चतुर्दशानां गङ्गादिमहानदीनां पूर्वपश्चिमार्द्धापेक्षया द्विगुणत्वात् तत्प्रपातह्रदा अपि द्वौ द्वौ स्युरित्याह—'दो गंगापवायद्दहे'त्यादि, 'दो रोहियाओ' इत्यादौ नद्यधिकारे गङ्गादीनां सदपि द्वित्वं नोक्तं, जम्बूद्वीपप्रकरणोक्तस्य—"महाहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ महापउमद्दहाओ दो महानदीओ पवहंती"त्यादिसूत्रक्रमस्याश्रयणात्, तत्र हि रोहिदादय एवाष्टौ श्रूयन्त इति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चित्रकूटपद्मकूटवक्षस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवद्वर्षधरपर्वतनितम्बव्यवस्थिताद् ग्राहवतीकुण्डाद्दक्षिणतोरणविनिर्गताऽष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताभिगामिनी सुकच्छमहाकच्छविजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी, एवं यथायोगं द्वयोर्द्वयोः सवक्षस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्वादशाप्यन्तरनद्यो योज्याः, तद्विस्वं च पूर्ववदिति, पङ्कवतीत्यत्र वेगवतीति ग्रन्थान्तरे दृश्यते, क्षारोदेत्यत्र क्षीरोदेत्यन्यत्र, सिंहश्रोता इत्यत्र सीतश्रोता इत्यपरत्र, फेनमालिनी गम्भीरमालिनी चेतीह व्यत्ययश्च दृश्यते इति, माल्यवद्गजदन्तकभद्रशालवनाभ्यामारभ्य कच्छादीनि द्वात्रिंशद्विजयक्षेत्रयुगलानि प्रदक्षिणतोऽवगन्तव्यानीति, तथा कच्छादिषु क्रमेण क्षेमादिपुरीणां युगलानि द्वात्रिंशदवगन्तव्यानीति, भद्रशालादीनि मेरौ चत्वारि वनानि—"[1]भूमीए भद्दसालं मेहलजुयलंमि दोन्नि रम्माइं। नंदणसोमणसाइं पंडगपरिमंडियं सिहरं ॥ १ ॥" इति वचनात्, मेर्वोर्द्वित्वे च वनाना द्वित्वमिति, शिलाश्चतस्रो मेरौ पण्डकवनमध्ये चूलिकायाः क्रमेण पूर्वादिषु, अत्र गाथे—"[2]पंडगवणंमि चउरो सिलाउ चउसुवि दिसासु चूलाए। चउजोयणउस्सियाओ सव्वज्जुणकंचणमयाओ ॥ १ ॥ पंचसयायामाओ मज्झे दीहत्तणऽद्धरुंदाओ। चंदद्धसंठियाओ कुमुओयरहारगोराओ ॥ २ ॥" इति, मन्दरे—मेरौ मेरुचूलिका—शिखरविशेषः, स्वरूपमस्याः—"[4]मेरुस्सें उवरि चूला जिणभवणविहूसिया दुवी(४०)सुच्चा।

१ भूमौ भद्रशालं मेखलायुगले द्वे रम्ये नन्दनसौमनसे पाण्डुकपरिमण्डितं शिखरम् ॥ १ ॥ २ पाण्डुकवने चतस्रः शिलाश्चतसृष्वपि दिक्षु चूलायाः। चतुर्योजनोच्छ्रिताः सर्वार्जुनकाञ्चनमय्यः ॥ १ ॥ पञ्चशतायामा मध्ये दीर्घत्वार्धपृथुलाः। अर्धचन्द्रसंस्थिताः कुमुदोदरहारगौराः ॥ २ ॥ ३ कुम्मो०। ४ मेरोरुपरि चूला जिनभवनभूषिता चत्वारिंशत् उच्चा।





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बारस अट्ठ य चउरो मूले मज्झुवरि रुंदा य ॥ १ ॥ इति, वेदिकासूत्रं जम्बूद्वीपवत्, धातकीखण्डानन्तरं कालोदसमुद्रो भवतीति तद्वक्तव्यतामाह–'कालोदे'त्यादि कण्ठ्यम्, कालोदानन्तरमनन्तरत्वादेव पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धपश्चार्द्ध-तदुभयप्रकरणान्याह—'पुक्खरे'त्यादि, त्रीण्यप्यतिदेशप्रधानानि, अतिदेशलभ्यश्चार्थः सुगम एव, नवरं पूर्वार्द्धापरार्द्धता धातकीखण्डवदिषुकाराभ्यामवगन्तव्या, भरतादीनां चायामादिसमतैवं भावनीया—"इगुयालीस सहस्सा पंचेव सया हवंति उणसीया । तेवत्तरमंससयं मुहविक्खंभो भरहवासे ॥ १ ॥" ४१५७९$\frac{१७३}{२१२}$ पन्नट्ठि सहस्साइं चत्तारि सया हवंति छा-याला । तेरस चेव य अंसा बाहिरो भरहविक्खंभो ॥ २ ॥" ६५४४६$\frac{१३}{२१२}$ । चउगुणिय भरहवासो [विस्तर इत्यर्थः] हेमवए तं चउग्गुणं तइयं [हरिवर्षमित्यर्थः] । हरिवासं चउगुणियं महाविदेहस्स विक्खंभो ॥ ३ ॥" एवमैरवतादीनि मन्तव्यानि "स-त्तत्तरिं सयाइं चोद्दस अहियाइं सत्तरस लक्खा । होइ कुरूविक्खंभो अट्ठ य भागा अपरिसेसा ॥ ४ ॥" १७०७७१४$\frac{९}{२१२}$ "चत्तारि लक्ख छत्तीस सहस्सा नव सया य सोलहिया । [एसा कुरुजीवा] । ४३६९१६ दोण्ह गिरीणायामो संखित्तो तं धणू कुरूणं ॥ ५ ॥ सोमणसमालवंता दीहा वीसं भवे सयसहस्सा । तेयालीस सहस्सा अउणावीसा य दोन्नि सया ॥ ६ ॥

१ द्वादशाष्ट चत्वारि मूले मध्य उपरि विस्तीर्णा ॥ १ ॥ २ एकचत्वारिंशत्सहस्राणि पंचैव शतानि भवन्त्येकोनाशीत्यधिकानि त्रिसप्तत्यधिकशतमंशानां मुखविष्कंभो भरतवर्षे ॥ १ ॥ पंचषष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि भवंति षड्त्वारिंशदधिकानि त्रयोदश एवांशा बाह्यो भरतविष्कम्भः ॥ २ ॥ चतुर्गुणितभरतव्यासो हैमवते तच्चतुर्गुणं तृतीयं हरिवर्षे चतुर्गुणितं महाविदेहस्य विष्कम्भः ॥ ३ ॥ सप्तसप्ततिः शतानि चतुर्दशाधिकानि सप्तदश लक्षा भवति कुरुविष्कम्भः अष्टौ च भागा अपरिशेषाः ॥ ४ ॥ चतुर्लक्षषट्त्रिंशत्सहस्रषोडशाधिकनवशतानि द्वयोर्गिर्योरायामः तद्धनुः कुरूणां संक्षिप्तं ॥ ५ ॥ सौमनसमालवंतौ दीर्घौ विंशतिः शतसहस्राणि त्रिचत्वारिंशत्सहस्राणि एकोनविंशत्यधिके द्वे शते ॥ ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२०४३२१९। "सोलहियं सयमेगं छव्वीससहस्स सोलस य लक्खा । विज्जुप्पभो नगो गंधमायणा चेव दीहाओ ॥ ७ ॥" १६२६११६, महाद्रुमा जंबूद्वीपकमहाद्रुमतुल्याः, तथा—"धायइवरंमि दीवे जो विक्खंभो उ होइ उ णगाणं । सो दुगुणो णायव्वो पुक्खरद्धे णगाणं तु ॥ ८ ॥ वासहरा वक्खारा दहनइकुंडा वणा य सीयाई । दीवे दीवे दुगुणा वित्थरओ उस्सए तुल्ला ॥ ९ ॥ उसुयार जमगकंचण चित्तविचित्ता य वट्टवेयड्ढा । दीवे दीवे तुल्ला दुमेहला जे य वेयड्ढा ॥ १० ॥" इति। पुष्करवरद्वीपवेदिकाप्ररूपणानन्तरं शेषद्वीपसमुद्रवेदिकाप्ररूपणामाह–'सव्वेसिंपि णं'मित्यादि कण्ठ्यं। एते च द्वीपसमुद्रा इन्द्राणामुत्पातपर्वताश्रया इतीन्द्रवक्तव्यतामाह—

दो असुरकुमारिंदा पन्नत्ता, तं०—चमरे चेव बली चेव, दो णागकुमारिंदा पण्णत्ता, तं०—धरणे चेव भूयाणंदे चेव २, दो सुवन्नकुमारिंदा पं० तं०—वेणुदेवे चेव वेणुदाली चेव, दो विज्जुकुमारिंदा पं० तं०—हरिचेव हरिस्सहे चेव, दो अग्गिकुमारिंदा पन्नत्ता तं०—अग्गिसिहे चेव अग्गिमाणवे चेव, दो दीवकुमारिंदा पं० तं०—पुन्ने चेव विसिट्ठे चेव, दो उदहिकुमारिंदा पं० तं०—जलकंते चेव जलप्पभे चेव, दो दिसाकुमारिंदा पं० तं०—अमियगती चेव अमितवाहणे चेव, दो वातकुमा-

१ षोडशाधिकं शतं षड्विंशतिसहस्राणि षोडश च लक्षा विद्युत्प्रभो नगो गन्धमादनश्चैव दीर्घौ ॥ ७ ॥ २ धातकीवरे द्वीपे यो विष्कम्भस्तु भवति तु नगानां स द्विगुणो ज्ञातव्यः पुष्करार्द्धे नगानान्तु ॥ ८ ॥ वर्षधरा वक्षस्काराः ह्रदनदीकुंडानि वनानि च सीतादयः द्वीपे द्वीपे द्विगुणा विस्तरत उच्छ्रयेण तुल्या ॥ ९ ॥ इषुकारयमककाञ्चनचित्रविचित्राश्च वृत्तवैताढ्या द्वीपे द्वीपे तुल्या द्विमेखला ये च वैताढ्याः ॥ १० ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिंदा पं० तं०—वेलंबे चेव पभंजणे चेव, दो थणियकुमारिंदा पण्णत्ता, तं०—घोसे चेव महाघोसे चेव, दो पिसाइंदा पन्नत्ता—तं०—काले चेव महाकाले चेव, दो भूइंदा पं० तं०—सुरूवे चेव पडिरूवे चेव, दो जक्खिंदा पन्नत्ता, तं०—पुन्नभद्दे चेव माणिभद्दे चेव, दो रक्खसिंदा पन्नत्ता, तं०—भीमे चेव महाभीमे चेव, दो किन्नरिंदा पन्नत्ता, तं०—किन्नरे चेव किंपुरिसे चेव, दो किंपुरिसिंदा पं० तं०—सप्पुरिसे चेव महापुरिसे चेव, दो महोरगिंदा पं० तं०—अतिकाए चेव महाकाए चेव, दो गंधव्विंदा पं०, तं०—गीतरती चेव गीयजसे चेव, दो अणपन्निंदा पं०, तं०—संनिहिए चेव सामण्णे चेव, दो पणपन्निंदा पं०, तं०—धाए चेव विहाए चेव, दो इसिवाइंदा पं०, तं०—इसिचेव इसिबालए चेव, दो भूतवाइंदा पन्नत्ता, तं०—इस्सरे चेव महिस्सरे चेव, दो कंदिंदा पं० तं०—सुवच्छे चेव विसाले चेव, दो महाकंदिंदा पन्नत्ता, तं०—हस्से चेव हस्सरती चेव, दो कुभंडिंदा पं० तं०—सेए चेव महासेए चेव, दो पतइंदा पं० तं०—पतए चेव पतयवई चेव, जोइसियाणं देवाणं दो इंदा पन्नत्ता, तं०—चंदे चेव सूरे चेव, सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं०, तं०—सक्के चेव ईसाणे चेव, एवं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु दो इंदा पं०, तं०—सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव, बंभलोगलंतएसु णं कप्पेसु दो इंदा पं०, तं०—बंभे चेव लंतए चेव, महासुक्कसहस्सारेसु णं कप्पेसु दो इंदा पन्नत्ता, तं०—महासुक्के चेव सहस्सारे चेव, आणयपाणतारणच्चुतेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं०—पाणते चेव अच्चुते चेव, महासुक्कसहस्सारेसु णं कप्पेसु विमाणा दुवण्णा पं०, तं०—हालिद्दा चेव सुक्किल्ला चेव, गेविज्जगाणं देवा णं दो रयणीओ उड्ढमुच्चत्तेणं पन्नत्ता (सू० ९४) द्वितीयस्थाने तृतीयोद्देशकः समाप्तः। २–३।

स्था० १५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९४]

दीप अनुक्रम [९८]



असुरादीनां दशानां भवनपतिनिकायानां मेर्वपेक्षया दक्षिणोत्तरदिग्द्वयाश्रितत्वेन द्विविधत्वाद् विंशतिरिन्द्राः, तत्र चमरो दाक्षिणात्यो बली त्वौदीच्य इत्येवं सर्वत्र, एवं व्यन्तराणामष्टनिकायानां द्विगुणत्वात् षोडशेन्द्राः तथा अणपण्णिकादीनामप्यष्टानामेव व्यन्तरविशेषरूपनिकायानां द्विगुणत्वात् षोडशेति ज्योतिष्कानां त्वसङ्ख्यातचन्द्रसूर्यत्वेऽपि जातिमात्राश्रयणाद् द्वावेव चन्द्रसूर्याख्याविन्द्रावुक्तौ सौधर्म्मादिकल्पानां तु दशेन्द्रा इत्येवं सर्वेऽपि चतुःषष्टिरिति। देवाधिकारात् तन्निवासभूतविमानवक्तव्यतामाह—'महासुक्के'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं हारिद्राणि—पीतानि, क्रमश्चायं सौधर्मादिविमानवर्णविषयो यथा—सौधर्मेशानयोः पञ्चवर्णानि ततो द्वयोरकृष्णानि पुनर्द्वयोरकृष्णनीलानि ततो द्वयोः शुक्रसहस्राराभिधानयोः पीतशुक्लानि ततः शुक्लान्येवेति, आह च—"सोहम्मे पंचवण्णा एक्कगहाणी उ आ सहस्सारो। दो दो तुल्ला कप्पा तेण परं पुंडरीयाइं ॥ १ ॥" इति। देवाधिकारादेव द्विस्थानकानुपातिनीं तदवगाहमामाह—'गेवेज्जगाण'मित्यादि, पूर्ववद् व्याख्येयमिति। द्विस्थानकस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थः समारभ्यते—अस्य च जीवाजीववक्तव्यताप्रतिबद्धस्य पूर्वेण सहायं सम्बन्धः—पूर्वस्मिन् हि पुद्गलजीवधर्मा उक्ताः इह तु सर्वे जीवाजीवात्मकमिति वाच्यम्, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येमानि पञ्चविंशतिरादिसूत्राणि समयेत्यादीनि,

समयाति वा आवलियाति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति १, आणापाणूति वा थोवेति वा जीवाति या अजीवाति या



॥ ८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र तृतीयो उद्देशक: समाप्तं, चतुर्थ: उद्देशक: आरब्ध:

पवुच्चति २, खणाति वा लवाति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति ३, एवं मुहुत्ताति वा अहोरत्ताति वा ४, पक्खाति वा मासाति वा ५, उडूति वा अयणाति वा ६, संवच्छराति वा जुगाति वा ७, वाससयाति वा वाससहस्साइ वा ८, वाससतसहस्साइ वा वासकोडीइ वा ९, पुव्वंगाति वा पुव्वाति वा १०, तुडियंगाति वा तुडियाति वा ११, अडडंगाति वा अडडाति वा १२, अववंगाति वा अववाति वा १३, हूहूअंगाति वा हूहूयाति वा १४, उप्पलंगाति वा उप्पलाति वा १५, पउमंगाइ वा पउमाति वा १६, णलिणंगाति वा णलिणाति वा १७, अच्छणिकुरंगाति वा अच्छणिउराति वा १८, अउअंगाति वा अउआति वा १९, णउअंगाति वा णउआति वा २०, पउतंगाति वा पउताति वा २१, चूलितंगाति वा चूलिताति वा २२, सीसपहेलियंगाति वा सीसपहेलियाति वा २३, पलिओवमाति वा सागरोवमाति वा २४, उस्सप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति २५, गामाति वा णगराति वा निगमाति वा रायहाणीति वा खेडाति वा कब्बडाति वा मडंबाति वा दोणमुहाति वा पट्टणाति वा आगराति वा आसमाति वा संबाहाति वा संनिवेसाइ वा घोसाइ वा आरामाइ वा उज्जाणाति वा वणाति वा वणसंडाति वा वावीइ वा पुक्खरणीति वा सराति वा सरपंतीति वा अगडाति वा तलागाति वा दहाति वा णदीति वा पुढवीति वा उदहीति वा वातखंधाति वा उवासंतराति वा वलताति वा विग्गहाति वा दीवाति वा समुद्दाइ वा वेलाति वा वेतिताति वा दाराति वा तोरणाति वा णेरतिताति वा णेरतितावासाति वा जाव वेमाणियाइ वा वेमाणियावासाति वा कप्पाति वा कप्पविमाणावासाति वा वासाति वा वासधरपव्वताति वा कूडाति वा कूडागाराति वा विजयाति वा रायहाणीइ वा जीवाति या अजी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाति या पवुच्चति ४७ । छातावि वा आतवावि वा दोसिणावि वा अंधगारावि वा ओमाणावि वा उम्माणावि वा अतिता-णगिहावि वा उज्जाणगिहावि वा अवलिंबावि वा सणिप्पवावावि वा जीवावि या अजीवावि या पवुच्चइ । दो रासी पं० तं—जीवरासी चेव अजीवरासी चेव ( सूत्रं ९५ )

एषां चानन्तरसूत्रेणायमभिसम्बन्धः—पूर्वत्र जीवविशेषाणामुच्चत्वलक्षणो धर्मोऽभिहितः, इह तु धर्माधिकारादेव समया-दिस्थितिलक्षणो धर्मो जीवाजीवसम्बन्धी जीवाजीवतयैव धर्मधर्मिणोरभेदेनोच्यत इति, तत्र सर्वेषा कालप्रमाणानामाद्यः परमसूक्ष्मोऽभेद्यो निरवयव उत्पलपत्रशतव्यतिभेदाद्युदाहरणोपलक्षितः समयः, तस्य चातीतादिविवक्षया बहुत्वाद् बहुव-चनमित्याह—'समयाइ वा' इत्यादि, इतिशब्द उपप्रदर्शने, वाशब्दो विकल्पे, तथा असङ्ख्यातसमयसमुदयात्मिका आव-लिका क्षुल्लकभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशततमभागभूता इति, तत्र समया इति वा आवलिका इति वा यत्काल-वस्तु तदविगानेन जीवा इति च, जीवपर्यायत्वात्, पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्, तथा अजीवानां—पुद्गलादीनां पर्यायत्वादजीवा इति च, चकारौ समुच्चयार्थौ, दीर्घता च प्राकृतत्वात्, प्रोच्यते—अभिधीयत इति, न जीवादिव्यतिरेकिणः समयादयः, तथाहि—जीवाजीवानां सादिसपर्यवसानादिभेदा या स्थितिस्तद्भेदाः समयादयः सा च तद्धर्मो धर्मश्च धर्मिणो नात्यन्तं भेदवान्, अत्यन्तभेदे हि विप्रकृष्टधर्ममात्रोपलब्धौ प्रतिनियतधर्मिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषाद्, दृश्यते च यदा कश्चिद्धरिततरुतरुणशाखाविसरविवरान्तरतः किमपि शुक्लं पश्यति तदा किमियं प-ताका किं वा बलाकेत्येवं प्रतिनियतधर्मिविषयः संशय इति, अभेदेऽपि सर्वथा संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि

॥ ८६ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गृहीतत्वादिति, इह त्वभेदनयाश्रयणाज्जीवाइ येत्याद्युक्तम्, इह च समयावलिकालक्षणार्थद्वयस्य जीवादिद्वयात्मकतया भणनाद् द्विस्थानकावतारो द्रष्टव्यः, एवमुत्तरसूत्राण्यपि नेयानि, विशेषं तु वक्ष्याम इति, 'आणापाणू' इत्यादि, 'आनप्राणा'विति–उच्छ्वासनिःश्वासकालः सङ्ख्यातावलिकाप्रमाणाः, आह च—"हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसासनीसासे, एस पाणुत्ति वुच्चई ॥ १ ॥" तथा स्तोकाः सप्तोच्छ्वासनिःश्वासप्रमाणाः, क्षणाः सङ्ख्यातानप्राणलक्षणाः, सप्तस्तोकप्रमाणा लवाः, 'एव'मिति यथा प्राक्तने सूत्रत्रये जीवा इति च अजीवा इति च प्रोच्यते इत्यधीतमेवं सर्वेष्वुत्तरसूत्रेष्वित्यर्थः, मुहूर्त्ताः–सप्तसप्ततिलवप्रमाणाः, उक्तञ्च—"सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे। लवाणं सत्तहत्तरीए, एस मुहुत्ते वियाहिए॥ १ ॥ तिण्णि सहस्सा सत्त य सयाणि तेवत्तरिं च ऊसासा। एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ २ ॥" इति, अहोरात्राः त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणाः, पक्षाः पञ्चदशाहोरात्रप्रमाणाः, मासा द्विपक्षाः, ऋतवो द्विमासमानाः वसन्ताद्याः, अयनानि ऋतुत्रयमानानि, संवत्सरा अयनद्वयमानाः, युगानि पञ्चसंवत्सराणि, वर्षशतादीनि प्रतीतानि, पूर्वाङ्गानि चतुरशीतिवर्षलक्षप्रमाणानि, पूर्वाणि पूर्वाङ्गान्येव चतुरशीतिलक्षगुणितानि, इदं चैषां मानम्—"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ। छप्पन्नं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥ १ ॥" इति, ७०५६०००००

---

१ हृष्टस्यानवगलस्य निरुपकृष्टस्य जन्तोः एक उच्छ्वासनिःश्वासः एष प्राण इति उच्यते ॥ १ ॥ २ सप्त प्राणाः स स्तोकः सप्त स्तोकाः लवः सप्तसप्तत्या लवैः एष मुहूर्त्त इति व्याख्यातः ॥ १ ॥ त्रीणि सहस्राणि सप्त च शतानि त्रिसप्ततिश्चोच्छ्वासा एष मुहूर्त्तो भणितः सर्वैरनन्तज्ञानिभिः ॥ २ ॥ ३ पूर्वस्य तु परिमाणं सप्ततिः खलु भवन्ति कोटीलक्षाः। षट्पंचाशत्कोटीसहस्राणि च वर्षाणां बोद्धव्यानि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

०००० , पूर्वाणि चतुरशीतिलक्षगुणितानि त्रुटिताङ्गानि भवन्ति, एवं पूर्वस्य पूर्वस्य चतुरशीतिलक्षगुणनेनोत्तरमुत्तरं सङ्ख्यानं भवति यावच्छीर्षप्रहेलिकेति, तस्यां चतुर्नवत्यधिकमङ्कस्थानशतं भवति, अत्र करणगाथा—"इच्छियठाणेण गुणं पणसुन्नं चउरसीतिगुणितं च । काऊणं तइवारे पुव्वंगाईण मुण संखं ॥ १ ॥" शीर्षप्रहेलिकान्तः सांव्यवहारिकः सङ्ख्यातकालः, तेन च प्रथमपृथिवीनारकाणां भवनपतिव्यन्तराणां भरतैरवतेषु सुषमदुष्षमायाः पश्चिमे भागे नरतिरश्चां चायुर्मीयत इति, किञ्च—शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽप्यस्ति सङ्ख्यातः कालः, स चानतिशायिनां न व्यवहारविषय इतिकृत्वौपम्ये प्रक्षिप्तः, अत एव शीर्षप्रहेलिकायाः परतः पल्योपमाद्युपन्यासः, तत्र पल्येनोपमा येषु तानि पल्योपमानि—असङ्ख्यातवर्षकोटीकोटीप्रमाणानि वक्ष्यमाणलक्षणानि, सागरेणोपमा येषु तानि सागरोपमाणि—पल्योपमकोटीकोटीदशकमानानीति, दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्सर्पिणी, एवमेवावसर्पिणीति । कालविशेषवत् ग्रामादिवस्तुविशेषा अपि जीवाजीवा एवेति द्विपदैः सप्तचत्वारिंशता सूत्रैराह—'गामे'त्यादि, इह च प्रत्येकं जीवाइ येत्यादिरालापोऽध्येतव्यो, ग्रामादीनां च जीवाजीवता प्रतीतैव, तत्र करादिगम्या ग्रामाः, नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि १, निगमाः—वणिग्निवासाः राजधान्यो—यासु राजानोऽभिषिच्यन्ते २ खेटानि—धूलिप्राकारोपेतानि कर्बटानि—कुनगराणि ३, मडम्बानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात् परतोऽवस्थितग्रामाणि द्रोणमुखानि येषां जलस्थलपथावुभावपि स्तः ४, पत्तनानि येषु जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः, आकरा—लोहाद्युत्पत्तिभूमयः ५, आश्रमाः—तीर्थस्थानानि संवाहाः—समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दु-

१ इच्छितस्थानेन गुण्यं शून्यपंचकं चतुरशीतिगुणितं च । पूर्वांगादीनां संख्यां ततिवारान् कृत्वा जानीहि ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गर्भभूमिभूतेषु धान्यानि कृषीवलाः संवहन्ति रक्षार्थमिति ६, सन्निवेशाः सार्थकटकादेः घोषा–गोष्ठानि ७, आरामा–विविधवृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादिप्रच्छन्नगृहेषु स्त्रीसहितानां पुंसां रमणस्थानभूता इति, उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपगादिवृक्षोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेषस्योन्नतमानस्य भोजनार्थं यानं–गमनं येष्विति ८, वनानीत्येकजातीयवृक्षाणि वनखण्डाः–अनेकजातीयोत्तमवृक्षाः ९, वापी चतुरस्रा पुष्करिणी वृत्ता पुष्करवती वेति १०, सरांसि–जलाशयविशेषाः सरःपङ्क्तयः–सरसां पङ्क्तयः ११, 'अगड'त्ति अवटाः–कूपाः, तडागादीनि प्रतीतानि १२, पृथिवी–रत्नप्रभादिका उदधिः–तदधो घनोदधिः १४, वातस्कन्धाः–घनवाततनुवाता इतरे वा अवकाशान्तराणि–वातस्कन्धानामधस्तादाकाशानि, जीवता चैषां सूक्ष्मपृथिवीकायिकादिजीवव्याप्तत्वात् १५, वलयानि–पृथिवीनां वेष्टनानि घनोदधिघनवाततनुवातलक्षणानीति विग्रहा–लोकनाडीवक्राणि, जीवता चैषां पूर्ववत् १६, द्वीपाः समुद्राश्च प्रतीताः १७, वेला–समुद्रजलवृद्धिः, वेदिकाः प्रतीताः १८, द्वाराणि–विजयादीनि तोरणानि तेष्वेवेति १९, नैरयिकाः–क्लिष्टसत्त्वविशेषास्तेषां चा- जीवता कर्मपुद्गलाद्यपेक्षया तदुत्पत्तिभूमयो नैरयिकावासास्तेषां च जीवता पृथिवीकायिकाद्यपेक्षया, इत्येवं चतुर्विंशतिदण्डकोऽभिधेयः ४३ अत एवाह–'याव'दित्यादि, कल्पाः–देवलोकास्तदंशाः कल्पविमानावासाः ४४, वर्षाणि–भरतादिक्षेत्राणि वर्षधरपर्वताः–हिमवदादयः ४५, कूटानि–हिमवत्कूटादीनि कूटागाराणि–तेष्वेव देवभवनानि ४६, विजयाः–चक्रवर्त्तिविजेतव्यानि कच्छादीनि क्षेत्रखण्डानि, राजधान्यः–क्षेमादिकाः, 'जीवे'त्यादि इहोक्तं सर्वत्र सम्बन्धनीयमिति ४७। येऽपि पुद्गलधर्मास्तेऽपि तथैवेत्याह—'छाये'त्यादि सूत्रपञ्चकं गतार्थम्, नवरं छाया वृक्षादीनामातपः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदित्यस्य, 'दोसिणाति व'त्ति ज्योत्स्ना अन्धकाराणि–तमांसि, अवमानानि–क्षेत्रादीनां प्रमाणानि हस्तादीनि उन्मानानि–तुलायाः कर्षादीनि, अतियानगृहाणि–नगरादिप्रवेशे यानि गृहाणि, उद्यानगृहाणि प्रतीतानि, अवलिंबा सणिप्पवाया य रूढितोऽवसेया इति, किमेतत् सर्वमित्याह—जीवा इति च, जीवव्याप्तत्वात् तदाश्रितत्वाद्वा, 'अजीवा इति च' पुद्गलाद्यजीवरूपत्वात् तदाश्रितत्वाद्वेति, प्रोच्यते–जिनैः प्ररूप्यत इति । इह च जीवाइ येत्यादि सूत्रपञ्चकेऽपि प्रत्येकमध्येतव्यमिति । अथ समयादिवस्तु जीवाजीवरूपमेव कस्मादभिधीयते ?, उच्यते, तद्विलक्षणराश्यन्तराभावाद्, अत एवाह—'दो रासी'त्यादि कण्ठ्यम् । जीवराशिश्च द्विधा–बद्धमुक्तभेदात्, तत्र बद्धानां बन्धनिरूपणायाह—

दुविहे बंधे पं०, तं०—पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव, जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावं कम्मं बंधंति, तं०—रागेण चेव दोसेण चेव, जीवा णं दोहिं ठाणेहिं पावं कम्मं उदीरेंति, तं०—अब्भोवगमियाते चेव वेतणाते उवक्कमियाते चेव वेयणाते, एवं वेदेंति एवं णिज्जरेंति–अब्भोवगमियाते चेव वेयणाते उवक्कमियाते चेव वेयणाते ( सूत्रं ९६ )

प्रेम–रागो मायालोभकषायलक्षणः, द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षणः, यदाह—"माया लोभकषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञितं द्वन्द्वम् । क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥ १ ॥" इति, प्रेम्णः–प्रेमलक्षणचित्तविकारसम्पादकमोहनीयकर्मपुद्गलराशेर्बन्धनं–जीवप्रदेशेषु योगप्रत्ययतः प्रकृतिरूपतया प्रदेशरूपतया च सम्बन्धनम् तथा कषायप्रत्ययतः स्थित्यनुभागविशेषापादनं च प्रेमबन्धः, एवं द्वेषमोहनीयस्य बन्धो द्वेषबन्ध इति, उक्तं हि,—"जोगा पयडिपदेसं ठिति-

१ योगेभ्यः प्रकृतिप्रदेशबन्धं कषायेभ्यः स्थित्यनुभागबंधं करोति ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणुभागं कसायओ कुणइ"त्ति, प्रेमद्वेषलक्षणाभ्यां कर्मभ्यामुदयगताभ्यां जीवानामशुभकर्मबन्धो भवतीत्याह—'जीवाण'मित्यादि, अथवा पूर्वसूत्रमन्यथा व्याख्याय सम्बन्धान्तरमस्य क्रियते—सामान्येन बन्धो द्वेधा—प्रेमतो द्वेषतश्चेति, स चानिवृत्तिसूक्ष्मसम्परायान्तान् गुणस्थानिनः प्रतीत्य द्रष्टव्यः, यस्तूपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिनां स योगप्रत्यय एव, स तु बन्धत्वेन न विवक्षितो, बन्धस्यापि तस्य शेषकर्मबन्धविलक्षणतयाऽबन्धकल्पत्वात्, यस्य हि कर्मणोऽसौ तदल्पस्थितिकादिविशेषणम्, उक्तं च—"अप्पं बायर मउयं बहुं च रुक्खं च सुक्किलं चेव । मंदं महव्वयं तिय सायाबहुलं च तं कम्मं ॥ १ ॥" इति, अल्पं स्थित्या बादरं परिणामतः मृद्वनुभावतः बहु प्रदेशैः मन्दं लेपतो वालुकावत्, महाव्ययं सर्वापगमात्। एतदेव दर्शयन्नाह—'जीवा ण'मित्यादि, जीवाः—सत्त्वाः णं वाक्यालङ्कारे द्वाभ्यां 'स्थानाभ्यां' कारणाभ्यां पापम्—अशुभमशुभभवनिबन्धनत्वात्, न तु निरनुबन्धं द्विसमयस्थितिकमत्यन्तं शुभं, तस्य केवलयोगप्रत्ययत्वादिति, बध्नन्ति—स्पृष्टाद्यवस्थां कुर्वन्ति, रागेण चैव द्वेषेण चैव, कषायैरित्यर्थः, ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवः तत्कथं कषाया एव इहोक्ता इति?, उच्यते, कषायाणां पापकर्मबन्धं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थं, प्राधान्यं च स्थित्यनुभागप्रकर्षकारणत्वात् तेषामिति, अथवा अत्यन्तमनर्थकारित्वाद्, उक्तञ्च—"[१]को दुक्खं पावेज्जा कस्स व सोक्खेहिं विम्हओ होज्जा?। को वा न लहेज्ज मोक्खं? रागद्दोसा जइ न होज्जा ॥ १ ॥" इति, अथवा बन्धहेतुदेशग्राहकमेवेदं सूत्रं द्विस्थानकानुरोधादिति न दोषः । उक्तस्थानद्वयबद्धपापकर्मणश्च यथोदीरणवेदननिर्जराः कुर्वन्ति देहिन-

१ तत्सयोगिकर्म अल्पं बादरं मृदु बहु रूक्षं शुभ्रं चैव मंदं महाव्ययं सातावहुलमिति ॥ १ ॥ २ को दुःखं प्राप्नुयात् कस्य वा सुखैर्विस्मयो भूयात् को न लभेत मोक्षं रागद्वेषौ यदि न भवेतां ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तथा सूत्रत्रयेणाह—'जीवे'त्यादि गतार्थम्, नवरं उदीरयन्ति–अप्राप्तावसरं सदुदये प्रवेशयन्ति, अभ्युपगमेन–अङ्गीकरणेन निर्वृत्ता तत्र वा भवा आभ्युपगमिकी तया–शिरोलोचतपश्चरणादिकया वेदनया–पीडया उपक्रमेण–कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्ता तत्र वा भवा औपक्रमिकी तया–ज्वरातीसारादिजन्यया, 'एव'मिति उक्तप्रकारत एव 'वेदयन्ति' विपाकतोऽनुभवन्त्युदीरितं सदिति, 'निर्जरयन्ति' प्रदेशेभ्यः शाटयन्तीति । निर्जरणे च कर्मणो देशतः सर्वथा वा भवान्तरे सिद्धौ वा गच्छतः शरीरान्निर्याणं भवतीति सूत्रपञ्चकेन तदाह—

दोहिं ठाणेहिं आता सरीरं फुसित्ताणं णिज्जाति, तं०—देसेणवि आता सरीरं फुसित्ताणं णिज्जाति सव्वेणवि आया सरीरगं फुसित्ताणं णिज्जाति, एवं फुरित्ताणं एवं फुडित्ता एवं संवट्टतित्ता एवं निव्वट्टतित्ता (सूत्रं ९७)

'दोहीं'त्यादिकं कण्ठ्यं, नवरं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां 'देसेणवि'त्ति देशेनापि–कतिपयप्रदेशलक्षणेन केषाञ्चित्प्रदेशानामिलिकागत्योत्पादस्थानं गच्छता जीवेन शरीराद्बहिः क्षिप्तत्वात्, 'आत्मा' जीवः, 'शरीरं' देहं 'स्पृष्ट्वा' श्लिष्ट्वा 'निर्याति' शरीरान्मरणकाले निःसरतीति, 'सव्वेणवि'त्ति सर्वेण–सर्वात्मना सर्वैर्जीवप्रदेशैः कन्दुकगत्योत्पादस्थानं गच्छता शरीराद् बहिः प्रदेशानामप्रक्षिप्तत्वादिति, अथवा देशेनापि–देशतोऽप्यपिशब्दः सर्वेणापीत्यपेक्षः, आत्मा, शरीरं, कोऽर्थः ?– शरीरदेशं पादादिकं स्पृष्ट्वाऽवयवान्तरेभ्यः प्रदेशसंहारान्निर्याति, स च संसारी, 'सर्वेणापि' सर्वतयाऽपि, अपिर्देशेनापीत्यपेक्षः, सर्वमपि शरीरं स्पृष्ट्वा निर्यातीति भावः, स च सिद्धो, वक्ष्यति च—"पायणिज्जाणा णिरएसु "उववज्जंती"त्यादि, यावत् "सव्वंगणिज्जाणा सिद्धेसु"त्ति । आत्मना शरीरस्य स्पर्शने सति स्फुरणं भवतीत्यत उच्यते





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—'एव'मित्यादि, 'एव'मिति 'दोहिं ठाणेही'त्याद्यभिलापसंसूचनार्थः, तत्र देशेनापि कियद्भिरप्यात्मप्रदेशैरिलिकागतिकाले 'सव्वेणवि'त्ति सर्व्वैरपि गेन्दुकगतिकाले शरीरं 'फुरित्ताणं'ति स्फोरयित्वा सस्पन्दं कृत्वा निर्याति, अथवा शरीरकं देशतः शरीरदेशमित्यर्थः स्फोरयित्वा पादादिनिर्याणकाले, सर्वतः—सर्वं शरीरं स्फोरयित्वा सर्वाङ्गनिर्याणावसर इति। स्फोरणाच्च सात्मकत्वं स्फुटं भवतीत्याह—'एव'मित्यादि, 'एव'मिति तथैव देशेन—आत्मदेशेन शरीरकं 'फुडित्ताणं'ति सचेतनतया स्फुरणलिङ्गतः स्फुटं कृत्वा इलिकागतौ सर्वेण—सर्वात्मना स्फुटं कृत्वा गेन्दुकगताविति, अथवा शरीरकं देशतः—सात्मकतया स्फुटं कृत्वा पादादिना निर्याणकाले सर्वतः—सर्वाङ्गनिर्याणप्रस्ताव इति, अथवा फुडित्ता—स्फोटयित्वा विशीर्णं कृत्वा, तत्र देशतोऽक्ष्यादिविघातेन सर्वतः सर्वविशरणेन देवंदीपादिजीववदिति। शरीरं सात्मकतया स्फुटीकुर्वंस्तत्संवर्त्तनमपि कश्चित्करोतीत्याह—'एव'मित्यादि, 'एव'मिति तथैव 'संवट्टइत्ताणं'त्ति संवर्त्य—सङ्कोच्य शरीरकं देशेनेलिकागतौ शरीरस्थितप्रदेशैः सर्वेण—सर्वात्मना गेन्दुकगतौ सर्वात्मप्रदेशानां शरीरस्थितत्वान्निर्यातीति, अथवा शरीरकं—शरीरिणमुपचाराद्दण्डयोगाद्दण्डपुरुषवत्, तत्र देशतः संवर्त्तनं संसारिणो म्रियमाणस्य पादादिगतजीवप्रदेशसंहारात् सर्वतस्तु निर्वाणं गन्तुरिति, अथवा शरीरकं देशतः संवर्त्य—हस्तादिसङ्कोचनेन सर्वतः—सर्वशरीरसङ्कोचनेन पिपीलिकादिवदिति। आत्मनश्च संवर्त्तनं कुर्वन् शरीरस्य निवर्त्तनं करोतीत्याह—एवं 'निव्वट्टयित्ताणं'ति, तथैव निवर्त्त्य—जीवप्रदेशेभ्यः शरीरकं पृथक्कृत्येत्यर्थः, तत्र देशेनेलिकागतौ सर्वेण गेन्दुकगतौ, अथवा देशतः शरीरं निर्वर्त्यात्मनः पादादिनिर्याणवान् सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणवानिति, अथवा पञ्चविधशरीरसमुदायापेक्षया देशतः शरीरम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औदारिकादि निवर्त्त्यं तैजसकार्मणे त्वादायैव, तथा सर्वेण–सर्वं शरीरसमुदायं निवर्त्त्य निर्याति, सिध्यतीत्यर्थः । अनन्तरं सर्वनिर्याणमुक्तम्, तच्च परम्परया धर्मश्रवणलाभादिषु, ते च यथा स्युस्तथा दर्शयन्नाह—

दोहिं ठाणेहिं आता केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणताते, तं०—खतेण चेव उवसमेण चेव, एवं जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा तं०—खतेण चेव उवसमेण चेव (सूत्रं ९८)

'दोही'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं 'खएण चेव'त्ति ज्ञानावरणीयस्य दर्शनमोहनीयस्य च कर्मणः उदयप्राप्तस्य क्षयेण–निर्जरणेन अनुदितस्य चोपशमेन–विपाकाननुभवेन, क्षयोपशमेनेत्युक्तं भवति, यावत्करणात् केवलं बोहिं बुज्झेज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा, केवलेणं संजमेणं संजमिज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आभिणिबोहियनाणमुप्पाडेज्जा इत्यादि दृश्यम्, एवं यावन्मनःपर्यवज्ञानमुत्पादयेदिति, केवलज्ञानं तु क्षयादेव भवतीति तन्नोक्तम् । इह च यद्यपि बोध्यादयः सम्यक्त्वचारित्ररूपत्वात् केवलेन क्षयेण उपशमेन च भवन्ति तथाऽप्येते क्षयोपशमेनापि भवन्ति, श्रवणाभिनिबोधिकादीनि तु क्षयोपशमेनैव भवन्तीति सर्वसाधारणः क्षयोपशम उक्तः पदद्वयेनातः स एव व्याख्यात इति । बोध्याभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानानि च षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकान्युत्कर्षतो भवन्ति, सागरोपमाणि च पल्योपमाश्रितानीति तद्द्वितयप्ररूपणामाह—

दुविहे अद्धोवमिए पन्नत्ते तं०—पलिओवमे चेव सागरोवमे चेव, से किं तं पलिओवमे ?, पलिओवमे—जं जोयणविच्छिन्नं, पल्लं एगाहियप्परूढाणं । होज्ज निरंतरणिचितं भरितं वालग्गकोडीणं ॥ १ ॥ वाससए वाससए एक्केके अवहडंमि





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो कालो । सो कालो बोद्धव्वो, उवमा एगस्स पल्लस्स ॥ २ ॥ एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिता । तं सागरोवमस्स उ एगस्स भवे परीमाणं ॥ ३ ॥ (सू० ९९)

उपमा–औपम्यं, तया निर्वृत्तमौपमिकं अद्धा–कालस्तद्विषयमौपमिकमद्धौपमिकम्, उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना ग्रहीतुं न शक्यते तदद्धौपमिकमिति भावः, तच्च द्विधा–पल्योपमं चैव सागरोपमं चैव, तत्र पल्यवत्पल्यस्तेनोपमा यस्मिंस्तत्पल्योपमम्, तथा सागरेणोपमा यस्मिंस्तत्सागरोपमं, सागरवन्महापरिमाणमित्यर्थः, इदं च पल्योपमसागरोपमरूपमौपमिकं सामान्यत उद्धाराद्धाक्षेत्रभेदात् त्रिधा, पुनरेकैकं संव्यवहारसूक्ष्मभेदाद् द्विधा, तत्र संव्यवहारपल्योपमं नाम यावता कालेन योजनायामविष्कम्भोच्चत्वः पल्यो मुण्डनानन्तरमेकादिसप्तान्ताहोरात्रप्ररूढानां वालाग्राणां भृतः प्रतिसमयं वालाग्रोद्धारे सति निर्लेपो भवति स कालो व्यावहारिकमुद्धारपल्योपममुच्यते, तेषां दशभिः कोटीकोटीभिः व्यावहारिकमुद्धारसागरोपममुच्यते, तेषामेव वालाग्राणां दृष्टिगोचरातिसूक्ष्मद्रव्यासङ्ख्येयभागमात्रसूक्ष्मपनकावगाहनाऽसङ्ख्यातगुणरूपखण्डीकृतानां भृतः पल्यो येन कालेन निर्लेपो भवति तथैवोद्धारे तत्सूक्ष्ममुद्धारपल्योपमं, तथैव च सूक्ष्ममुद्धारसागरोपमम्, अनेन च द्वीपसमुद्राः परिसङ्ख्यायन्ते, आह च—"[1]उद्धारसागराणं अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया । दुगुणादुगुणपवित्थर दीवोदहि रज्जु एवइया ॥ १ ॥" इति, अद्धापल्योपमसागरोपमे अपि सूक्ष्मबादरभेदे एवमेव, नवरं वर्षशते २ वालस्य वालासङ्ख्येयखण्डस्य चोद्धार इति, अनेन नारकादिस्थि-

१ उद्धारसागरोपमयोः सार्द्धद्वययोः यावन्तः समयाः एतावन्तो द्वीपोदधयो द्विगुणद्विगुणप्रविस्तरा रज्जुः ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तयो मीयन्ते, क्षेत्रतोऽपि ते द्विविधे एवमेव, नवरं प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावता कालेन वालाग्रस्पृष्टा एव प्रदेशा उद्धियन्ते स कालो व्यावहारिक इति, यावता च वालाग्रासङ्ख्यातखण्डैः स्पृष्टा अस्पृष्टाश्चोद्धियन्ते स कालः सूक्ष्म इति, एते च प्ररूपणामात्रविषये एव, आभ्यां च दृष्टिवादे स्पृष्टास्पृष्टप्रदेशविभागेन द्रव्यमाने प्रयोजनमिति श्रूयते, बादरे च त्रिविधे अपि प्ररूपणामात्रविषये एवेति, तदेवमिह प्रक्रमे उद्धारक्षेत्रौपमिकयोर्निरुपयोगित्वाद्धौपमिकस्यैव चोपयोगित्वाद् अद्धेतिविशेषणं सूत्रे उपात्तमिति, अत एवाद्धापल्योपमलक्षणाभिधित्सयाऽऽह सूत्रकारः—'से किं त'मित्यादि, अथ किं तत् पल्योपमं ?, यदद्धौपमिकतया निर्दिष्टमिति प्रश्ने निर्वचनमेतदनुवादेनाह—'पलिओवमे'त्ति, पल्योपममेवं भवतीति वाक्यशेषः, 'जं' गाहा, किल यद्योजनविस्तीर्णमित्युपलक्षणत्वात्सर्वतो यद्योजनप्रमाणं पल्यं—धान्यस्थानविशेषः एकाह एव ऐकाहिकस्तेन प्ररूढानां—वृद्धानां मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना यावत्यो भवन्तीत्यर्थः, एतस्य चोपलक्षणत्वादुत्कर्षतः सप्ताहप्ररूढानां वालाग्राणां कोट्यो—विभागाः सूक्ष्मपल्योपमापेक्षयाऽसंख्येयखण्डानि बादरपल्योपमापेक्षया तु कोटयः—सङ्ख्याविशेषाः तासां किं भवेत् ?—'भरितं' भृतं, कथमित्याह—'निरन्तरं' निचितं निबिडतया निचयवत्कृतमिति । 'वास' गाहा, एतस्मात्पल्याद्वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते सति प्रतिवर्षशतमित्यर्थः, एकैकस्मिन् वालाग्रे असङ्ख्येयखण्डे चापहृते—उद्धृते सति 'यः कालो' यावती अद्धा भवति प्रमाणतः स तावान् कालो बोद्धव्यः, किमित्याह—'उपमा'उपमेयः, कस्येत्याह—एकस्य पल्यस्य, इदमुक्तं भवति—स काल एकं पल्योपमं सूक्ष्मं व्यावहारिकं चोच्यत इति । 'एएसिं' गाहा, एतेषाम्—उक्तरूपाणां सूक्ष्मबादराणां 'पल्यानां' पल्योपमानां कोटीकोटी भवेद् दश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणिता यदिति गम्यते, दश कोटीकोट्य इत्यर्थः, तदेकस्य सूक्ष्मरूपस्य बादररूपस्य वा सागरोपमस्यैव भवेत्परिमाणमिति ॥ एतैश्च येषां क्रोधादीनां फलभूतकर्मस्थितिर्निरूप्यते तत्स्वरूपनिरूपणायाह—

दुविहे कोहे पन्नत्ते तं०—आयपइट्ठिते चेव परपइट्ठिए चेव, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं, एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले (सू० १००)। दुविहा संसारसमावन्नगा जीवा पं० तं०—तसा चेव थावरा चेव, दुविहा सव्वजीवा पं० तं०—सिद्धा चेव असिद्धा चेव, दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तं०—सइंदिया चेव अणिंदिया चेव, एवं एसा गाहा फासेतव्वा जाव ससरीरी चेव असरीरी चेव—'सिद्धसइंदियकाए जोगे वेए कसाय लेसा य। णाणुवओगाहारे भासग चरिमे य ससरीरी ॥ १ ॥' (सू० १०१)

आत्मापराधादैहिकापायदर्शनादात्मनि प्रतिष्ठितः—आत्मविषयो जातः आत्मना वा परत्राक्रोशादिना प्रतिष्ठितो—जनित आत्मप्रतिष्ठितः, परेणाक्रोशादिना प्रतिष्ठितः—उदीरितः परस्मिन् वा प्रतिष्ठितो—जातः परप्रतिष्ठित इति। 'एव'मिति यथा सामान्यतो द्वेधा क्रोध उक्त एवं नारकादीनां चतुर्विंशतेर्वाच्यः, नवरं पृथिव्यादीनामसंज्ञिनामुक्तलक्षणमात्मप्रतिष्ठितत्वादि पूर्वभवसंस्कारात् क्रोधगतमवगन्तव्यमिति। एवं मानादीनि मिथ्यात्वान्तानि पापस्थानकान्यात्मपरप्रतिष्ठितविशेषणानि सामान्यपदपूर्वकं चतुर्विंशतिदण्डकेनाध्येतव्यानि, अत एवाह—'एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले'त्ति, एतेषां च मानादीनां स्वविकल्पजातपरजनितत्वाभ्यां स्वात्मवर्त्तिपरात्मवर्त्तिभ्यां वा स्वपरप्रतिष्ठितत्वमवसेयम्। एवमेते पापस्थानाश्रितास्त्रयोदश दण्डका इति ॥ उक्तविशेषणानि च पापस्थानानि संसारिणामेव भवन्तीति तान् भेदत आह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१००--१०१] गाथांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [१०८--१०९]



—'दुविहे'त्यादि कण्ठ्यमिति ॥ ननु संसारिण एव जीवा उतान्येऽपि सन्ति?, सन्त्येवेति प्राय उभयदर्शनाय त्रयोदशसूत्रीमाह—'दुविहा सव्वे'त्यादिकं, कण्ठ्या चेयं, नवरं सेन्द्रियाः—संसारिणोऽनिन्द्रियाः—अपर्याप्तककेवलिसिद्धाः २ 'एवं एस'त्ति, 'एवं' सिद्धादिसूत्रोक्तक्रमेण 'दुविहा सव्वजीवे'त्यादिलक्षणेन एषा—वक्ष्यमाणा प्रस्तुतसूत्रसङ्ग्रहगाथा स्पर्शनीया—अनुसरणीया, एतदनुसारेण त्रयोदशापि सूत्राण्यध्येतव्यानीत्यर्थः, अत एवाह—'जाव ससरीरी चेव असरीरी चेव'त्ति । 'सिद्ध'गाहा, सिद्धाः सेन्द्रियाश्च सेतरा उक्ताः, एवं 'काए'त्ति, कायाः—पृथिव्यादयस्तानाश्रित्य सर्वे जीवाः सविपर्यया वाच्याः, एवं सर्वाणि व्याख्येयानि, वाचना चैवं—'सकायचेव अकायचेव' 'सकायाः' पृथिव्यादिषड्विधकायविशिष्टाः संसारिणः, अकायास्तद्विलक्षणाः सिद्धाः ३, सयोगाः—संसारिणः अयोगा—अयोगिनः सिद्धाश्च ४,'वेदे'त्ति सवेदाः—संसारिणः अवेदाः—अनिवृत्तिबादरसम्परायविशेषादयः षट् सिद्धाश्च ५, 'कसाय'त्ति, सकषायाः—सूक्ष्मसम्परायान्ताः अकषायाः—उपशान्तमोहादयश्चत्वारः सिद्धाश्च ६, 'लेसा य'त्ति सलेश्याः—सयोग्यन्ताः संसारिणः अलेश्याः—अयोगिनः सिद्धाश्च ७, 'नाणे'त्ति ज्ञानिनः—सम्यग्दृष्टयोऽज्ञानिनो—मिथ्यादृष्टयः, आह च—"[1]अविसेसिया मइ च्चिय सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं । मइअन्नाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयंपि एमेव ॥ १ ॥" इति, अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य सदसतोरविशेषणात्, तथाहि—सन्त्यर्थाः, इह तत्सत्त्वं कथञ्चिदिति विशेषितव्यं भवति, स्वरूपेणेत्यर्थः, मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते—सन्त एवेति, ततश्च पररूपेणापि तेषां सत्त्वप्रसङ्गः, तथा न सन्त्यर्थाः, इह तदसत्त्वं कथञ्चि-

१ अविशेषिता मतिरेव सम्यग्दृष्टेः सा मतिर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्मत्यज्ञानं श्रुतमप्येवमेव ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिति विशेषिव्यं भवति, पररूपेणेत्यर्थः, स तु न सन्त्येवेति मन्यते, तथा च तत्प्रतिषेधकवचनस्याप्यभावः प्रसजतीति, अथवा शशविषाणादयो न सन्तीत्येतत्कथञ्चिदिति विशेषणीयं, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततयैव न सन्ति, न तु शशश्च विषाणं च शशस्य वा विषाणं शृङ्गिपूर्वभवग्रहणापेक्षया शशविषाणं तद्रूपतयाऽपि (वा) न सन्तीति, तदेवं सदसतोः कथञ्चिदित्येतस्य विशेषणस्यानभ्युपगमात् तस्य ज्ञानमप्ययथार्थत्वेन कुत्सितत्वादज्ञानमेव, आह च—"[1]जह दुव्वयणमवयणं कुच्छियसीलं असीलमसतीए । भण्णइ तह णाणंपि हु मिच्छदिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥" इति, तथा मिथ्यादृष्टेरध्यवसायो न ज्ञानं, भवहेतुत्वात्, मिथ्यात्वादिवत्, तथा यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्, तथा ज्ञानफलस्य सत्क्रियालक्षणस्याभावात् अन्धस्य स्वहस्तगतदीपप्रकाशवदिति, आह च—"[2]सदसदविसेसणाओ भवहेउजइच्छिओवलंभाओ । णाणफलाभावाओ मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥" इति ८, 'उवओगि'त्ति, सागारोवउत्ते चेव अणगारोवउत्ते चेव त्ति सहाकारेण—विशेषांशग्रहणशक्तिलक्षणेन वर्त्तते य उपयोगः स साकारो, ज्ञानोपयोग इत्यर्थः, तेनोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः, अनाकारस्तु तद्विलक्षणो दर्शनोपयोग इत्यर्थः, अभिधीयते च—"[3]जं सामन्नग्गहणं भावाणं नेय कट्टु आगारं । अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिति वुच्चए समए ॥ १ ॥"त्ति, तेनोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ता इति ९, 'आहारे'त्ति, आहारका-

१ यथा दुर्वचनमवचनं कुत्सितं शीलमशीलं असत्याः । भण्यते यथा तथा ज्ञानमपि मिथ्यादृष्टेरज्ञानमेव ॥ १ ॥ २ सदसदविशेषणाद्भवहेतुतो यादृच्छिकोपलंभात् । ज्ञानफलाभावाच्च मिथ्यादृष्टेरज्ञानं ॥ १ ॥ ३ यत्सामान्यग्रहणं पदार्थानां नैवाकारं कृत्वाऽविशिष्यार्थान् दर्शनमित्युच्यते समये ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१००--१०१] गाथांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [१०८--१०९]



ओजोलोमकवलभेदभिन्नाहारविशेषग्राहिणः, आह च—"ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा। पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होंति भइयव्वा ॥ १ ॥ एगिंदिय देवाणं णेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो। सेसाणं जीवाणं संसारत्थाण पक्खेवो ॥ २ ॥" इति, अनाहारकास्तु "विग्गहगइमावण्णा १ केवलिणो समोहया २ अजोगी य ३। सिद्धा य ४ अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥ ३ ॥" इति, १०। 'भास'त्ति भाषकाः—भाषापर्याप्तिपर्याप्ताः अभाषकाः—तदपर्याप्तका अयोगिसिद्धाश्च ११। 'चरम'त्ति चरमा येषां चरमो भवो भविष्यति, अचरमास्तु येषां भव्यत्वे सत्यपि चरमो भवो न भविष्यति, न निर्वास्यन्तीत्यर्थः १२। 'ससरीरि'त्ति सह यथासम्भवं पञ्चविधशरीरेण ये ते इन्समासान्तविधेः सशरीरिणः—संसारिणो अशरीरिणस्तु—शरीरमेषामस्तीति शरीरिणस्तन्निषेधादशरीरिणः—सिद्धाः १३॥ एते च संसारिणः सिद्धाश्च मरणामरणधर्मकाः, अप्रशस्तप्रशस्तमरणतश्चैते भवन्तीति प्रशस्ताप्रशस्तमरणनिरूपणाय नवसूत्रीमाह—

दो मरणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वन्नियाइं णो णिच्चं कित्तियाइं णो णिच्चं पूइयाइं णो णिच्चं पसत्थाइं णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवंति, तंजहा—वलायमरणे चेव वसट्टमरणे चेव १ एवं णियाणमरणे चेव तब्भवमरणे चेव २ गिरिपडणे चेव तरुपडणे चेव ३ जलप्पवेसे चेव जलणप्पवेसे चेव ४ विसभक्खणे चेव सत्थोवाडणे चेव ५ दो मरणाइं जाव णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवंति, कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइं तं०—वेहाणसे चेव गिद्धपट्ठे चेव ६

१ ओजआहाराः सर्वे अपर्याप्तका जीवा ज्ञातव्याः पर्याप्तकाश्च लोम्नि प्रक्षेपे भवन्ति भक्तव्याः ॥ १ ॥ एकेन्द्रियाणां देवानां नैरयिकाणां च नास्ति प्रक्षेपः शेषाणां संसारस्थानां जीवानां प्रक्षेपः ॥ १ ॥ विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समवहता अयोगिनः सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं णिच्चं वन्नियाइं जाव अब्भणुन्नाताइं भवंति, तं०—पाओवगमणे चेव भत्तपच्चक्खाणे चेव ७ पाओवगमणे दुविहे पं० तं०—णीहारिमे चेव अनीहारिमे चेव णियमं अपडिक्कमे ८ भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पं० तं०—णीहारिमे चेव अणीहारिमे चेव, णियमं सपडिक्कमे ९ (सू० १०२)

'दो मरणाइं' मित्यादि, कण्ठ्या चेयम्, नवरं द्वे मरणे श्रमणेन भगवता महावीरेण श्राम्यन्ति–तपस्यन्तीति श्रमणास्तेषां, ते च शाक्यादयोऽपि स्युः, यथोक्तम्—"णिग्गंथे १ सक्क २ तावस ३ गेरुय ४ आजीव ५ पंचहा समणा" इति तद्व्यवच्छेदार्थमाह–निर्गता ग्रन्थाद्–बाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः–साधवस्तेषां नो 'नित्यं' सदा 'वर्णिते' तांस्तयोः प्रवर्त्तयितुमुपादेयफलतया नाभिहिते कीर्त्तिते–नामतः संशब्दिते उपादेयधिया 'बुइयाइं'ति व्यक्तवाचा उक्ते उपादेयस्वरूपतः पाठान्तरेण 'पूजिते वा' तत्कारिपूजनतः 'प्रशस्ते' प्रशंसिते श्लाघिते, 'शंसु स्तुता'विति वचनात्, 'अभ्यनुज्ञाते' अनुमते यथा कुरुतेति, 'वलायमरणं'ति वलतां–संयमान्निवर्त्तमानानां परीषहादिबाधितत्वात् मरणं वलन्मरणं, 'वसट्टमरणं'ति इन्द्रियाणां वशम्–अधीनतामृतानां–गतानां स्निग्धदीपकलिकावलोकनाकुलितपतङ्गादीनामिव मरणं वशार्त्तमरणमिति, आह च—"संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु। इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्टं तु॥ १॥" इति, एवं 'णियाणे'त्यादि, 'एव'मिति दो मरणाइं समणेणमित्याद्यभिलापस्योत्तर-

१ निर्ग्रन्थाः शाक्यास्तापसा गैरिका आजीवकाः पंचधा श्रमणाः॥ २ संयमयोगविषण्णा म्रियन्ते तद्वलन्मरणं तु इन्द्रियविषय वशगता म्रियन्ते ये तद्वशार्त्तमरणं॥ १॥

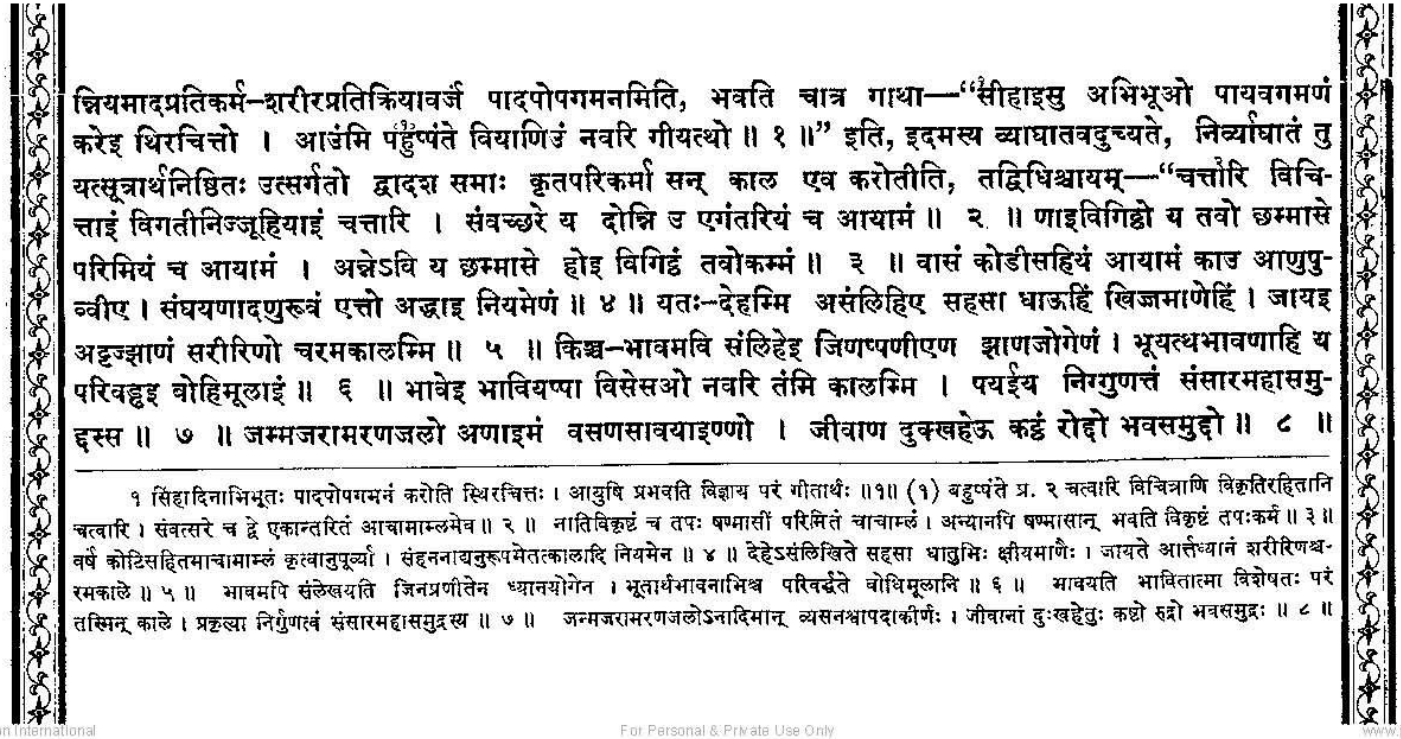
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रेष्वपि सूचनार्थः, ऋद्धिभोगादिप्रार्थना निदानं तत्पूर्वकं मरणं निदानमरणं, यस्मिन् भवे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनस्त्रियमाणस्य मरणं तद्भवमरणम्, एतच्च सङ्ख्यातायुष्कनरतिरश्चामेव, तेषामेव हि तद्भवायुर्बन्धो भवतीति, उक्तं च—"मोत्तुं अकम्मभूमगनरतिरिए सुरगणे य णेरइए। सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं तु केसिंचि ॥१॥" इति, 'सत्थोवाडणे'त्ति शस्त्रेण—क्षुरिकादिना अवपाटनं—विदारणं स्वशरीरस्य यस्मिंस्तच्छस्त्रावपाटनम्, 'कारणे पुणे'त्यादि, शीलभङ्गरक्षणादौ पाठान्तरे तु कारणेन 'अप्रतिक्रुष्टे' अनिवारिते भगवता, वृक्षशाखादावुद्बद्धत्वाद् विहायसि—नभसि भवं वैहायसं प्राकृतत्वेन तु वेहाणसमित्युक्तमिति, गृध्रैः स्पृष्टं—स्पर्शनं यस्मिंस्तद् गृध्रस्पृष्टम्, यदिवा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च तद्भक्ष्यकरिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन महासत्त्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तत् गृध्रपृष्ठमिति, गाथाऽत्र—"गेद्धादिभक्खणं गद्धपट्ठमुब्बंधणादि वेहासं। एते दोन्निऽवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया ॥ १ ॥" इति। अप्रशस्तमरणानन्तरं तत्प्रशस्तं भव्याचां भवतीति तदाह—'दो मरणाइं' इत्यादि, पादपो—वृक्षः, तस्येव छिन्नपतितस्योपगमनम्—अत्यन्तनिश्चेष्टतयाऽवस्थानं यस्मिंस्तत्पादपोपगमनं भक्तं—भोजनं तस्यैव न चेष्टाया अपि पादपोपगमन इव प्रत्याख्यानं—वर्जनं यस्मिंस्तद्भक्तप्रत्याख्यानमिति, 'णीहारिमं'ति यद्ग्रसतेरेकदेशे विधीयते ततः शरीरस्य निर्हरणात्—निस्सारणान्निर्हारिमं, यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिमं। 'णियमं'ति विभक्तिपरिणामा-

१ अकर्मभूमिकनरतिरश्चो मुक्त्वा सुरगणान्नैरयिकांश्च शेषाणां जीवानां केषांचिदेव तद्भवमरणं ॥ १ ॥ २ गृद्धादिभक्षणं गृध्रपृष्ठं उद्बन्धनादि वैहायसं। एते द्वे मरणे कारणजाते अनुज्ञाते अपि ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



न्नियमादप्रतिकर्म–शरीरप्रतिक्रियावर्जं पादपोपगमनमिति, भवति चात्र गाथा—"सीहाइसु अभिभूओ पायवगमणं करेइ थिरचित्तो । आउंमि पहुप्पंते वियाणिउं नवरि गीयत्थो ॥ १ ॥" इति, इदमस्य व्याघातवदुच्यते, निर्व्याघातं तु यत्सूत्रार्थनिष्ठितः उत्सर्गतो द्वादश समाः कृतपरिकर्मा सन् काल एव करोतीति, तद्विधिश्चायम्—"चत्तारि विचित्ताइं विगतीनिज्जूहियाइं चत्तारि । संवच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥ २ ॥ णाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं । अन्नेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ ३ ॥ वासं कोडीसहियं आयामं काउ आणुपुव्वीए । संघयणादणुरूवं एत्तो अद्धाइ नियमेणं ॥ ४ ॥ यतः–देहम्मि असंलिहिए सहसा धाऊहिं खिज्जमाणेहिं । जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरमकालम्मि ॥ ५ ॥ किञ्च–भावमवि संलिहेइ जिणप्पणीएण झाणजोगेणं । भूयत्थभावणाहि य परिवड्ढइ बोहिमूलाइं ॥ ६ ॥ भावेइ भावियप्पा विसेसओ नवरि तंमि कालम्मि । पयईय निग्गुणत्तं संसारमहासमुद्दस्स ॥ ७ ॥ जम्मजरामरणजलो अणाइमं वसणसावयाइण्णो । जीवाण दुक्खहेऊ कट्ठं रोद्दो भवसमुद्दो ॥ ८ ॥

१ सिंहादिनाभिभूतः पादपोपगमनं करोति स्थिरचित्तः । आयुषि प्रभवति विज्ञाय परं गीतार्थः ॥१॥ (१) बहुप्पंते प्र. २ चत्वारि विचित्राणि विकृतिरहितानि चत्वारि । संवत्सरे च द्वे एकान्तरितं आचामाम्लमेव ॥ २ ॥ नातिविकृष्टं च तपः षण्मासीं परिमितं चाचाम्लं । अन्यानपि षण्मासान् भवति विकृष्टं तपःकर्म ॥ ३ ॥ वर्षं कोटिसहितमाचामाम्लं कृत्वानुपूर्व्या । संहननाद्यनुरूपमेतत्कालादि नियमेन ॥ ४ ॥ देहेऽसंलिखिते सहसा धातुभिः क्षीयमाणैः । जायते आर्त्तध्यानं शरीरिणश्चरमकाले ॥ ५ ॥ भावमपि संलेखयति जिनप्रणीतेन ध्यानयोगेन । भूतार्थभावनाभिश्च परिवर्द्धते बोधिमूलानि ॥ ६ ॥ भावयति भावितात्मा विशेषतः परं तस्मिन् काले । प्रकृत्या निर्गुणत्वं संसारमहासमुद्रस्य ॥ ७ ॥ जन्मजरामरणजलोऽनादिमान् व्यसनश्वापदाकीर्णः । जीवानां दुःखहेतुः कष्टो रुद्रो भवसमुद्रः ॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन्नोऽहं जेणमए अणोरपारम्मि नवरैमेयंमि । भवसयसहस्सदुलहं लद्धं सद्धम्मजाणंति ॥ ९ ॥ एयस्स पभावेणं पालिज्जंतस्स सइ पयत्तेणं । जम्मंतरेऽवि जीवा पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥ १० ॥ चिंतामणी अउव्वो एयमपुव्वो य कप्परुक्खोत्ति । एयं परमो मंतो एयं परमामयं एत्थं ॥ ११ ॥ एँत्थं वेयावडियं गुरुमाईणं महाणुभावाणं । जेसि पभावेणेयं पत्तं तह पालियं चेव ॥ १२ ॥ तेसिं नमो तेसिं नमो भावेण पुणोवि तेसिं चेव णमो । अणुवकयपरहियरया जे एयं देंति जीवाणं ॥ १३ ॥" इत्यादि, "संलिहिऊणऽप्पाणं एवं पच्चप्पिणेत्तु फलगाइं । गुरुमाइए य सम्मं खमाविउं भावसुद्धीए ॥ १४ ॥ उवबूहिऊण सेसे पडिबद्धे तम्मि तह विसेसेणं । धम्मे उज्जमियव्वं संजोगा इह विओगंता ॥ १५ ॥ अह वंदिऊण देवे जहाविहिं सेसए य गुरुमाई । पच्चक्खाइत्तु तओ तयंतिए सव्वमाहारं ॥ १६ ॥ समभावंमि ठियप्पा सम्मं सिद्धंतभणितमग्गेणं । गिरिकंदरंमि गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ १७ ॥ सव्वत्थापडिवद्धो

१ धन्योऽहं येन मयाऽनर्वाक्पारे परमेतस्मिन् । भवशतसहस्रदुर्लभं लब्धं सद्धर्मयानमिति ॥ ९ ॥ (२) भवसमुद्दम्मि प्र. एतस्य प्रभावेन पाल्यमानस्य सकृत्प्रयत्नेन । जन्मान्तरेऽपि जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यं ॥ १० ॥ चिन्तामणिरपूर्वः एषोऽपूर्वश्च कल्पवृक्ष इति । एषः परमो मंत्र एतत्परममृतमत्र ॥ ११ ॥ (३) एस अपुव्वो प्र. गाथावृत्तौ. (४) इच्छं गाथावृत्तौ. अत्र वैयावृत्त्यं गुर्वादीनां महानुभावानां । येषां प्रभावेनैतत्प्राप्तं तथा पालितं चैव ॥ १२ ॥ तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमो भावेन पुनरपि तेभ्यश्चैव । नमः अनुपकृतपरहितरता ये एनं ददति जीवानां ॥ १३ ॥ संलेखयित्वात्मानमेवं प्रत्यर्प्य फलकादि गुरुमादिकांश्च सम्यक् क्षामयित्वा भावशुद्ध्या ॥ १४ ॥ उपबृंहयित्वा शेषान् प्रतिबंधांस्तस्मिन् तथा विशेषेण । धर्मे उद्यतितव्यं संयोगा इह वियोगान्ता इति ॥ १५ ॥ अथ वंदित्वा देवान् यथाविधि शेषांश्च गुर्वादींश्च । प्रत्याख्याय ततः तदन्तिके सर्वमाहारं ॥ १६ ॥ समभावे स्थितात्मा सम्यक्सिद्धान्तभणितमार्गेण । गिरिकंदरायां गत्वा पादपोपगमनमथ करोति ॥ १७ ॥ सर्वत्राप्रतिबद्धो



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दंडायतमादि स्थानमिह स्थित्वा । यावज्जीवं तिष्ठति निश्चेष्टः पादपसमानः ॥ १८ ॥ प्रथमसंहनना महानुभावाः कुर्वन्त्येतदिदं प्रायेण शुभभावा एव निश्चलपदकारणं परमं ॥ १९ ॥ भक्तपरिज्ञानशनं त्रिचतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्नं । सप्रतिकर्म्म नियमात् यथासमाधि विनिर्दिष्टम् ॥ २० ॥ इंगितदेशे स्वयं चतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्नं उद्वर्त्तनादियुक्तं नान्येन त्विंगितमरणं ॥ १ ॥ २ पंचास्तिकायमयो लोकोऽनादिनिधनो जिनाख्यातः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०४]

दीप अनुक्रम [११२]



च जीवाजीवानां स्वरूपं प्रश्नपूर्वकेण सूत्रद्वयेनाह—'के अणंते'त्यादि, के अनन्ताः लोके? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरं—जीवा अजीवाश्चेति, एत एव च शाश्वता द्रव्यार्थतयेति ॥ ये चैतेऽनन्ताः शाश्वताश्च जीवास्ते बोधिमोहलक्षणधर्मयोगाद्बुद्धा मूढाश्च भवन्तीतिदर्शनाय द्विस्थानकानुपातेन सूत्रचतुष्टयमाह—'दुविहे'त्यादि, बोधनं बोधिः—जिनधर्मलाभः ज्ञानबोधिः—ज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूता ज्ञानप्राप्तिः, दर्शनबोधिः—दर्शनमोहनीयक्षयोपशमादिसम्पन्नः श्रद्धानलाभ इति, एतद्वन्तो द्विविधा बुद्धाः, एते च धर्मत एव भिन्ना न धर्मितया, ज्ञानदर्शनयोरन्योऽन्याविनाभूतत्वादिति, एवं 'मोहे मूढ'त्ति, यथा बोधिर्बुद्धाश्च द्विधोक्ताः तथा मोहो मूढाश्च वाच्या इति, तथाहि—'मोहे दुविहे पन्नत्ते तं०—णाणमोहे चेव दंसणमोहे चेव ज्ञानं मोहयति—आच्छादयतीति ज्ञानमोहो—ज्ञानावरणोदयः, एवं 'दंसणमोहे चेव' सम्यग्दर्शनमोहोदय इति, 'दुविहा—मूढा पं०—तं०—णाणमूढा चेव', 'ज्ञानमूढा' उदितज्ञानावरणाः 'दंसणमूढा चेव' दर्शनमूढा मिथ्यादृष्टय इति। द्विविधोऽप्ययं मोहो ज्ञानावरणादिकर्मनिबन्धनमिति सम्बन्धेन ज्ञानावरणादिकर्मणामष्टाभिः सूत्रैर्द्वैविध्यमाह—

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—देसनाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव, दरिसणावरणिज्जे कम्मे एवं चेव वेयणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—सातावेयणिज्जे चेव असातावेयणिज्जे चेव, मोहणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—दंसणमोहणिज्जे चेव चरित्तमोहणिज्जे चेव, आउए कम्मे दुविहे पं० तं०—अद्धाउए चेव भवाउए चेव, णामे कम्मे दुविहे पन्नत्ते तं०—सुभणामे चेव असुभणामे चेव, गोत्ते कम्मे दुविहे पं० तं०—उच्चागोते चेव णीयागोते चेव, अंतराइए कम्मे दुविहे पं० तं०—पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपहं (सू० १०५)




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'णाणे'त्यादि, सुगमानि चैतानि, नवरं ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्, आह च—"सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायणं जमिह । णाणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु ॥ १ ॥" देशं-ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्वं ज्ञानं-केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं, केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरणं, मत्याद्यावरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुट्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति, पठ्यते च—"केवलणाणावरणं[2] १ दंसण छक्कं च मोहबारसगं । [अनन्तानुबन्ध्यादीत्यर्थः] ता सव्वघाइसन्ना भवंति मिच्छत्तवीसइमं ॥ १ ॥"ति, अथवा देशोपघातिसर्वोपघातिफड्डकापेक्षया देशसर्वावरणत्वमस्य, यदाह—"मतिसुयणाणावरणं[3] दंसणमोहं च तदुवघाईणि । तप्फड्डगाइं दुविहाइं देससव्वोवघाईणि ॥ १ ॥ सव्वेसु सव्वघाइसु हएसु देसोवघाइयाणं च । भागेहिं मुच्चमाणो समए समए अणंतेहिं ॥ २ ॥ पढमं लहइ नगारं एक्केक्कं वन्नमेवमन्नंपि । कमसो विसुज्झमाणो लहइ समत्तं नमोक्कारं ॥ ३ ॥" इति, तथा दर्शनं-सामान्यार्थबोधरूपमावृणोतीति दर्शनावरणीयं, उक्तं च—"दंसणसीले[4] जीवे दंसणघायं करेइ जं

१ शरदुद्गतशशिनिर्मलतरस्य जीवस्याच्छादनं यदिह । ज्ञानावरणं कर्म पटोपमं भवत्येवमेव ॥ १ ॥ २ केवलज्ञानावरणं दर्शनषट्कं च मोहद्वादशकं । ताः सर्वघातिसंज्ञाः भवंति मिथ्यात्वं विंशतितमं ॥ १ ॥ ३ मतिश्रुतज्ञानावरणं दर्शनमोहश्च तदुपघातीनि । तत्स्पर्द्धकानि द्विविधानि देशसर्वोपघातीनि ॥ १ ॥ सर्वेषु सर्वघातिषु हतेषु देशोपघातिनां च । भागैर्मुच्यमानः समये समयेऽनन्तैः ॥ १ ॥ प्रथमं लभते नकारं एकैकं वर्णमेवमन्यमपि । क्रमशो विशुद्ध्यमानो लभते संपूर्णं नमस्कारं ॥ १ ॥ ४ दर्शनशीले जीवे दर्शनघातं करोति



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कम्मं । तं पडिहारसमाणं दंसणवरणं भवे जीवे ॥ १ ॥" इति, 'एवं चेव'त्ति देशदर्शनावरणीयं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीयम्, सर्वदर्शनावरणीयं तु निद्रापञ्चकं केवलदर्शनावरणीयं चेत्यर्थः, भावना तु पूर्ववदिति, तथा वेद्यते–अनुभूयत इति वेदनीयं, सातं–सुखं तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, इतरत्–एतद्विपरीतम्, आह च —"महुलित्तनिसियकरवालधार जीहाएँ जारिसं लिहणं । तारिसयं वेयणियं सुहदुहउप्पायगं मुणह ॥ १ ॥" इति, मोहयतीति मोहनीयं, तथाहि—"जहा मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ । तह मोहेणवि मूढो जीवो उ परव्वसो होइ ॥ १ ॥" इति, दर्शनं मोहयतीति दर्शनमोहनीयं–मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वभेदं, चारित्रं–सामायिकादि मोहयति यत्कषाय १६ नोकषाय ९ भेदं तत्तथा, एति च याति चेत्यायुः एतद्रूपं च "दुक्खं न देइ आउं नविय सुहं देइ चउसुवि गईसुं । दुक्खसुहाणाहारं धरेइ देहट्ठियं जीयं ॥ १ ॥" इति । अद्धायुः–कायस्थितिरूपं, भावना तु प्राग्वत्, भवायुर्भवस्थितिरिति, विचित्रपर्यायैर्नमयति–परिणमयति यज्जीवं तन्नाम, एतत्स्वरूपं च 'जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं । सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं ॥ १ ॥ तह नामंपिहु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स ।

१ यत्कर्म । तत्प्रतीहारसमानं दर्शनावरणं भवेज्जीवे ॥ १ ॥ २ मधुलिप्तनिशितकरवालधारायां जिह्वया यादृशं लिहनं । तादृशं वेदनीयं सुखदुःखोत्पादकं जानीत ॥ १ ॥ ३ यथा मद्यपानमूढो लोके पुरुषः परवशो भवति । तथा मोहेनापि मूढो जीवश्च परवशो भवति ॥ १ ॥ ४ दुःखं न ददात्यायुः नापि च सुखं ददाति चतसृष्वपि गतिषु । दुःखसुखयोराधारं धारयति देहस्थितं जीवं ॥ १ ॥ ५ यथा चित्रकारो निपुणोऽनेकरूपाणि करोति रूपाणि । शोभनान्यशोभनानि चोक्षाण्यचोक्षाणि वर्णैः ॥ १ ॥ तथा नामाप्येवं कर्मानेकानि रूपाणि करोति जीवस्य ।




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स ॥ ३ ॥[1]' इति, शुभं–तीर्थंकरादि अशुभम्–अनादेयत्वादीति, पूज्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपां गां–वाचं त्रायत इति गोत्रं, स्वरूपं चास्येदम्–"जह कुंभारो भंडाइं कुणई पुज्जेयराइं लोयस्स। इय गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेयरावत्थं ॥ १ ॥[2]" इति, उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनमितरत्तद्विपरीतं, जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति–पततीत्यन्तरायम्, इदं चैवं–"जह राया दाणाइं ण कुणई भंडारिए विकूलंमि। एवं जेणं जीवो कम्मं तं अंतरायंति ॥१॥[3]" 'पडुप्पन्नविणासिए चेव'त्ति प्रत्युत्पन्नं–वर्त्तमानलब्धं वस्त्वित्यर्थो विनाशितम्–उपहतं येन तत्तथा, पाठान्तरेण प्रत्युत्पन्नं विनाशयतीत्येवंशीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि, चैवः समुच्चये, इत्येकम्, अन्यच्च पिधत्ते च–निरुणद्धि च आगामिनो–लब्धव्यस्य वस्तुनः पन्था आगामिपथस्तमिति, क्वचिदागामिपथानिति दृश्यते, क्वचिच्च आगमपहंति, तत्र च लाभमार्गमित्यर्थः। इदं चाष्टविधं कर्म मूर्च्छाजन्यमिति मूर्च्छास्वरूपमाह–

दुविहा मुच्छा पं० तं०–पेज्जवत्तिता चेव दोसवत्तिता चेव, पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा पं० तं०–माए चेव लोभे चेव, दोसवत्तिया मुच्छा दुविहा पं० तं०–कोहे चेव माणे चेव (सू० १०६) दुविहा आराहणा पं० तं०–धम्मिताराहणा चेव केवलिआराहणा चेव, धम्मियाराहणा दुविहा पं० तं०–सुयधम्माराहणा चेव चरित्तधम्माराहणा चेव, केवलिआराहणा दुविहा पं०, तं०–अंतकिरिया चेव कप्पविमाणोववत्तिआ चेव (सू० १०७) दो तित्थगरा नी-

१ शोभनान्यशोभनानीष्टान्यनिष्टानि लोके ॥ १ ॥ २ यथा कुम्भकारो भांडानि करोति पूज्येतराणि लोकस्य। एवं गोत्रं करोति जीवं लोके पूज्येतरावस्थं ॥ १ ॥ ३ यथा राजा दानादि न करोति भांडागारिके विकूले। एवं येन जीवः कर्म तदन्तरायमिति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लुप्पलसमा वन्नेणं पं० तं०—मुणिसुव्वए चेव अरिट्ठनेमी चेव, दो तित्थयरा पियंगुसामा वन्नेणं पं० तं०—मल्ली चेव पासे चेव, दो तित्थयरा पउमगोरा वन्नेणं पं० तं०—पउमप्पहे चेव वासुपुज्जे चेव, दो तित्थगरा चंदगोरा वन्नेणं पं० तं०—चंदप्पभे चेव पुप्फदंते चेव (सू० १०८)

'दुविहे'त्यादि सूत्रत्रयं कण्ठ्यं, नवरं मूर्च्छा–मोहः सदसद्विवेकनाशः प्रेम–रागो वृत्तिः–वर्त्तनं रूपं प्रत्ययो वा–हेतुर्यस्याः सा प्रेमवृत्तिका प्रेमप्रत्यया वा, एवं द्वेषवृत्तिका द्वेषप्रत्यया वेति ॥ मूर्च्छोपात्तकर्मणश्च क्षय आराधनयेति तां सूत्रत्रयेणाह—'दुविहे'त्यादि, सूत्रत्रयं कण्ठ्यम्, नवरं आराधनमाराधना–ज्ञानादिवस्तुनोऽनुकूलवर्तित्वं निरतिचारज्ञानाद्यासेवेतियावत् धर्मेण–श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकाः–साधवस्तेषामियं धार्मिकी सा चासावाराधना च धार्मिकाराधना, केवलिनां–श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानिनामियं केवलिकी सा चासावाराधना चेति केवलिकाराधनेति। 'सुयधम्मे'त्यादौ विषयभेदेनाराधनाभेद उक्तः, 'केवलिआराहणे'त्यादौ तु फलभेदेनेति, तत्र अन्तो–भवान्तस्तस्य क्रिया अन्तक्रिया, भवच्छेद इत्यर्थः, तद्धेतुर्याऽऽराधना शैलेशीरूपा साऽन्तक्रियेति, उपचारात्, एषा च क्षायिकज्ञाने केवलिनामेव भवति। तथा 'कल्पेषु' देवलोकेषु, न तु ज्योतिश्चारे, विमानानि–देवावासविशेषाः अथवा कल्पाश्च–सौधर्मादयो विमानानि च–तदुपरिवर्त्तिग्रैवेयकादीनि कल्पविमानानि तेषूपपत्तिः–उपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानोपपत्तिका ज्ञानाद्याराधना, एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति, एवंफला चेयमनन्तरफलद्वारेणोक्ता परम्परया तु भवान्तक्रियाऽनुपातिन्येवेति। ज्ञानाद्याराधनाऽनन्तरमुक्ता, तत्फलभूताश्च तीर्थकरास्तैर्वा सा



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्कृता देशिता वेति तीर्थकरान् द्विस्थानकानुपातेनाह—'दो तित्थयरे'त्यादि सूत्रचतुष्टयं कण्ठ्यम्, नवरं पद्म-रक्तोत्पलं तद्वद् गौरौ पद्मगौरौ, रक्तावित्यर्थः, तथा चन्द्रगौरौ चन्द्रशुक्लाविति्यर्थः, गाथाऽत्र—"पउमाभवासुपुज्जा रत्ता ससिपुप्फदंत ससिगोरा। सुव्वयनेमी काला पासो मल्ली पियंगाभा ॥ १ ॥" इति। तीर्थकरस्वरूपमनन्तरमुक्तम्, तीर्थ-कर्तृत्वाच्च तीर्थकराः, तीर्थं च प्रवचनमतः प्रवचनैकदेशस्य पूर्वविशेषस्य द्विस्थानकावतारायाह—

सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दुवे वत्थू पं०, (सू० १०९) पुव्वाभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पन्नत्ते, उत्तरभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते, एवं पुव्वफग्गुणी उत्तराफग्गुणी (सू० ११०) अंतो णं मणुस्सखेत्तस्स दो समुद्दा पं० तं०—लवणे चेव कालोदे चेव (सू० १११) दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा अहेसत्तमाए पुढवीए अप्पतिट्ठाणे णरए नेरइयत्ताए उववन्ना तं०—सुभूमे चेव बंभदत्ते चेव (सू० ११२)

'सच्चप्पवाये'त्यादि, सद्भ्यो—जीवेभ्यो हितः सत्यः—संयमः सत्यवचनं वा स यत्र सभेदः सप्रतिपक्षश्च प्रकर्षेणो-द्यते—अभिधीयते तत्सत्यप्रवादं तच्च तत्पूर्वं च सकलश्रुतात्पूर्वं क्रियमाणत्वादिति सत्यप्रवादपूर्वं, तच्च षष्ठं, तत्परि-माणं च एका पदकोटी षट्पदाधिका, तस्य द्वे वस्तुनी, वस्तु च—तद्विभागविशेषोऽध्ययनादिवदिति। अनन्तरं षष्ठ-पूर्वस्वरूपमुक्तमधुना पूर्वशब्दसाम्यात् पूर्वभाद्रपदनक्षत्रस्वरूपमाह—'पुव्वे'त्यादि कण्ठ्यम्। नक्षत्रप्रस्तावान्नक्षत्रान्तर-

१ पद्मप्रभवासुपूज्यौ रक्तौ चंद्रसुविधी शशिगौरौ। सुव्रतनेमी कृष्णौ पार्श्वमल्ली प्रियंग्वाभौ ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूपं सूत्रत्रयेणाह—'उत्तरे'त्यादि कण्ठ्यम् । नक्षत्रवन्तश्च द्वीपाः समुद्राश्चेति समुद्रद्विस्थानकमाह—'अंतो ण'मित्यादि, अन्तः—मध्ये 'मनुष्यक्षेत्रस्य' मनुष्योत्पत्त्यादिविशिष्टाकाशखण्डस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाणस्य, शेषं कण्ठ्यमिति । मनुष्यक्षेत्रप्रस्तावाद्भरतक्षेत्रोत्पन्नोत्तमपुरुषाणां नरकगामितया द्विस्थानकावतारमाह—'दो चक्कवट्टी'त्यादि, द्वौ चक्रेण—रत्नभूतप्रहरणविशेषेण वर्त्तितुं शीलं ययोस्तौ चक्रवर्त्तिनौ, 'कामभोग'त्ति कामौ च—शब्दरूपे भोगाश्च—गन्धरसस्पर्शाः कामभोगाः, अथवा काम्यन्त इति कामा मनोज्ञा इत्यर्थः ते च ते भुज्यन्त इति भोगाश्च—शब्दादय इति कामभोगा न परित्यक्तास्ते यकाभ्यां तौ तथा 'कालमासे'त्ति कालस्य—मरणस्य मासः उपलक्षणं चैतत्पक्षाहोरात्रादेस्ततश्च कालमासे, मरणावसर इति भावः, 'कालं'मरणं कृत्वा अधःसप्तम्यां पृथिव्यां, तमस्तमायामित्यर्थः अधोग्रहणं विना सप्तमी उपरिष्टाच्चिन्त्यमाना रत्नप्रभाऽपि स्यादित्यधोग्रहणं, अप्रतिष्ठाने नरके पञ्चानां मध्यमे नैरयिकत्वेनोत्पन्नौ, सुभूमोऽष्टमो ब्रह्मदत्तश्च द्वादशः, तत्र च तयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिरिति । नारकाणां चासङ्ख्येयकालाऽपि स्थितिर्भवतीति भवनपत्यादीनामपि तां दर्शयन् पञ्चसूत्रीमाह—

असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिती पन्नत्ता, सोहम्मे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता, ईसाणे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता, सणंकुमारे कप्पे देवाणं जहन्नेणं दो सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता, माहिंदे कप्पे देवाणं जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता । (सू० ११३) दोसु कप्पेसु कप्पत्थियाओ पन्नत्ताओ, तं०—सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । (सू० ११४) दोसु कप्पेसु देवा तेउ-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेस्सा पन्नत्ता, तं०—सोहम्मे चेव ईसाणे चेव (सू० ११५) दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पं० तं०—सोहम्मे चेव ईसाणे चेव, दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पं० तं०—सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव, दोसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा पं० तं०—बंभलोगे चेव लंतगे चेव, दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा पं० तं०—महासुक्के चेव सहस्सारे चेव, दो इंदा मणपरियारगा पं० तं०—पाणए चेव अच्चुए चेव (सू० ११६) जीवा णं दुट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा चिणंति वा चिणिस्संति वा, तं०—तसकायनिव्वत्तिए चेव थावरकायनिव्वत्तिए चेव, एवं उवचिणिंसु वा उवचिणंति वा उवचिणिस्संति वा, बंधिंसु वा बंधंति वा बंधिस्संति वा, उदीरिंसु वा उदीरेंति वा उदीरिस्संति वा, वेदेंसु वा वेदेंति वा वेदिस्संति वा, णिज्जरिंसु वा णिज्जरिंति वा णिज्जरिस्संति वा (सू० ११७) दुपएसिता खंधा अणंता पन्नत्ता दुपदेसोगाढा पोग्गला अणंता पन्नत्ता एवं जाव दुगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पन्नत्ता (सू० ११८) उद्देशकः ४ ॥ दुट्ठाणं समत्तं ॥

'असुरे'त्यादि, असुरेन्द्रौ—चमरबलौ तद्वर्जितानां [तत्सामानिकवर्जितानां च, सूत्रे इन्द्रग्रहणेन सामानिकानामपि ग्रहणाद्, अन्यथा सामानिकत्वमेव तेषां न स्यादिति, शेषाणां त्रायस्त्रिंशादीनामसुराणां तदन्येषां च[2]] भवनवासिनां देवानामुत्कर्षतो द्वे पल्योपमे किञ्चिदूने स्थितिः प्रज्ञप्ता, उक्तञ्च—"[3]चमर १ बलि २ सार ३ महियं ४ सेसाण सुराण

१ चमरबली तद्वर्जितानामन्येषां भवनवासिनां देवानां असुरेन्द्रवर्जनात् नागकुमारादीन्द्राणामित्यर्थः उत्कर्षतो द्वे प्र० भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनामित्यादिवचनात् सम्यगेषोऽपि पाठः. २ समाने विभवायुषि भवा सामानिका इत्युक्तेष्टीप्सितमेतत्. ३ चमरबलिनोः सागरमधिकं च शेषाणां सुराणां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आउयं वोच्छं। दाहिणदिवड्ढपलियं दो देसूणुत्तरिल्लाणं ॥ १ ॥"ति, उत्कर्षत एवैतत् जघन्यतस्तु दशवर्षसहस्राणीति, आह च—"दसं भवणवणयराणं वाससहस्सा ठिई जहन्नेणं। पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं वियाणिआ ॥ १ ॥" इति, शेषं सुगमम्, नवरं सौधर्मादिष्वियं स्थितिः—"दो १ सौहि २ सत्त ३ साही ४ दस ५ चोद्दस ६ सत्तरे व ७ अयराइं। सोहम्मा जा सुक्को तदुवरि एक्केकमारोवे ॥ २ ॥" इति, इयमुत्कृष्टा, जघन्या तु "पॅलियं १ अहियं २ दो सार ३ साहिया ४ सत्त ५ दस य ६ चोद्दस य ७। सत्तरस सहस्सारे ८ तदुवरि एक्केकमारोवे ॥ ३ ॥" इति। देवलोकप्रस्तावात् स्त्र्यादिद्वारेण देवलोकद्विस्थानकावतारं सप्तसूत्र्याऽऽह—'दोसु' इत्यादि, कल्पयोः—देवलोकयोः स्त्रियः कल्पस्त्रियो—देव्यः, परतो न सन्ति, शेषं कण्ठ्यमिति १, नवरं 'तेउलेस'त्ति तेजोरूपा लेश्या येषां ते तेजोलेश्याः, ते च सौधर्मेशानयोरेव न परतः, तयोस्तेजोलेश्या एव, नेतरे, आह च—"किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया। जोइस सोहम्मीसाण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥" इति, 'कायपरियारग'त्ति परिचरन्ति—सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः कायतः परिचारकाः कायपरिचारकाः, एवमुत्तरत्रापि, नवरं स्पर्शादिपरिचारकाः स्पर्शादेरेवोपशान्तवेदोपतापा भव-

१ आयुः वक्ष्ये। दाक्षिणात्यानां सार्धपल्यं देशोने द्वे उत्तराणां ॥ १ ॥ २ भवनव्यन्तरयोर्दश वर्षसहस्राणि जघन्येन स्थितिः पल्योपममुत्कृष्टं व्यन्तराणां विजानीयात् ॥ १ ॥ ३ द्वे साधिके सप्त साधिकानि दश चतुर्दश सप्तदश सागरोपमाणि। सौधर्माद्यावच्छुक्रः तदुपर्येकैकमारोपयेत् ॥ १ ॥ ४ पल्यं अधिकं द्वे साधिके सागरे सप्त दश च चतुर्दश च। सप्तदश सहस्रारे तदुपर्येकैकमारोपयेत् ॥ १ ॥ ५ कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्च भवनव्यन्तराः। ज्योतिषसौधर्मेशानेषु तेजोलेश्या ज्ञातव्याः ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


देवानाम् परिचार-विषयक चर्चा:

न्तीत्यभिप्रायः, आनतादिषु चतुर्षु कल्पेषु मनःपरिचारका देवा भवन्तीति वक्तव्ये द्विस्थानकानुरोधाद् 'दो इंदा' इत्युक्तं, आनतादिषु हि द्वाविन्द्राविति, गाथाऽत्र—"दो कायप्पवियारा कप्पा फरिसेण दोन्नि दो रूवे । सद्दे दो चउर मणे उवरिं परियारणा नत्थि ॥ १ ॥" इयं च परिचारणा कर्मतः, कर्म च जीवाः स्वहेतुभिः कालत्रयेऽपि चिताद्यवस्थं कुर्वन्तीत्याह—'जीवाण'मित्यादि, सूत्राणि षट् सुगमानि, नवरं, जीवा—जन्तवो, णं वाक्यालङ्कारे, द्वयोः स्थानयोः—आश्रययोस्त्रसस्थावरकायलक्षणयोः समाहारो द्विस्थानम्, तत्र मिथ्यात्वादिभिर्ये निर्वर्त्तिताः—सामान्येनोपार्जिताः वक्ष्यमाणावस्थाषट्कयोग्यीकृताः द्वयोर्वा स्थानयोः निवृत्तिर्येषां ते द्विस्थाननिवृत्तिकास्तान् पुद्गलान् कार्मणान् पापकर्म—घातिकर्म सर्वमेव वा ज्ञानावरणादि तद्भावस्तत्ता तया पापकर्मतया तद्रूपतयेत्यर्थः, चितवन्तो वा अतीतकाले चिन्वन्ति वा सम्प्रति चेष्यन्ति वा अनागतकाले केचिदिति गम्यते, चयनं च कषायादिपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रं, उपचयनं तु चितस्याबाधाकालं मुक्त्वा ज्ञानावरणीयादितया निषेकः, स चैवं—प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्मदलिकं निषिञ्चति ततो द्वितीयायां विशेषहीनमेवं "जावुक्कोसियाए विसेसहीणं णिसिंचइ" इति, बन्धनं तु तस्यैव ज्ञानावरणादितया निषिक्तस्य पुनरपि कषायपरिणतिविशेषान्निकाचनमिति, उदीरणं त्वनुदयप्राप्तस्य करणेनाकृष्योदये क्षेपणमिति, वेदनम्—अनुभवः, निर्जरा—कर्मणोऽकर्मताभवनमिति । कर्म च पुद्गलात्मकमिति पुद्गलान् द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्द्विस्थानकावतारेण निरूपयन्नाह —'दुपएसी'त्यादि सूत्राणि त्रयोविंशतिः, सुगमा चेयं, नवरं यावत्करणात् 'दुसमयट्ठिइए'त्यादि सूत्राण्येकविंशतिर्वा-

१ द्वौ कायप्रविचारौ कल्पौ स्पर्शेन द्वौ द्वौ रूपेण । द्वौ शब्देन चत्वारो मनस्तोपरि परिचारणा नास्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देवानाम् परिचार-विषयक चर्चा:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [११३--११८]

दीप अनुक्रम [१२१--१२६]



च्यानि, कालं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदान् वर्णगन्धरसस्पर्शाश्चाश्रित्येति, वाचना चैवं–'दुसमयट्ठिईया पोग्गले'त्यादि ॥ द्विस्थानकस्य चतुर्थ उद्देशकः समाप्तः । तत्समाप्तौ च श्रीमदभयदेवसूरिविरचिते स्थानाख्यतृतीयाङ्गविवरणे द्वितीयमध्ययनं द्विस्थानकाभिधानं समाप्तमिति ॥

इति श्रीस्थानाङ्गाख्ये तृतीयेऽङ्गे द्विस्थानकाख्यं द्वितीयमध्ययनं समाप्तं ।



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र 'द्वितीयं स्थानं' परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [११९]

दीप अनुक्रम [१२७]

द्विस्थानकानन्तरं त्रिस्थानकमेव भवति सङ्ख्याक्रमप्रामाण्यादित्यनेन सम्बन्धेनायातस्य चतुरनुयोगद्वारस्य चतुरुद्देशकस्यास्य तत्रापि द्वितीयाध्ययनान्त्योद्देशके जीवादिपर्याया उक्ता अस्याप्यध्ययनस्य प्रथमोद्देशके त एवाभिधीयन्त इत्येवंसम्बन्धस्यैतत्प्रथमोद्देशकस्य तत्राप्यनन्तरोद्देशकान्त्यसूत्रे पुद्गलधर्मा उक्ता एतत्प्रथमसूत्रे तु जीवधर्मा उच्यन्त इत्येवंसम्बन्धस्यैतदादिसूत्रस्य—

तओ इंदा पण्णत्ता तं०—णामिंदे ठवणिंदे दव्विंदे, तओ इंदा पं० तं०—णाणिंदे दंसणिंदे चरित्तिंदे, तओ इंदा पं० तं०—देविंदे असुरिंदे मणुस्सिंदे (सू० ११९)

'तओ इंदे'त्यादेर्व्याख्या, सा च सुकरैव, नवरमिन्दनाद्–ऐश्वर्याद् इन्द्रः नाम–संज्ञा तदेव यथार्थमिन्द्रेत्यक्षरात्मकमिन्द्रो नामेन्द्रः, अथवा सचेतनस्याचेतनस्य वा यस्येन्द्र इत्ययथार्थं नाम क्रियते स नामनामवतोरभेदोपचारान्नाम चासाविन्द्रश्चेति नामेन्द्रः, अथवा नाम्नैवेन्द्र इन्द्रार्थशून्यत्वान्नामेन्द्र इति, नामलक्षणं पुनरिदम्—"यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् । पर्यायानभिधेयञ्च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥ १ ॥" इति, अयमर्थः–यद्वस्त्वित्यादिना यथार्थमिन्द्र इत्याद्युक्तं, स्थितमित्यादिना त्वयथार्थं गोपालादाविन्द्रेत्यादि, यादृच्छिकमनर्थकं डित्थादीति ३, अथवा यदिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं गोपालादिवस्तुन इन्द्र इत्यादिकमभिधानं यथार्थतया शक्रादावन्यत्रार्थे स्थितं तन्नामेति, इन्द्रादिवस्तुनो वा अभिधानमिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं सद् गोपालादावन्यत्रार्थे स्थितं नामेति । तथा इन्द्राद्यभिप्रायेण स्थाप्यत इति स्थापना–लेप्यादिकर्म सैवेन्द्रः स्थापनेन्द्रः, इन्द्रप्रतिमा साकारस्थापनेन्द्रः अक्षादिन्यासस्त्वितर इति, स्थापनालक्ष-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र 'तृतीयं स्थानं' आरभ्यते, इंद्र शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपा:

प्रत सूत्रांक [११९]

दीप अनुक्रम [१२७]



णमिदम्—"यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणिः । लेप्यादिकर्म तत् स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालञ्च ॥ १ ॥" इति, तथा, "लेप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा । होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो ॥१॥" इति, तथा द्रवति—गच्छति तांस्तान् पर्यायान् द्रूयते वा तैस्तैः पर्यायैर्द्रोर्वा—सत्तायां अवयवो विकारो वा वर्णादिगुणानां वा द्रावः—समूह इति द्रव्यं, तच्च भूतभावं भाविभावं चेति, आह च—"देवए १ दुयए २ दोरवयवो विगारो ३ गुणाण संदावो ४ । दव्वं भव्वं भावस्स भूयभावं च जं जोगं ॥ १ ॥" ति, इति । तथा "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं गदितम् ॥ १ ॥" तथा 'अनुपयोगो द्रव्यमप्रधानं चे'ति, तत्र द्रव्यं चासाविन्द्रश्चेति द्रव्येन्द्रः, स च द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतः—खल्वागममधिकृत्य ज्ञानापेक्षयेत्यर्थः, नोआगमतस्तु तद्विपर्ययमाश्रित्य, तत्रागमत इन्द्रशब्दाध्येताऽनुपयुक्तो द्रव्येन्द्रः 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, अयमेवार्थो मङ्गलमाश्रित्य भाष्य उक्तः, तथाहि—"[3]आगमओऽणुवउत्तो मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाणलद्धिजुत्तोवि णोवउत्तोत्ति तो दव्वं ॥ १ ॥" इति, तथा नोआगमतस्त्रिविधो द्रव्येन्द्रः, तद्यथा—ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्येन्द्रश्चेति, तत्र ज्ञस्य शरीरं ज्ञशरीरं ज्ञशरीरमेव द्रव्येन्द्रः ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रः,

१ लेप्यहस्ती हस्तीति एषा सद्भाविका स्थापना भवेत् । भवत्यसद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिरक्षः ॥ १ ॥ २ द्रवति द्रूयते वा द्रोः (सत्तायाः) अवयवो विकारो वा गुणानां संद्रावो (भाजनं) तद्द्रव्यं भव्यभावस्य भूतभावस्य च यद् योग्यमिति ॥ १ ॥ ३ आगमतोऽनुपयुक्तो मंगलशब्दानुवासित (आत्मा) वक्ता । तज्ज्ञानलब्धियुक्तोऽप्यनुपयुक्त इति ततो द्रव्यं ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इंद्र शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपा:

एतदुक्तं भवति–इन्द्रपदार्थज्ञस्य यच्छरीरमात्मरहितं तदतीतकालानुभूततद्भावानुवृत्त्या सिद्धशिलातलादिगतमपि घृतघटादिन्यायेन नोआगमतो द्रव्येन्द्र इति, इन्द्रकारणत्वात् इन्द्रज्ञानशून्यत्वाच्च तस्य, इह सर्वनिषेध एव नोशब्दः, तथा भव्यो–योग्य इन्द्रशब्दार्थं ज्ञास्यति यो न तावद्विजानाति स भव्य इति तस्य शरीरं भव्यशरीरं तदेव द्रव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रः, अयमत्र भावार्थो–भाविनीं वृत्तिमङ्गीकृत्य इन्द्रोपयोगाधारत्वात् मधुघटादिन्यायेनैव तद्बालादिशरीरं भव्यशरीरद्रव्येन्द्र इति, नोशब्दः पूर्ववत्, उक्तञ्च मङ्गलमधिकृत्य—"मंगलपयत्थजाणयदेहो भव्वस्स वा सेजीवोवि।णोआगमओ दव्वं आगमरहिओत्ति जं भणितं ॥१॥" इति, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकार्येष्वव्यापृतः, आगमतोऽनुपयुक्तद्रव्येन्द्रवत्, तथा यच्छरीरमात्मद्रव्यं वाऽतीतभावेन्द्रपरिणामं तच्चोभयातिरिक्तद्रव्येन्द्रो, ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रवत्, तथा यो भावीन्द्रपर्यायशरीरयोग्यः पुद्गलराशिर्यच्च भावीन्द्रपर्यायमात्मद्रव्यं तदप्युभयातिरिक्तो द्रव्येन्द्रः, भव्यशरीरद्रव्येन्द्रवत्, स चावस्थाभेदेन त्रिविधः, तद्यथा–एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति, तत्र एकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको–योऽनन्तर एव भवे इन्द्रतयोत्पत्स्यत इति, स चोत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि भवन्ति, देवकुर्वादिमिथुनकस्य भवनपत्यादीन्द्रतयोत्पत्तिसम्भवादिति, तथा स एवेन्द्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुरुच्यते, स चोत्कर्षतः पूर्वकोटीत्रिभागं यावद्, अस्मात्परतः आयुष्कबन्धाभावात्, तथा अभिमुखे–संमुखे जघन्योत्कर्षाभ्यां समयान्तर्मुहूर्त्तानन्तरभावितया नामगोत्रे इन्द्रसबन्धिनी यस्य स तथा, तथा भावैश्वर्ययुक्ततीर्थकरादि-

१ मंगलपदार्थज्ञातृदेहो भव्यस्य वा सजीवोऽपि (देहः)। नोआगमतो द्रव्यं आगमरहित इति यद्भणितं ॥ १ ॥ २ सजीवोत्ति.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इंद्र शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपा:

भावेन्द्रापेक्षया अप्रधानत्वाच्छक्रादिरपि द्रव्येन्द्र एव, द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थेऽपि प्रवृत्तेरिति, भावेन्द्रस्त्विह त्रिस्थानकाधिकारे ओघान्नोक्तः, तल्लक्षणं चेदम्–भावम्–इन्दनक्रियानुभवनलक्षणपरिणाममाश्रित्येन्द्र इन्दनपरिणामेन वा भवतीति भावः स चासाविन्द्रश्चेति भावेन्द्रः, यदाह—"भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥ १ ॥" स च द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमत इन्द्रज्ञानोपयुक्तो जीवो भावेन्द्रः, कथमिन्द्रोपयोगमात्रात् तन्मयताऽवगम्यते?, न ह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव, दहनपचनप्रकाशनाद्यर्थक्रियाप्रसाधकत्वाभावादिति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, संवित् ज्ञानमवगमो भाव इत्यनर्थान्तरम्, तत्र 'अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया' इति सर्ववादिनामविसंवादस्थानं, यथा कोऽयं?, घटः, किमयमाह?, घटशब्दं, किमस्य ज्ञानं?, घट इति, अग्निरिति च यत् ज्ञानं तदव्यतिरिक्तो ज्ञाता तल्लक्षणो गृह्यते, अन्यथा तज्ज्ञाने सत्यपि नोपलभेत, अतन्मयत्वात्, प्रदीपहस्तान्धवत् पुरुषान्तरवद्वा, न चानाकारं तत्, पदार्थान्तरवद्विवक्षितपदार्थापरिच्छेदप्रसङ्गात्, बन्धाद्यभावश्च ज्ञानाज्ञानसुखदुःखपरिणामान्यत्वाद्, आकाशवत्, न चानलः सर्व एव दहनाद्यर्थक्रियाप्रसाधको, भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारादिति कृतं प्रसङ्गेन, नोआगमतो भावेन्द्र इन्द्रनामगोत्रे कर्मणी वेदयन् परमैश्वर्यभाजनं, सर्वनिषेधवचनत्वान्नोशब्दस्य, यतस्तत्र नेन्द्रपदार्थज्ञानमिन्द्रव्यपदेशनिबन्धनतया विवक्षितं इन्दनक्रियाया एव च विवक्षितत्वात्, अथवा तथाविधज्ञानक्रियारूपो यः परिणामः स नागम एव केवलो न चानागम इत्यतो मिश्रवचनत्वात् नोशब्दस्य नोआगमत इत्याख्यायत इति । ननु नामस्थापनाद्रव्येष्विन्द्राभिधानं विवक्षितभावशून्यत्वाद् द्रव्यत्वं च



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इंद्र शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपा:

समानं वर्त्तते, ततश्च क एषां विशेषः?, आह च—"अभिहाणं दव्वत्तं तदत्थसुन्नत्तणं च तुल्लाइं। को भाववज्जियाणं नामाईणं पइविसेसो? ॥ १ ॥" इति, अत्रोच्यते, यथा हि स्थापनेन्द्रे खल्विन्द्राकारो लक्ष्यते तथा कर्तुः सद्भूतेन्द्राभिप्रायो भवति तथा द्रष्टुस्तदाकारदर्शनादिन्द्रप्रत्ययस्तथा प्रणतिकृतधियश्च फलार्थिनः स्तोतुं प्रवर्त्तन्ते फलं च प्राप्नुवन्ति केचिद्देवतानुग्रहात् न तथा नामद्रव्येन्द्रयोरिति, तस्मात् स्थापनायास्तावदित्थं भेद इति, आह च—"आगारोऽभिप्पाओ बुद्धी किरियाफलं च पाएणं। जह दीसइ ठवणिंदे न तहा नामे न दव्विंदे ॥ १ ॥" इति, यथा च द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकारणतां प्रतिपद्यते तथोपयोगापेक्षायामपि तदुपयोगतामासादयत्यवाप्तवांश्चैं न तथा नामस्थापनेन्द्रावित्ययं विशेष इति, आह च—"भावस्स कारणं जह दव्वं भावो य तस्स पज्जाओ। उवओगपरिणतिमओ न तहा नामं न वा ठवणा ॥ १ ॥" इति ॥ उक्ता नामस्थापनाद्रव्येन्द्राः, इदानीं भावेन्द्रं त्रिस्थानकावतारेणाह—'तओ इंदे'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं ज्ञानेन ज्ञानस्य ज्ञाने वा इन्द्रः—परमेश्वरो ज्ञानेन्द्रः—अतिशयवच्छ्रुताद्यन्यतरज्ञानवशविवेचितवस्तुविस्तरः केवली वा, एवं दर्शनेन्द्रः—क्षायिकसम्यग्दर्शनी, चरित्रेन्द्रो—यथाऽऽख्यातचारित्रः, एतेषां च भावेन—सकलभावप्रधानक्षायिकलक्षणेन विवक्षितक्षायोपशमिकलक्षणेन वा भावतः—परमार्थतो वेन्द्रत्वात्—सकलसंसार्यप्राप्तपूर्वगुणलक्ष्मीलक्षणपरमैश्वर्य-

१ अभिधानं द्रव्यत्वं तदर्थशून्यत्वं च तुल्यानि को भाववर्जितानां नामादीनां प्रतिविशेषः? ॥ १ ॥ (येन भेदाश्रयस्ते)। २ आकारोऽभिप्रायो बुद्धिः क्रियाफलं च यथा प्रायः स्थापनेन्द्रे दृश्यते न तथा नामेन्द्रे न द्रव्येन्द्रे ॥ १ ॥ ३ °ष्टपूर्वश्च प्र. ४ भावस्य कारणं यथा द्रव्यं भावश्च तस्य पर्यायः उपयोगपरिणतिमयो न तथा नाम न वा स्थापनेति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इंद्र शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपा:

युक्तत्वाद् भावेन्द्रताऽवसेयेति । उक्तमाध्यात्मिकैश्वर्यापेक्षया भावेन्द्रत्वैविध्यमथ बाह्यैश्वर्यापेक्षया तदेवाह—'तओ इंदे'त्यादि, भावितार्थं, नवरं देवा—वैमानिका ज्योतिष्कवैमानिका वा रूढेः असुराः—भवनपतिविशेषा भवनपतिव्यन्तरा वा सुरपर्युदासात्, मनुजेन्द्रः—चक्रवर्त्यादिरिति ॥ त्रयाणामप्येषां वैक्रियकरणादिशक्तियुक्ततयेन्द्रत्वमिति विकुर्वणानिरूपणायाह—

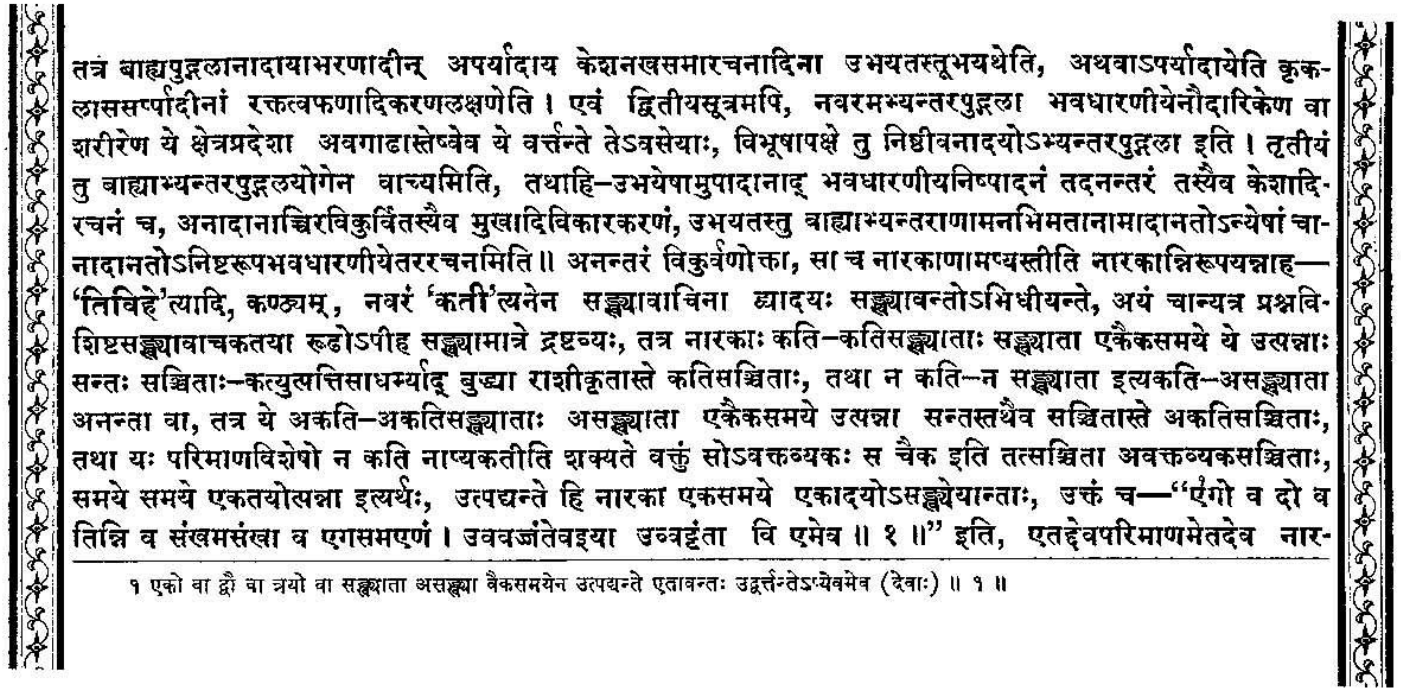
तिविहा विउव्वणा पं० तं०—बाहिरते पोग्गलए परियातित्ता एगा विकुव्वणा बाहिरए पोग्गले अपरियादित्ता एगा विकुव्वणा बाहिरए पोग्गले परियादित्तावि अपरियादित्तावि एगा विकुव्वणा, तिविहा विगुव्वणा पं० तं०—अब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता एगा विकुव्वणा अब्भंतरे पोग्गले अपरियादित्ता एगा विकुव्वणा अब्भंतरए पोग्गले परियातित्तावि अपरितादित्तावि एगा विकुव्वणा, तिविहा विकुव्वणा पं० तं०—बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता एगा विकुव्वणा बाहिरब्भंतरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विगुव्वणा बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्तावि अपरियाइत्तावि एगा विउव्वणा । (सू० १२०) तिविहा नेरइया पन्नत्ता तं०—कतिसंचिता अकतिसंचिता अवत्तव्वगसंचिता, एवमेगिंदियवज्जा जाव वेमाणिया (सू० १२१)

'तिविहे'त्यादि सूत्रत्रयी कण्ठ्या, नवरं बाह्यान् पुद्गलान्—भवधारणीयशरीरानवगाढक्षेत्रप्रदेशवर्त्तिनो वैक्रियसमुद्घातेन पर्यादाय—गृहीत्वैका विकुर्वणा क्रियते इति शेषः, तानपर्यादाय, या तु भवधारणीयरूपैव साऽन्या, यत्पुनर्भवधारणीयस्यैव किञ्चिद्विशेषापादनं सा पर्यादायापि अपर्यादायापि इति तृतीया व्यपदिश्यते, अथवा विकुर्वणा—भूषाकरणं,




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


इंद्र शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपाः, 'विकुर्वणा' शब्दस्य अर्थः

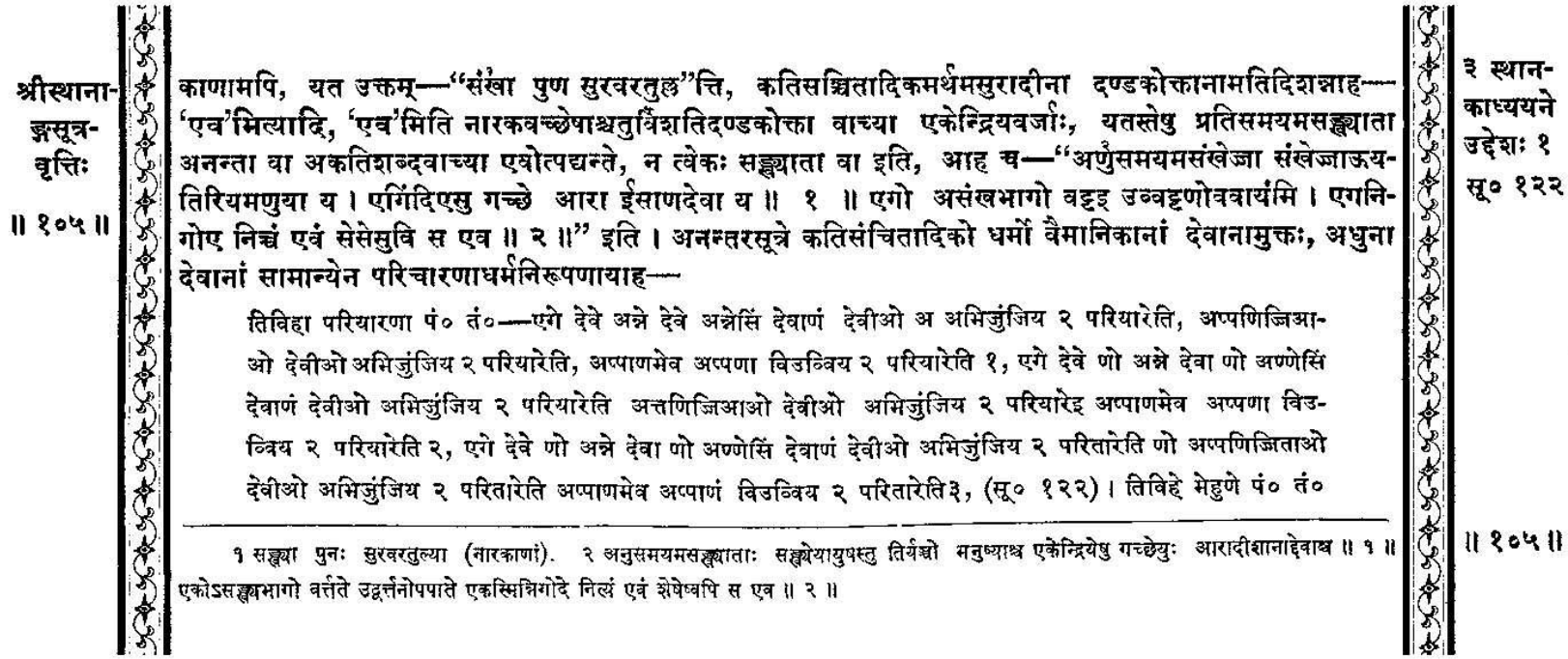


तत्र बाह्यपुद्गलानादायाभरणादीन् अपर्यादाय केशनखसमारचनादिना उभयतस्तूभयथेति, अथवाऽपर्यादायेति कृकलाससर्प्पादीनां रक्तत्वफणादिकरणलक्षणेति। एवं द्वितीयसूत्रमपि, नवरमभ्यन्तरपुद्गला भवधारणीयेनौदारिकेण वा शरीरेण ये क्षेत्रप्रदेशा अवगाढास्तेष्वेव ये वर्त्तन्ते तेऽवसेयाः, विभूषापक्षे तु निष्ठीवनादयोऽभ्यन्तरपुद्गला इति। तृतीयं तु बाह्याभ्यन्तरपुद्गलयोगेन वाच्यमिति, तथाहि–उभयेषामुपादानाद् भवधारणीयनिष्पादनं तदनन्तरं तस्यैव केशादिरचनं च, अनादानाच्चिरविकुर्वितस्यैव मुखादिविकारकरणं, उभयतस्तु बाह्याभ्यन्तराणामनभिमतानामादानतोऽन्येषां चानादानतोऽनिष्टरूपभवधारणीयेतररचनमिति॥ अनन्तरं विकुर्वणोक्ता, सा च नारकाणामप्यस्तीति नारकान्निरूपयन्नाह—'तिविहे'त्यादि, कण्ठ्यम्, नवरं 'कती'त्यनेन सङ्ख्यावाचिना द्व्यादयः सङ्ख्यावन्तोऽभिधीयन्ते, अयं चान्यत्र प्रश्नविशिष्टसङ्ख्यावाचकतया रूढोऽपीह सङ्ख्यामात्रे द्रष्टव्यः, तत्र नारकाः कति–कतिसङ्ख्याताः सङ्ख्याता एकैकसमये ये उत्पन्नाः सन्तः सञ्चिताः–कत्युत्पत्तिसाधर्म्याद् बुद्ध्या राशीकृतास्ते कतिसञ्चिताः, तथा न कति–न सङ्ख्याता इत्यकति–असङ्ख्याता अनन्ता वा, तत्र ये अकति–अकतिसङ्ख्याताः असङ्ख्याता एकैकसमये उत्पन्ना सन्तस्तथैव सञ्चितास्ते अकतिसञ्चिताः, तथा यः परिमाणविशेषो न कति नाप्यकतीति शक्यते वक्तुं सोऽवक्तव्यकः स चैक इति तत्सञ्चिता अवक्तव्यकसञ्चिताः, समये समये एकतयोत्पन्ना इत्यर्थः, उत्पद्यन्ते हि नारका एकसमये एकादयोऽसङ्ख्येयान्ताः, उक्तं च—"एगो व दो व तिन्नि व संखमसंखा व एगसमएणं। उववज्जंतेवइया उव्वट्टंता वि एमेव॥ १॥" इति, एतदेवपरिमाणमेतदेव नार-

१ एको वा द्वौ वा त्रयो वा सङ्ख्याता असङ्ख्या वैकसमयेन उत्पद्यन्ते एतावन्तः उद्वर्त्तन्तेऽप्येवमेव (देवाः) ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'विकुर्वणा' शब्दस्य अर्थः, नारकाणाम् निरुपणं



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १०५ ॥

काणामपि, यत उक्तम्—"संखा पुण सुरवरतुल्ल"त्ति, कतिसङ्ख्यितादिकमर्थमसुरादीना दण्डकोक्तानामतिदिशन्नाह—'एव'मित्यादि, 'एव'मिति नारकवच्छेषाश्चतुर्विंशतिदण्डकोक्ता वाच्या एकेन्द्रियवर्जाः, यतस्तेषु प्रतिसमयमसङ्ख्याता अनन्ता वा अकतिशब्दवाच्या एवोत्पद्यन्ते, न त्वेकः सङ्ख्याता वा इति, आह च—"असुंसमयमसंखेज्जा संखेज्जाऊय-तिरियमणुया य । एगिंदिएसु गच्छे आरा ईसाणदेवा य ॥ १ ॥ एगो असंखभागो वट्टइ उव्वट्टणोववायंमि । एगनि-गोए निच्चं एवं सेसेसुवि स एव ॥ २ ॥" इति । अनन्तरसूत्रे कतिसंचितादिको धर्मो वैमानिकानां देवानामुक्तः, अधुना देवानां सामान्येन परिचारणाधर्मनिरूपणायाह—

तिविहा परियारणा पं० तं०—एगे देवे अन्ने देवे अन्नेसिं देवाणं देवीओ अ अभिजुंजिय २ परियारेति, अप्पणिज्जिआओ देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेति, अप्पाणमेव अप्पणा विउव्विय २ परियारेति १, एगे देवे णो अन्ने देवा णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेति अत्तणिज्जिआओ देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ अप्पाणमेव अप्पणा विउव्विय २ परियारेति २, एगे देवे णो अन्ने देवा णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परितारेति णो अप्पणिज्जिताओ देवीओ अभिजुंजिय २ परितारेति अप्पाणमेव अप्पाणं विउव्विय २ परितारेति३, (सू० १२२) । तिविहे मेहुणे पं० तं०

१ सङ्ख्या पुनः सुरवरतुल्या (नारकाणां). २ अनुसमयमसङ्ख्याताः सङ्ख्येयायुषस्तु तिर्यञ्चो मनुष्याश्च एकेन्द्रियेषु गच्छेयुः आरादीशानादेवाश्च ॥ १ ॥ एकोऽसङ्ख्यभागो वर्त्तते उद्वर्त्तनोपपाते एकस्मिन्निगोदे नित्यं एवं शेषेष्वपि स एव ॥ २ ॥

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः १ सू० १२२

॥ १०५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—दिव्वे माणुस्सते तिरिक्खजोणीते, तओ मेहुणं गच्छंति तं०—देवा मणुस्सा तिरिक्खजोणिता, ततो मेहुणं सेवंति तं०—इत्थी पुरिसा णपुंसगा (सू० १२३)

'तिविहा परी'त्यादि, कण्ठ्यम्, नवरं परिचारणा–देवमैथुनसेवेति, एकः कश्चिद्देवो न सर्वोऽप्येवमिति, किम् ?—'अण्णे देवे'त्ति अन्यान् देवान्–अल्पर्द्धिकान् तथाऽन्येषां देवीनां सत्का देवीश्चाभियुज्याभियुज्य–आश्लिष्याश्लिष्य वशीकृत्य वा परिचारयति–परिभुङ्क्ते वेदबाधोपशमायेति, न च न सम्भवति देवस्य देवसेवा पुंस्त्वेनेत्याशङ्कनीयम्, मनुष्येष्वपि तथा श्रवणात्, न चात्रार्थे नरामरयोः प्रायो विशेषोऽस्तीति, एक एवायं प्रकारो देवदेवीनामन्यत्वसामान्यादत एव द्वयोरपि पदयोरेकः क्रियाभिसम्बन्ध इति, एवमात्मीया देवीः परिचारयतीति द्वितीयः, तथाऽऽत्मानमेव परिचारयति, कथं ?–आत्मना विकृत्य विकृत्य परिचारणायोग्यं विधायेति तृतीयं, एवं प्रकारत्रयरूपाप्येकेयं परिचारणा, प्रभविष्णूत्कटकामैकपरिचारकवशादिति, अथान्यो देव आद्यप्रकारपरिहारेणान्त्यप्रकारद्वयेन परिचारयतीति द्वितीयेयमप्रभविष्णूचितकामपरिचारकदेवविशेषात्, तथाऽन्यो देव आद्यप्रकारद्वयवर्जनेनान्त्यप्रकारेण परिचारयतीति तृतीयाऽनुत्कटकामाल्पर्द्धिकदेवविशेषस्वामिकत्वादिति ॥ परिचारणेति मैथुनविशेष उक्तोऽधुना तदेव मैथुनं सामान्यतः प्ररूपयन्नाह—'तिविहे मेहुणे' इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं मिथुनं–स्त्रीपुंसयुग्मं तत्कर्म मैथुनं, नारकाणां तन्न सम्भवति द्रव्यत इति चतुर्थं नास्त्येवेति नोक्तम् ॥ मिथुनकर्मण एव कारकानाह—'तओ' इत्यादि कण्ठ्यं, तेषामेव भेदानाह—'तओ मेहुण'मित्यादि, कण्ठ्यं, नवरं स्त्र्यादिलक्षणमिदमाचक्षते विचक्षणाः—"योनि १ मृदुत्व २ मस्थैर्य ३, मुग्धत्वं ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्लीवता ५ स्तनौ ६ । पुंस्कामितेति ७ लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥ मेहनं १ खरता २ दार्ढ्यं ३, शौण्डीर्यं ४ श्मश्रु ५ धृष्टता ६ । स्त्रीकामिते ७ ति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥ २ ॥ स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावाभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम् ॥ ३ ॥" तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—"स्तनकेशवती स्त्री स्याद्, रोमशः पुरुषः स्मृतः । उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ एते च योगवन्तो भवन्तीति योगप्ररूपणायाह—

तिविहे जोगे पं० तं०—मणजोगे वतिजोगे कायजोगे, एवं णेरतिताणं विगलिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं, तिविहे पओगे पं० तं०—मणपओगे वतिपओगे कायपओगे, जहा जोगो विगलिंदियवज्जाणं तधा पओगोऽवि, तिविहे करणे पं०, तं०—मणकरणे वतिकरणे कायकरणे, एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं, तिविहे करणे पं० तं०—आरंभकरणे संरंभकरणे समारंभकरणे, निरंतरं जाव वेमाणियाणं (सू० १२४)

'तिविहे जोए' इत्यादि, इह वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वमात्मनो वीर्यं योगः, आह च—"[1]जोगो वीरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा । सत्ती सामत्थंति य जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ १ ॥" इति, स च द्विधा–सकरणोऽकरणश्च, तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोरर्थयोः केवलं ज्ञानं दर्शनं चोपयुज्ञानस्य योऽसावपरिस्पन्दोऽप्रतिघो वीर्यविशेषः सोऽकरणः, स च नेहाधिक्रियते, सकरणस्यैव त्रिस्थानकावतारित्वाद्, अतस्तत्रैव व्युत्पत्तिस्तमेव चाश्रित्य सूत्रव्याख्या, युज्यते जीवः कर्मभिर्येन '[2]कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ'त्ति वचनात् युङ्क्ते-

१ योगो वीर्यं स्थाम उत्साहः पराक्रमस्तथा चेष्टा । शक्तिः सामर्थ्यमिति च योगस्य भवन्ति पर्यायाः ॥ १ ॥ २ कर्म योगनिमित्तं बध्यते




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१२४]

दीप अनुक्रम [१३२]

प्रयुङ्क्ते यं पर्यायं स योगो–वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति, आह च—"मणसा वयसा कायेण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो । जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ ॥ १ ॥ तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो । जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो ॥ २ ॥" इति, मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो–वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यवदुपष्टम्भकरो मनोयोग इति, स च चतुर्विधः–सत्यमनोयोगो मृषामनोयोगः सत्यमृषामनोयोगो असत्यामृषामनोयोगश्चेति, मनसो वा योगः–करणकारणानुमतिरूपो व्यापारो मनोयोगः, एवं वाग्योगोऽपि, एवं काययोगोऽपि, नवरं स सप्तविधः–औदारिकौ १ दारिकमिश्र २ वैक्रिय ३ विक्रियमिश्रा ४ हारका ५ हारकमिश्र ६ कार्मणकाययोग ७ भेदादिति, तत्रौदारिकादयः शुद्धाः सुबोधाः, औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वात्, एवमौदारिकं मिश्रं कार्मणेन नौदारिकतया नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यम् अपरिपूर्णत्वादिति तस्यौदारिकमिश्रव्यपदेशः, एवं वैक्रियाहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेशः, प्रज्ञापनाव्याख्यानांशस्त्वेवम्–औदारिकाद्याः शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति, तत्रोत्पत्तावौदारिककायः कार्मणेन औदारिकशरीरिणश्च वैक्रियाहारककरणकाले वैक्रियाहारकाभ्यां मिश्रो भवति इत्येवमौदारिकमिश्रः, तथा वैक्रियमिश्रो देवाद्युत्पत्तौ कार्मणेन कृतवैक्रियस्य चौदारिकप्रवेशाद्धायामौदारि-

१ मनसा वचसा कायेन वापि युक्तस्य वीर्यपरिणामः जीवस्यात्मीयः स योगसंज्ञो जिनाख्यातः ॥ १ ॥ तेजोयोगेन यथा रक्तत्वादिर्घटस्य परिणामः जीवकरणप्रयोगे वीर्यमपि तथाऽऽत्मपरिणामः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योगस्य व्याख्या एवं भेद-प्रभेदाः

केण, आहारकमिश्रस्तु साधिताहारककायप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति, कार्मणस्तु विग्रहे केवलिसमुद्घाते वेति, सर्व एवायं योगः पञ्चदशधेति, सङ्ग्रहोऽस्य—"[1]सच्चं १ मोसं २ मीसं ३ असच्चमोसं ४ मणो वती चेवं ८। काओ उराल १ विक्किय २ आहारग ३ मीस ६ कम्मइगो ७॥ १ ॥" इति ॥ सामान्येन योगं प्ररूप्य विशेषतो नारकादिषु चतुर्विंशतौ पदेषु तमतिदिशन्नाह—'एव'मित्यादि, कण्ठ्यं, नवरमतिप्रसङ्गपरिहारायेदमुक्तं—"विगलिंदियवज्जाणं"ति तत्र विकलेन्द्रियाः—अपञ्चेन्द्रियाः, तेषां ह्येकेन्द्रियाणां काययोग एव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तु काययोगवाग्योगाविति ॥ मनःप्रभृतिसम्बन्धेनैवेदमाह—'तिविहे पओगे' इत्यादि, कण्ठ्यं, नवरं मनःप्रभृतीनां व्याप्रियमाणानां जीवेन हेतुकर्तृभूतेन यद् व्यापारणं—प्रयोजनं स प्रयोगः मनसः प्रयोगो मनःप्रयोगः, एवमितरावपि, 'जहे'त्यादितिदेशसूत्रं पूर्ववद्भावनीयमिति। मनःप्रभृतिसम्बन्धेनैवेदमपरमाह—'तिविहे करणे' इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं क्रियते येन तत्करणं—मनआदिक्रियासु प्रवर्त्तमानस्यात्मन उपकरणभूतस्तथा तथापरिणामवत्पुद्गलसङ्घात इति भावः, तत्र मन एव करणं मनःकरणमेवम् इतरे अपि, 'एव' मित्यादितिदेशसूत्रं पूर्ववदेव भावनीयमिति, अथवा योगप्रयोगकरणशब्दानां मनःप्रभृतिकमभिधेयतया योगप्रयोगकरणसूत्रेष्वभिहितमिति नार्थभेदोऽन्वेषणीयः, त्रयाणामप्येषामेकार्थतया आगमे बहुशः प्रवृत्तिदर्शनात्, तथाहि—योगः पञ्चदशविधः शतकादिषु व्याख्यातः, प्रज्ञापनायां त्वेवमेवायं प्रयोगशब्देनोक्तः, तथाहि—"कतिविहे णं भंते! पओगे पन्नत्ते, गोतमा! पन्नरसविहे" इत्यादि, तथा आवश्यकेऽयमेव करणतयोक्तः, तथाहि

[1] सत्यं मृषा मिश्रं असत्यामृषा मनो वचोऽपि चैवं काय औदारिकवैक्रियाहारकमिश्राः कार्मण इति ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योगस्य व्याख्या एवं भेद-प्रभेदा:

—"जुंजणकरणं तिविहं मणवतिकाए य मणसि सच्चाइ । सट्ठाणे तेसि भेओ चउ चउहा सत्तहा चेव ॥ १ ॥" इति ॥ प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह—'तिविहे'इत्यादि, आरम्भणमारम्भः—पृथिव्याद्युपमर्दनं तस्य कृतिः—करणं स एव वा करणमित्यारम्भकरणमेवमितरे अपि वाच्ये, नवरमयं विशेषः—संरम्भकरणं पृथिव्यादिविषयमेव मनःसङ्क्लेशकरणं, समारम्भकरणं—तेषामेव सन्तापकरणमिति, आह च—"संकप्पो संरंभो परितावकरो भवे समारंभो । आरंभो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं ॥ १ ॥" इति ॥ इदमारम्भादिकरणत्रयं नारकादीनां वैमानिकान्तानां भवतीत्यतिदिशन्नाह—'निरन्तर'मित्यादि, सुगमं, केवलं संरम्भकरणमसंज्ञिनां पूर्वभवसंस्कारानुवृत्तिमात्रतया भावनीयमिति ॥ आरम्भादिकरणस्य क्रियान्तरस्य च फलमुपदर्शयन्नाह—

तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताते कम्मं पगरेंति, तं०—पाणे अतिवातित्ता भवति मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताते कम्मं पगरेंति । तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताते कम्मं पगरेंति, तं०—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुसं वतित्ता भवति तथारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चे तेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति । तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजधा—

१ युञ्जनकरणं त्रिविधं मनोवाक्कायेषु मनसि सत्यादि स्वस्थाने तेषां भेदः चतुर्धा चतुर्द्धा कायः सप्तधा चैव ॥ १ ॥ २ संकल्पः संरंभः परितापकरो भवेत्समारंभः । आरंभ उपद्रवतः शुद्धनयानान्तु सर्वेषां ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

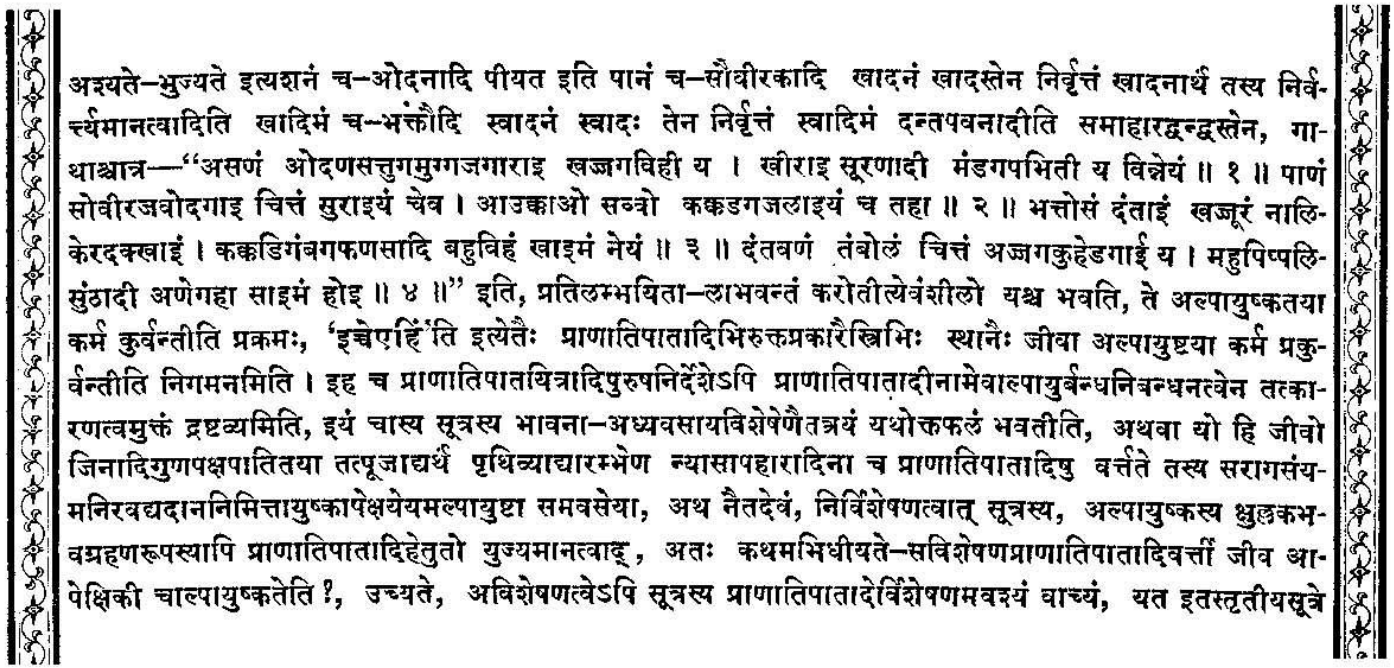
पाणे अतिवातित्ता भवइ मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलेत्ता णिंदित्ता खिंसेत्ता गरहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीतिकारतेणं असण० पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताते कम्मं पगरेंति, तं०—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुसं वदित्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारित्ता समाणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवतं चेतितं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीतिकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउअत्ताते कम्मं पगरेंति। (सू० १२५)

**'तिहिं ठाणेहिं'** इत्यादि, त्रिभिः **'स्थानैः'** कारणैः **'जीवाः'** प्राणिनः **'अप्पाउयत्ताए'त्ति** अल्पं–स्तोकमायुः–जीवितं यस्य सोऽल्पायुस्तद्भावस्तत्ता तस्यै अल्पायुष्टायै तदर्थं तन्निबन्धनमित्यर्थः, कर्म–आयुष्कादि, अथवा अल्पमायुः–जीवितं यत आयुषस्तदल्पायुः तद्भावस्तत्ता तया कर्म–आयुर्लक्षणं **'प्रकुर्वन्ति'** बध्नन्तीत्यर्थः, तद्यथा—**'प्राणान्'** प्राणेनोऽऽतिपातयितेति **'शीलार्थतृन्नन्त'**मिति कर्मणि द्वितीयेति, प्राणिनां विनाशनशील इत्यर्थः, एवंभूतो यो भवति, एवं मृषावादं वक्ता यश्च भवति, तथा–तत्प्रकारं रूपं–स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूपः दानोचित इत्यर्थः, तं श्राम्यति–तपस्यतीति श्रमणः–तपोयुक्तस्तं मा हन इत्याचष्टे यः परं प्रति स्वयं हननिवृत्तः सन्निति स माहनो–मूलगुणधरस्तं, वाशब्दौ विशेषणसमुच्चयार्थौ, प्रगता असवः–असुमन्तः प्राणिनो यस्मात् तत्प्रासुकं तन्निषेधात्प्रासुकं सचेतनमित्यर्थः तेन, एष्यते–गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीयं–कल्प्यं तन्निषेधादनेषणीयं तेन,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव, कर्म, प्राण, रूप, श्रमण, अप्रासुक, अनेषणीय आदि शब्दानाम् व्याख्या



अश्यते–भुज्यते इत्यशनं च–ओदनादि पीयत इति पानं च–सौवीरकादि खादनं खादस्तेन निर्वृत्तं खादनार्थं तस्य निर्वर्त्यमानत्वादिति खादिमं च–भक्तौदि स्वादनं स्वादः तेन निर्वृत्तं स्वादिमं दन्तपवनादीति समाहारद्वन्द्वस्तेन, गाथाश्चात्र—"असणं ओदणसत्तुगमुग्गजगाराइ खज्जगविही य । खीराइ सूरणादी मंडगपभिती य विन्नेयं ॥ १ ॥ पाणं सोवीरजवोदगाइ चित्तं सुराइयं चेव । आउक्काओ सव्वो ककडगजलाइयं च तहा ॥ २ ॥ भत्तोसं दंताइं खज्जूरं नालिकेरदक्खाइं । ककडिगंबगफणसादि बहुविहं खाइमं नेयं ॥ ३ ॥ दंतवणं तंबोलं चित्तं अज्जगकुहेडगाई य । महुपिप्पलिसुंठादी अणेगहा साइमं होइ ॥ ४ ॥" इति, प्रतिलम्भयिता–लाभवन्तं करोतीत्येवंशीलो यश्च भवति, ते अल्पायुष्कतया कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः, 'इच्चेएहिं'ति इत्येतैः प्राणातिपातादिभिरुक्तप्रकारैस्त्रिभिः स्थानैः जीवा अल्पायुष्टया कर्म प्रकुर्वन्तीति निगमनमिति । इह च प्राणातिपातयित्रादिपुरुषनिर्देशेऽपि प्राणातिपातादीनामेवाल्पायुर्बन्धनिबन्धनत्वेन तत्कारणत्वमुक्तं द्रष्टव्यमिति, इयं चास्य सूत्रस्य भावना–अध्यवसायविशेषेणैतत्त्रयं यथोक्तफलं भवतीति, अथवा यो हि जीवो जिनादिगुणपक्षपातितया तत्पूजाद्यर्थं पृथिव्याद्यारम्भेण न्यासापहारादिना च प्राणातिपातादिषु वर्त्तते तस्य सरागसंयमनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्टा समवसेया, अथ नैतदेवं, निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य, अल्पायुष्कस्य क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुतो युज्यमानत्वाद्, अतः कथमभिधीयते–सविशेषणप्राणातिपातादिवर्त्ती जीव आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति ?, उच्यते, अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यं, यत इतस्तृतीयसूत्रे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अशन, पान, खादिम, स्वादिम' शब्दस्य व्याख्या, प्राणातिपातादित्वात् अल्पायुर्निबन्धन्त्वं

प्राणातिपातादित एव अशुभदीर्घायुष्टां वक्ष्यति, न हि समानहेतोः कार्यवैषम्यं प्रयुज्यते, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्, तथा 'समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?, गोयमा!, बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ'त्ति भगवतीवचनश्रवणादवसीयते–नैवेयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपाऽल्पायुष्टा, न हि स्वल्पपापबहुनिर्जरानिबन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्तता सम्भाव्यते, जिनपूजनाद्यनुष्ठानस्यापि तथाप्रसङ्गात्, अथाप्रासुकदानस्य भवत्युक्ताऽल्पायुष्टा, प्राणातिपातमृषावादयोस्तु क्षुल्लकभवग्रहणमेव फलमिति, नैतदेवम्, एकयोगप्रवृत्तत्वाद् अविरुद्धत्वाच्चेति, अथ मिथ्यादृष्टिश्रमणब्राह्मणानां यदप्रासुकदानं ततो निरुपचरितैवाल्पायुष्टा युज्यते, इतराभ्यां तु को विचार इति?, नैवम्, अप्रासुकेनेति तत्र विशेषणस्यानर्थकत्वात्, प्रासुकदानस्यापि अल्पायुष्कफलत्वाविरोधाद्, उक्तं च भगवत्याम्—"समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं असंजतअविरयअपडिहयअपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण ४ पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?, गोयमा?, एगंतसो पावेकम्मे कज्जइ, नो से काइ निज्जरा कज्जइ"त्ति, यच्च पापकर्मण एव कारणं तदल्पायुष्टाया अपि कारणमिति, नन्वेवं प्राणातिपातमृषावादावप्रासुकदानं च कर्त्त-

१ युज्यते. २ श्रमणोपासकेन भदन्त! तथारूपं श्रमणं वा माहनं वाऽप्रासुकेनानेषणीयेनाशनपानखादिमखादिमेन प्रतिलम्भयता किं क्रियते?, गौतम! बहुतरा तेन निर्जरा क्रियतेऽल्पतरं तेन पापकर्म क्रियते ३ श्रमणोपासकेन भदन्त! तथारूपं असंयताविरताप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्माणं प्रासुकेन वाऽप्रासुकेन वा एषणीयेनानेषणीयेन वा अशनादिना प्रतिलम्भयता किं क्रियते?, गौतम! एकान्ततः पापकर्म क्रियते न तेन काचिन्निर्जरा क्रियते ॥ ४ बहुनिर्जरासाधनत्वेऽपि अल्पस्य. ५ सरागसंयमनिर्वर्त्यदीर्घशुभायुष्टापेक्षया. ६ अप्रासुकादिदानं.




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


प्राणातिपातादित्वात् अल्पायुर्निबन्धन्त्वं

व्यमापन्नमिति?, उच्यते, आपद्यतां नाम भूमिकापेक्षया को दोषः?, यतः—"अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः। व्याधिप्रतिक्रियातुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥ १ ॥" तथा च गृहिणं प्रति जिनभवनकारणफलमुक्तम्—"एतदिह भावयज्ञः सद्गृहिणो जन्मफलमिदं परमम्। अभ्युदयाव्युच्छित्त्या नियमादपवर्गबीजमिति ॥ १ ॥" तथा "[1]भण्णइ जिणपूयाए कायवहो जइवि होइ उ कहिंचि। तहवि तई परिसुद्धा गिहीण कूवाहरणजोगा ॥ १ ॥ असदारंभपवत्ता जं च गिही तेण तेसिं विन्नेया। तन्निव्वित्तिफलच्चिय एसा परिभावणीयमिदं ॥ २ ॥" इति, दानाधिकारे तु श्रूयते द्विविधाः श्रमणोपासकाः—संविग्नभाविता लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्चेति, यथोक्तम्—"संविग्गभावियाणं[2] लोद्धयदिट्ठंतभावियाणं च। मोत्तूण खेत्तकाले भावं च कहिंति सुद्धुच्छं ॥ १ ॥" इति, तत्र लुब्धकदृष्टान्तभाविता यथाकथञ्चिद्ददति, संविग्नभावितास्त्वौचित्येनेति, तच्चेदम्,—"संथरणंमि[3] असुद्धं दोण्हवि गेण्हन्तदेंतयाणऽहियं। आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हितं असंथरणे ॥ १ ॥" इति, तथा "णायागयाणं[4] कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुयं" इत्यादि, क्वचित् "पाणे अतिवायित्ता मुसं वयित्ते"त्येवं भवतिशब्दवर्जा वाचना, तत्रापि स एवार्थः, क्त्वाप्रत्ययान्तता वा व्या-

१ भण्यते जिनपूजायां यद्यपि कथंचित्कायवधो भवति तथापि सा परिशुद्धा गृहिणां कूपोदाहरणदृष्टान्तात् ॥ १ ॥ असदारंभप्रवृत्ता यच्च गृहिणस्तेन तेषां विज्ञेया तन्निवृत्तिफलैव एषा परिभावनीयमेतत् ॥ २ ॥ २ संविग्नभावितानां लुब्धकदृष्टान्तभावितानां च क्षेत्रकालौ भावं च मुक्त्वा शुद्धमुच्छं कथयन्ति (देशयन्ति) ॥ १ ॥ ३ संस्तरणे द्वयोरपि गृहणद्दतोरहितमशुद्धं आतुरदृष्टान्तेन तदेवासंस्तरणे हितं। (देशादिभेदात्) ॥ १ ॥ ४ न्यायागतानां कल्पनीयानां अन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुतं (दानं).

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | प्राणातिपातादित्वात् अल्पायुर्निबन्धन्त्वं |

ख्येया, प्राणानतिपात्य मृषोक्त्वा श्रमणं प्रातिलम्भ्य अल्पायुष्टया कर्म बध्नन्तीति प्रक्रमः, शेषं तथैव, अथवा प्रतिलम्भनस्थानकस्यैवेतरे विशेषणे, तथाहि–प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा यथा–अहो साधो! स्वार्थसिद्धमिदं भक्तादि कल्पनीयं वो न शङ्का कार्येत्यादि, ततः प्रतिलम्भ्य तथा कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः, इह च द्वयस्य विशेषणत्वेन एकस्य विशेष्यत्वेन त्रिस्थानकत्वमवगन्तव्यम्, गम्भीरार्थं चेदं सूत्रमतोऽन्यथाऽपि भावनीयमिति ॥ अल्पायुष्कताकारणान्युक्तान्यधुनैतद्विपर्ययस्यैतान्येव विपर्यस्ततया कारणान्याह—'तिहीं'त्यादि प्राग्वदवसेयम्, नवरं 'दीहाउयत्ताए'त्ति शुभदीर्घायुष्टायै शुभदीर्घायुष्टया वेति प्रतिपत्तव्यं, प्राणातिपातविरत्यादीनां दीर्घायुषः शुभस्यैव निमित्तत्वाद्, उक्तं च—"महव्वय अणुव्वएहि य बालतवोऽकामनिज्जराए य। देवाउयं निबंधइ सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो ॥ १ ॥" तथा, "पयईऍ तणुकसाओ दाणरओ सीलसंजमविहूणो। मज्झिमगुणेहिं जुत्तो मणुयाउं बंधए जीवो ॥ २ ॥" देवमनुष्यायुषी च शुभे इति। तथा भगवत्यां दानमुद्दिश्योक्तं—"समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा २ फासुएसणिज्जेणं असण ४ पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?, गोयमा!, एगंतसो निज्जरा कज्जइ, णो से केइ पावे कम्मे कज्जइ २" इति, यच्च निर्जराकारणं तच्छुभदीर्घायुःकारणतया न विरुद्धं, महाव्रतवदिति। अनन्तरमायुषो दीर्घताकारणान्यु-

१ महाव्रतैरणुव्रतैश्च बालतपोऽकामनिर्जरया च देवायुर्निबध्नाति सम्यग्दृष्टिश्च यो जीवः ॥ १ ॥ प्रकृत्या तनुकषायो दानरतिः शीलसंयमविहीनः मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्बध्नाति जीवः ॥ १ ॥ २ श्रमणोपासकेन भदन्त! तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा प्रासुकैषणीयेनाशनादिना ४ प्रतिलम्भयता किं क्रियते?, गौतम! एकान्ततो निर्जरा क्रियते न तेन किंचिदपि पापकर्म क्रियते ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राणातिपातादित्वात् अल्पायुर्निबन्धन्त्वं

क्तानि, तच्च शुभाशुभमिति तत्रादौ तावदशुभायुर्दीर्घताकारणान्याह—'तिहीं'त्यादि प्राग्वत्, नवरं अशुभदीर्घायुष्टायै इति नारकायुष्कायेति भावः, तथाहि—अशुभं च तत्पापप्रकृतिरूपत्वात् दीर्घं च तस्य जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्रस्थितिकत्वादुत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपत्वादशुभदीर्घं, तदेवंभूतमायुः—जीवितं यस्मात्कर्मणस्तदशुभदीर्घायुस्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति, प्राणान्—प्राणिन इत्यर्थोऽतिपातयिता भवति मृषावादं वक्ता भवति तथा श्रमणमशनादिना हीलनादि कृत्वा प्रतिलम्भयिता भवतीत्यक्षरघटना, हीलना तु जात्याद्युद्घट्टनतो निन्दनं मनसा खिंसनं जनसमक्षं गर्हणं तत्समक्षं अपमाननमनभ्युत्थानादिभिः, 'अन्यतरेण' बहूनां मध्ये एकतरेण, क्वचित्त्वन्यतरेणेति न दृश्यते, 'अमनोज्ञेन' स्वरूपतोऽशोभनेन कदन्नादिनाऽत एवाप्रीतिकारकेण, भक्तिमतस्त्वमनोज्ञमपि मनोज्ञमेव, तत्फलत्वाद्, आर्यचन्दनाया इव, आर्यचन्दनया हि कुल्माषाः सूर्पकोणकृता भगवते महावीराय पञ्चदिनोनषाण्मासिकक्षपणपारणके दत्ताः, तदैव च तस्या लोहनिगडानि हेममयनूपुरौ सम्पन्नौ केशाः पूर्ववदेव जाताः पञ्चवर्णविविधरत्नराशिभिर्गृहं भृतं सेन्द्रदेवदानवनरनायकैरभिनन्दिता कालेनावाप्तचारित्रा च सिद्धिसौधशिखरमुपगतेति, इह च सूत्रेऽशनादि प्रासुकाप्रासुकत्वादिना न विशेषितं, हीलनादिकर्तुः प्रासुकादिविशेषणस्य फलविशेषं प्रत्यकारणत्वात्, मत्सरजनितहीलनादिविशेषणानामेव प्रधानतया तत्कारणत्वादिति । प्राणातिपातमृषावादयोर्दानविशेषणपक्षव्याख्यानमपि घटत एव, अवज्ञादानेऽपि प्राणातिपातादेर्दृश्यमानत्वादिति, भवति च प्राणातिपातादेर्नरकायुः, यदाह—"मिच्छादिट्ठी महारंभपरिग्गहो तिव्व-

१ मिथ्यादृष्टिर्महारंभपरिग्रहस्तीव्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोहनिस्सीलो । नरयाउयं निबंधइ पावमती रोद्दपरिणामो ॥ १ ॥" इति ॥ उक्तविपर्ययेणाधुनेतरदाह—'तिहिं ठाणेहिं'-त्यादि पूर्ववत्, नवरं 'वन्दित्वा' स्तुत्वा 'नमस्थित्वा' प्रणम्य सत्कारयित्वा वस्त्रादिना सन्मानयित्वा प्रतिपत्तिविशेषेण कल्याणं—समृद्धिः तद्धेतुत्वात् साधुरपि कल्याणमेवं मंगलं विघ्नक्षयस्तद्योगान्मङ्गलं दैवतमिव [देवतेव] दैवतं चैत्यमिव—जिनादिप्रतिमेव चैत्यं श्रमणं 'पर्युपास्य' उपसेव्येति, इहापि प्रासुकाप्रासुकतया दानं न विशेषितं, पूर्वसूत्रविपर्यत्वादस्य, पूर्वसूत्रस्य चाविशेषणतया प्रवृत्तत्वादिति, न च प्रासुकाप्रासुकदानयोः फलं प्रति न विशेषोऽस्ति, पूर्वसूत्रयोस्तस्य प्रतिपादितत्वात्, तस्मादिह प्रासुकैषणीयस्य कल्पप्राप्तावितरस्य चेदं फलमवसेयं, अथवा भावप्रकर्षविशेषादनेषणीयस्यापीदं फलं न विरुध्यते, अचिन्त्यत्वाच्चित्तपरिणतेः, सा हि बाह्यस्यानुगुणतयैव न फलानि साधयति, भरतादीनामिवेति, इह च प्रथममल्पायुःसूत्रं द्वितीयं तद्विपक्षः तृतीयमशुभदीर्घायुःसूत्रं चतुर्थं तद्विपक्ष इति न पुनरुक्ततेति ॥ प्राणानतिपातनादि च गुप्तिसद्भावे भवतीति गुप्तीराह—

ततो गुत्तीतो पन्नत्ताओ, तं०—मणगुत्ती वतिगुत्ती कायगुत्ती, संजयमणुस्साणं ततो गुत्तीओ पं० तं०—मण० वइ० काय०, तओ अगुत्तीओ पं० तं०—मणअगुत्ती वइअगुत्ती कायअगुत्ती, एवं नेरइताणं जाव थणियकुमाराणं, पंचिंदिय-

१ लोभनिःशीलः । निरयायुर्निबध्नाति पापमती रुद्रपरिणामः ॥ १ ॥ २ प्रति वि. प्र. ३ यथाभद्रकापेक्षया प्रवृत्तौ मनुष्यापेक्षया स्यात्तत्, चतुर्थं तु परिणतापेक्षया अत एव सत्कारयित्वेत्यादि, तथा देवायुष्कायपेक्षमेतत्.





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिरिक्खजोणियाणं असंजतमणुस्साणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं । ततो दंडा पं० तं०—मणदंडे वयदंडे काय-
दंडे, नेरइयाणं तओ दंडा पण्णत्ता, तं०—मणदंडे वइदंडे कायदंडे, विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं (सू० १२६)

**'तओ'** इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं गोपनं गुप्तिः—मनःप्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्त्तनमकुशलानां च निवर्त्तनमिति, आह च —"मणगुत्तिमाइयाओ गुत्तीओ तिन्नि समयकेऊहिं । पवियारेयररूवा णिद्दिट्ठाओ जओ भणियं ॥ १ ॥ समिओ णि-यमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो । कुसलवइमुईरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि ॥ २ ॥" इति, एताश्चतुर्विंशति-दण्डके चिन्त्यमाना मनुष्याणामेव, तत्रापि संयतानां, न तु नारकादीनामित्यत आह—**'संजयमणुस्साण'**मित्यादि, कण्ठ्यम् ॥ उक्ता गुप्तयस्तद्विपर्ययभूता अथागुप्तीराह—**'तओ'** इत्यादि कण्ठ्यं, विशेषतश्चतुर्विंशतिदण्डके एता अति-दिशन्नाह—**'एव'**मित्यादि, **'एव'**मिति सामान्यसूत्रवन्नारकादीनां तिस्रोऽगुप्तयो वाच्याः, शेषं कण्ठ्यं, नवरमिहैकेन्द्रि-यविकलेन्द्रिया नोक्ताः, वाङ्मनसोस्तेषां यथायोगमसम्भवात्, संयतमनुष्या अपि नोक्ताः, तेषां गुप्तिप्रतिपादनादिति ॥ अगुप्तयश्चात्मनः परेषां च दण्डनानि भवन्तीति दण्डान्निरूपयन्नाह—**'तओ दण्डे'**त्यादि, कण्ठ्यं, नवरं मनसा दण्डनमात्मनः परेषां चेति मनोदण्डः, अथवा दण्ड्यते अनेनेति दण्डो मन एव दण्डो मनोदण्ड इति, एवमितरावपि, विशेषचिन्तायां चतुर्विंशतिदण्डके **'नेरइयाणं तओ दंडा'** इत्यादि यावद्वैमानिकानामिति सूत्रं वाच्यं, नवरं **'विगलिंदियवज्जं'**ति

१ मनोगुप्त्यादिका गुप्तयस्तिस्रः समयकेतुभिः प्रविचारेतररूपा निर्दिष्टा यतो भणितं ॥ १ ॥ समितो नियमाद् गुप्तो गुप्तः समितत्वे भक्तव्यः कुशल-वाचमुदीरयन् वाग्गुप्तोऽपि समितोऽपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियान् वर्जयित्वेत्यर्थः, तेषां हि दण्डत्रयं न सम्भवति, यथायोगं वाङ्मनसोरभावादिति ॥ दण्डश्च गर्हणीयो भवतीति गर्हा सूत्राभ्यामाह—

तिविहा गरहा पं० तं०—मणसा वेगे गरहति, वयसा वेगे गरहति, कायसा वेगे गरहति पावाणं कम्माणं अकरणयाए, अथवा गरहा तिविहा, पं० तं०—दीहंपेगे अद्धं गरहति, रहस्संपेगे अद्धं गरहति, कायंपेगे पडिसाहरति पावाणं कम्माणं अकरणयाए, तिविहे पच्चक्खाणे पं० तं०—मणसा वेगे पच्चक्खाति वयसा वेगे पच्चक्खाति कायसा वेगे पच्चक्खाइ, एवं जहा गरहा तहा पच्चक्खाणेवि दो आलावगा भाणियव्वा (सू० १२७)

'तिविहे'त्यादि सूत्रद्वयं गतार्थं, नवरं, गर्हते—जुगुप्सते दण्डं स्वकीयं परकीयं आत्मानं वा 'कायसावि'त्ति सकारस्यागमिकत्वात् कायेनाप्येकः, कथमित्याह—पापानां कर्म्मणामकरणतया हेतुभूतया, हिंसाद्यकरणेनेत्यर्थः, कायगर्हा हि पापकर्माप्रवृत्त्यैव भवतीति भावः, उक्तं च—"पापजुगुप्सा तु तथा सम्यक्परिशुद्धचेतसा सततम्। पापोद्वेगोऽकरणं तदचिन्ता चेत्यनुक्रमतः ॥ १ ॥" इति, अथवा पापकर्मणामकरणतायै—तदकरणार्थं त्रिधाऽपि गर्हते, अथवा चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ततः पापेभ्यः कर्म्मभ्यो गर्हते, तानि जुगुप्सत इत्यर्थः, किमर्थम्?—अकरणतायै—मा कार्षमहमेतानीति, 'दीहंपेगे अद्धं'ति दीर्घं कालं यावत्, तथा कायमप्येकः प्रतिसंहरति—निरुणद्धि, कया?—पापानां कर्म्मणामकरणतया हेतुभूतया, तदकरणेन तदकरणतायै वा तेभ्यो वा गर्हते, कायं वा प्रतिसंहरति तेभ्यः, अकरणतायै तेषामेवेति ॥ अतीते दण्डे गर्हा भवति, सा चोक्ता, भविष्यति च प्रत्याख्यानमिति सूत्रद्वयेन तदाह—'तिविहे'त्यादि गतार्थं, नवरं 'गरि-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'गर्हा' शब्दस्य व्याख्या:

ह'त्ति गर्हायां, आलापकौ चेमौ 'मणसे'त्यादि, 'कायसा वेगे पच्चक्खाइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए' इत्येतदन्त एकः, 'अहवा' पच्चक्खाणे तिविहे पं०-तं०-दीहंपेगे अद्धं पच्चक्खाइ रहस्संपेगे अद्धं पच्चक्खाइ कायंपेगे पडिसाहरइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए इति द्वितीयः, तत्र कायमप्येकः प्रतिसंहरति पापकर्म्माकरणाय अथवा कायं प्रतिसंहरति पापकर्म्मभ्योऽकरणाय तेषामेवेति ॥ पापकर्मप्रत्याख्यातारश्च परोपकारिणो भवन्तीति तदुपदर्शनाय दृष्टान्तभूतवृक्षाणां तद्दार्ष्टान्तिकानां च पुरुषाणां प्ररूपणार्थमाह—

ततो रुक्खा पं० तं०—पत्तोवते फलोवते पुप्फोवते १ एवामेव तओ पुरिसजाता पं० तं०—पत्तोवारुक्खसामाणा पुप्फोवारुक्खसामाणा फलोवारुक्खसामाणा २, ततो पुरिसज्जाया पं० तं०—नामपुरिसे ठवणपुरिसे दव्वपुरिसे ३, तओ पुरिसज्जाया पं०, तं०—नाणपुरिसे दंसणपुरिसे चरित्तपुरिसे ४, तओ पुरिसज्जाया पं० तं०—वेदपुरिसे चिंधपुरिसे अभिलावपुरिसे ५, तिविहा पुरिसजाया पं० तं०—उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा जहन्नपुरिसा ६, उत्तमपुरिसा तिविहा पं० तं०—धम्मपुरिसा भोगपुरिसा कम्मपुरिसा, धम्मपुरिसा अरिहंता भोगपुरिसा चक्कवट्टी कम्मपुरिसा वासुदेवा७, मज्झिमपुरिसा तिविहा पं० तं०—उग्गा भोगा रायन्ना ८, जहन्नपुरिसा तिविहा पं० तं०—दोसा भयगा भातिल्लगा ९ (सू० १२८)

'तओ रुक्खे'त्यादि सूत्रद्वयं, पत्राण्युपगच्छति-प्राप्नोति पत्रोपगः, एवमितरौ, 'एवमेवे'ति दार्ष्टान्तिकोपनयनार्थः, पुरुषजातानि-पुरुषप्रकारा यथा पत्रादियुक्तत्वेनोपकारमात्रविशिष्टविशिष्टतरोपकारकारिणोऽर्थिषु वृक्षाः तथा लोकोत्तर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषाः सूत्रार्थोभयदानादिना यथोत्तरमुपकारविशेषकारित्वात् तत्समाना मन्तव्याः, एवं लौकिका अपीति, इह च 'पत्तोवग' इत्यादिवाच्ये **पत्तोवा** इत्यादिकं प्राकृतलक्षणवशादुक्तं, **'समाणे'** इत्यत्रापि च **'सामाणे'** इति ॥ अथ पुरुषप्रस्तावात् पुरुषान् सप्तसूत्र्या निरूपयन्नाह—**'तओ'** इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं नामपुरुषः पुरुष इति नामैव, स्थापनापुरुषः पुरुषप्रतिमादि, द्रव्यपुरुषः पुरुषत्वेन य उत्पत्स्यते उत्पन्नपूर्वो वेति, विशेषोऽत्रेन्द्रसूत्राद् द्रष्टव्यो भवति, अत्र भाष्यगाथा—"आगमओऽणुवउत्तो इयरो दव्वपुरिसो तिहा तइओ । एगभवियाइ तिविहो मूलुत्तरनिम्मिओ वावि ॥ १ ॥" मूलगुणनिर्मितः पुरुषप्रायोग्याणि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तदाकारवन्ति तान्येवेति, भावपुरुषभेदाः पुनर्ज्ञानपुरुषादयः । ज्ञानलक्षणभावप्रधानपुरुषो ज्ञानपुरुषः एवमितरावपि । वेदः पुरुषवेदः तदनुभवनप्रधानः पुरुषो वेदपुरुषः, स च स्त्रीपुंनपुंसकसम्बन्धिषु त्रिष्वपि लिङ्गेषु भवतीति, तथा पुरुषचिह्नैः—श्मश्रुप्रभृतिभिरुपलक्षितः पुरुषश्चिह्नपुरुषो, यथा नपुंसकं श्मश्रुचिह्नमिति, पुरुषवेदो वा चिह्नपुरुषस्तेन चिह्नयते पुरुष इतिकृत्वेति, पुरुषवेषधारी वा स्त्र्यादिरिति, अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः—शब्दः स एव पुरुषः पुंल्लिङ्गतया अभिधानात् यथा घटः कुटो वेति, आह च—"अभिलावो पुंल्लिंगाभिहाणमेत्तं घडो व चिंधे उ । पुरिसाकिई नपुंसो वेओ वा पुरिसवेसो वा ॥ २ ॥ वेयपुरिसो तिलिंगोऽवि पुरिसो वेदाणुभूइकालम्मि" ॥ इति, **'धम्मपुरिस'**त्ति—धर्म्मः क्षायिकचारित्रादिस्तदर्जनपराः पुरुषाः धर्म्मपुरुषाः, उक्तं च—

१ आगमतोऽनुपयुक्त नोआगमतो द्रव्यपुरुषस्त्रिधा तृतीयः । एकभविकादिस्त्रिविधः मूलोत्तरनिर्मितो वाऽपि ( योग्यानि द्रव्याणि आकारवन्ति वा ) ॥ १ ॥ अभिलापः पुंलिङ्गाभिधानमात्रं घट इव चिह्ने तु । पुरुषाकृतिर्नपुंसको वेदो वा पुरुषवेषो वा ॥ २ ॥ वेदपुरुषस्त्रिलिंगोऽपि पुरुषवेदानुभूतिकाले ।



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"[1]धम्मपुरिसो तयज्जणवावारपरो जह सुसाहू" इति, भोगाः–मनोज्ञाः शब्दादयस्तत्पराः पुरुषा भोगपुरुषाः १, आह च—"[2]भोगपुरिसो समज्जियविसयसुहो चक्कवट्टिव्व" इति, कर्माणि–महारम्भादिसम्पाद्यानि नरकायुष्कादीनीति, उग्रा–भगवतो नाभेयस्य राज्यकाले ये आरक्षका आसन्, भोगास्तत्रैव गुरवः, राजन्यास्तत्रैव वयस्याः, तदुक्तम्—"[3]उग्गा भोगा रायन्न खत्तिया संगहो भवे चउहा। आरक्खि गुरु वयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ ॥ १ ॥" इति, तद्वंशजा अपि तत्तद्व्यपदेशा इति, एषां च मध्यमत्वमनुत्कृष्टत्वाजघन्यत्वाभ्यामिति, दासा–दासीपुत्रादयः भृतकाः–मूल्यतः कर्मकराः 'भाइल्लग'त्ति भागो विद्यते येषां ते भागवन्तः शुद्धचातुर्थिकादय इति ॥ उक्तं मनुष्यपुरुषाणां त्रैविध्यमधुना सामान्यतस्तिरश्चां जलचरस्थलचरखचरविशेषाणां, 'तिविहा मच्छे'त्यादि सूत्रैर्द्वादशभिस्तदाह—

तिविहा मच्छा पं० तं०—अंडया पोअया संमुच्छिमा १, अंडगा मच्छा तिविहा पं० तं०—इत्थी पुरिसा णपुंसगा २, पोतया मच्छा तिविहा पं० तं०—इत्थी पुरिसा णपुंसगा ३, तिविहा पक्खी पं० तं०—अंडया पोअया संमुच्छिमा १, अंडया पक्खी तिविहा पं० तं०—इत्थी पुरिसा णपुंसगा २, पोतजा पक्खी तिविहा पं० तं०—इत्थी पुरिसा णपुंसगा ३, एवमेतेणं अभिलावेणं उरपरिसप्पावि ३ भाणियव्वा, भुजपरिसप्पावि ३ भाणियव्वा ९ (सू० १२९) एवं चेव तिविहा इत्थीओ पं० तं०—तिरिक्खजोणित्थीओ मणुस्सित्थीओ देवित्थीओ १, तिरिक्खजोणीओ इत्थीओ तिवि-

१ धर्म्मपुरुषस्तदर्जनव्यापारपरो यथा सुसाधुरिति ॥ २ भोगपुरुषः समर्जितविषयसुखश्चक्रवर्त्तीव । ३ उग्रा भोगा राजन्याः क्षत्रिया संग्रहो भवेच्चतुर्धा ॥ आरक्षकगुरुवयस्याः शेषा ये क्षत्रियास्ते तु ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हाओ पं० तं०—जलचरीओ थलचरीओ खहचरीओ २, मणुस्सित्थीओ तिविहाओ, पं० तं०—कम्मभूमिआओ अकम्मभूमियाओ अंतरदीविगाओ ३, तिविहा पुरिसा पं० तं०—तिरिक्खजोणीपुरिसा मणुस्सपुरिसा देवपुरिसा १, तिरिक्खजोणिपुरिसा तिविहा पं० तं०—जलचरा थलचरा खेचरा २, मणुस्सपुरिसा तिविहा पं० तं०—कम्मभूमिगा अकम्मभूमिगा अंतरदीवगा ३, तिविहा नपुंसगा पं० तं०—णेरतियनपुंसगा तिरिक्खजोणियनपुंसगा मणुस्सनपुंसगा १, तिरिक्खजोणियनपुंसगा तिविहा पं० तं०—जलयरा थलयरा खहयरा २, मणुस्सनपुंसगा तिविधा पं० तं०—कम्मभूमिगा अकम्मभूमिगा अंतरदीवगा ३ । (सू० १३०) तिविहा तिरिक्खजोणिया पं० तं०—इत्थी पुरिसा नपुंसगा । (सू० १३१)

सुगमानि चैतानि, नवरं अण्डाज्जाता अण्डजाः, पोतं–वस्त्रं तद्वज्जरायुर्वर्जितत्वाज्जाताः, पोतादिव वा–बोहित्थाज्जाताः पोतजाः, सम्मूर्च्छिमा अगर्भजा इत्यर्थः, सम्मूर्च्छिमानां स्त्र्यादिभेदो नास्ति नपुंसकत्वात्तेषामिति स सूत्रे न दर्शित इति । पक्षिणोऽण्डजाः हंसादयः, पोतजा वल्गुलीप्रभृतयः, सम्मूर्च्छिमाः खञ्जनकादयः, उद्भिज्जत्वेऽपि तेषां सम्मूर्छजत्वव्यपदेशो भवत्येव, उद्भिज्जादीनां सम्मूर्च्छनजविशेषत्वादिति, 'एव'मिति पक्षिवत्, एतेन प्रत्यक्षेणाभिलापेन 'तिविहा उरपरिसप्पे'त्यादिसूत्रत्रयलक्षणेन, उरसा–वक्षसा परिसर्प्पन्तीति उरःपरिसर्प्पाः–सर्प्पादयस्तेऽपि भणितव्याः, तथा भुजाभ्यां–बाहुभ्यां परिसर्प्पन्ति ये ते तथा नकुलादयस्तेऽपि भणितव्याः, 'एवं चेव'त्ति, एवमेव यथा पक्षिणस्तथैवेत्यर्थः, इहापि सूत्रत्रयमध्येतव्यमिति भावः ॥ उक्तं तिर्यग्विशेषाणां त्रैविध्यमिदानीं स्त्रीपुरुषनपुंसकानां तदाह—



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तिविहे'त्यादि नवसूत्री सुगमा, नवरं 'खहं'ति प्राकृतत्वेन खम्–आकाशमिति, कृष्यादिकर्म्मप्रधाना भूमिः कर्म्मभूमिः–भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाताः कर्मभूमिजाः, एवमकर्मभूमिजाः, नवरमकर्मभूमिः भोगभूमिरित्यर्थः देवकुर्वादिका त्रिंशद्विधा, अन्तरे–मध्ये समुद्रस्य द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः ॥ विशेष(तः)त्रैविध्यमुक्त्वा सामान्यतस्तिरश्चां तदाह—'तिविहे'त्यादि, कण्ठ्यम् ॥ रूयादिपरिणतिश्च जीवानां लेश्यावशतो भव[ती]ति तन्निबन्धनकर्म्मकारणत्वात् तासामिति नारकादिपदेषु लेश्याः त्रिस्थानकावतारेण निरूपयन्नाह—

नेरइयाणं तओ लेसाओ पं० तं०—कण्हलेसा नीललेसा काउलेसा १, असुरकुमाराणं तओ लेसाओ संकिलिट्ठाओ पं०, तं०—कण्हलेसा नीललेसा काउलेसा २, एवं जाव थणियकुमाराणं ११, एवं पुढविकाइयाणं १२ आउवणस्सतिकाइयाणवि १३–१४ तेउकाइयाणं १५ वाउकाइयाणं १६ बेंदियाणं १७ तेंदियाणं १८ चउरिंदिआणवि १९ तओ लेस्सा जहा नेरइयाणं, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेसाओ संकिलिट्ठाओ पं० तं०—कण्हलेसा नीललेसा काउलेसा २०, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेसाओ असंकिलिट्ठाओ पं० तं०—तेउलेसा पम्हलेसा सुक्कलेसा २१, एवं मणुस्साणवि २२, वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराणं २३, वेमाणियाणं तओ लेस्साओ पं० तं०—तेउलेसा पम्हलेसा सुक्कलेसा २४ (सू० १३२)

'नेरइयाण'मित्यादिदण्डकसूत्रं कण्ठ्यं, नवरं 'नेरइयाणं तओ लेस्साओ'त्ति एतासामेव तिसृणां सद्भावादविशेषणो निर्देशः, असुरकुमाराणां तु चतसृणां भावात् सङ्क्लिष्टा इति विशेषितं, चतुर्थी हि तेषां तेजोलेश्याऽस्ति, किन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१३२]

दीप अनुक्रम [१४०]



सा न संक्लिष्टेति, पृथिव्यादिष्वसुरकुमारसूत्रार्थमतिदिशन्नाह—'एवं पुढवी'त्यादि, पृथिव्यब्वनस्पतिषु देवोत्पादसम्भवाच्चतुर्थी तेजोलेश्याऽस्तीति सविशेषणो लेश्यानिर्देशोऽतिदिष्टः, तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु तु देवानुत्पत्त्या तदभावान्निर्विशेषण इत्यत एवाह—'तओ' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च षडपीति संक्लिष्टासंक्लिष्टविशेषणतश्रुतःसूत्री, नवरं मनुष्यसूत्रे अतिदेशेनोक्ते इति व्यन्तरसूत्रे संक्लिष्टा वाच्याः, अत एवोक्तं—'वाणमंतरे'त्यादि, वैमानिकसूत्रं निर्विशेषणमेव, असंक्लिष्टस्यैव त्रयस्य सद्भावात्, व्यवच्छेद्याभावेन विशेषणायोगादिति । ज्योतिष्कसूत्रं नोक्तं, तेषां तेजोलेश्याया एव भावेन त्रिस्थानकानवतारादिति ॥ अनन्तरं वैमानिकानां लेश्याद्वारेणेहावतार उक्तो, ज्योतिष्काणां तु तथा तदसम्भवाच्चलनधर्म्मेण तमाह—

तिहिं ठाणेहिं तारारूवे चलिज्जा तं०—विकुव्वमाणे वा परियारेमाणे वा ठाणाओ वा ठाणं संकममाणे तारारूवे चलेज्जा, तिहिं ठाणेहिं देवे विज्जुतारं करेज्जा तं०—विकुव्वमाणे वा परियारेमाणे वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा इड्ढिं जुत्तिं जसं बलं वीरियं पुरिसक्कारपरक्कमं उवदंसेमाणे देवे विज्जुतारं करेज्जा। तिहिं ठाणेहिं देवे थणियसद्दं करेज्जा तं०—विकुव्वमाणे, एवं जहा विज्जुतारं तहेव थणियसद्दंपि (सू० १३३)

'तारारूवे'त्ति तारकमात्रं 'चलेज्जा' स्वस्थानं त्यजेत्, वैक्रियं कुर्वद्वा परिचारयमाणं वा, मैथुनार्थं संरम्भयुक्तमित्यर्थः, स्थानाद्वैकस्मात् स्थानान्तरं सङ्क्रामत् गच्छदित्यर्थः, यथा धातकीखण्डादिमेरुं परिहरेदिति, अथवा क्वचिन्मह-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ड्ढिके देवादौ चमरवद्वैक्रियादि कुर्वति सति तन्मार्गदानार्थं चलेदिति, उक्तं च—"[1]तत्थ णं जे से वाघाइए अंतरे से जहन्नेणं दोन्नि छावट्ठे जोयणसए, उक्कोसेणं बारस जोयणसहस्साइं'ति, तत्र व्याघातिकमन्तरं महर्द्धिकदेवस्य मार्गदानादिति ॥ अनन्तरं तारकदेवचलनक्रियाकारणान्युक्तान्यथ देवस्यैव विद्युत्स्तनितक्रिययोः कारणानि सूत्रद्वयेनाह—'तिहीं'त्यादि, कण्ठ्यं, नवरं 'विज्जुयारं'ति विद्युत्—तडित्सैव क्रियत इति कारः—कार्यं विद्युतो वा करणं कारः—क्रिया विद्युत्कारस्तं, विद्युतं कुर्यादित्यर्थः, वैक्रियकरणादीनि हि सदर्प्पस्य भवन्ति, तत्प्रवृत्तस्य च दर्प्पोल्लासवतश्चलनविद्युद्गर्जनादीन्यपि भवन्तीति चलनविद्युत्कारादीनां वैक्रियादिकं कारणतयोक्तमिति, 'ऋद्धिं' विमानपरिवारादिकां द्युतिं—शरीराभरणादीनां 'यशः' प्रख्यातिं बलं शारीरं वीर्यं—जीवप्रभवं पुरुषकारश्च—अभिमानविशेषः स एव निष्पादितस्वविषयः पराक्रमश्चेति पुरुषकारपराक्रमं समाहारद्वन्द्वः, तदेतत्सर्वमुपदर्शयमान इति । तथा स्तनितशब्दो मेघगर्जितं 'एव'मित्यादि वचनं 'परियारेमाणे वा तहारूवस्से'त्याद्यालापकसूचनार्थमिति ॥ विद्युत्कारस्तनितशब्दावुत्पातरूपावनन्तरमुक्तावथोत्पातरूपाण्येव लोकान्धकारादीनि पञ्चदशसूत्र्या—'तिहिं ठाणेहीं'त्यादिकया प्राह—

तिहिं ठाणेहिं लोगंधयारे सिया तं—अरिहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं अरिहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे पुव्वगते वोच्छि-

---

१ तत्र व्याघातिकं यदिदमन्तरं तज्जघन्येन द्विषष्ट्याधिके द्वे शते योजनानां उत्कृष्टं तु द्वादश सहस्राणि उत्पातोऽत्राभूतभावार्थोऽनिष्टतार्थश्च, यतोऽत्राद्यानि त्रीणि सूत्राण्यनिष्टार्थसूचकान्यपराणि तु दशेष्टार्थशंसीनि, संगता चोत्पत्तिवदुत्पातस्याप्युद्भवतार्थता । २ मेर्वपेक्षयेति संग्रहणीवृत्तिः, कादाचित्कमन्तरं तु लक्षयोजनान्यपि चमरादागम इव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्जमाणे १, तिहिं ठाणेहिं लोगुज्जोते सिया तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेसु पव्वयमाणेसु अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु २, तिहिं ठाणेहिं देवंधकारे सिया तं०—अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं अरहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे पुव्वगते वोच्छिज्जमाणे ३, तिहिं ठाणेहिं देवुज्जोते सिया तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु ४, तिहिं ठाणेहिं देवसंनिवाए सिया तं०—अरिहंतेहिं जायमाणेहिं अरिहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरिहंताणं नाणुप्पायमहिमासु ५, एवं देवुक्कलिया ६ देवकहकहए ७। तिहिं ठाणेहिं देविंदा माणुसं लोगं हव्वमागच्छंति तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु ८, एवं सामाणिया ९ तायत्तीसगा १० लोगपाला देवा ११ अग्गमहिसीओ देवीओ १२ परिसोववन्नगा देवा १३ अणियाहिवई देवा १४ आयरक्खा देवा १५ माणुसं लोगं हव्वमागच्छंति। तिहिं ठाणेहिं देवा अब्भुट्ठिज्जा, तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं जाव तं चेव १, एवमासणाइं चलेज्जा २, सीहणातं करेज्जा ३, चेलुक्खेवं करेज्जा ४, तिहिं ठाणेहिं देवाणं चेइयरुक्खा चलेज्जा तं०—अरहंतेहिं तं चेव ५। तिहिं ठाणेहिं लोगंतिया देवा माणुसं लोगं हव्वमागच्छिज्जा, तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु (सू० १३४)

कण्ठ्या चेयं, नवरं, 'लोके' क्षेत्रलोकेऽन्धकारं—तमो लोकान्धकारं स्याद्—भवेत् द्रव्यतो लोकानुभावाद्भावतो वा प्रकाशकस्वभावज्ञानाभावादिति, तद्यथा—अर्हन्ति अशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपरसुरासुरविसरविरचितां जन्मान्तरमहालवालविरूढानवद्यवासनाजलाभिषिक्तपुण्यमहातरुकल्याणफलकल्पां महाप्रातिहार्यरूपां पूजां निखिलप्रतिपन्थिप्रक्षयात्




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धिसौधशिखरारोहणं चैत्यर्हन्तः, उक्तं च—"[1]अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ १ ॥"त्ति, तेषु 'व्यवच्छिद्यमानेषु' निर्वाणं गच्छत्सु, तथाऽर्हल्लक्षणे धर्म्मे व्यवच्छिद्यमाने तीर्थव्यवच्छेदकाले, तथा 'पूर्वाणि' दृष्टिवादाङ्गभागभूतानि तेषु गतं—प्रविष्टं तदभ्यन्तरीभूतं तत्स्वरूपं यच्छ्रुतं तत्पूर्वगतं तत्र व्यवच्छिद्यमाने, इह च राजमरणदेशनगरभङ्गादावपि दृश्यते दिशामन्धकारमात्रं रजस्वलतयेति, यत्पुनर्भगवत्स्वर्हदादिषु निखिलभुवनजनानवद्यनयनसमानेषु विगच्छत्सु लोकान्धकारं भवति तत्किमद्भुतमिति ? । लोकोद्योतो लोकानुभावान्मनुष्यलोके देवागमाद्वा, 'नाणुप्पायमहिमासु' केवलज्ञानोत्पादे देवकृतमहोत्सवेष्विति, देवानां भवनादिष्वन्धकारं देवान्धकारं लोकानुभावादेवेति, लोकान्धकारे उक्तेऽपि यद्देवान्धकारमुक्तं, तत्सर्वत्रान्धकारसद्भावप्रतिपादनार्थमिति । एवं देवोद्योतोऽपि, देवसन्निपातो—भुवि तत्समवतारो, देवोत्कलिका—तत्समवायविशेषः, 'एव'मिति त्रिभिरेव स्थानैः, 'देवकहकहे'त्ति देवकृतः प्रमोदकलकलस्त्रिभिरेवेति, 'हव्व'न्ति शीघ्रं 'सामाणिय'त्ति इन्द्रसमानर्द्धयः, 'तायत्तीसग'त्ति महत्तरकल्पाः पूज्याः 'लोकपालाः' सोमादयो दिग्नियुक्तकाः 'अग्रमहिष्यः' प्रधानभार्याः 'परिषत्' परिवारस्तत्रोपपन्नका ये ते तथा 'अनीकाधिपतयो' गजादिसैन्यप्रधाना ऐरावतादयः 'आत्मरक्षा' अङ्गरक्षा राज्ञामिवेति, 'माणुस्सं लोयं हव्वमागच्छन्ती'ति प्रतिपदं सम्बन्धनीयं १५ ॥ मनुष्यलोकागमने देवानां यानि कारणान्युक्तानि तान्येव देवाभ्युत्थानादीनां कारणतया सूत्रपञ्चकेनाह—'तिहिं' इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं 'अब्भुट्ठिज्ज'त्ति सिंहासना-

१ वन्दननमनान्यर्हति पूजासत्कारावर्हन्ति सिद्धिगमनं चार्हन्ति तेनार्हन्त उच्यन्ते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दभ्युत्तिष्ठेयुरिति, 'आसनानि' शक्रादीनां सिंहासनानि, तच्चलनं लोकानुभावादेवेति, सिंहनादचेलोत्क्षेपौ प्रमोदकार्यौ जनप्रतीतौ, चैत्यवृक्षा ये सुधर्मादिसभानां प्रतिद्वारं पुरतो मुखमण्डपप्रेक्षामण्डपचैत्यस्तूपचैत्यवृक्षमहाध्वजादिक्रमतः श्रूयन्ते, लोकान्तिकानां प्रधानतरत्वेन भेदेन मनुष्यक्षेत्रागमनकारणान्याह—'तिहीं'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं लोकस्य—ब्रह्मलोकस्यान्तः—समीपं कृष्णराजीलक्षणं क्षेत्रं निवासो येषां ते लोकान्ते वा—औदयिकभावलोकावसाने भवा अनन्तरभवे मुक्तिगमनादिति लोकान्तिकाः—सारस्वतादयोऽष्टधा वक्ष्यमाणरूपा इति ॥ अथ किमर्थं भदन्त! ते इहागच्छन्तीति? उच्यते, अर्हतां धर्माचार्यतया महोपकारित्वात् पूजाद्यर्थम्, अशक्यप्रत्युपकाराश्च भगवन्तो धर्माचार्याः, यतः—

तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो! तं०—अम्मापिउणो १ भट्टिस्स २ धम्मायरियस्स ३, संपाओऽवि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तिलेहिं अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधट्टएणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भोयावेत्ता जावज्जीवं पिट्ठिवडेंसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं भवइ, अहे णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवित्ता परूवित्ता ठावित्ता भवति, तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुप्पडितारं भवति समणाउसो! १, केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसेज्जा, तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विउलभोगसमितिसमन्नागते यावि विहरेज्जा, तए णं से महच्चे अन्नया कयाइ दरिद्दीहूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतिए हव्वमागच्छेज्जा, तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलयमाणे तेणावि तस्स दुप्पडियारं भवति, अहे णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवति,





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवति २, केति तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने, तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खातो वा देसातो सुभिक्खं देसं साहरेज्जा, कंताराओ वा णिक्कंतारं करेज्जा, दीहकालिएणं वा रोगातंकेणं अभिभूतं समाणं विमोएज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवति, अधे णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भट्ठं समाणं भुज्जोवि केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवतित्ता जाव ठावतित्ता भवति, तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवति ३ (सू० १३५)

**'तिण्हं'** त्रयाणां दुःखेन–कृच्छ्रेण प्रतिक्रियते–कृतोपकारेण पुंसा प्रत्युपक्रियत इति खल्प्रत्यये सति दुष्प्रतिकरं प्रत्युपकर्त्तुमशक्यमितियावत्, हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! समस्तनिर्देशो वा हे श्रमणायुष्मन्निति भगवता शिष्यः सम्बोधितः, अम्बया–मात्रा सह पिता–जनकः अम्बापिता तस्येत्येकं स्थानं, जनकत्वेनैकत्वविवक्षणात्, तथा **'भट्टिस्स'**त्ति भर्त्तुः–पोषकस्य स्वामिन इत्यर्थ इति द्वितीयं, धर्म्मदाता आचार्यो धर्म्माचार्यः तस्येति तृतीयम्, आह च—"दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्। तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ १ ॥" इति, तत्र जनकदुष्प्रतिकार्यतामाह—**'संपाओ'**त्ति प्रातः–प्रभातं तेन समं सम्प्रातः सम्प्रातरपि च–प्रभातसमकालमपि च, यदैव प्रातः संवृत्तं तदैवेत्यर्थः, अनेन कार्यान्तराव्यग्रतां दर्शयति, संशब्दस्यातिशयार्थत्वाद्वा अतिप्रभाते, प्रतिशब्दार्थत्वाद्वाऽस्य प्रतिप्रभातमित्यर्थः, **'कश्चिदि'**ति कुलीन एव, न तु सर्वोऽपि **'पुरुषो'** मानवो देवतिरश्चोरेवंविधव्यतिकरासम्भवात्, शतं पा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कानाम्–ओषधिक्काथानां पाके यस्य १ ओषधिशतेन वा सह पच्यते यत् २ शतकृत्वो वा पाको यस्य ३ शतेन वा रूपकाणां मूल्यतः पच्यते ४ यत्तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि, ताभ्यां तैलाभ्याम्, 'अभ्यंगेत्ता' अभ्यङ्गं कृत्वा 'गन्धट्टएणं'ति गन्धाट्टकेन–गन्धद्रव्यक्षोदेन 'उद्वर्त्य'उद्वलनं कृत्वा त्रिभिरुदकैः–गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैः 'मज्जयित्ता' स्नाा(स्ना)पयित्वा मनोज्ञं–कलमौदनादि 'स्थाली' पिठरी तस्यां पाको यस्य तत्तथा, अन्यत्र हि पक्कमपक्कं वा न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणमिति 'शुद्धं' भक्तदोषवर्जितं स्थालीपाकं च तच्छुद्धं च स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः, अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः–शालनकैस्तक्रादिभिर्वा आकुलं–सङ्कीर्णं यत्तत्तथा, अथवाऽष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलं चेति, अत्र भेदपदलोपेन समासः, भोजनं भोजयित्वा, एते चाष्टादश भेदाः—'सूओ १ दणो २ जवन्नं ३ तिन्नि य मंसाइं ६ गोरसो ७ जूसो ८ । भक्खा ९ गुललावणिया १० मूलफला ११ हरियगं १२ सागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसालू य तहा १४ पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चेव १७ । अट्ठारसमो सागो १८ निरुवहओ लोइओ पिंडो ॥ २ ॥' मांसत्रयं जलजादिसत्कं जूषो–मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डादिरसः, भक्ष्याणि–खण्डखाद्यादीनि गुललावणिका–गुडपर्पटिका लोकप्रसिद्धा गुडधाना वा मूलफलान्येक एव पदं, हरितकं–जीरकादि शाको–वस्तुलादिभर्जिका, रसालू–मञ्जिका, तल्लक्ष-

१ सूप ओदनो यवान्नं त्रीणि च मांसानि गोरसो मुद्गादिरसो । भक्ष्याणि गुलपर्पटिका मूलफलानि जीरकादि वस्तुलादिः ॥ १ ॥ भवति मञ्जिका च तथा सुरादि कर्कटिजलं सौवीरादि चैव । अष्टादशः शाको निरुपहतो लौकिकः पिण्डः ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


भोजनस्य अष्टादश भेदा:

णमिदम्—'दो धयपला महुपलं दहिस्स अद्धाढयं मिरिय वीसा। दस खण्डगुलपलाइं एस रसालू णिवइजोग्गो ॥१॥'त्ति, पानं—सुरादि, पानीयं—जलं, पानकं—द्राक्षापानकादि, शाकः—तक्रसिद्ध इति, यावान् जीवो यावज्जीवं—यावत्प्राणधारणं पृष्ठे—स्कन्धे अवतंस इवावतंसः—शेखरस्तस्य करणमवतंसिका पृष्ठ्यवतंसिका तया पृष्ठ्यवतंसिक्या परिवहेत्, पृष्ठ्यारोपितमित्यर्थः, तेनापि परिवाहकेन परिवहनेन वा तस्य—अम्बापितुर्दुष्प्रतीकारम्, अशक्यः प्रतीकार इत्यर्थः, अनुभूतोपकारतया तस्य प्रत्युपकारकारित्वाद्, आह च—"कयउवयारो जो होइ सज्जणो होइ को गुणो तस्स?। उवयारबाहिरा जे हवंति ते सुंदरा सुयणा ॥ १ ॥" इति, 'अहे णं से'त्ति अथ चेत् णमित्यलङ्कारे स पुरुषस्तम्—अम्बापितरं धर्म्मे 'स्थापयिता' स्थापनशीलो भवति, अनुष्ठानतः स्थापयतीत्यर्थः, किं कृत्वेत्याह—'आघवइत्ता' धर्म्ममाख्याय 'प्रज्ञाप्य' बोधयित्वा 'प्ररूप्य' प्रभेदत इति, अथवा आख्याय सामान्यतो यथा कार्यो धर्म्मः, प्रज्ञाप्य विशेषतो यथाऽसावहिंसादिलक्षणः, प्ररूप्य प्रभेदतो यथा (अष्टादश) शीलाङ्गसहस्ररूप इति, शीलार्थतृन्नन्तानि वैतानीति, 'तेणामेव'त्ति ततस्तेनैव धर्मस्थापनेनैव न परिवहनेन अथवा तेनैव धर्मस्थापकपुरुषेण न परिवाहिना 'तस्य' प्रत्युपकरणीयस्याम्बापितुः 'सुप्पडियारं'ति सुखेन प्रतिक्रियते—प्रत्युपक्रियत इति सुप्रतिकारं, भावसाधनोऽयं, तद्भवति—प्रत्युपकारः कृतो भवतीत्यर्थः, धर्मस्थापनस्य महोपकारत्वाद्, आह च—"संमत्तदायगाणं दुप्पडियारं भवेसु बहुएसुं। सव्वगुणमेलियाहिवि उपगारसहस्सकोडीहिं ॥ १ ॥"

१ द्वे घृतपले मधुपलं दध्नोऽर्धाढकं मरीचा विंशतिः। दश गुडखण्डयोः पलानि एष रसालुर्नृपतियोग्यः ॥ १ ॥ २ कृतोपकारो यो भवति सज्जनो भवति को गुणस्तस्य?। उपकारबाह्या ये भवन्ति ते सुन्दराः सज्जनाः ॥१॥ ३ सम्यक्त्वदायकानां दुष्प्रतिकारं भवेषु बहुष्वपि। सर्वगुणमीलिताभिरपि उपकारसहस्रकोटीभिः ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति १। अथ भर्त्तुः दुष्प्रतिकार्यतामाह—'केइ महच्चे'त्ति कश्चित्–कोऽपि महती ऐश्वर्यलक्षणाऽर्च्चा–ज्वाला पूजा वा यस्य अथवा महांश्चासावर्थपतितया अर्च्यश्च–पूज्य इति महार्च्चो महार्च्यो वा माहत्यं–महत्त्वं तद्योगान्माहत्यो वा, ईश्वर इत्यर्थः, दरिद्रम्–अनीश्वरं कञ्चन पुरुषमतिदुःस्थं 'समुत्कर्षयेत्' धनदानादिनोत्कृष्टं कुर्यात्, 'ततः' समुत्कर्षणानन्तरं स दरिद्रः समुत्कृष्टो धनादिभिः 'समाणे'त्ति सन् 'पच्छ'त्ति पश्चात्काले 'पुरं च णं'ति पूर्वकाले च समुत्कर्षणकाल एवेत्यर्थः अथवा पश्चाद्–भर्त्तुरसमक्षं पुरश्च–भर्त्तुः समक्षं च विपुलया 'भोगसमित्या' भोगसमुदयेन 'समन्वागतो' युक्तो यः स तथा स चापि 'विहरेत्' वर्त्तेत, ततोऽनन्तरं 'स'महार्च्चो भर्त्ता 'अन्यदा' लाभान्तरायोदये 'कदाचिद्' तथाविधायामसह्यायामापदि दरिद्रीभूतः सन् 'तस्य' पूर्वसमुत्कृष्टस्य 'अन्तिके'पार्श्वे 'हव्वं'ति अनन्यत्राणतया शीघ्रं त्राणस्य तत्र शक्यत्वाभिसन्धेः आगच्छेत् तदा स पूर्वावस्थया दरिद्रः पूर्वोपकारिणे भर्त्रे 'सव्वस्सं'ति सर्व्वं च तत् स्वं च–द्रव्यं चेति सर्वस्वं तदपि, आस्तामल्पमिति, 'दलयमाणे'त्ति ददत् न कृतप्रत्युपकारो भवेदिति शेषः, अतस्तेनापि–सर्वस्वदानेन सर्वस्वदायकेनापि वा दुष्प्रतिकारमेवेति २। अथ धर्माचार्यदुष्प्रतिकार्यतामाह—'केई'त्यादि, 'आयरियं'ति पापकर्मभ्य आराद्यातमित्यार्यमत एव धार्मिकमत एव सुवचनं श्रुत्वा श्रोत्रेण 'निशम्य' मनसाऽवधार्य अन्यतरेषु देवलोकेष्वन्यतरदेवानां मध्ये इत्यर्थो देवत्वेनोत्पन्न इति, दुर्लभा भिक्षा यस्मिन् देशे स दुर्भिक्षस्तस्मात् 'संहरेत्' नयेत्, कान्तारम्–अरण्यं निर्गतः कान्तारान्निष्कान्तारस्तन्निष्क्रमितारं वा, दीर्घः कालो विद्यते यस्य स दीर्घकालिकस्तेन रोगः–कालसहः कुष्ठादिरातङ्कः–कृच्छ्रजीवितकारी सद्योघातीत्यर्थः शूलादिरनयोर्द्वन्द्वैकत्वे रोगातङ्कं तेनेति, धर्मस्थापनेन तु



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति कृतोपकारो, यदाह—"जो जेण जंमि ठाणम्मि ठाविओ दंसणे व चरणे वा। सो तं तओ चुयं तंमि चेव काउं भवे निरिणो ॥ १ ॥" त्ति, शेषं सुगमत्वान्न स्पृष्टमिति। धर्म्मस्थापनेन चास्य भवच्छेदलक्षणः प्रत्युपकारः कृतः स्यादिति धर्मस्य स्थानत्रयावतारणेन भवच्छेदकारणतामाह—

तिहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं वीईवएज्जा, तं०—अणिदाणयाए दिट्ठि-संपन्नयाए जोगवाहियाए (सू० १३६) तिविहा ओसप्पिणी पं० तं०—उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना १, एवं छप्पि समाओ भाणियव्वाओ, जाव दूसमदूसमा ७, तिविहा उस्सप्पिणी पं० तं०—उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना ८ एवं छप्पि समाओ भाणियव्वाओ, जाव सुसमसुसमा १४ (सू० १३७) तिहिं ठाणेहिं अच्छिन्ने पोग्गले चलेज्जा तं०—आहारिज्जमाणे वा पोग्गले चलेज्जा विकुव्वमाणे वा पोग्गले चलेज्जा ठाणातो वा ठाणं संकामिज्जमाणे पोग्गले चलेज्जा, तिविहे उवधी पं० तं०—कम्मोवही सरीरोवही बाहिरभंडमत्तोवही, एवं असुरकुमाराणं भाणियव्वं, एवं एगिंदियनेरइयवज्जं जाव वेमाणि-याणं १, अहवा तिविहे उवधी पं० तं०—सचित्ते अचित्ते मीसए, एवं णेरइआणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं, तिविहे परिग्गहे पं० तं०—कम्मपरिग्गहे सरीरपरिग्गहे बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे, एवं असुरकुमाराणं, एवं एगिंदियनेरतियवज्जं जाव वेमाणियाणं ३, अहवा तिविहे परिग्गहे पं० तं०—सचित्ते अचित्ते मीसए, एवं नेरतियाणं निरंतरं जाव वेमाणि-याणं ४ (सू० ॥ १३८ ॥)

१ यो येन यस्मिन् स्थाने स्थापितो दर्शने वा चरणे वा। स तं ततश्च्युतं तस्मिन्नेव कृत्वा भवेन्निर्ऋणः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तिही'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं अनादिकम्–आदिरहितमनवदग्रम्–अनन्तं दीर्घाध्वं–दीर्घमार्गं चत्वारोऽन्ता–विभागा नरकगत्यादयो यस्य तच्चतुरन्तं, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, संसार एव कान्तारम्–अरण्यं संसारकान्तारं तद् 'व्यतिव्रजेत्' व्यतिक्रामेदिति, अनादिकत्वादीनि विशेषणानि कान्तारपक्षेऽपि विवक्षया योजनीयानि, तथाहि–अनाद्यनन्तमरण्यमतिमहत्वाच्चतुरन्तं दिग्भेदादिति, निदानं–भोगार्द्धिप्रार्थनास्वभावमार्त्तध्यानं तद्विवर्जितता अनिदानता तया 'दृष्टिसम्पन्नता' सम्यग्दृष्टिता तया 'योगवाहिता' श्रुतोपधानकारित्वं समाधिस्थायिता वा तयेति ॥ भवव्यतिव्रजनं च कालविशेष एव स्यादिति कालविशेषनिरूपणायाह—'तिविहे'त्यादिसूत्राणि चतुर्दश कण्ठ्यानि, नवरम् अवसर्पिणीप्रथमेऽरके उत्कृष्टा, चतुर्षु मध्यमा, पश्चिमे जघन्या, एवं सुषमसुषमादिषु प्रत्येकं त्रयं त्रयं कल्पनीयम्, तथा उत्सर्पिण्याः दुष्षमदुष्षमादि तद्भेदानां चोक्तविपर्ययेणोत्कृष्टत्वं प्राग्वद्योज्यमिति ॥ काललक्षणा अचेतनद्रव्यधर्म्मा अनन्तरमुक्तास्तत्साधर्म्यात्पुद्गलधर्म्मान्निरूपयन् सूत्राणि पञ्च चतुरश्च दण्डकानाह—'तिही'त्यादि, छिन्नः खड्गादिना पुद्गलः समुदायाच्चलत्येवेत्यत आह—'अच्छिन्नपुद्गल' इति, 'आहारेज्जमाणे'त्ति आहारतया जीवेन गृह्यमाणः स्वस्थानाच्चलति, जीवेनाकर्षणात्, एवं वैक्रियमाणो वैक्रियकरणवशवर्त्तितयेति, स्थानात्स्थानान्तरं सङ्क्रम्यमाणो हस्तादिनेति । उपधीयते–पोष्यते जीवोऽनेनेत्युपधिः, कर्म्मैवोपधिः कर्म्मोपधिः, एवं शरीरोपधिः, बाह्यः–शरीरबहिर्वर्त्ती भाण्डानि च–भाजनानि मृन्मयानि मात्राणि च–मात्रायुक्तानि कांस्यादिभाजनानि भाजनोपकरणमित्यर्थः, भाण्डमात्राणि तान्येवोपधिः भाण्डमात्रोपधिः, अथवा भाण्डं–वस्त्राभरणादि तदेव मात्रा–परिच्छदः[च्छेदः]



॥ १२० ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सैवोपधिरिति, ततो बाह्यशब्दस्य कर्म्मधारय इति, चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायामसुरादीनां त्रयोऽपि वाच्याः, नारकैकेन्द्रियवर्जाः, तेषामुपकरणस्याभावाद्, द्वीन्द्रियादीनां तूपकरणं दृश्यते एव केषाञ्चिदित्यत एवाह—'एव'मित्यादि, 'अहवे'त्यादि, सचित्तोपधिर्यथा शैलं भाजनम्, अचित्तो—वस्त्रादिः, मिश्रः—परिणतप्रायं शैलभाजनमेवेति, दण्डकचिन्ता सुगमा, नवरं सचित्तोपधिर्नारकाणां शरीरं अचेतनः—उत्पत्तिस्थानं मिश्रः—शरीरमेवोच्छ्वासादिपुद्गलयुक्तं तेषां सचेतनाचेतनत्वेन मिश्रत्वस्य विवक्षणादिति, एवमेव शेषाणामप्ययमूह्य इति। 'तिविहे परिग्गहे'इत्यादि सूत्राणि उपधिवन्नेयानि, नवरं परिगृह्यते—स्वीक्रियते इति परिग्रहो—मूर्च्छाविषय इति, इह च एषामयमिति व्यपदेशभागेव ग्राह्यः, स च नारकैकेन्द्रियाणां कर्म्मादिरेव सम्भवति, न भाण्डादिरिति॥ पुद्गलधर्म्माणां त्रित्वं निरूप्य जीवधर्म्माणां 'तिविहे'इत्यादिभिस्त्रिभिः सदण्डकैः सूत्रैस्तदाह—

तिविहे पणिहाणे पं० तं०—मणपणिहाणे वयपणिहाणे कायपणिहाणे, एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं, तिविहे सुप्पणिहाणे पं० तं०—मणसुप्पणिहाणे वयसुप्पणिहाणे कायसुप्पणिहाणे, संजयमणुस्साणं तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते तं०—मणसुप्पणिहाणे वइसुप्पणिहाणे कायसुप्पणिहाणे, तिविहे दुप्पणिहाणे पं० तं०—मणदुप्पणिहाणे वइदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे, एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं (सू० १३९) तिविहा जोणी पं० तं०—सीता उसिणा सीओसिणा, एवं एगिंदियाणं विगलिंदियाणं तेउक्काइयवज्जाणं संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य। तिविहा जोणी पं० तं०—सचित्ता अचित्ता मीसिया, एवं एगिंदियाणं विगलिंदियाणं संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं सं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुच्छिममणुस्साण य । तिविधा जोणी पं० तं०—संवुडा वियडा संवुडवियडा । तिविहा जोणी पं० तं०—कुम्मुन्नया संखावत्ता वंसीपत्तिया, कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं, कुम्मुन्नयाते णं जोणीए तिविहा उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति, तं०—अरहंता चक्कवट्टी बलदेववासुदेवा, संखावत्ता जोणी इत्थीरयणस्स, संखावत्ताए णं जोणीए बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति नो चेव णं निप्फज्जंति, वंसीपत्तिता णं जोणी पिहज्जणस्स, वंसीपत्तिताए णं जोणीए बहवे पिहज्जणे गब्भं वक्कमंति (सू० १४०)

कण्ठ्यानि चैतानि, नवरं प्रणिहितिः प्रणिधानम्–एकाग्रता, तच्च मनःप्रभृतिसम्बन्धिभेदात्त्रिधेति, तत्र मनसः प्रणिधानं मनःप्रणिधानमेवमितरे, तच्च चतुर्विंशतिदण्डके सर्वेषां पञ्चेन्द्रियाणां भवति, तदन्येषां तु नास्ति, योगानां सामस्त्येनाभावादित्यत एवोक्तम्—'एवं पञ्चेंदिये'त्यादीति । प्रणिधानं हि शुभाशुभभेदमथ शुभमाह–'तिविहे'इत्यादि सामान्यसूत्रं १, विशेषमाश्रित्य तु चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां मनुष्याणामेव तत्रापि संयतानामेवेदं भवति, चारित्रपरिणामरूपत्वादस्येति, अत एवाह–'संजये'त्यादि २, (दुष्टं) प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम्–अशुभमनःप्रवृत्त्यादिरूपं सामान्यप्रणिधानवत् व्याख्येयमिति ३। जीवपर्यायाधिकारात् 'तिविहेत्यादिना गब्भं वक्कमंती'त्येतदन्तेन ग्रन्थेन योनिस्वरूपमाह, तत्र युवन्ति–तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकादिशरीरेण मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिः–जीवस्योत्पत्तिस्थानं शीतादिस्पर्शवदिति, 'एवं'ति यथा सामान्यतस्त्रिविधा तथा चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां तेजोवर्जानां, तेजसामुष्णयोनित्वात्, पञ्चे-



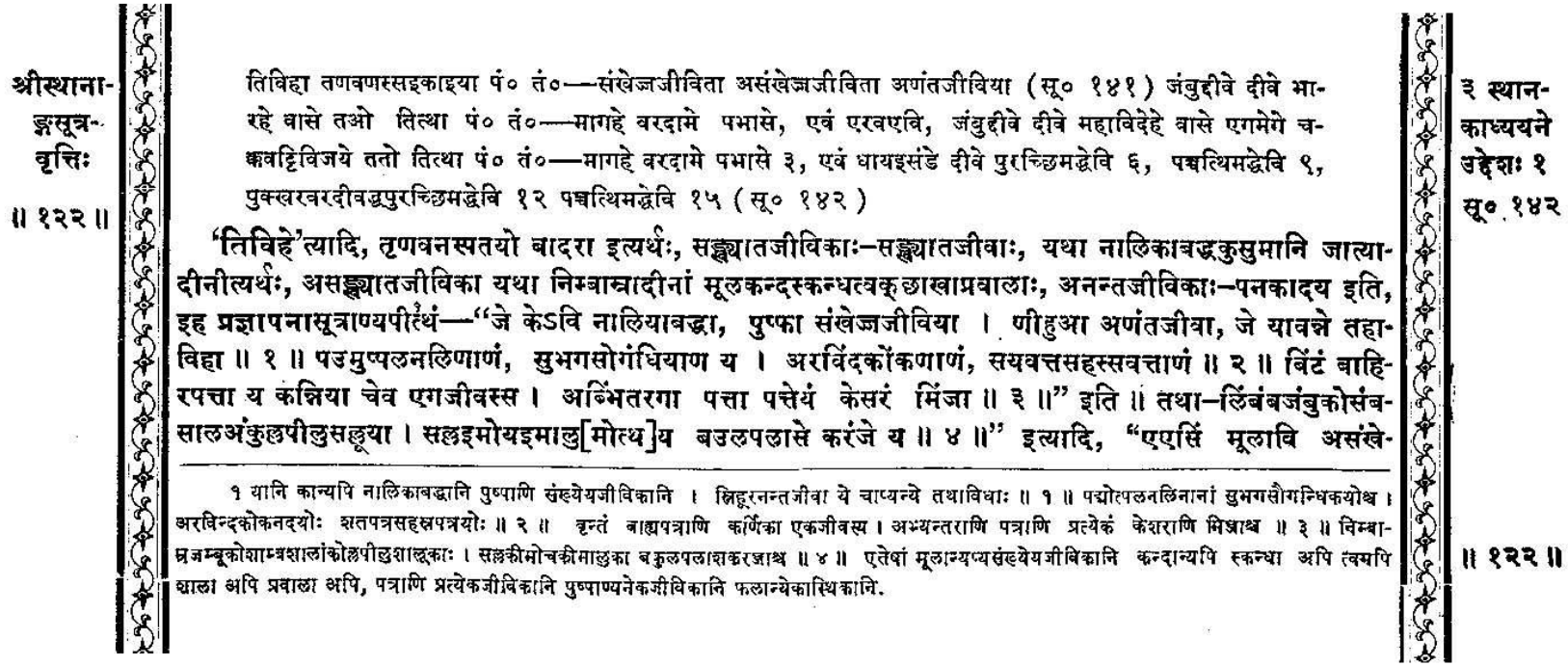



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्द्रियतिर्यक्पदे मनुष्यपदे च सम्मूर्च्छनजानां त्रिविधा, शेषाणां त्वन्यथेति, यत आह—"[1]सीओसिणजोणीया सव्वे देवा य गब्भवक्कंती । उसिणा य तेउकाए दुह णिरए तिविह सेसाणं ॥ १ ॥" इति ॥ अन्यथा योनित्रैविध्यमाह–'तिविहे'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं दण्डकचिन्तायामेकेन्द्रियादीनां सचित्तादिस्त्रिविधा योनिरन्येषां त्वन्यथा, यत उक्तम्—"[2]अचित्ता खलु जोणी नेरइयाणं तहेव देवाणं । मीसा य गब्भवसही तिविहा जोणी य सेसाणं ॥ १ ॥" इति, पुनरन्यथा तामाह—'तिविहे'त्यादि, संवृता–सङ्कटा घटिकालयवत् विवृता–विपरीता संवृतविवृता तूभयरूपेति, एतद्विभागोऽयं —"[3]एगिंदियनेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य। विगलिंदियाण विगडा संवुडवियडा य गब्भंमि ॥१॥ त्ति" 'कुम्मुन्नये'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं कूर्म्मः–कच्छपः तद्वदुन्नता कूर्म्मोन्नता, शङ्खस्येवावर्त्ता यस्यां सा शङ्खावर्त्ता, वंश्या–वंशजाल्याः पत्रकमिव या सा वंशीपत्रिका, 'गब्भं वक्कमंति'त्ति गर्भे उत्पद्यन्ते, बलदेववासुदेवानां सहचरत्वेनैकत्वविवक्षयोत्तमपुरुषत्रैविध्यमिति, 'बहवे'इत्यादि, योनित्वाज्जीवाः पुद्गलाश्च तद्ग्रहणप्रायोग्याः, किं?—'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते, 'व्यवक्रामन्ति' विनश्यन्ति, एतदेव व्याख्याति—'विउक्कमंती'ति, कोऽर्थः?–च्यवन्ते, 'वक्कमंति'त्ति, किमुक्तं भवति?–उत्पद्यन्ते इति, 'पिहज्जणस्स'त्ति पृथग्जनस्य–सामान्यजनस्योत्पत्तिकारणं भवतीति । अनन्तरं योनितो मनुष्याः प्ररूपिताः, अधुना मनुष्यस्य सधर्मणो बादरवनस्पतिकायिकान् प्ररूपयन्नाह—

१ शीतोष्णयोनिकाः सर्वे देवाश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकाः। उष्णा च तेजस्काये द्विधा नरके त्रिविधा शेषाणाम् ॥१॥ २ अचित्तैव योनिर्नैरयिकाणां तथैव देवानाम्। मिश्रा च गर्भवसतीनां त्रिविधा योनिश्च शेषाणाम् ॥ १ ॥ ३ एकेन्द्रियनैरयिकाः संवृतयोनयो भवन्ति देवाश्च। विकलेन्द्रियाणां विवृता संवृतविवृता च गर्भे ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १२२ ॥

तिविहा तणवणस्सइकाइया पं० तं०—संखेज्जजीविता असंखेज्जजीविता अणंतजीविया (सू० १४१) जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे तओ तित्था पं० तं०—मागहे वरदामे पभासे, एवं एरवएवि, जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे एगमेगे चक्कवट्टिविजये ततो तित्था पं० तं०—मागहे वरदामे पभासे ३, एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेवि ६, पच्चत्थिमद्धेवि ९, पुक्खरवरदीवद्धपुरच्छिमद्धेवि १२ पच्चत्थिमद्धेवि १५ (सू० १४२)

'तिविहे'त्यादि, तृणवनस्पतयो बादरा इत्यर्थः, सङ्ख्यातजीविकाः—सङ्ख्यातजीवाः, यथा नालिकाबद्धकुसुमानि जात्यादीनीत्यर्थः, असङ्ख्यातजीविका यथा निम्बाम्रादीनां मूलकन्दस्कन्धत्वक्छालाप्रवालाः, अनन्तजीविकाः—पनकादय इति, इह प्रज्ञापनासूत्राण्यपीत्थं—"जे केऽवि नालियाबद्धा, पुप्फा संखेज्जजीविया । णीहुआ अणंतजीवा, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १ ॥ पउमुप्पलनलिणाणं, सुभगसोगंधियाण य । अरविंदकोकणाणं, सयवत्तसहस्सवत्ताणं ॥ २ ॥ विंटं बाहिरपत्ता य कन्निया चेव एगजीवस्स । अब्भिंतरगा पत्ता पत्तेयं केसरं मिंजा ॥ ३ ॥" इति ॥ तथा—लिंबंबजंबुकोसंबसालअंकुल्लपीलुसल्लूया । सल्लइमोयइमालु[मोत्थ]य बउलपलासे करंजे य ॥ ४ ॥" इत्यादि, "एएसिं मूलावि असंखे-

१ यानि कान्यपि नालिकाबद्धानि पुष्पाणि संख्येयजीविकानि । लिहूरनन्तजीवा ये चाप्यन्ये तथाविधाः ॥ १ ॥ पद्मोत्पलनलिनानां सुभगसौगन्धिकयोश्च । अरविन्दकोकनदयोः शतपत्रसहस्रपत्रयोः ॥ २ ॥ वृन्तं बाह्यपत्राणि कर्णिका एकजीवस्य । अभ्यन्तराणि पत्राणि प्रत्येकं केशराणि मिञ्जाश्च ॥ ३ ॥ निम्बाम्रजम्बूकोशाम्बशालांकोल्लपीलुशाल्लकाः । सल्लकीमोचकीमालुका बकुलपलाशकरञ्जाश्च ॥ ४ ॥ एतेषां मूलान्यप्यसंख्येयजीविकानि कन्दान्यपि स्कन्धा अपि त्वगपि शाला अपि प्रवाला अपि, पत्राणि प्रत्येकजीविकानि पुष्पाण्यनेकजीविकानि फलान्येकास्थिकानि.

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः १ सू० १४२

॥ १२२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जजीविया कंदावि खंधावि तयावि सालावि पवालावि, पत्ता पत्तेयजीविया, पुप्फा अणेगजीविया, फला एगट्ठिया" इति ॥ अनन्तरं वनस्पतय उक्तास्ते च जलाश्रया बहवो भवन्तीतिसम्बन्धाज्जलाश्रयाणां तीर्थानां निरूपणायाह—'जंबुद्दीवे' इत्यादि पञ्चदशसूत्री साक्षादतिदेशतश्च, सुगमा च, केवलं तीर्थानि–चक्रवर्त्तिनः समुद्रशीतादिमहानद्यवतारलक्षणानि तन्नामकदेवनिवासभूतानि, तत्र भरतैरावतयोस्तानि पूर्वदक्षिणापरसमुद्रेषु क्रमेणेति, विजयेषु तु शीताशीतोदामहानद्योः पूर्वादिक्रमेणैवेति ॥ जम्बूद्वीपादौ मनुष्यक्षेत्रे सन्ति तीर्थानि प्ररूपितानि, अधुना तत्रैव सन्तं कालं त्रिस्थानोपयोगिनं सूत्रपञ्चदशकेन साक्षादतिदेशाभ्यां निरूपयन्नाह—

जंबुद्दीवे २ भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीते सुसमाए समाए तिन्नि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो हुत्था १, एवं ओसप्पिणीए नवरं पन्नत्ते २, आगमिस्साते उस्सप्पिणीए भविस्सति ३, एवं धायइसंडे पुरच्छिमद्धे पच्चत्थिमद्धेवि ९, एवं पुक्खरवरदीवद्धपुरच्छिमद्धे पच्चत्थिमद्धेवि कालो भाणियव्वो १५। जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीताते उस्सप्पिणीते सुसमसुसमाते समाए मणुया तिण्णि गाउयाइं उद्धं उच्चत्तेणं तिन्नि पलिओवमाइं परमाउं पालइत्था १, एवं इमीसे ओसप्पिणीते २ आगमिस्साए उस्सप्पिणीए ३, जंबुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरासु मणुया तिण्णि गाउआइं उद्धं उच्चत्तेणं पं०, तिन्नि पलिओवमाइं परमाउं पालयंति ४, एवं जाव पुक्खरवरदीवद्धपच्चत्थिमद्धे २०। जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगमेगाते ओसप्पिणिउस्सप्पिणीए तओ वंसाओ उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा तं०—अरहंतवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे २१, एवं जाव पुक्खरवरदीवद्धपच्चत्थिमद्धे २५। जंबूदीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगमेगाए ओसप्पिणीउस्सप्पिणीए तओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तमपुरिसा उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा तं०—अरहंता चक्कवट्टी बलदेववासुदेवा २६, एवं जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमड्ढे ३०, तओ अद्धाउयं पालयंति तं०—अरहंता चक्कवट्टी बलदेववासुदेवा ३१, तओ मज्झिममाउयं पालयंति, तं०—अरहंता चक्कवट्टी बलदेववासुदेवा ३२ (सू० १४३)

'जंबूदीवे'इत्यादि सुबोधं, किंतु, 'पन्नत्ते'इति अवसर्पिणीकालस्य वर्त्तमानत्वेनातीतोत्सर्पिणीवत् 'होत्थ'त्ति न व्यपदेशः कार्यः अपि तु पन्नत्तेत्ति कार्य इत्यर्थः, 'जंबूदीवेत्यादिना वासुदेवे'त्येतदन्तेन ग्रन्थेन कालधर्म्मानेवाह—सुगमश्चायं, किन्तु 'अद्धाउयं पालयंति'त्ति निरुपक्रमायुष्कत्वात्, मध्यमायुः पालयन्ति वृद्धत्वाभावात्। आयुष्काधिकारादिदं सूत्रद्वयमाह—

बायरतेउकाइयाणं उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं ठिती पन्नत्ता। बायरवाउकाइयाणं उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं ठिती पं०। (सू० १४४)। अह भंते! सालीणं वीहीणं गोधूमाणं जवाणं जवजवाणं एतेसि णं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं लंछियाणं मुद्दियाणं पिहिताणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठति?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलायति, तेण परं जोणी पविद्धंसति, तेण परं जोणी विद्धंसति, तेण परं बीए अबीए भवति, तेण परं जोणीवोच्छेदो पं० (सू० १४५)। दोच्चाए णं सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं ठिती पं० १, तच्चाए णं वालुयप्पभाए पुढवीए जहन्नेणं णेरइयाणं तिन्नि सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता २ (सू० १४६)



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्टम् ॥ स्थित्यधिकारादेवेदमपरमाह—'अहे'त्यादि, 'अह भंते'त्ति 'अथ'परिप्रश्नार्थः, 'भदन्ते'ति भदन्तः—कल्याणस्य सुखस्य च हेतुत्वात् कल्याणः सुखश्चेति, आह च—"[1]भदिकल्लाणसुहत्थो धाऊ तस्स य भंदतसद्दोऽयं । स भदंतो कल्लाणं सुहो य कल्लं किलारोग्गं ॥ १ ॥" इत्यादि, अथवा भजते—सेवते सिद्धान् सिद्धिमार्गं वा अथवा भज्यते—सेव्यते शिवा [सिद्ध्य]र्थिभिरिति भजन्तः, आह च—"अहं[2]वा भज सेवाए तस्स भयंतोत्ति सेवए जम्हा । सिवगइणो सिवमग्गं सेव्वो य जओ तदत्थीणं ॥ १॥" अथवा भाति—दीप्यते भ्राजते वा—दीप्यते वा दीप्यते एव ज्ञानतपोगुणदीप्त्येति भान्तो भ्राजन्तो वेति, आह च—"अहं[3]वा भा भाजो वा दित्तीए होइ तस्स भंतोत्ति । भाजंतो वाऽऽयरिओ सो णाणतवोगुणजुईए ॥ १ ॥" इति, अथवा भ्रान्तः— अपेतो मिथ्यात्वादेः, तत्रानवस्थित इत्यर्थः, इति भ्रान्तः, अथवा भगवान्—ऐश्वर्ययुक्त इति, आह च—"अहं[4]वा भंतोऽपेओ जं मिच्छत्ताइबंधहेऊओ । अहवेसरियाइ भगो विज्जइ सो तेण भगवंतो ॥ १ ॥" इति, भवस्य वा—संसारस्य भयस्य वा—त्रासस्यान्तहेतुत्वात्—नाशकारणत्वाद् भवान्तो भयान्तो वेति, उक्तं च—"नेरं[5]इयाइभवस्स व अंतो जं तेण सो भवंतोत्ति। अहवा भयस्स अंतो होइ भवं(यं)तो भयं तासो ॥ १॥"त्ति,

१ भदिः कल्याणसुखार्थो धातुस्तस्य च भदंतशब्दोऽयं । स भदंतः कल्याणं सुखश्च कल्यं किलारोग्यम् ॥ १ ॥ २ अथवा भज सेवार्थां तस्य भजंत इति सेवते यस्माच्छिवगामिनः शिवमार्गं सेव्यश्च यतस्तदर्थिभिः ॥ १ ॥ ३ अथवा भा भ्राजो वा दीप्तौ तस्य भवति भान्त इति । भाजन्तो वाऽऽचार्यः स ज्ञानतपोगुणद्युक्त्या॥१॥ ४ अथवा भ्रान्तोऽपेतो यन्मिथ्यात्वादिबन्धहेतुतः । अथवैश्वर्यादिः भगो विद्यते तस्य तेन भगवान् ॥ १ ॥ ५ नैरयिकादिभवस्य वान्तो यत्तेन स भवान्त इति । अथवा भयस्यान्तो भवति भयान्तः भयं त्रासः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इह च भदन्तादीनां शब्दानां स्थाने प्राकृतत्वादामन्त्रणार्थं भंतेत्ति पदं साधनीयमिति, अतो 'भंते'त्ति महावीरमामन्त्रयन्नुक्तवान् गौतमादिः 'शालीनां' कलमादिकानामिति विशेषः, शेषाणां व्रीहीणामिति सामान्यं, 'यवयवा'यवविशेषा एव, 'एतेषाम्' अभिहितत्वेन प्रत्यक्षाणां कोष्ठे–कुशूले आगुप्तानि–प्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि तेषामेवं सर्वत्र, नवरं पल्यं–वंशकटकादिकृतो धान्याधारविशेषः, मञ्चः–स्थूणानामुपरि स्थापितवंशकटकादिमयो जनप्रतीतः मालको–गृहस्योपरितनभागः, अभिहितं च—"अकुड्डो होइ मंचो मालो य घरोवरिं होइ"त्ति, 'ओलित्ताणं'ति द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयादिना अवलिप्तानां 'लित्ताणं'ति सर्वतः 'लंछियाणं'ति रेखादिभिः कृतलाञ्छनानां 'मुद्दियाणं'ति मृत्तिकादिमुद्रावतां 'पिहियाणं'ति स्थगितानां, 'केवतियं'ति कियन्तं कालं योनिर्यस्यामङ्कुर उत्पद्यते ?, ततः परं योनिः प्रम्लायति–वर्णादिना हीयते प्रविध्वस्यते–विध्वंसाभिमुखा भवति 'विध्वस्यते' क्षीयते, एवं च तद्बीजमबीजं भवति–उप्तमपि नाङ्कुरमुत्पादयति, किमुक्तं भवति ?–ततः परं योनिव्यवच्छेदः प्रज्ञप्तो मयाऽन्यैश्च केवलिभिरिति, शेषं स्पष्टम् ॥ स्थित्यधिकारादेवेदमपरं सूत्रद्वयमाह—'दोच्चे'त्यादि स्फुटं, नवरं द्वितीयायां पृथिव्यां, किंनामिकायामित्याह–शर्कराप्रभायामित्येवं योजनीयं, सर्वपृथिवीषु चेयं स्थितिः—"सागरमेगं तिय सत्त दस य सत्तरस तह य बावीसा। तेत्तीसं जाव ठिई सत्तसु पुढवीसु उक्कोसा ॥ १ ॥ जा पढमाए जेट्ठा सा बिइयाए कणिट्ठिया भणिया। तरतमजोगो एसो दसवाससहस्स रयणाए ॥ २ ॥" इति ॥ नरकपृथिव्यधिकारान्नरकनारकविशेषस्वरूपप्ररूपणाय सूत्रत्रयमाह—

१ अकुड्यो भवति मंचो मालश्च गृहोपरि भवति. २ एकं सागरं त्रीणि सप्त दश च सप्तदश तथा च द्वाविंशतिः। त्रयस्त्रिंशद्यावत् स्थितिः सप्तसु पृथ्वीषूत्कृष्टा ॥ १ ॥ २ या प्रथमायां ज्येष्ठा सा द्वितीयायां कनिष्ठिका भणिता। तरतमयोग एष दशवर्षसहस्राणि रत्नायां ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचमाए णं धूमप्पभाए पुढवीए तिन्नि निरयावाससयसहस्सा पं०, तिसु णं पुढवीसु णेरइयाणं उसिणवेयणा पन्नत्ता तं०—पढमाए दोच्चाए तच्चाए, तिसुणं पुढवीसु णेरइया उसिणवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति—पढमाए दोच्चाए तच्चाए (सू० १४७) तत्तो लोगे समा सपक्खिं सपडिदिसिं पं० तं०—अप्पइट्ठाणे णरए जंबुद्दीवे दीवे सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे, तओ लोगे समा सपक्खिं सपडिदिसिं पं० तं०—सीमंतए णं णरए समयक्खेत्ते ईसीपब्भारा पुढवी (सू० १४८) तओ समुद्दा पगईए उदगरसेणं पं० तं०—कालोदे पुक्खरोदे सयंभुरमणे ३, तओ समुद्दा बहुमच्छकच्छभाइण्णा पं० तं०—लवणे कालोदे सयंभुरमणे (सू० १४९)

'पंचमाए'इत्यादि, सुबोधं केवलं 'उसिणवेयण'त्ति तिसृणामुष्णस्वभावत्वात्, तिसृषु नारका उष्णवेदना इत्युक्त्वापि यदुच्यते–नैरयिका उष्णवेदनां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्तीति तत्तद्वेदनासातत्यप्रदर्शनार्थम्॥ नरकपृथिवीनां क्षेत्रस्वभावानां प्राग्स्वरूपमुक्तमथ क्षेत्राधिकारात् क्षेत्रविशेषस्वरूपस्य त्रिस्थानकावतारिणो निरूपणाय सूत्रचतुष्टयमाह—'तओ' इत्यादि, त्रीणि लोके समानि–तुल्यानि योजनलक्षप्रमाणत्वात् न च प्रमाणत एवात्र समत्वमपि तु औत्तराधर्यव्यवस्थितया समश्रेणितयाऽपीत्यत आह—'सपक्खिं'मित्यादि, पक्षाणां–दक्षिणवामादिपार्श्वानां सदृशता–समता सपक्षमित्यव्ययीभावस्तेन समपार्श्वतया समानीत्यर्थः, इकारस्तु प्राकृतत्वात्, तथा प्रतिदिशां–विदिशां सदृशता सप्रतिदिक् तेन समप्रतिदिक्कयेत्यर्थः, अप्रतिष्ठानः सप्तम्यां पञ्चानां नरकावासानां मध्यमः, तथा जम्बूद्वीपः सकलद्वीपमध्यमः, सर्वार्थसिद्धं विमानं पञ्चानामनुत्तराणां मध्यममिति। सीमन्तकः प्रथमपृथिव्यां प्रथमप्रस्तटे नरकेन्द्रकः पञ्चचत्वारिंशद्योजन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्षाणि, समयः–कालः तत्सत्तोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रं मनुष्यलोक इत्यर्थः, ईषद्–अल्पो योजनाष्टकबाहल्यपञ्चचत्वारिंशल्लक्षविष्कम्भात् प्राग्भारः–पुद्गलनिचयो यस्याः–सेषत्प्राग्भाराऽष्टमपृथिवी, शेषपृथिव्यो हि रत्नप्रभाद्या महाप्राग्भाराः, अशीत्यादिसहस्राधिकयोजनलक्षबाहल्यत्वात्, तथाहि—"पढमाऽसीइसहस्सा बत्तीसा अट्ठवीस वीसा य। अट्ठार सोलस य अट्ठ सहस्स लक्खोवरिं कुजा ॥ १ ॥" इति, विष्कम्भस्तु तासां क्रमेणैकाद्याः सप्तान्ता रज्जव इति, अथवेषत्प्राग्भारा मनागवनतत्वादिति ॥ प्रकृत्या–स्वभावेनोदकरसेन युक्ता इति, क्रमेण चैते द्वितीयतृतीयान्तिमाः। प्रथमद्वितीयान्तिमाः समुद्रा बहुजलचराः अन्ये त्वल्पजलचरा इति, उक्तं च—"[1]लवणे उदगरसेसु य महोरया मच्छकच्छहा भणिया। अप्पा सेसेसु भवे न य ते णिम्मच्छया भणिया ॥ १ ॥" अन्यच्च—"[2]लवणे कालसमुद्दे सयंभुरमणे य होंति मच्छा उ। अवसेस समुद्देसुं न हुंति मच्छा न मयरा वा ॥ २ ॥ नत्थित्ति पउरभावं पडुच्च न उ सव्वमच्छपडिसेहो। अप्पा सेसेसु भवे नय ते निम्मच्छया भणिया ॥ ३ ॥" इति॥ क्षेत्राधिकारादेवाप्रतिष्ठाने नरकक्षेत्रे ये उत्पद्यन्ते तानाह—

तओ लोगे णिस्सीला णिव्वता णिग्गुणा निम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अप्पतिट्ठाणे णरए णेरइयत्ताए उववज्जंति, तं०—रायाणो मंडलीया जे य महारंभा कोडुंबी। तओ लोए सुसीला

१ प्रथमाऽशीतिः सहस्राणि द्वात्रिंशदष्टाविंशतिर्विंशतिश्चाष्टादश षोडश चाष्ट सहस्राणि लक्षोपरि कुर्यात् ॥ १ ॥ २ लवणे उदकरसेषु च महोरगा मत्स्यकच्छपा भणिताः। अल्पाश्च शेषेषु भवेयुर्न च ते निर्मत्स्यका भणिताः ॥ १ ॥ ३ लवणे कालसमुद्रे स्वयंभूरमणे च भवंति मत्स्याः। अवशेषसमुद्रेषु न भवंति मत्स्या वा मकरा वा ॥ १ ॥ न सन्तीति प्रचुरभावं प्रतीत्य नैव सर्वथा मत्स्यप्रतिषेधः। अल्पाः शेषेषु भवेयुर्नैव ते निर्मत्स्यकाः भणिताः ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुव्वया सग्गुणा समेरा सपच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं०—रायाणो परिचत्तकामभोगा सेणावती पसत्थारो । (सू० १५०) बंभलोगलंतएसु णं कप्पेसु विमाणा तिवण्णा पं० तं०—किण्हा नीला लोहिया, आणयपाणयारणच्चुतेसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जसरीरा उक्कोसेणं तिण्णि रयणीओ उद्धं उच्चत्तेणं पण्णत्ता (सू० १५१) तओ पन्नत्तीओ कालेणं अहिज्जंति, तं०—चंदपन्नत्ती सूरपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती (सू० १५२) तिट्ठाणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

**'तओ'** इत्यादि, **'निःशीला'** निर्गतशुभस्वभावाः दुःशीला इत्यर्थः, एतदेव प्रपञ्चयते—**'निर्व्रताः'** अविरताः प्राणातिपातादिभ्यो **'निर्गुणा'** उत्तरगुणाभावात् **'निम्मेर'**त्ति निर्मर्यादाः प्रतिपन्नापरिपालनादिना, तथा प्रत्याख्यानं च—नमस्कारसहितादि पौषधः—पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवासः—अभक्तार्थकरणं स च तौ निर्गतौ येषां ते निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवासाः **'कालमासे'** मरणमासे **'कालं'** मरणमिति, **'णेरइयत्ताए'**त्ति पृथिव्यादित्वव्यवच्छेदार्थं, तत्र ह्येकेन्द्रियतया तदन्येऽप्युत्पद्यन्त इति, तत्र राजानः—चक्रवर्त्तिवासुदेवाः माण्डलिकाः—शेषा राजानः, ये च महारम्भाः—पञ्चेन्द्रियादिव्यपरोपणप्रधानकर्म्मकारिणः कुटुम्बिन इति, शेषं कण्ठ्यम् ॥ अप्रतिष्ठानस्य स्थित्यादिभिः समाने सर्वार्थे ये उत्पद्यन्ते तानाह—**'तओ'** इत्यादि सुगमं, केवलं राजानः—प्रतीताः परित्यक्तकामभोगाः—सर्व्वविरताः, एतच्चोत्तरपदयोरपि सम्बन्धनीयं, सेनापतयः—सैन्यनायकाः प्रशास्तारो—लेखाचार्यादयः, धर्मशास्त्रपाठका इति क्वचित् ॥ अनन्तरोक्तसर्वार्थसिद्धविमानसाधर्म्याद्विमानान्तरनिरूपणायाह—**'बंभे'**त्यादि, इह च "किण्हा नीला लोहिय"त्ति, पुस्तकेष्वेवं त्रैविध्यं दृश्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थानान्तरे च लोहितपीतशुक्लत्वेनेति, यत उक्तम्—"सोहम्मे पंचवन्ना एक्कगहाणी य जा सहस्सारो । दो दो तुल्ला कप्पा तेण परं पुंडरीयाइं ॥ १ ॥" इति, अनन्तरं विमानान्युक्तानि तानि च देवशरीराश्रया इति देवशरीरमानं त्रिस्थानकानुपात्याह—'आणये'त्यादि, भवं–जन्मापि यावद्धार्यन्ते भवं वा–देवगतिलक्षणं धारयन्तीति भवधारणीयानि तानि च तानि शरीराणि चेति भवधारणीयशरीराणीति, उत्तरवैक्रियव्यवच्छेदार्थं चेदं, तस्य लक्षप्रमाणत्वात्, 'उक्कोसेणं'ति उत्कर्षेण, न तु जघन्यत्वादिना, जघन्येन तस्योत्पत्तिसमयेऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रत्वादिति, शेषं कण्ठ्यमिति । अनन्तरं देवशरीराश्रयवक्तव्यतोक्ता तत्प्रतिबद्धाश्च प्रायस्त्रयो ग्रन्था इति तत्स्वरूपाभिधानायाह—'तओ' इत्यादि, कालेन–प्रथमपश्चिमपौरुषीलक्षणेन हेतुभूतेनाधीयन्ते, व्याख्याप्रज्ञप्तिर्जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिश्च न विवक्षिता, त्रिस्थानकानुरोधादिति, शेषं स्पष्टम् ॥ इति त्रिस्थानकस्य प्रथम उद्देशको विवरणतः समाप्तः ॥



व्याख्यातः प्रथम उद्देशकः, तदनन्तरं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, प्रथमोद्देशके जीवधर्म्माः प्रायउक्ताः, इहापि प्रायस्त एवेतीत्थंसम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रम्—

तिविहे लोगे पं० तं०—णामलोगे ठवणलोगे दव्वलोगे, तिविधे लोगे पं० तं०—णाणलोगे दंसणलोगे चरित्तलोगे, तिविहे लोगे पं० तं०—उड्ढलोगे अहोलोगे तिरियलोगे (सू० १५३)

१ सौधर्मे पंचवर्णानि एकैकहानिश्च यावत्सहस्रारः । द्वौ द्वौ कल्पौ तुल्यौ ततः परं पुष्पदरीकाणि ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


अत्र तृतीय-स्थानस्य प्रथम-उद्देशक: समाप्त:,
अथ द्वितीय-उद्देशक: आरभ्यते

अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तरसूत्रेण चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिग्रन्थस्वरूपमुक्तमिह तु चन्द्रादीनामेवार्थानामाधारभूतस्य लोकस्य स्वरूपमभिधीयत इत्येवंसम्बन्धवतोऽस्य सूत्रस्य व्याख्या–लोक्यते–अवलोक्यते केवलावलोकेनेति लोको, नामस्थापने इन्द्रसूत्रवत्, द्रव्यलोकोऽपि तथैव, नवरं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यलोको धर्मास्तिकायादीनि जीवाजीवरूपाणि रूप्यरूपीणि सप्रदेशाप्रदेशानि द्रव्याण्येव, द्रव्याणि च तानि लोकश्चेति विग्रहः, उक्तं च—"जीवमजीवे रूवमरूवी सपएसअप्पएसे य। जाणाहि दव्वलोयं णिच्चमणिच्चं च जं दव्वं ॥ १ ॥" इति, भावलोकं त्रिधाऽऽह—'तिविहे'इत्यादि, भावलोको द्विविधः–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो लोकपर्यालोचनोपयोगः तदुपयोगानन्यत्वात् पुरुषो वा, नोआगमतस्तु सूत्रोक्तो ज्ञानादिः, नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वाद्, इदं हि त्रयं प्रत्येकमितरेतरसव्यपेक्षं नागम एव केवलो नाप्यनागम इति, तत्र ज्ञानं चासौ लोकश्चेति ज्ञानलोकः, भावलोकता चास्य क्षायिकक्षायोपशमिकभावरूपत्वात्, क्षायिकादिभावानां च भावलोकत्वेनाभिहितत्वाद्, उक्तं च—"[२]ओदइय उवसमिए य खइए य तहा खओवसमिए य। परिणाम सन्निवाए य छव्विहो भावलोगो उ ॥ १ ॥" त्ति, एवं दर्शनचारित्रलोकावपीति ॥ अथ क्षेत्रलोकं त्रिधाऽऽह—'तिविहे' इत्यादि, इह च बहुसमभूमिभागे रत्नप्रभाभागे मेरुमध्ये अष्टप्रदेशो रुचको भवति, तस्योपरितनप्रतरस्योपरिष्टान्नव योजनशतानि यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलस्तावत् तिर्यग्लोकस्ततः परत ऊर्ध्वभागस्थितत्वात् ऊर्ध्वलोको देशोनसप्त-

१ जीवा अजीवा रूपिणोऽरूपिणः सप्रदेशा अप्रदेशाश्च। जानीहि द्रव्यलोकं नित्यमनित्यं च यद्द्रव्यं ॥ १ ॥ २ औदयिक औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकश्च। तथा परिणामः सन्निपातश्च षड्विधो भावलोक इति ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'लोक' शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपाः

रज्जुप्रमाणो रुचकस्याधस्तनप्रतरस्याधो नव योजनशतानि यावत्तावत्तिर्यग्लोकः, ततः परतोऽधोभागस्थितत्वादधोलोकः सातिरेकसप्तरज्जुप्रमाणः, अधोलोकोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्भागस्थितत्वात् तिर्यग्लोक इति, प्रकारान्तरेण चायं गाथाभिर्व्याख्यायते—"[1]अहवा अहपरिणामो खेत्तणुभावेण जेण ओसन्नं । असुहो अहोत्ति भणिओ दव्वाणं तेणऽहोलोगो ॥ १ ॥ उड्ढं उवरिं जं ठिय सुहखेत्तं खेत्तओ य दव्वगुणा । उप्पज्जंति सुभा वा तेण तओ उड्ढलोगोत्ति ॥ २ ॥ मज्झणुभावं खेत्तं जं तं तिरियंति वयणपज्जवओ । भण्णइ तिरिय विसालं अओ य तं तिरियलोगोत्ति ॥ ३ ॥" लोकस्वरूपनिरूपणानन्तरं तदाधेयानां चमरादीनां 'चमरस्सेत्यादिना अचुयलोगवालाण'मित्येतदन्तेन ग्रन्थेन पर्षदो निरूपयति—

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो ततो परिसातो पं० तं०—समिता चंडा जाया, अब्भितरिता समिता मज्झिमता चंडा बाहिरता जाया, चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सामाणिताणं देवाणं ततो परिसातो पं० तं०—समिता जहेव चमरस्स, एवं तायत्तीसगाणवि, लोगपालाणं तुंबा तुडिया पव्वा, एवं अग्गमहिसीणवि, बलिस्सवि एवं चेव, जाव अग्गमहिसीणं, धरणस्स य सामाणियतायत्तीसगाणं च समिता चंडा जाता, लोगपालाणं अग्गमहिसीणं ईसा तुडिया दढरहा, जहा धरणस्स तहा सेसाणं भवणवासीणं, कालस्स णं पिसाइंदस्स पिसायरण्णो तओ परि-

१ अथवा अधः परिणामः क्षेत्रानुभावेन येन प्रायेण अशुभोऽध इति भणितो द्रव्याणां तेनाधोलोकः ॥ १ ॥ ऊर्ध्वमुपरि यत्स्थितं शुभक्षेत्रं क्षेत्रतश्च शुभा वा द्रव्यगुणा उत्पद्यन्ते तेन स ऊर्ध्वलोक इति ॥ १ ॥ मध्यमानुभावं क्षेत्रं यत्तत्तिर्यगिति वचनपर्यायतः । भण्यते तिर्यग्विशालं अतश्च तत्तिर्यग्लोक इति ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


***अत्र मूल संपादने एक स्थूल मुद्रणदोष: वर्तते (मूल प्रतमें ऊपर दायीं तरफ उद्देश: ३ लिखा है, परन्तु यहाँ दूसरा उद्देशक चल रहा है)
'लोक' शब्दस्य व्याख्या एवं निक्षेपा:

साओ पं० तं०—ईसा तुडिया दढरहा, एवं सामाणियअग्गमहिसीणं, एवं जाव गीयरतिगीयजसाणं, चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो ततो परिसातो पं०, तं०—तुंबा तुडिया पव्वा, एवं सामाणियअग्गमहिसीणं, एवं सूरस्सवि, सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो ततो परिसाओ पं० तं०—समिता चंडा जाया, एवं जहा चमरस्स जाव अग्गमहिसीणं, एवं जाव अच्चुतस्स लोगपालाणं (सू० १५४)

सुगमश्चायं, नवरं 'असुरिंदस्से'त्यादौ इन्द्र ऐश्वर्ययोगात् राजा तु राजनादिति 'परिषत्' परिवारः, सा च त्रिधा प्रत्यासत्तिभेदेन, तत्र ये परिवारभूता देवा देव्यश्चातिगौरव्यत्वात् प्रयोजनेष्वप्याहूता एवागच्छन्ति सा अभ्यन्तरा परिषत् ये त्वाहूता अनाहूताश्चागच्छन्ति सा मध्यमा ये त्वनाहूता अप्यागच्छन्ति सा बाह्येति, तथा यया सह प्रयोजनं पर्यालोचयति साऽऽद्या यया तु तदेव पर्यालोचितं सत् प्रपञ्चयति सा द्वितीया यस्यास्तु तत्प्रवर्णयति साऽन्त्येति ॥ अनन्तरं परिषदुत्पन्नदेवाः प्ररूपिताः, देवत्वं च कुतोऽपि धर्म्मात्, तत्प्रतिपत्तिश्च कालविशेषे भवतीति कालविशेषनिरूपणपूर्वं तत्रैव धर्मविशेषाणां प्रतिपत्तीराह—

ततो जामा पं० तं०—पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे, तिहिं जामेहिं आता केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणताते—पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे, एवं जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे। ततो वया पं० तं०—पढमे वते मज्झिमे वते पच्छिमे वए, तिहिं वतेहिं आया केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं०—पढमे वते मज्झिमे वते पच्छिमे वते, एसो चेव गमो णेयव्वो, जाव केवलनाणंति (सू० १५५)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तओ जामे'त्यादि स्पष्टं, केवलं यामो–रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागो यद्यपि प्रसिद्धस्तथाऽपीह त्रिभाग एव विवक्षितः पूर्वरात्रमध्यरात्रापररात्रलक्षणो यमाश्रित्य रात्रिस्त्रियामेत्युच्यते, एवं दिनस्यापि, अथवा चतुर्थभाग एव सः, किन्त्विह चतुर्थो न विवक्षितः, त्रिस्थानकानुरोधादित्येवमपि त्रयो यामा इत्यभिहितम्, एवं 'जाव'त्तिकरणादिदं दृश्यं—'केवलं' बोहिं बुज्झेज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा, एवं संजमेणं संजमेज्जा, संवरेणं संवरेज्जा, आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जे'त्यादि । यथा कालविशेषे धर्मप्रतिपत्तिरेवं वयोविशेषेऽपीति तन्निरूपणतस्तत्र धर्मविशेषप्रतिपत्तीराह—'तओ वये'त्यादि स्फुटं, किन्तु प्राणिनां कालकृतावस्था वय उच्यते, तत् त्रिधा–बालमध्यमवृद्धत्वभेदादिति, वयोलक्षणं चेदम्—"आषोडशाद्भवेद्बालो, यावत्क्षीरान्नवर्त्तकः । मध्यमः सप्ततिं यावत्, परतो वृद्ध उच्यते ॥ १ ॥" शेषं प्राग्वत् ॥ उक्तानेव धर्मविशेषांस्त्रिधा बोधिशब्दाभिधेयान् १ बोधिमतो २ बोधिविपक्षभूतं मोहं ३ तद्वतश्च ४ सूत्रचतुष्टयेनाह—

तिविधा बोधी पं० तं०—णाणबोधी दंसणबोधी चरित्तबोधी १ तिविहा बुद्धा पं० तं०—णाणबुद्धा दंसणबुद्धा चरित्तबुद्धा २ एवं मोहे ३ मूढा ४ (सू० १५६) तिविहा पव्वज्जा, पं० तं०—इहलोगपडिबद्धा परलोगपडिबद्धा दुहतोपडिबद्धा, तिविहा पव्वज्जा, पं० तं०—पुरतो पडिबद्धा मग्गतो पडिबद्धा दुहओ पडिबद्धा, तिविहा पव्वज्जा, पं० तं०—तुयावइत्ता पुयावइत्ता बुआवइत्ता, तिविहा पव्वज्जा पं० तं०—उवातपव्वज्जा अक्खातपव्वज्जा संगारपव्वज्जा (सू० १५७)



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

***अत्र मूल संपादने एक स्थूल मुद्रणदोषः वर्तते (मूल प्रतमें ऊपर दायीं तरफ उद्देशः ३ लिखा है, परन्तु यहाँ दूसरा उद्देशक चल रहा है)

प्रत सूत्रांक [१५७]

दीप अनुक्रम [१६५]


सुबोधं, किन्तु बोधिः–सम्यग्बोधः, इह च चारित्रं बोधिफलत्वात् बोधिरुच्यते, जीवोपयोगरूपत्वाद्वा, बोधिविशिष्टाः पुरुषास्त्रिधा ज्ञानबुद्धादय इति, 'एवं मोहे मूढ'त्ति बोधिवद्बुद्धवच्च मोहो मूढाश्च त्रिविधा वाच्याः, तथाहि—'तिविहे मोहे पण्णत्ते, तंजहा–नाणमोहे' इत्यादि, 'तिविहा मूढा पन्नत्ता, तंजहा–णाणमूढेइत्यादि ॥ चारित्रबुद्धाः प्रागभिहिताः, ते च प्रव्रज्यायां सत्यामतस्तां भेदतो निरूपयन्नाह—'तिविहे'त्यादि, सूत्रचतुष्टयं सुगमं, केवलं प्रव्रजनं–गमनं पापाच्चरणव्यापारेष्विति प्रव्रज्या, एतच्च चरणयोगगमनं मोक्षगमनमेव, कारणे कार्योपचारात्, तन्दुलान् वर्षति पर्जन्य इत्यादिवदिति, उक्तं च—"पव्वयणं पव्वज्जा पावाओ सुद्धचरणजोगेसु । इय मोक्खं पइ गमणं कारण कज्जोवयाराओ ॥ १ ॥" इति, इहलोकप्रतिबद्धा–ऐहलौकिकभोजनादिकार्यार्थिनां परलोकप्रतिबद्धा–जन्मान्तरकामाद्यर्थिनां द्विधाप्रतिबद्धा–इहलोकपरलोकप्रतिबद्धा सा चोभयार्थिनामिति, पुरतः–अग्रतः प्रतिबद्धा प्रव्रज्यापर्यायभाविषु शिष्यादिष्वाशंसनतः प्रतिबन्धात् मार्गतः–पृष्ठतः स्वजनादिषु स्नेहाच्छेदात् तृतीया द्विधाऽपीति । 'तुयावइत्त'त्ति 'तुद् व्यथने' इति वचनात् तोदयित्वा–तोदं कृत्वा व्यथामुत्पाद्य या प्रव्रज्या दीयते मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथोच्यते, 'पुयावइत्त'त्ति, 'प्लुङ्गता'विति वचनात् प्लावयित्वा–अन्यत्र नीत्वा आर्यरक्षितवद् या दीयते सा तथेति, 'बुयावइत्ता' संभाष्य गौतमेन कर्षकवदिति । अवपातः–सेवा सद्गुरूणां ततो या सा अवपातप्रव्रज्या, तथा आख्यातेन–धर्मदेशनेन आख्यातस्य वा–प्रव्रजेत्यभिहितस्य गुरुभिर्या साऽऽख्यातप्रव्रज्या फल्गुरक्षितस्येवेति, 'संगा-

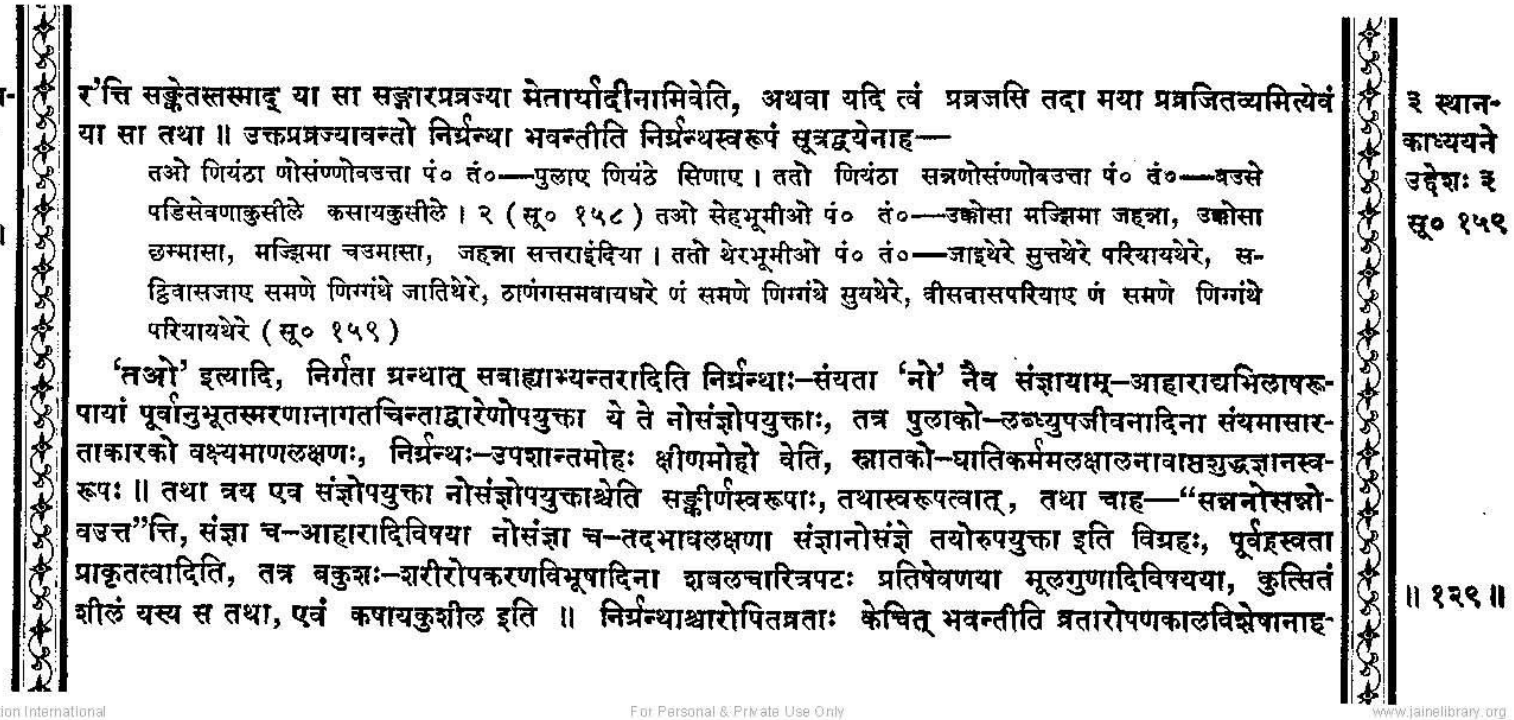
१ प्रव्रजनं प्रव्रज्या पापाच्छुद्धचरणयोगेषु । एवं मोक्षं प्रति गमनं ( प्रव्रज्या ) कारणे कार्योपचारात् ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


प्रव्रज्या- व्याख्या एवं भेदाः

प्रत सूत्रांक [१५७]

दीप अनुक्रम [१६५]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १२९ ॥

र'त्ति सङ्केतस्तस्माद् या सा सङ्गारप्रव्रज्या मेतार्यादीनामिवेति, अथवा यदि त्वं प्रव्रजसि तदा मया प्रव्रजितव्यमित्येवं या सा तथा ॥ उक्तप्रव्रज्यावन्तो निर्ग्रन्था भवन्तीति निर्ग्रन्थस्वरूपं सूत्रद्वयेनाह—

तओ णियंठा णोसंण्णोवउत्ता पं० तं०—पुलाए णियंठे सिणाए । ततो णियंठा सन्नणोसंण्णोवउत्ता पं० तं०—बउसे पडिसेवणाकुसीले कसायकुसीले । २ (सू० १५८) तओ सेहभूमीओ पं० तं०—उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना, उक्कोसा छम्मासा, मज्झिमा चउमासा, जहन्ना सत्तराइंदिया । ततो थेरभूमीओ पं० तं०—जाइथेरे सुत्तथेरे परियायथेरे, सट्ठिवासजाए समणे णिग्गंथे जातिथेरे, ठाणंगसमवायधरे णं समणे णिग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए णं समणे णिग्गंथे परियायथेरे (सू० १५९)

'तओ' इत्यादि, निर्गता ग्रन्थात् सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः—संयता 'नो' नैव संज्ञायाम्—आहाराद्यभिलाषरूपायां पूर्वानुभूतस्मरणानागतचिन्ताद्वारेणोपयुक्ता ये ते नोसंज्ञोपयुक्ताः, तत्र पुलाको—लब्ध्युपजीवनादिना संयमासारताकारको वक्ष्यमाणलक्षणः, निर्ग्रन्थः—उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वेति, स्नातको—घातिकर्ममलक्षालनावाप्तशुद्धज्ञानस्वरूपः ॥ तथा त्रय एव संज्ञोपयुक्ता नोसंज्ञोपयुक्ताश्चेति सङ्कीर्णस्वरूपाः, तथास्वरूपत्वात्, तथा चाह—"सन्ननोसन्नोवउत्त"त्ति, संज्ञा च—आहारादिविषया नोसंज्ञा च—तदभावलक्षणा संज्ञानोसंज्ञे तयोरुपयुक्ता इति विग्रहः, पूर्वह्रस्वता प्राकृतत्वादिति, तत्र बकुशः—शरीरोपकरणविभूषादिना शबलचारित्रपटः प्रतिषेवणया मूलगुणादिविषयया, कुत्सितं शीलं यस्य स तथा, एवं कषायकुशील इति ॥ निर्ग्रन्थाश्चारोपितव्रताः केचित् भवन्तीति व्रतारोपणकालविशेषानाह-

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः ३ सू० १५९

॥ १२९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

***अत्र मूल संपादने एक स्थूल मुद्रणदोष: वर्तते (मूल प्रतमें ऊपर दायीं तरफ उद्देश: ३ लिखा है, परन्तु यहाँ दूसरा उद्देशक चल रहा है)
पुलाक, निर्ग्रन्थ, स्नातक, बकुश, कुशील शब्दानाम् व्याख्या

'तओ सेहे'त्यादि सुगमं, किन्तु 'सेहे'ति 'षिधू संराद्धा'विति वचनात् सेध्यते–निष्पाद्यते यः स सेधः शिक्षां वाऽधीत इति शैक्षः तस्य भूमयो–महाव्रतारोपणकाललक्षणाः अवस्थापदव्य इति सेधभूमयः शैक्षभूमयो वेति, अयमभिप्रायः–उत्कृष्टतः षड्भिर्मासैरुत्थाप्यते न तानतिक्राम्यते, जघन्यतः सप्तभिरेव रात्रिन्दिवैर्गृहीतशिक्षत्वादिति, उक्तं च—"सेहस्स तिन्नि भूमी जहन्न तह मज्झिमा य उक्कोसा । राईदिसत्त चउमासिगा य छम्मासिआ चेव ॥ १ ॥" इति, आसु चायं व्यवहारोक्तो विभागः—"पुव्वोवट्ठपुराणे करणजयट्ठा जहन्निया भूमी । उक्कोसा दुम्मेहं पडुच्च अस्सद्दहाणं च ॥ १ ॥ एमेव य मज्झिमगा अणहिज्जंते असद्दहंते य । भावियमेहाविस्सवि, करणजयट्ठा य मज्झिमगा ॥ २ ॥" इति ॥ शैक्षस्य च विपर्यस्तः स्थविरो भवतीति तद्भूमिनिरूपणायाह—"तओ थेरे" इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं स्थविरो–वृद्धस्तस्य भूमयः–पदव्यः स्थविरभूमय इति, जातिः–जन्म श्रुतम्–आगमः पर्यायः–प्रव्रज्या तैः स्थविरा–वृद्धा ये ते तथोक्ता इति, इह च भूमिकाभूमिकावतोरभेदादेवमुपन्यासः, अन्यथा भूमिका उद्दिष्टा इति ता एव वाच्याः स्युरिति, एतेषां च त्रयाणां क्रमेणानुकम्पापूजावन्दनानि विधेयानि, यत उक्तं व्यवहारे—"आहारे उवही सेज्जा, संथारे खेत्तसंकमे।

१ शैक्षस्य तिस्रो भूमयो जघन्या तथा मध्यमा चोत्कृष्टा । रात्रिंदिवसप्तकं चतुर्मासिका षाण्मासिका चैव ॥ १ ॥ २ पूर्वोपस्थे पुराणे करणजयार्थं जघन्या भूमिः । उत्कृष्टा दुर्मेधसं प्रतीत्याश्रद्दधानं च ॥ १ ॥ एवमेव च मध्यमा अनधीयाने चाश्रद्दधाने च । भावितमेधाविनोऽपि करणजयार्थं च मध्यमा ॥ १ ॥ ३ आहारे उपधौ शय्यायां संस्तारे क्षेत्रसंक्रमे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५९]

दीप अनुक्रम [१६७]



किईच्छंदाणुवत्तीहिं, अणुकंपइ थेरगं ॥ १ ॥ उट्ठाणासणदाणाइं, जोगाहारप्पसंसणा । नीयसेज्जाइ निद्देसवत्तित्ते पूयए सुयं ॥ २ ॥ उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य । अगुरुणोऽविय णिद्देसे, तईयाए पवत्तए ॥ १ ॥" इति ॥ स्थविरा इति पुरुषप्रकारा उक्ताः, तदधिकारात् पुरुषप्रकारानेवाह—

ततो पुरिसजाया पं० तं०—सुमणे दुम्मणे णोसुमणेणोदुम्मणे १ ततो पुरिसजाया पं० तं०—गंता णामेगे सुमणे भवति, गंता णामेगे दुम्मणे भवति, गंता णामेगे णोसुमणेणोदुम्मणे भवति २, तओ पुरिसजाया पं० तं०—जामीतेगे सुमणे भवति, जामीतेगे दुम्मणे भवति, जामीतेगे णोसुमणेणोदुम्मणे भवति ३, एवं जाइस्सामीतेगे सुमणे भवति ३४, ततो पुरिसजाया पं० तं०—अगंता णामेगे सुमणे भवति ३५, ततो पुरिसजाता पं० तं०—ण जामि एगे सुमणे भवति ३६, ततो पुरिसजाया पं० तं०—ण जाइस्सामि एगे सुमणे भवति, ३७, एवं आगंता णामेगे सुमणे भवति ३८, एमितेगे सु० ३ एस्सामीति एगे सुमणे भवति ३ एवं एएणं अभिलावेणं—'गंता य अगंता(य) १ आगंता खलु तधा अणागंता २। चिट्ठित्तमचिट्ठित्ता ३, णिसितित्ता चेव नो चेव ४ ॥ १ ॥ हंता य अहंता य ५ छिंदित्ता खलु तहा अछिंदित्ता ६ । बूतित्ता अबूतित्ता ७ भासित्ता चेव णो चेव ८ ॥ २ ॥ दच्चा य अदच्चा य ९ भुंजित्ता खलु तधा अभुंजित्ता १० । लंभित्ता अलंभित्ता ११ पिइत्ता चेव नो चेव १२ ॥ ३ ॥ सुतित्ता असुतित्ता १३ जुज्झित्ता खलु तहा अजुज्झित्ता १४ ॥ ज-

१ कृतिच्छन्दोऽनुवृत्तिभिरनुकंपते स्थविरं ॥ १ ॥ उत्थानासनदानयोः योग्याहारशंसनायां । नीचैःशय्यादौ निर्देशवर्त्तित्वे पूज्यते श्रुतं ॥ २ ॥ उत्थानं वन्दनं चैव ग्रहणं दण्डकस्य च । अगुरोरपि च निर्देशे तदा प्रवर्त्तते तस्य तृतीयस्य ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

***अत्र मूल संपादने एक स्थूल मुद्रणदोषः वर्तते (मूल प्रतमें ऊपर दायीं तरफ उद्देश: ३ लिखा है, परन्तु यहाँ दूसरा उद्देशक चल रहा है)

तित्ता अजयित्ता य १५ पराजिणित्ता य [चेव] नो चेव १६ ॥ ४ ॥ सद्दा १७ रूवा १८ गंधा १९ रसा य २० फासा २१ ( २१×६=१२६–१–१२७ ) तहेव ठाणा य । निस्सीलस्स गरहिता पसत्था पुण सीलवंतस्स ॥ ५ ॥ एवमिक्केक्के तिन्नि उ तिन्नि उ आलावगा भाणियव्वा, सद्दं सुणेत्ता णामेगे सुमणे भवति ३ एवं सुणेमीति ३ सुणिस्सामीति ३, एवं असुणेत्ता णामेगे सुमणे भवति ३ न सुणेमीति ३ ण सुणिस्सामीति ३, एवं रूवाइं गंधाइं रसाइं फासाइं, एक्केक्के छ छ आलावगा भाणियव्वा १२७ आलावगा भवंति ( सू० १६० ) तओ ठाणा णिस्सीलस्स निव्वयस्स णिग्गुणस्स णिम्मेरस्स णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासस्स गरहिता भवंति तं०—अस्सिं लोगे गरहिते भवइ उववाते गरहिए भवइ आयाती गरहिता भवति, ततो ठाणा सुसीलस्स सुव्वयस्स सगुणस्स सुमेरस्स सपच्चक्खाणपोसहोववासस्स पसत्था भवंति, तं०—अस्सिं लोगे पसत्थे भवति उववाए पसत्थे भवति आजाती पसत्था भवति ( सू० १६१ )

'तओ पुरिसे'त्यादि, पुरुषजातानि–पुरुषप्रकाराः सुष्ठु मनो यस्यासौ सुमनाः–हर्षवान् रक्त इत्यर्थः, एवं दुर्म्मना–दैन्यादिमान् द्विष्ट इत्यर्थः, नोसुमनानोदुर्म्मनाः–मध्यस्थः, सामायिकवानित्यर्थः । सामान्यतः पुरुषप्रकारा उक्ताः, एतानेव विशेषतो गत्यादिक्रियापेक्षया तओ इत्यादिभिः सूत्रैराह–तत्र 'गत्वा' यात्वा क्वचिद्विहारक्षेत्रादौ नामेति सम्भावनायामेकः कश्चित् सुमना भवति–हृष्यति, तथैवान्यो दुर्म्मनाः–शोचति, अन्यः सम एवेति, अतीतकालसूत्रमिव वर्त्तमानभविष्यत्कालसूत्रे, नवरं 'जामीतेगे' इत्यादिषु इतिशब्दो हेत्वर्थः । 'एवमगंते'त्यादिप्रतिषेधसूत्राणि आगमनसूत्राणि च सुगमानि, 'एवम्' एतेनानन्तरोक्तेनाभिलापेन शेषसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । अथोक्तान्यनुक्तानि च सूत्राणि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६०--१६१]

दीप अनुक्रम [१६८--१७४]



संगृह्णन् गाथापञ्चकमाह—'गंते'त्यादि, गंता अगंता आगन्तेत्युक्तम्, अणागंतत्ति—अणागंता नामेगे सुमणे भवइ, अणागंता नामेगे दुम्मणे भवइ, अणागंता नामेगे नोसुमणेनोदुम्मणे भवइ ३, एवं न आगच्छामीति ३, एवं न आगमिस्सामीति ३, 'चिट्ठित्त'त्ति स्थित्वा उर्द्धस्थानेन सुमना दुर्म्मना अनुभयं च भवति, एवं—'चिट्ठामीति, चिट्ठिस्सामीति अचिट्ठित्ता' इहापि कालतः सूत्रत्रयम्, एवं सर्वत्र नवरं 'निषद्य' उपविश्य नो चेवत्ति—अनिषद्य—अनुपविश्य ३, हत्वा—विनाश्य किञ्चित् ३, अहत्वा—अविनाश्य ३, छित्त्वा—द्विधा कृत्वा ३, अच्छित्त्वा—प्रतीतं ३, 'बुइत्त'त्ति उक्त्वा—भणित्वा पदवाक्यादिकं ३, 'अबुइत्त'त्ति अनुक्त्वा ३, 'भासित्ते'ति भाषित्वा संभाष्य कञ्चन सम्भाषणीयं ३, 'नो चेव'त्ति अभासित्ता असंभाष्य कञ्चन ३, 'दच्च'त्ति दत्त्वा ३ अदत्त्वा ३ भुक्त्वा ३ अभुक्त्वा ३ लब्ध्वा ३ अलब्ध्वा ३ पीत्वा ३ 'नो चेव'त्ति अपीत्वा ३ सुत्वा ३ असुत्वा ३ युद्ध्वा ३ अयुद्ध्वा ३ 'जइत्त'त्ति जित्वा परं ३ अजित्वा परमेव ३ 'पराजिणित्ता' भृशं जित्वा ३ परिभङ्गं वा प्राप्य सुमना भवति, वर्द्धनकभाविमहावित्तव्ययविनिर्मुक्तत्वात्, पराजितान्—प्रतिवादिनः, सम्भावितानर्थविनिर्मुक्तत्वाद्वा, 'नो चेव'त्ति अपराजित्य ३। सद्देत्यादि गाथा सूत्रत एव बोद्धव्या, प्रपञ्चितत्वात् तत्रैवास्या इति । 'एवमिक्के'इत्यादि, 'एव'मिति गत्वादिसूत्रोक्तक्रमेण एकैकस्मिन् शब्दादौ विषये विधिप्रतिषेधाभ्यां प्रत्येकं त्रयस्त्रय आलापकाः—सूत्राणि कालविशेषाश्रयाः सुमनाः दुर्म्मना नोसुमनानोदुर्म्मना इत्येतत्सदत्रयवन्तो भणितव्याः, एतदेव दर्शयन्नाह—'सद्द'मित्यादि, भावितार्थम्, 'एवं रूवाइं गंधाइं' इत्यादि, यथा शब्दे विधिनिषेधाभ्यां त्रयस्त्रय आलापका भणिता एवं 'रूवाइं पासित्ते'त्यादयः त्रयस्त्रय एव





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

***अत्र मूल संपादने एक स्थूल मुद्रणदोषः वर्तते (मूल प्रतमें ऊपर दायीं तरफ उद्देश: ३ लिखा है, परन्तु यहाँ दूसरा उद्देशक चल रहा है)

दर्शनीयाः, एवञ्च यद्भवति तदाह—'एक्के'इत्यादि, एकैकस्मिन् विषये षडालापका भणितव्या भवन्तीति, तत्र शब्दे दर्शिता एव, रूपादिषु पुनरेवं–रूपाणि दृष्ट्वा सुमना दुर्म्मना अनुभयं १ एवं पश्यामीति २ एवं द्रक्ष्यामीति ३ एवं अदृष्ट्वा ४ न पश्यामीति ५ न द्रक्ष्यामीति ६ षट्, एवं गन्धान् घ्रात्वा ६ रसानास्वाद्य ६ स्पर्शान् स्पृष्ट्वेति ६ । 'तहेव ठाणा य'त्ति यत्सङ्ग्रहगाथायामुक्तं तद् भावयन्नाह—'तओ ठाणा'इत्यादि, त्रीणि स्थानानि निःशीलस्य–सामान्येन शुभस्वभाववर्जितस्य विशेषतः पुनः निर्व्रतस्य–प्राणातिपाताद्यनिवृत्तस्य निर्गुणस्योत्तरगुणापेक्षया निर्म्मर्यादस्य लोककुलाद्यपेक्षया निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवासस्य–पौरुष्यादिनियमपर्वोपवासरहितस्य गर्हितानि–जुगुप्सितानि भवन्ति, तद्यथा —'अस्सिं'ति विभक्तिपरिणामादयं लोकः–इदं जन्म गर्हितो भवति, पापप्रवृत्त्या विद्वज्जनजुगुप्सितत्वात्, तथा उपपातः–अकामनिर्जरादिजनितः किल्विषिकादिदेवभवो नारकभवो वा, 'उपपातो देवनारकाणा'मिति ( नारकदेवानामुपपातः तत्त्वा० अ० २ सू० ३५ ) वचनात्, स गर्हितो भवति किल्विषिकाभियोग्यादिरूपतयेति, आजातिः–तस्माच्युतस्योद्वृत्तस्य वा कुमानुषत्वतिर्यक्त्वरूपा गर्हिता, कुमानुषादित्वादेवेति । उक्तविपर्ययमाह—'तओ' इत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ एतानि च गर्हितप्रशस्तस्थानानि संसारिणामेव भवन्तीति संसारिजीवनिरूपणायाह—

तिविधा संसारसमावन्नगा जीवा पं० तं०—इत्थी पुरिसा नपुंसगा, तिविहा सव्वजीवा पं० तं०—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी य, अहवा तिविहा सव्वजीवा पं० तं०—पज्जत्तगा अपज्जत्तगा णोपज्जत्तगाणोऽपज्जत्तगा । एवं—सम्मद्दिट्ठिपरित्तापज्जत्तग सुहुमसन्निभविया य ( सू० १६२ )

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६२]

दीप अनुक्रम [१७५]



'तिविहे'त्यादि सूत्रसिद्धं ॥ जीवाधिकारात् सर्वजीवांस्त्रिस्थानकावतारेण षड्भिः सूत्रैराह—'तिविहे'त्यादि, सुबोधं, नवरं 'नोपज्जत्त'त्ति नोपर्याप्तकानोअपर्याप्तकाः—सिद्धाः, 'एव'मिति पूर्वक्रमेण सम्मद्दिट्ठीत्यादिगाथार्द्धमुक्तानुक्तसूत्रसङ्ग्रहार्थमिति । 'तिविहा सव्वजीवा पं० तं०—परित्ता १ अपरित्ता २ नोपरित्तानोअपरित्ता ३' तत्र परीत्ताः—प्रत्येकशरीराः अपरीत्ताः—साधारणशरीराः, परीत्तशब्दस्य छन्दोऽर्थं व्यत्यय इति, 'सुहुम'त्ति तिविहा सव्वजीवा पं० तं०—सुहुमा बायरा नोसुहुमानोबायरा, एवं संज्ञिनो भव्याश्च भावनीयाः, सर्वत्र च तृतीयपदे सिद्धा वाच्या इति ॥ सर्व एव चैते लोके व्यवस्थिता इति लोकस्थितिनिरूपणायाह—

तिविधा लोगठिती पं० तं०—आगासपइट्ठिए वाते वातपतिट्ठिए उदही उदहिपतिट्ठिया पुढवी, तओ दिसाओ पं० तं०—उद्धा अहा तिरिया १, तिहिं दिसाहिं जीवाणं गती पवत्तति, उड्ढाए अहाते तिरियाते २, एवं आगती ३ वक्कंती ४ आहारे ५ वुड्ढी ६ णिवुड्ढी ७ गतिपरियाते ८ समुग्घाते ९ कालसंजोगे १० दंसणाभिगमे ११, णाणाभिगमे १२, जीवाभिगमे १३, तिहिं दिसाहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पं० तं०—उड्ढाते अहाते तिरियाते १४, एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, एवं मणुस्साणवि (सू० १६३)

'तिविहे'त्यादि कण्ठ्यं, किन्तु लोकस्थितिः—लोकव्यवस्था आकाशं—व्योम तत्र प्रतिष्ठितो—व्यवस्थित आकाशप्रतिष्ठितो वातो—घनवाततनुवातलक्षणः सर्वद्रव्याणामाकाशप्रतिष्ठितत्वात् उदधिः—घनोदधिः पृथिवी—तमस्तमःप्रभादिकेति ॥ उक्तस्थितिके च लोके जीवानां दिशोऽधिकृत्य गत्यादि भवतीति दिग्निरूपणपूर्वकं तासु गत्यादि निरूपयन् 'तओ दिसे'त्यादि सूत्राणि चतुर्दशाह—सुगमानि च, नवरं दिश्यते—व्यपदिश्यते पूर्वादितया वस्त्वनयेति दिक्, सा च नामादिभेदेन सप्तधा,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

***अत्र मूल संपादने एक स्थूल मुद्रणदोष: वर्तते (मूल प्रतमें ऊपर दायीं तरफ उद्देश: ३ लिखा है, परन्तु यहाँ दूसरा उद्देशक चल रहा है)

आह च—"[1]नामं १ ठवणा २ दविए ३ खेत्तदिसा ४ तावखेत्त ५ पन्नवए ६ । सत्तमिया भावदिसा ७ सा होअट्ठारसविहा उ ॥ १ ॥" तत्र द्रव्यस्य–पुद्गलस्कन्धादेर्दिक् द्रव्यदिक्, क्षेत्रस्य–आकाशस्य दिक् क्षेत्रदिक्, सा चैवं—"[2]अट्ठपएसो रुयगो तिरियंलोयस्स मज्झयारंमि। एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ १ ॥" तत्र पूर्व्वाद्या महादिशश्चतस्रोऽपि द्विप्रदेशादिका द्व्युत्तराः, अनुदिशस्तु एकप्रदेशा अनुत्तराः, ऊर्द्ध्वाधोदिशौ तु चतुरादी अनुत्तरे, यतोऽवाचि—"[3]दुपएसादि दुरुत्तर ४ एगपएसा अणुत्तरा चेव। चउरो ४ चउरो य दिसा चउरादि अणुत्तरा दुन्नि २ ॥ १ ॥ [4]सगडुद्धिसंठिआओ महादिसाओ हवंति चत्तारि। मुत्तावलीउ चउरो दो चेव य हुंति रुयगनिभा ॥ २ ॥" नामानि चासाम्—"[5]इंदे १ ग्गेयी २ जम्मा य ३ नेरई ४ वारुणी य ५ वायव्वा ६ । सोमा ७ ईसाणावि य ८ विमला य ९ तमा १० य बोद्धव्वा ॥ १ ॥" तापः–सविता तदुपलक्षिता क्षेत्रदिक् तापक्षेत्रदिक्, सा च अनियता, यत उक्तम्—"[6]जेसिं जत्तो सूरो उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा । तावक्खेत्तदिसाओ पयाहिणं सेसियाओ सिं ॥ १ ॥" तथा प्रज्ञापकस्य–आचार्यादेर्दिक् प्रज्ञापकदिक्, सा चैवम्—"[7]पन्नवओ जयभिमुहो सा पुव्वा सेसिया पयाहिणओ । तस्सेवऽणुगंतव्वा अग्गेयाई दिसा नियमा ॥ १ ॥" भावदिक्

१ नाम स्थापना द्रव्यक्षेत्रदिशः तापक्षेत्रप्रज्ञापकाः । सप्तमीका भावदिक् सा भवत्यष्टादशविधा एव ॥१॥ २ अष्टप्रदेशो रुचको मध्ये तिर्यग्लोकस्य एष प्रभवो दिशामेष एवानुदिशामपि ॥ १ ॥ ३ द्व्युत्तरा द्विप्रदेशादिका अनुत्तरैकप्रदेशा चैव । चतस्रश्चतस्रश्च दिशः चतुरादी अनुत्तरे द्वे ॥ १ ॥ ४ शकटोर्द्धिसंस्थिता महादिशो भवंति चतस्रः । मुक्तावलीव चतस्रो द्वे एव च भवतो रुचकनिभे ॥ १ ॥ ५ ऐन्द्री आग्नेयी यमा च नैर्ऋतिर्वारुणी च वायव्या । सोमा ईशानी अपि च विमला च तमा च बोद्धव्या ॥ १ ॥ ६ येषां यतः सूर्य उदयते तेषां सा भवति पूर्वा । तापक्षेत्रदिक् प्रदक्षिणं शेषा अस्याः ॥ १ ॥ ७ प्रज्ञापको यदभिमुखस्तिष्ठति सा पूर्वा प्रदक्षिणतः शेषाः । तस्या एवानुगंतव्याः आग्नेय्याद्या दिशो नियमात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाष्टादशविधा—" पुढवि१जल२जलण३वाया४मूला५खंध६ग्ग७पोरबीया य ८ । बि९ति१०चउ११पंचिंदियतिरिय १२ नारगा १३ देवसंघाया १४ ॥ १ ॥ संमुच्छिम १५ कम्मा १६ कम्मभूमगनरा १७ तहंतरदीवा १८ । भावदिसा दिस्सइ जं संसारी नियथमेयाहिं ॥ २ ॥" इति, इह च क्षेत्रतापप्रज्ञापकदिग्भिरेवाधिकारः, तत्र च तिर्यग्ग्रहणेन पूर्वाद्याश्चतस्र एव दिशो गृह्यन्ते, विदिक्षु जीवानामनुश्रेणिगामितया वक्ष्यमाणगत्यागतिव्युत्क्रान्तीनामयुज्यमानत्वात्, शेषपदेषु च विदिशामविवक्षितत्वात्, यतोऽत्रैव वक्ष्यति,—" छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तई'त्यादि, तथा ग्रन्थान्तरेऽप्याहारमाश्रित्योक्तम्—"निव्वाघाएण नियमा छद्दिसिंति" तत्र 'तिहिं दिसाहिं'ति सप्तमी तृतीया पञ्चमी वा यथायोगं व्याख्येयेति, गतिः—प्रज्ञापकस्थानापेक्षया मृत्वाऽन्यत्र गमनम्, 'एव'मिति पूर्वोक्ताभिलापसूचनार्थः, आगतिः—प्रज्ञापकप्रत्यासन्नस्थाने आगमनमिति, व्युत्क्रान्तिः—उत्पत्तिः, आहारः प्रतीतः, वृद्धिः—शरीरस्य वर्द्धनं, निवृद्धिः—शरीरस्यैव हानिः, गतिपर्यायश्चलनं जीवत एव, समुद्घातो—वेदनादिलक्षणः, कालसंयोगो—वर्त्तनादिकाललक्षणानुभूतिः मरणयोगो वा, दर्शनेन—अवध्यादिना प्रत्यक्षप्रमाणभूतेनाभिगमो—बोधो दर्शनाभिगमः, एवं ज्ञानाभिगमः, जीवानां ज्ञेयानां अवध्यादिनैवाभिगमो जीवाभिगम इति । ' तिहिं दिसाहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पन्नत्ते, तं०—उड्ढाए ३' एवं सर्वत्राभिलपनीयमिति दर्शनार्थं परिपूर्णान्त्यसूत्राभिधानमिति । एतान्यपि जीवाभिगमान्तानि सामान्यजीवसूत्राणि

१ पृथ्वीजलज्वलनवाता मूलस्कंधाग्रपर्वबीजाश्च । द्वित्रिचतुःपंचेंद्रियतिर्यग्नारका देवसंघाताः ॥ १ ॥ संमूर्च्छिमकर्माकर्मभूमिगनरास्तथान्तरद्वीपगाः भावदिशो व्यपदिश्यते यत्संसारी नियतमेताभिः ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां तु नारकादिपदेषु दिक्त्रये गत्यादीना त्रयोदशानामपि पदाना सामस्त्येनासम्भवात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मनुष्येषु च तत्सम्भवात् तदतिदेशमाह–'एव'मित्यादि, यथा सामान्यसूत्रेषु गत्यादीनि त्रयोदश पदानि दिक्त्रये अभिहितान्येवं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येष्विति भावः, एवं चैतानि षड्विंशतिः सूत्राणि भवन्तीति ॥ अथैषां नारकादिषु कथमसम्भव इति ?, उच्यते, नारकादीनां द्वाविंशतेर्जीवविशेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्ध्वाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभावः, तथा दर्शनज्ञानजीवाजीवाभिगमा गुणप्रत्यया अवध्यादिप्रत्यक्षरूपा दिक्त्रये न सन्त्येव, भवप्रत्ययावधिपक्षे तु नारकज्योतिष्कास्तिर्यगवधयो भवनपतिव्यन्तरा ऊर्ध्वावधयः वैमानिका अधोऽवधय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां त्ववधिर्नास्त्येवेति । यथोक्तानि च गत्यादिपदानि त्रसानामेव सम्भवन्तीति सम्बन्धात्त्रसान्निरूपयन्नाह—

तिविहा तसा पं० तं०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा, तिविधा थावरा, पं० तं०—पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइया (सू० १६४)

'तिविहे'त्यादि स्पष्टं, किन्तु त्रस्यन्तीति त्रसाः–चलनधर्म्माणः, तत्र तेजोवायवो गतियोगात् त्रसाः, उदाराः–स्थूलाः 'त्रसा' इति त्रसनामकर्मोदयवर्त्तित्वात्, 'प्राणा' इति व्यक्तोच्छ्वासादिप्राणयोगात् द्वीन्द्रियादयस्तेऽपि गतियोगादेव त्रसा इति । उक्तास्त्रसाः, तद्विपर्ययमाह–'तिविहे'त्यादि, स्थानशीलत्वात् स्थावरनामकर्मोदयाच्च स्थावराः, शेषं व्यक्तमेवेति । इह च पृथिव्यादयः प्रायोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रावगाहनत्वात् अच्छेद्यादिस्वभावा व्यवहारतो भवन्तीति तत्प्रस्तावान्निश्चयाच्छेद्यादीनष्टभिः सूत्रैराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततो अच्छेज्जा पं० तं०—समये पदेसे परमाणू १, एवमभेज्जा २ अडज्झा ३ अगिज्झा ४ अणड्ढा ५ अमज्झा ६ अपएसा ७ ततो अविभातिमा पं० तं०—समते पएसे परमाणू ८ (सू० १६५) अज्जोत्ति समणे भगवं महावीरे गोतमादी समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी—किंभया पाणा? समणाउसो!, गोयमाती समणा णिग्गंथा समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति उवसंकमित्ता वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—णो खलु वयं देवाणुप्पिया! एयमट्ठं जाणामो वा पासामो वा, तं जदि णं देवाणुप्पिया एयमट्ठं णो गिलायंति परिकहित्तते तमिच्छामो णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए, अज्जोत्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाती समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी—दुक्खभया पाणा समणाउसो!, से णं भंते! दुक्खे केण कडे?, जीवेणं कडे पमादेण २, से णं भंते! दुक्खे कहं वेइज्जति?, अप्पमाएणं ३ (सू० १६६)

'तओ अच्छेज्जे'त्यादि, छेत्तुमशक्या बुद्ध्या क्षुरिकादिशस्त्रेण वेत्यच्छेद्याः, छेद्यत्वे समयादित्वायोगादिति, समयः—कालविशेषः प्रदेशो—धर्म्माधर्म्माकाशजीवपुद्गलानां निरवयवोऽंशः परमाणुः—अस्कन्धः पुद्गल इति, उक्तं च—"सत्थेण सुतिक्खेणवि छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का। तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ॥ १ ॥"[1]ति, 'एव'मिति पूर्वसूत्राभिलापसूचनार्थ इति, अभेद्याः सूच्यादिना अदाह्या अग्निक्षारादिना अग्राह्या हस्तादिना न विद्यतेऽर्द्ध येषामित्यनर्द्धा विभागद्वयाभावात्, अमध्या विभागत्रयाभावात्, अत एवाह—'अप्रदेशा' निरवयवाः, अत एवाविभाज्या—विभक्तुमश-

१ सुतीक्ष्णेनापि शस्त्रेण छेत्तुं भेत्तुं च यः किल न शक्यते तं वदन्ति परमाणुं ज्ञानसिद्धाः प्रमाणानामादिं ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्याः, अथवा विभागेन निर्वृत्ता विभागिमास्तन्निषेधादविभागिमाः। एते च पूर्वतरसूत्रोक्ताः त्रसस्थावराख्याः प्राणिनो दुःखभीरव इत्येतत् संविधानकद्वारेणाह–'अज्जो' इत्यादि, सुगमं, केवलम् 'अज्जोत्ति'त्ति आरात् पापकर्मभ्यो याता आर्यास्तदामन्त्रणं हे आर्या! 'इतिः' एवमभिलापेनामन्त्र्येतिसम्बन्धः, श्रमणो भगवान् महावीर : गौतमादीन् श्रमणान् निर्ग्रन्थानेवं–वक्ष्यमाणन्यायेनावादीदिति, कस्मादू भयं येषां ते किंभयाः, कुतो बिभ्यतीत्यर्थः, 'प्राणाः' प्राणिनः 'समणाउसो'त्ति हे श्रमणाः! हे आयुष्मन्त इति गौतमादीनामेवामन्त्रणमिति, अयं च भगवतः प्रश्नः शिष्याणां व्युत्पादनार्थ एव, अनेन चापृच्छतोऽपि शिष्यस्य हिताय तत्त्वमाख्येयमिति ज्ञापयति, उच्यते च—"कत्थइ पुच्छइ सीसो कहिंचऽपुट्ठा वयंति आयरिया। सीसाणं तु हियट्ठा विउलतरागं तु पुच्छाए ॥ १ ॥" इति, ततश्च 'उवसंकमंति'त्ति उपसङ्क्रामन्ति–उपसङ्गच्छन्ति तस्य समीपवर्त्तिनो भवन्ति, इह च तत्कालापेक्षया क्रियाया वर्त्तमानत्वमिति वर्त्तमाननिर्देशो न दुष्टः, उपसङ्क्रम्य वन्दन्ते स्तुत्या नमस्यन्ति प्रणामतः, 'एवम्' अनेन प्रकारेण 'वयासि'त्ति छान्दसत्वात् बहुवचनार्थे एकवचनमिति अवादिषुः–उक्तवन्तो नो जानीमो विशेषतः नो पश्यामः सामान्यतो, वाशब्दौ विकल्पार्थौ, 'तदि'ति तस्मादेतमर्थं–किंभयाः प्राणा इत्येवंलक्षणं, 'नो गिलायंति'त्ति न ग्लायन्ति–न श्राम्यन्ति परिकथयितुं परिकथनेन 'तं'ति ततः, 'दुक्खभय'त्ति दुःखात्–मरणादिरूपात् भयमेषामिति दुःखभयाः, 'से णं'ति तद् दुःखं 'जीवेणं कडे'त्ति दुःखकारणकर्मकरणात् जीवेन कृतमित्युच्यते, कथमित्याह—'पमाएणं'ति प्रमादेनाज्ञानादिना

१ क्वचित्पृच्छति शिष्यः क्वचिच्चापृष्टा वदन्त्याचार्याः। शिष्याणां हितायैव विपुलतरं तु पृच्छायां ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्धहेतुना करणभूतेनेति, उक्तं च—"पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ । अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य ॥ १ ॥ रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मंमि य अणायरो । जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥ २ ॥" इति । तच्च वेद्यते-क्षिप्यते अप्रमादेन, बन्धहेतुप्रतिपक्षभूतत्वादिति । अस्य च सूत्रस्य दुःखभया पाणा १ जीवेणं कडे दुक्खे पमाएणं २ अपमाएणं वेइज्जई ३ त्येवंरूपप्रश्नोत्तरत्रयोपेतत्वात् त्रिस्थानकावतारो द्रष्टव्य इति ॥ जीवेन कृतं दुःखमित्युक्तमधुना परमतं निरस्यैतदेव समर्थयन्नाह—

अन्नउत्थिता णं भंते! एवं आतिक्खंति एवं भासंति एवं पन्नवेंति एवं परूवेंति कहन्नं समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जति?, तत्थ जा सा कडा कज्जइ नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा कडा नो कज्जति, नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा अकडा नो कज्जति नो तं पुच्छंति, तत्थ जा सा अकडा कज्जति तं पुच्छंति, से एवं वत्तव्वं सिता?—अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेदेंतित्ति वत्तव्वं, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु, अहं पुण एवमाइक्खामि एवं भासामि एवं पन्नवेमि एवं परूवेमि—किच्चं दुक्खं फुस्सं दुक्खं कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु २ पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंतित्ति वत्तव्वं सिया (सू० १६७) तइयठाणस्स बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

'अन्नउत्थी'त्यादि प्रायः स्पष्टं, किन्तु अन्ययूथिकाः—अन्यतीर्थिका इह तापसा विभङ्गज्ञानवन्तः, 'एवं' वक्ष्य-

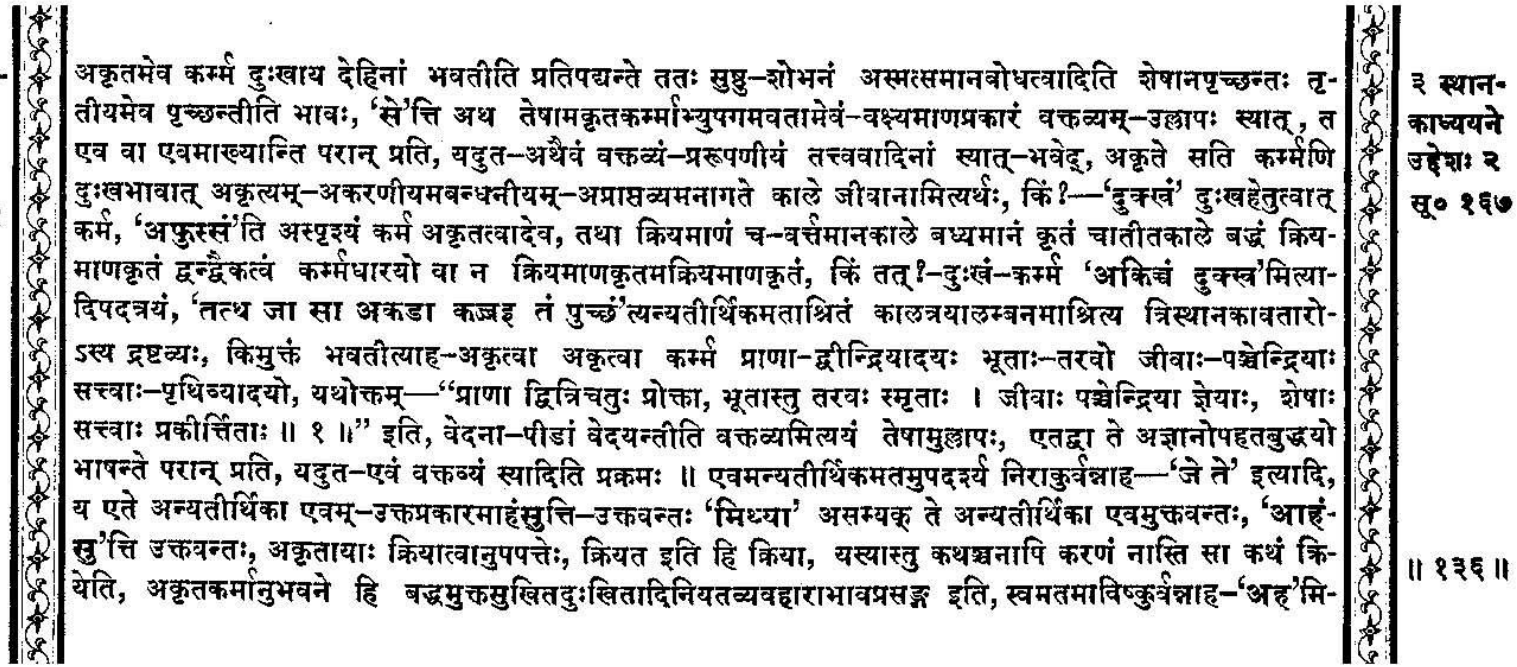
१ प्रमादश्च मुनीन्द्रैर्भणितोऽष्टभेदः। अज्ञानं संशयश्चैव, मिथ्याज्ञानं तथैव च। रागो द्वेषो मतिभ्रंशो धर्मे चानादरः योगानां दुष्प्रणिधानं अष्टधा वर्जयितव्यः ॥१॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माणप्रकारमाख्यान्ति सामान्यतो भाषन्ते विशेषतः क्रमेणैतदेव प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्तीति पर्यायरूपपदद्वयेन उक्तमिति, अथवा आख्यान्ति ईषद् भाषन्ते व्यक्तवाचा प्रज्ञापयन्ति उपपत्तिभिर्बोधयन्ति प्ररूपयन्ति प्रभेदादिकथनत इति, किं तदित्याह—'कथं' केन प्रकारेण 'श्रमणानां' निर्ग्रन्थानां मते इति शेषः क्रियते इति क्रिया—कर्म सा 'क्रियते' भवति दुःखायेति विवक्षयेति प्रश्नः, इह तु चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—कृता क्रियते—विहितं सत्कर्म दुःखाय भवतीत्यर्थः १, एवं कृता न क्रियते २ अकृता क्रियते ३ अकृता न क्रियते ४ इति, एतेष्वनेन प्रश्नेन यो भङ्गः प्रष्टुमिष्टस्तं शेषभङ्गनिराकरणपूर्वकमभिधातुमाह—'तत्थ'त्ति तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं च न पृच्छन्ति, एतत्रयस्यात्यन्तं रुचेरविषयतया तत्प्रश्नस्याप्यप्रवृत्तेरिति, तथाहि—'याऽसौ कृता क्रियते' यत्तत्कर्म कृतं सद्भवति नो तत्ते पृच्छन्ति, पूर्वकालकृतत्वस्याप्रत्यक्षतया असत्त्वेन निर्ग्रन्थमतत्वेन चासंमतत्वादिति, 'तत्र याऽसौ कृता नो क्रियते' इति तेषु—भङ्गकेषु मध्ये यत्तत्कर्म कृतं न भवति नो तत्पृच्छन्ति, अत्यन्तविरोधेनासम्भवात्, तथाहि—कृतं चेत् कर्म्म कथं न भवतीत्युच्यते?, न भवति चेत् कथं कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽभवनाभावात्, 'तत्र' तेषु 'याऽसावकृता' यत्तदकृतं कर्म्म 'नो क्रियते' न भवति नो तां पृच्छन्ति, अकृतस्यासतश्च कर्म्मणः खरविषाणकल्पत्वादिति, अमुमेव च भङ्गकत्रयनिषेधमाश्रित्यास्य सूत्रस्य त्रिस्थानकावतार इति सम्भाव्यते, तृतीयभङ्गकस्तु तत्संमत इति तं पृच्छन्ति, अत एवाह—तत्र 'याऽसावकृता क्रियते' यत्तदकृतं—पूर्वमविहितं कर्म्म भवति—दुःखाय सम्पद्यते तां पृच्छन्ति, पूर्वकालकृतत्वस्याप्रत्यक्षतया असत्त्वेन दुःखानुभूतेश्च प्रत्यक्षतया सत्त्वेनाकृतकर्मभवनपक्षस्य सम्मतत्वादिति, पृच्छतां चायमभिप्रायो—यदि निर्ग्रन्था अपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १३६ ॥

अकृतमेव कर्म्म दुःखाय देहिनां भवतीति प्रतिपद्यन्ते ततः सुष्ठु–शोभनं अस्मत्समानबोधत्वादिति शेषानपृच्छन्तः तृतीयमेव पृच्छन्तीति भावः, 'से'त्ति अथ तेषामकृतकर्म्माभ्युपगमवतामेवं–वक्ष्यमाणप्रकारं वक्तव्यम्–उल्लापः स्यात्, त एव वा एवमाख्यान्ति परान् प्रति, यदुत–अथैवं वक्तव्यं–प्ररूपणीयं तत्त्ववादिनां स्यात्–भवेद्, अकृते सति कर्म्मणि दुःखभावात् अकृत्यम्–अकरणीयमबन्धनीयम्–अप्राप्तव्यमनागते काले जीवानामित्यर्थः, किं?—'दुक्खं' दुःखहेतुत्वात् कर्म, 'अफुस्सं'ति अस्पृश्यं कर्म अकृतत्वादेव, तथा क्रियमाणं च–वर्त्तमानकाले बध्यमानं कृतं चातीतकाले बद्धं क्रियमाणकृतं द्वन्द्वैकत्वं कर्म्मधारयो वा न क्रियमाणकृतमक्रियमाणकृतं, किं तत्?–दुःखं–कर्म्म 'अकिच्चं दुक्ख'मित्यादिपदत्रयं, 'तत्थ जा सा अकडा कज्जइ तं पुच्छं'त्यन्यतीर्थिकमताश्रितं कालत्रयालम्बनमाश्रित्य त्रिस्थानकावतारोऽस्य द्रष्टव्यः, किमुक्तं भवतीत्याह–अकृत्वा अकृत्वा कर्म्म प्राणा–द्वीन्द्रियादयः भूताः–तरवो जीवाः–पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाः–पृथिव्यादयो, यथोक्तम्—"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १ ॥" इति, वेदना–पीडां वेदयन्तीति वक्तव्यमित्ययं तेषामुल्लापः, एतद्वा ते अज्ञानोपहतबुद्धयो भाषन्ते परान् प्रति, यदुत–एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रक्रमः ॥ एवमन्यतीर्थिकमतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—'जे ते' इत्यादि, य एते अन्यतीर्थिका एवम्–उक्तप्रकारमाहंसुत्ति–उक्तवन्तः 'मिथ्या' असम्यक् ते अन्यतीर्थिका एवमुक्तवन्तः, 'आहंसु'त्ति उक्तवन्तः, अकृतायाः क्रियात्वानुपपत्तेः, क्रियत इति हि क्रिया, यस्यास्तु कथञ्चनापि करणं नास्ति सा कथं क्रियेति, अकृतकर्मानुभवने हि बद्धमुक्तसुखितदुःखितादिनियतव्यवहाराभावप्रसङ्ग इति, स्वमतमाविष्कुर्वन्नाह–'अह'मि-

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः २ सू० १६७

॥ १३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यादि 'अहं'ति अहमेव नान्यतीर्थिकाः, पुनःशब्दो विशेषणार्थः स च पूर्ववाक्यादुत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणतामाह, 'एवमाइक्खामी'त्यादि पूर्ववत्, कृत्यं–करणीयमनागतकाले दुःखं, तद्धेतुकत्वात् कर्म्म, स्पृश्यं–स्पृष्टलक्षणबन्धावस्थायोग्यं क्रियमाणं वर्त्तमानकाले कृतमतीते, अकरणं नास्ति कर्म्मणः कथञ्चनापीति भावः, स्वमतसर्वस्वमाह–कृत्वा कृत्वा कर्म्मेति गम्यते, प्राणादयो वेदनां–कर्म्मकृतशुभाशुभानुभूतिं वेदयन्ति–अनुभवन्तीति वक्तव्यं स्यात् सम्यग्वादिनामिति। त्रिस्थानकस्य द्वितीय उद्देशको विवरणतः समाप्तः ॥

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके विचित्रा जीवधर्म्माः प्ररूपिताः इहापि त एव प्ररूप्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रत्रयम्—

तिहिं ठाणेहिं माथी मायं कट्टु णो आलोतेज्जा णो पडिक्कमेज्जा णो णिंदिज्जा णो गरहिज्जा णो विउट्टेज्जा णो विसोहेज्जा णो अकरणाते अब्भुट्टेज्जा णो अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा, तं०—अकरिंसु वाऽहं करेमि वाऽहं करिस्सामि वाऽहं १। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोतेज्जा णो पडिक्कमिज्जा जाव णो पडिवज्जेज्जा अकित्ती वा मे सिता अवण्णे वा मे सिया अविणते वा मे सिता २। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा तं० —कित्ती वा मे परिहातिस्सति जसो वा मे परिहातिस्सति पूयासक्कारे वा मे परिहातिस्सति ३। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं०—मायिस्स णं अस्सिं लोगे गरहिते भवति उववाए गरहिए भवति आयाती गरहिया भवति ४। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं०—अमायिस्स णं


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


अत्र तृतीय-स्थानस्य द्वितीय -उद्देशकः समाप्तः,
अथ तृतीय-उद्देशकः आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१६८]

दीप अनुक्रम [१८१]



अस्सिं लोगे पसत्थे भवति उववाते पसत्थे भवइ आयाई पसत्था भवति ५। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा, तं०—णाणट्ठताते दंसणट्ठयाते चरित्तट्ठयाते ६। (सू० १६८)

'तिहिं ठाणेही'त्यादि, अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायं सम्बन्धः—पूर्वसूत्रे मिथ्यादर्शनवतामसमञ्जसतोक्ता, इह तु कषायवतां तामाहेत्येवंसम्बन्धस्यास्य व्याख्या—'मायी' मायावान् 'मायां' मायाविषयं गोपनीयं प्रच्छन्नमकार्यं कृत्वा नो आलोचयेत् मायामेवेति, शेषं सुगमं, नवरं आलोचनं—गुरुनिवेदनं प्रतिक्रमणं—मिथ्यादुष्कृतदानं निन्दा—आत्मसाक्षिका गर्हा—गुरुसाक्षिका विवोटनं—तदध्यवसायविच्छेदनं विशोधनम्—आत्मनः चारित्रस्य वा अतीचारमलक्षालनं अकरणताभ्युत्थानं—पुनर्नैतत् करिष्यामीत्यभ्युपगमः 'अहारिहं' यथोचितं 'पायच्छित्तं'ति पापच्छेदकं प्रायश्चित्तविशोधकं वा तपःकर्म—निर्विकृतिकादि प्रतिपद्येत, तद्यथा—अकार्षमहमिदमतः कथं निन्द्यमित्यालोचयिष्यामि स्वमाहात्म्यहानिप्राप्तेरित्येवमभिमानात् १ तथा करोमि चाहमिदानीमेव कथमसाध्विति भणामि २ करिष्यामीति चाहमेतदकृत्यमनागतकालेऽपि कथं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य इति। कीर्तिः—एकदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सर्वदिग्गामिनी सैव वर्णो यशःपर्यायत्वादस्य अथवा दानपुण्यफला कीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः, तच्च वर्ण इति तयोः प्रतिषेधोऽकीर्तिः अवर्णश्चेति, अविनयः साधुकृतो मे स्यादिति, इदं च सूत्रमप्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं, 'मायं कट्टु'त्ति मायां कृत्वा—मायां पुरस्कृत्य माययेत्यर्थः, 'परिहास्यति' हीना भविष्यति पूजा पुष्पादिभिः सत्कारो वस्त्रादिभिः, इदमेकमेव विवक्षितमेकरूपत्वादिति, इदं तु प्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं, शेषं सुगमम् ॥ उक्तविपर्ययमाह —'तिहीं'त्यादि सूत्रत्रयं स्पष्टं, किन्तु 'मायी मायं कट्टु आलोएज्ज'त्ति इह मायी अकृत्यकर-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णकाल एव आलोचनादिकाले त्वमाय्येव आलोचनाद्यन्यथानुपपत्तेरिति, 'अस्सि'ति अयं, यतो मायिन इहलोकाद्या गर्हिता भवन्ति यतश्चामायिन इहलोकाद्याः प्रशस्ता भवन्ति यतश्चामायिन आलोचनादिना निरतिचारीभूतस्य ज्ञानादीनि स्वस्वभावं लभन्ते अतोऽहममायी भूत्वाऽऽलोचनादि करोमीति भावना ॥ अनन्तरं शुद्धिरुक्ता, इदानीं तत्कारिणोऽभ्यन्तरसम्पदा त्रिधा कुर्वन्नाह—

ततो पुरिसजाया पं० तं०—सुत्तधरे अत्थधरे तदुभयधरे (सू० १६९) कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा ततो वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तते वा, तं०—जंगिते भंगिते खोमिते १, कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा २ ततो पायाइं धारित्तते वा परिहरित्तते वा, तं०—लाउयपादे वा दारुपादे वा मट्टियापादे वा (सू० १७०) तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तं०—हिरिपत्तितं दुगुंछापत्तियं परीसहवत्तियं (सू० १७१) तओ आयरक्खा पं० तं०—धम्मियाते पडिचोयणाते पडिचोएत्ता भवति तुसिणीतो वा सिता उट्ठित्ता वा आताते एगंतमंतमवक्कमेज्जा णिग्गंथस्स णं गिलायमाणस्स कप्पंति ततो वियडदत्तीओ पडिग्गाहित्तते, तं०—उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना (सू० १७२)

'तओ पुरी'त्यादि सुबोधं, नवरमेते यथोत्तरं प्रधाना इति। तेषामेव बाह्यं सम्पदं सूत्रद्वयेनाह—'कप्पती'ति 'कल्पते' युज्यते युक्तमित्यर्थः, 'धारित्तए'त्ति धर्त्तुं परिग्रहे 'परिहर्त्तुं' परिभोक्तुमिति, अथवा 'धारणया उवभोगो, परिहरणे होइ परिभोग'त्ति। 'जंगियं' जंगमजमौर्णिकादि 'भंगियं' अतसीमयं 'खोमियं' कार्पासिकमिति। अलाबुपात्रकं—तु-

१ धारणतोपभोगः परिहरणं भवति परिभोगः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वकं, दारुपात्रं–काष्ठमयं मृत्तिकापात्रं–मृन्मयं शरावधार्घटिकादि, शेषं सुगमं। वस्त्रग्रहणकारणान्याह—'तिहीं'त्यादि, ह्री–लज्जा संयमो वा प्रत्ययो–निमित्तं यस्य धारणस्य तत्तथा, जुगुप्सा–प्रवचनखिंसा विकृताङ्गदर्शनेन मा भूदित्येवं प्रत्ययो यत्र तत्तथा, एवं परीषहाः–शीतोष्णदंशमशकादयः प्रत्ययो यत्र तत्तथा, आह च—"वेउव्वि वाउडे वाइए य हीरिखद्धपजणणे चेव। एसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥१॥" ('वेउव्वि'त्ति विकृते तथा 'अप्रावृते' वस्त्राभावे सति 'वातिके' च उच्छ्वनत्वभाजने ह्रियां सत्यां 'खद्धे' बृहत्प्रमाणे 'प्रजनने' मेहने 'लिङ्गोदयट्ठ'त्ति स्त्रीदर्शने लिङ्गोदयरक्षार्थमित्यर्थः,) तथा, "तेणगहणानलसेवानिवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा। दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ १ ॥" इति, वस्त्रस्य ग्रहणकारणप्रसङ्गात् पात्रस्यापि तान्याख्यायन्ते,—"अतरंतबालवुड्ढा सेहाऽऽदेसा गुरू असहुवग्गो। साहारणोग्गहालद्धिकारणा पायगहणं तु ॥१॥" (अतरंतत्ति–ग्लाना आदेशाः–प्राघूर्णकाः, 'असहु'त्ति सुकुमारो राजपुत्रादिप्रव्रजितः 'साधारणावग्रहात्' सामान्योपष्टम्भार्थं अलब्धिकार्थं चेति)। निर्ग्रन्थप्रस्तावान्निर्ग्रन्थानेवानुष्ठानतः सप्तसूत्र्याऽऽह–'तओ आए'त्यादि सुगमा, नवरम् आत्मानं रागद्वेषादेरकृत्याद् भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः 'धम्मियाए पडिचोयणाए'त्ति धार्मिकेणोपदेशेन–नेदं भवादृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता–उपदेष्टा भवति अनुकूलेतरोपसर्गकारिणः, ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्त्तते ततोऽकृत्यासेवा न भवतीत्यतः आत्मा रक्षितो भवतीति, तूष्णीको वा वाचंयम

१ विकृतेऽप्रावृते उच्छ्रिते वातिके च ह्रीः महन्मेहने चैव एषां चानुग्रहार्थं लिंगोदयेरक्षार्थं पट्टः ॥ १ ॥ २ तृणग्रहणानलसेवानिवारणाय धर्मशुक्लध्यानाय ग्लानाय मरणार्थाय चैव दृष्टं कल्पग्रहणं ॥१॥ ३ ग्लानबालवृद्धानुपस्थापितप्राघूर्णकाचार्यराजपुत्रादीनां साधारणोपग्रहार्थं अलब्धिकार्थं च पात्रग्रहणम् ॥१॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपेक्षक इत्यर्थः स्यादिति २, प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय 'आय( आए )'त्ति आत्मना एकान्तं–विजनं अन्तं–भूविभागमवक्रामेत्–गच्छेत्। निर्ग्रन्थस्य ग्लायतः–अशक्नुवतः, तृड्वेदनादिना अभिभूयमानस्येत्यर्थः, आहारग्रहणं हि वेदनादिभिरेव कारणैरनुज्ञातं। 'तओ'त्ति तिस्रः 'वियड'त्ति पानकाहारः, तस्य दत्तयः–एकप्रक्षेपप्रदानरूपाः प्रतिग्रहीतुम्–आश्रयितुं वेदनोपशमायेति, उत्कर्षः–प्रकर्षः तद्योगादुत्कर्षा उत्कर्षतीति वोत्कर्षा उत्कृष्टेत्यर्थः, प्रचुरपानकलक्षणा, यया दिनमपि यापयति, मध्यमा ततो हीना, जघन्या यया सकृदेव वितृष्णो भवति यापनामात्रं वा लभते, अथवा पानकविशेषादुत्कृष्टाद्या वाच्याः, तथाहि–कलमकाञ्जिकावश्रावणादेः द्राक्षापानकादेर्वा प्रथमा १ षष्टिका[दि]काञ्जिकादेर्मध्यमा २ तृणधान्यकाञ्जिकादेरुष्णोदकस्य वा जघन्येति, देशकालस्वरुचिविशेषाद्वोत्कर्षादि नेयमिति।

तिहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं संभोगियं विसंभोगियं करेमाणे णातिक्कमति, तं०—सतं वा दट्ठुं, सड्ढस्स वा निसम्म, तच्चं मोसं आउट्टति चउत्थं नो आउट्टति (सू० १७३) तिविधा अणुन्ना पं० तं०—आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणित्ताते। तिविधा समणुन्ना पं० तं०—आयरियत्ताते उवज्झायत्ताते गणित्ताते, एवं उवसंपया, एवं विजहणा (सू० १७४)

'साहंमियं'ति समानेन धर्मेण चरतीति साधर्मिकस्तं सम्–एकत्र भोगो–भोजनं सम्भोगः–साधूना समानसामाचारीकतया परस्परमुपध्यादिदानग्रहणसंव्यवहारलक्षणः स विद्यते यस्य स साम्भोगिकः तं विसम्भोगो–दानादिभिरसंव्यवहारः स यस्यास्ति स विसम्भोगिकस्तं कुर्वन् नातिक्रामति–न लङ्घयत्याज्ञां सामायिकं वा विहितकारित्वादिति, स्वयमात्मना साक्षात् दृष्ट्वा सम्भोगिकेन क्रियमाणामसंभोगिकदानग्रहणादिकामसमाचारीं, तथा 'सड्ढस्स'त्ति श्रद्धा–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३] अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१७४]

दीप अनुक्रम [१८७]



श्रद्धानं यस्मिन् अस्ति स श्राद्धः–श्रद्धेयवचनः कोऽप्यन्यः साधुस्तस्य वचनमिति गम्यते 'निशम्य' अवधार्य, तथा 'तच्चं'ति एकं द्वितीयं यावत् तृतीयं 'मोसं'ति मृषावादं अकल्पग्रहणपार्श्वस्थदानादिना सावद्यविषयप्रतिज्ञाभङ्गलक्षणमाश्रित्येति गम्यते, 'आवर्त्तते' निवर्त्तते तमालोचयतीत्यर्थः, अनाभोगतस्तस्य भावात् प्रायश्चित्तं चास्योचितं दीयते, चतुर्थं त्वाश्रित्य प्रायो नो आवर्त्तते–तं नालोचयति, तस्य दर्पत एव भावादिति, आलोचनेऽपि प्रायश्चित्तस्यादानमस्येति, अतश्चतुर्थासम्भोगकारणकारिणं विसम्भोगिकं कुर्वन्नातिक्रामतीति प्रकृतम्, उक्तं च "एगं व दो व तिन्नि व आउट्टंतस्स होइ पच्छित्तं । आउट्टंतेऽवि तओ परिणे तिण्हं विसंभोगो ॥ १ ॥" इति, एतच्चूर्णिः–सै संभोइओ असुद्धं गिण्हंतो चोइओ भणइ–संता पडिचोयणा, मिच्छामि दुक्कडं, ण पुणो एवं करिस्सामो, एवमाउट्टो जमावन्नो तं पायच्छित्तं दाउं संभोगो । एवं बीयवाराएवि, एवं तइयवाराएवि, तइयवाराओ परओ चउत्थवाराए तमेवाइयारं सेविऊण आउट्टंतस्सवि विसंभोगो' इति, इह चाद्यं स्थानद्वयं गुरुतरदोषाश्रयं, यतस्तत्र ज्ञातमात्रे श्रुतमात्रे च विसंभोगः क्रियते, तृतीयं त्वल्पतरदोषाश्रयं, तत्र हि चतुर्थवेलायां स विधीयत इति । 'अणुन्न'त्ति, अनुज्ञानमनुज्ञा–अधिकारदानं, आचर्यते–मर्यादावृत्तितया सेव्यत इत्याचार्यः, आचारे वा पञ्चप्रकारे साधुरित्याचार्यः, आह च—

१ एकशो वा द्विकृत्वस्त्रिकृत्वो वा आवर्त्तमानस्य भवति प्रायश्चित्तं आवर्त्तमानस्यापि ततस्त्रयाणां परतः विसंभोगः ॥ १ ॥ २ स सांभोगिकोऽशुद्धं गृण्हंश्चोदितो भणति सती प्रतिचोदना मिथ्या मे दुष्कृतं न पुनरेवं करिष्यामि. एवमावृत्ते यदापन्नस्तत् प्रायश्चित्तं दत्त्वा संभोगः । एवं द्वितीयवारायामपि, एवं तृतीयवारायामपि, तृतीयवारायाः परतश्चतुर्थवारायां तमेवातिचारं सेवयित्वा आवर्त्तमानस्यापि विसंभोगः.




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


आचार्य शब्दस्य व्याख्या

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१७४]

दीप अनुक्रम [१८७]

"पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता। आयारं दंसेन्ता आयरिया तेण वुच्चंति ॥ १ ॥" तथा "सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ २ ॥" तद्भावस्तत्ता तया, उत्तरत्र गणाचार्यग्रहणादनुयोगाचार्यतयेत्यर्थः, तथा उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः, आह च–"संमत्तनाणदंसणजुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू। आयरियठाणजोगो सुत्तं वाएइ उवज्झाउ ॥ १ ॥" इति ॥ तद्भाव उपाध्यायता तया, तथा गणः–साधुसमुदायो यस्यास्ति स्वस्वामिसम्बन्धेनासौ गणी–गणाचार्यस्तद्भावस्तत्ता तया, गणनायकतयेति भाव इति, तथा समिति–सङ्गता औत्सर्गिकगुणयुक्तत्वेनोचिता आचार्यादितया अनुज्ञा समनुज्ञा, तथाहि–अनुयोगाचार्यस्यौत्सर्गिकगुणाः "तम्हा वयसंपन्ना कालोचियगहियसयलसुत्तत्था । अणुजोगाणुण्णाए जोगा भणिया जिणिंदेहिं ॥ १ ॥ इहपर(रहा)मोसावाओ पवयणखिंसा य होइ लोयंमि । सेसाणवि गुणहाणी तित्थुच्छेओ य भावेणं ॥ २ ॥" इति, गणाचार्योऽप्यौत्सर्गिक एवं— "सुत्तत्थे निम्माओ पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो । जाईकुलसंपन्नो गंभीरो लद्धिमंतो य ॥ १ ॥ संगहुवग्गहनिरओ कयकरणो पवयणाणुरागी य ॥ एवंविहो उ भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं ॥ २ ॥" अथैवंविधगुणाभावे अनुज्ञाया

१ पंचविधमाचारं आचरन्तस्तथा प्रकाशयन्तः आचारं दर्शयन्त आचार्यास्तेन उच्यन्ते ॥ १ ॥ सूत्रार्थविलक्षणयुक्तो गच्छस्याधारभूतश्च । गणतत्तिविप्रमुक्तोऽर्थं वाचयत्याचार्यः ॥ २ ॥ २ सम्यक्त्वज्ञानदर्शनयुक्तः सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञः । आचार्यस्थानयोग्यः सूत्रं वाचयत्युपाध्यायः ॥ १ ॥ ३ तस्माद्व्रतसंपन्नाः गृहीतकालोचितसकलसूत्रार्थाः । अनुयोगानुज्ञाया योग्या भणिता जिनेन्द्रैः ॥ १ ॥ इतरथा तु मृषावादः प्रवचननिन्दा च भवति लोके । शेषाणामपि गुणहानिस्तीर्थोच्छेदश्चावश्यंतया ॥ २ ॥ ४ सूत्रार्थयोर्निर्मातः प्रियदृढधर्मानुवर्त्तनाकुशलः । जातिकुलसंपन्नो गंभीरो लब्धिमांश्च ॥ १ ॥ संग्रहोपग्रहनिरतः कृतकरणः प्रवचनानुरागी च । एवंविध एव भणितो गणस्वामी जिनवरेन्द्रैः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य, उपाध्याय, गणी आदि शब्दस्य व्याख्या

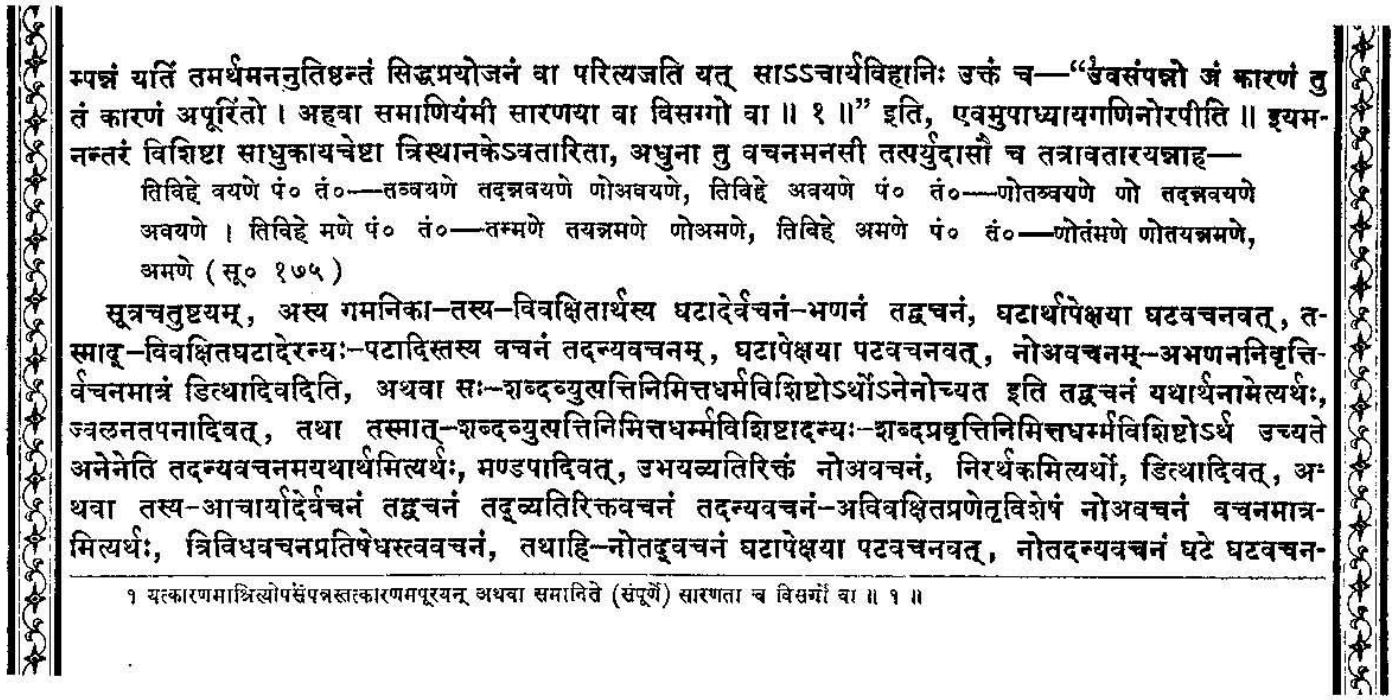
अप्यभावात् कथमन्या समनुज्ञा भविष्यतीति?, अत्रोच्यते, उक्तगुणाना मध्यात् अन्यतमगुणाभावेऽपि कारणविशेषात् सम्भवत्येवासौ, कथमन्यथाऽभिधीयते—"जे यावि मंदित्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुएत्ति नच्चा । हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करेंति आसायण ते गुरूणं ॥ १ ॥" इति, अतः केषाञ्चित् गुणानामभावेऽप्यनुज्ञा समग्रगुणभावे तु समनुज्ञेति स्थितम्, अथवा स्वस्य मनोज्ञाः–समानसामाचारीकतया अभिरुचिताः स्वमनोज्ञाः सह वा मनोज्ञैर्ज्ञानादिभिरिति समनोज्ञाः–एकसाम्भोगिकाः साधवः, कथं त्रिविधा इत्याह—'आचार्यतये'त्यादि, भिक्षुक्षुल्लकादिभेदाः सन्तोऽपि न विवक्षिताः, त्रिस्थानकाधिकारादिति । 'एवं उवसंपय'त्ति, 'एव'मित्याचार्यत्वादिभिस्त्रिधा समनुज्ञावत् । उपसंपत्तिरुपसंपत्–ज्ञानाद्यर्थं भवदीयोऽहमित्यभ्युपगमः, तथाहि–कश्चित् स्वाचार्यादिसन्दिष्टः सम्यक्श्रुतग्रन्थानां दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा सूत्रार्थयोर्ग्रहणस्थिरीकरणविस्मृतसन्धानार्थं तथा चारित्रविशेषभूताय वैयावृत्त्याय क्षपणाय वा सन्दिष्टमाचार्यान्तरं यदुपसम्पद्यते, उक्तं च—"उवसंपया य तिविहा णाणे तह दंसणे चरित्ते य । दंसणणाणे तिविहा दुविहा य चरित्तअट्ठाए ॥ १ ॥" इति, सेयमाचार्योपसम्पद्, एवमुपाध्यायगणिनोरपीति, 'एवं विजहण'त्ति 'एव'मित्याचार्यत्वादिभेदेन त्रिधैव विहानं–परित्यागः, तच्च आचार्यादेः स्वकीयस्य प्रमाददोषमाश्रित्य वैयावृत्त्यक्षपणार्थमाचार्यान्तरोपसम्पत्त्या भवतीति, आह च—"निअगच्छादन्नंमि उ सीयणदोसाइणा होइ"त्ति, अथवा आचार्यो ज्ञानाद्यर्थमुपस-

१ ये चापि गुरुं मंद इति विदित्वा बालोऽसावल्पश्रुत इति च ज्ञात्वा मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमाना हीलयंति ते गुरूणामाशातनां कुर्वन्ति ॥ १ ॥ २ उपसंपच्च त्रिविधा ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च दर्शनज्ञाने त्रिविधा द्विविधा च चारित्रार्थे ॥ १ ॥ ३ निजगच्छादन्यत्र सीदनदोषादिनैवभवति






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



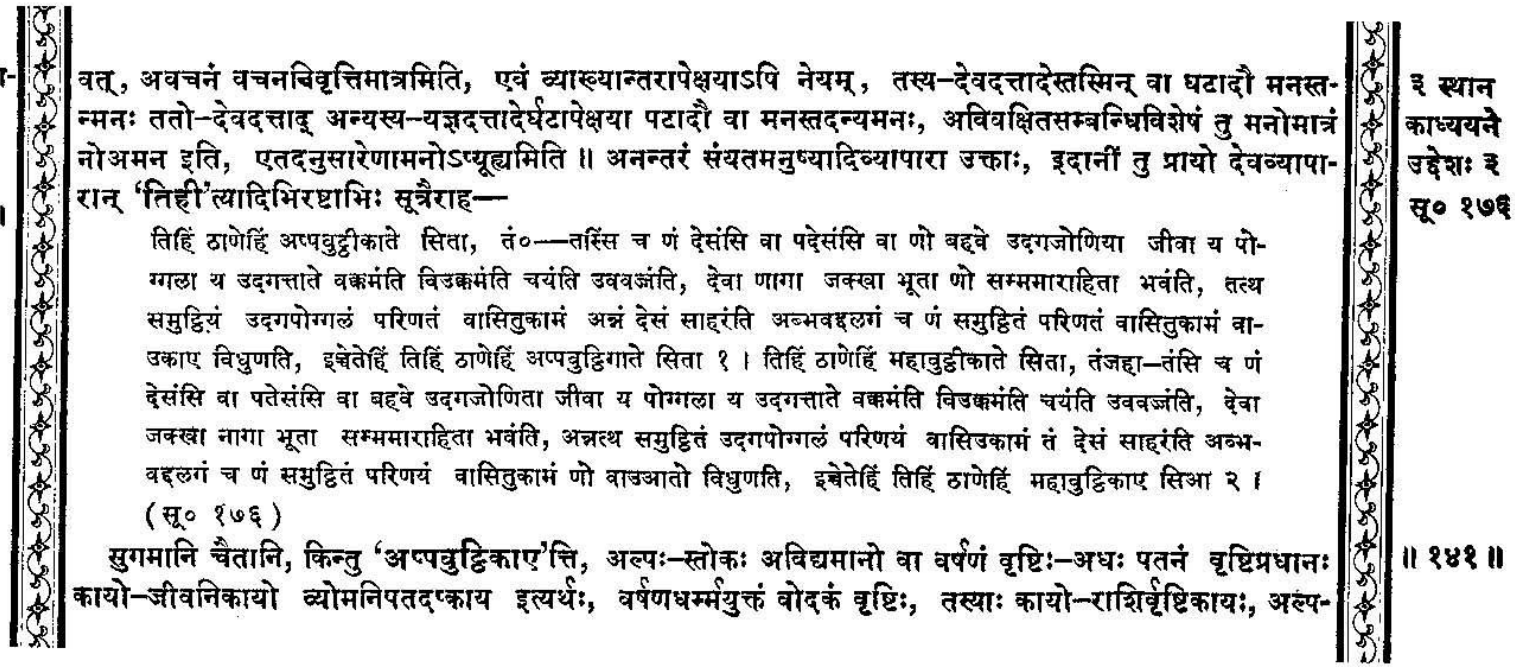
म्पन्नं यतिं तमर्थमननुतिष्ठन्तं सिद्धप्रयोजनं वा परित्यजति यत् साऽऽचार्यविहानिः उक्तं च—"उवसंपन्नो अं कारणं तु तं कारणं अपूरिंतो। अहवा समाणियंमी सारणया वा विसग्गो वा ॥ १ ॥" इति, एवमुपाध्यायगणिनोरपीति ॥ इयमनन्तरं विशिष्टा साधुकायचेष्टा त्रिस्थानकेऽवतारिता, अधुना तु वचनमनसी तत्पर्युदासौ च तत्रावतारयन्नाह—

तिविहे वयणे पं० तं०—तव्वयणे तदन्नवयणे णोअवयणे, तिविहे अवयणे पं० तं०—णोतव्वयणे णो तदन्नवयणे अवयणे। तिविहे मणे पं० तं०—तम्मणे तयन्नमणे णोअमणे, तिविहे अमणे पं० तं०—णोतंमणे णोतयन्नमणे, अमणे (सू० १७५)

सूत्रचतुष्टयम्, अस्य गमनिका—तस्य—विवक्षितार्थस्य घटादेर्वचनं—भणनं तद्वचनं, घटार्थापेक्षया घटवचनवत्, तस्मात्—विवक्षितघटादेरन्यः—पटादिस्तस्य वचनं तदन्यवचनम्, घटापेक्षया पटवचनवत्, नोअवचनम्—अभणननिवृत्तिर्वचनमात्रं डित्थादिवदिति, अथवा सः—शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थोऽनेनोच्यत इति तद्वचनं यथार्थनामेत्यर्थः, ज्वलनतपनादिवत्, तथा तस्मात्—शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्म्मविशिष्टादन्यः—शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्म्मविशिष्टोऽर्थ उच्यते अनेनेति तदन्यवचनमयथार्थमित्यर्थः, मण्डपादिवत्, उभयव्यतिरिक्तं नोअवचनं, निरर्थकमित्यर्थो, डित्थादिवत्, अथवा तस्य—आचार्यादेर्वचनं तद्वचनं तद्व्यतिरिक्तवचनं तदन्यवचनं—अविवक्षितप्रणेतृविशेषं नोअवचनं वचनमात्रमित्यर्थः, त्रिविधवचनप्रतिषेधस्त्ववचनं, तथाहि—नोतद्वचनं घटापेक्षया पटवचनवत्, नोतदन्यवचनं घटे घटवचन-

१ यत्कारणमाश्रित्योपसंपन्नस्तत्कारणमपूरयन् अथवा समाप्तिते (संपूर्णे) सारणता च विसर्गो वा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १४१ ॥

वत्, अवचनं वचनविवृत्तिमात्रमिति, एवं व्याख्यान्तरापेक्षयाऽपि नेयम्, तस्य–देवदत्तादेस्तस्मिन् वा घटादौ मनस्तन्मनः ततो–देवदत्ताद् अन्यस्य–यज्ञदत्तादेर्घटापेक्षया पटादौ वा मनस्तदन्यमनः, अविवक्षितसम्बन्धिविशेषं तु मनोमात्रं नोअमन इति, एतदनुसारेणामनोऽप्यूह्यमिति ॥ अनन्तरं संयतमनुष्यादिव्यापारा उक्ताः, इदानीं तु प्रायो देवव्यापारान् 'तिहीं'त्यादिभिरष्टाभिः सूत्रैराह—

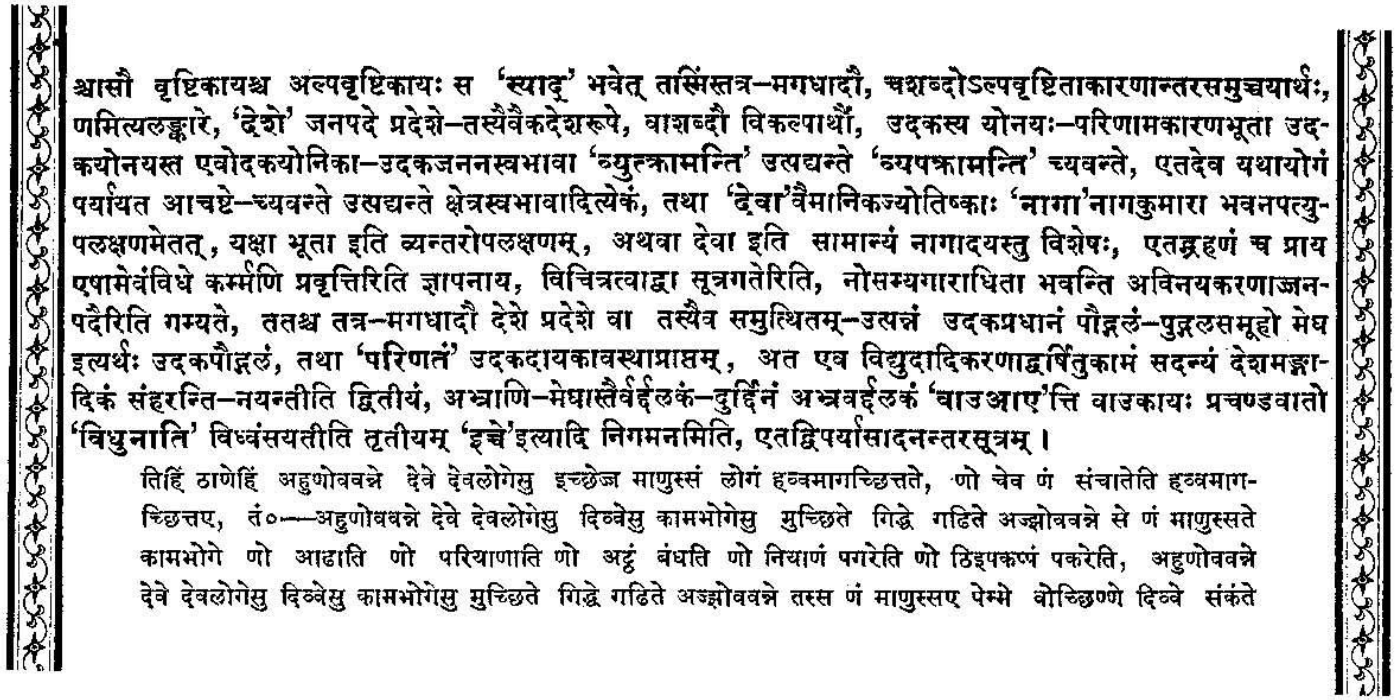
तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठीकाते सिता, तं०—तंसि च णं देसंसि वा पदेसंसि वा णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताते वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति, देवा णागा जक्खा भूता णो सम्ममाराहिता भवंति, तत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणतं वासितुकामं अन्नं देसं साहरंति अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठितं परिणतं वासितुकामं वाउकाए विधुणति, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिगाते सिता १ । तिहिं ठाणेहिं महावुट्ठीकाते सिता, तंजहा–तंसि च णं देसंसि वा पतेसंसि वा बहवे उदगजोणिता जीवा य पोग्गला य उदगत्ताते वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति, देवा जक्खा नागा भूता सम्ममाराहिता भवंति, अन्नत्थ समुट्ठितं उदगपोग्गलं परिणयं वासिउकामं तं देसं साहरंति अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठितं परिणयं वासितुकामं णो वाउआतो विधुणति, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं महावुट्ठिकाए सिआ २ । (सू० १७६)

सुगमानि चैतानि, किन्तु 'अप्पवुट्ठिकाए'त्ति, अल्पः–स्तोकः अविद्यमानो वा वर्षणं वृष्टिः–अधः पतनं वृष्टिप्रधानः कायो–जीवनिकायो व्योमनिपतदप्काय इत्यर्थः, वर्षणधर्म्मयुक्तं वोदकं वृष्टिः, तस्याः कायो–राशिर्वृष्टिकायः, अल्प-

३ स्थान काध्ययने उद्देशः ३ सू० १७६

॥ १४१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रासौ वृष्टिकायश्च अल्पवृष्टिकायः स 'स्याद्' भवेत् तस्मिंस्तत्र–मगधादौ, चशब्दोऽल्पवृष्टिताकारणान्तरसमुच्चयार्थः, णमित्यलङ्कारे, 'देशे' जनपदे प्रदेशे–तस्यैवैकदेशरूपे, वाशब्दौ विकल्पार्थौ, उदकस्य योनयः–परिणामकारणभूता उदकयोनयस्त एवोदकयोनिका–उदकजननस्वभावा 'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते 'व्यपक्रामन्ति' च्यवन्ते, एतदेव यथायोगं पर्यायत आचष्टे–च्यवन्ते उत्पद्यन्ते क्षेत्रस्वभावादित्येकं, तथा 'देवा'वैमानिकज्योतिष्काः 'नागा'नागकुमारा भवनपत्युपलक्षणमेतत्, यक्षा भूता इति व्यन्तरोपलक्षणम्, अथवा देवा इति सामान्यं नागादयस्तु विशेषः, एतद्ग्रहणं च प्रायेणामेवंविधे कर्म्मणि प्रवृत्तिरिति ज्ञापनाय, विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरिति, नोसम्यगाराधिता भवन्ति अविनयकरणाज्जनपदैरिति गम्यते, ततश्च तत्र–मगधादौ देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितम्–उत्पन्नं उदकप्रधानं पौद्गलं–पुद्गलसमूहो मेघ इत्यर्थः उदकपौद्गलं, तथा 'परिणतं' उदकदायकावस्थाप्राप्तम्, अत एव विद्युदादिकरणाद्वर्षितुकामं सदन्यं देशमङ्गादिकं संहरन्ति–नयन्तीति द्वितीयं, अभ्राणि–मेघास्तैर्वर्दलकं–दुर्दिनं अभ्रवर्दलकं 'वाउआए'त्ति वाउकायः प्रचण्डवातो 'विधुनाति' विध्वंसयतीति तृतीयम् 'इच्चे'इत्यादि निगमनमिति, एतद्विपर्यासादनन्तरसूत्रम्।

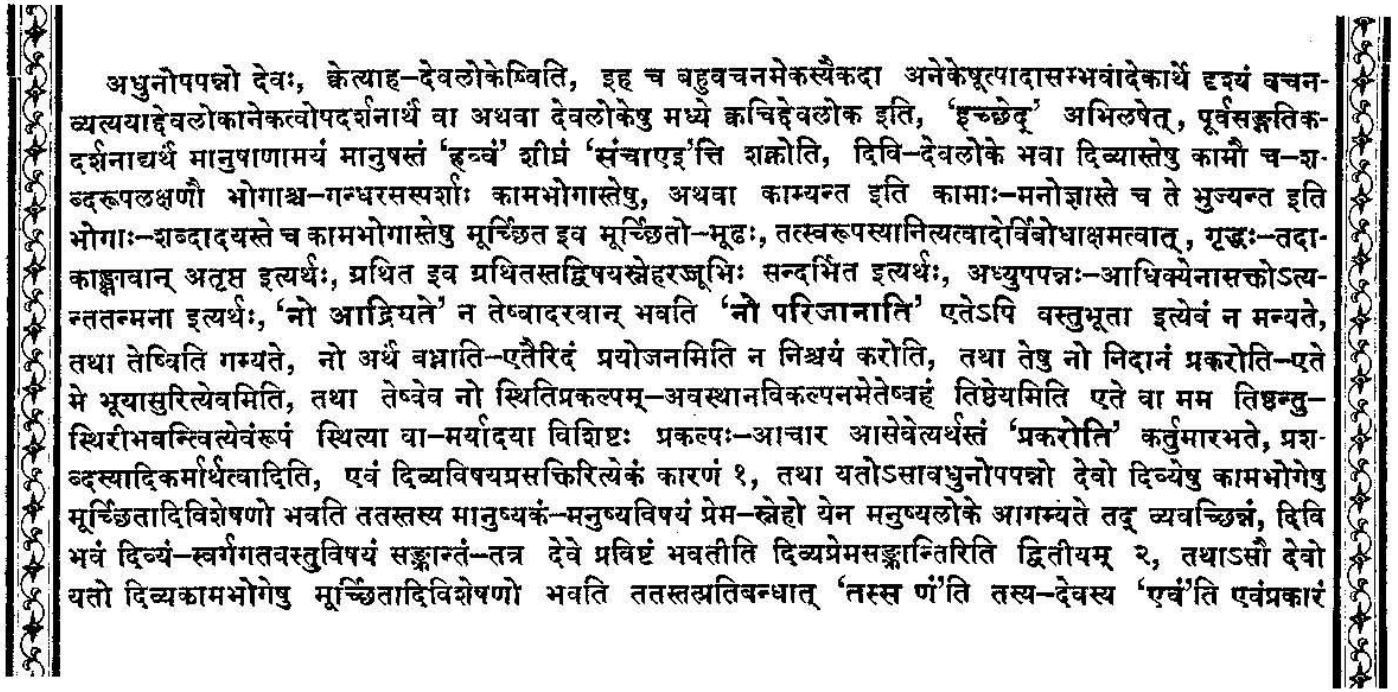
तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्ज माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तते, णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तए, तं०—अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने से णं माणुस्सते कामभोगे णो आढाति णो परियाणाति णो अट्ठं बंधति णो नियाणं पगरेति णो ठिइपकप्पं पकरेति, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने तस्स णं माणुस्सए पेम्मे वोच्छिण्णे दिव्वे संकंते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते जाव अज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवति—इयण्हिं न गच्छं मुहुत्तं गच्छं, तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तते ३ । तिहिं ठाणेहिं देवे अहुणोववन्ने देवलोगेसु इच्छेज्जा माणूसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, संचातेइ हव्वमागच्छित्तते—अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिते अगिद्धे अगढिते अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवति—अत्थि णं मम माणुस्सते भवे आयरितेति वा उवज्झातेति वा पवत्तीति वा थेरेति वा गणीति वा गणधरेति वा गणावच्छेदेति वा, जेसिं पभावेणं मते इमा एतारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवति—एस णं माणुस्सते भवे णाणीति वा तवस्सीति वा अतिदुक्करदुक्करकारगे तं गच्छामि णं भगवंतं वंदामि णमंसामि जाव पज्जुवासामि, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु जाव अणज्झोववन्ने, तस्स णमेवं भवति—अत्थि णं मम माणुस्सते भवे माताति वा जाव सुण्हाति वा तं गच्छामि णं तेसिमंतियं पाउब्भवामि पासंतु ता मे इमं एतारूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं लद्धं पत्तं अभिसमन्नागयं, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्ज माणूसं लोगं हव्वमागच्छित्तते संचातेति हव्वमागच्छित्तते, ४ (सू० १७७)




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



अधुनोपपन्नो देवः, क्वेत्याह–देवलोकेष्विति, इह च बहुवचनमेकस्यैकदा अनेकेषूत्पादासम्भवादेकार्थे द्रष्टव्यं वचनव्यत्ययादेवलोकानेकत्वोपदर्शनार्थं वा अथवा देवलोकेषु मध्ये क्वचिद्देवलोक इति, 'इच्छेद्' अभिलषेत्, पूर्वसङ्गतिकदर्शनाद्यर्थं मानुषाणामयं मानुषस्तं 'हव्वं' शीघ्रं 'संचाएइ'त्ति शक्नोति, दिवि–देवलोके भवा दिव्यास्तेषु कामौ च–शब्दरूपलक्षणौ भोगाश्च–गन्धरसस्पर्शाः कामभोगास्तेषु, अथवा काम्यन्त इति कामाः–मनोज्ञास्ते च ते भुज्यन्त इति भोगाः–शब्दादयस्ते च कामभोगास्तेषु मूर्च्छित इव मूर्च्छितो–मूढः, तत्स्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विबोधाक्षमत्वात्, गृद्धः–तदाकाङ्क्षावान् अतृप्त इत्यर्थः, ग्रथित इव ग्रथितस्तद्विषयस्नेहरज्जूभिः सन्दर्भित इत्यर्थः, अध्युपपन्नः–आधिक्येनासक्तोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः, 'नो आद्रियते' न तेष्वादरवान् भवति 'नो परिजानाति' एतेऽपि वस्तुभूता इत्येवं न मन्यते, तथा तेष्विति गम्यते, नो अर्थं बध्नाति–एतैरिदं प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति, तथा तेषु नो निदानं प्रकरोति–एते मे भूयासुरित्येवमिति, तथा तेष्वेव नो स्थितिप्रकल्पम्–अवस्थानविकल्पनमेतेष्वहं तिष्ठेयमिति एते वा मम तिष्ठन्तु–स्थिरीभवन्त्वित्येवंरूपं स्थित्या वा–मर्यादया विशिष्टः प्रकल्पः–आचार आसेवेत्यर्थस्तं 'प्रकरोति' कर्तुमारभते, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति, एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरित्येकं कारणं १, तथा यतोऽसावधुनोपपन्नो देवो दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तस्य मानुष्यकं–मनुष्यविषयं प्रेम–स्नेहो येन मनुष्यलोके आगम्यते तद् व्यवच्छिन्नं, दिवि भवं दिव्यं–स्वर्गगतवस्तुविषयं सङ्क्रान्तं–तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति दिव्यप्रेमसङ्क्रान्तिरिति द्वितीयम् २, तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् 'तस्स णं'ति तस्य–देवस्य 'एवं'ति एवंप्रकारं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७७]

दीप अनुक्रम [१९०]



चित्तं भवति, यथा 'इयण्हिं'ति इत इदानीं न गच्छामि, 'मुहुत्तं'ति मुहूर्त्तेन गच्छामि कृत्यसमाप्तावित्यर्थः, 'तेणं कालेणं'ति येन तत्कृत्यं समाप्यते स च कृतकृत्यत्वादागमनशक्तो भवति तेन कालेन गतेनेति शेषः, तस्मिन् वा काले गते, णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, अल्पायुषः स्वभावादेव मनुष्या मात्रादयो यद्दर्शनार्थमाजिगमिषति ते कालधर्म्मेण–मरणेन संयुक्ता भवन्ति, कस्यासौ दर्शनार्थमागच्छत्विति असमाप्तकर्त्तव्यता नाम तृतीयमिति ३, 'इच्चेएही'त्यादिनिगमनं ३ ॥ देवकामेषु कश्चिदमूर्च्छितादिविशेषणो भवति, तस्य च मन इति गम्यते, एवंभूतं भवति—'आचार्यः' प्रतिबोधक-प्रव्राजकादिः अनुयोगाचार्यो वा 'इतिः' एवंप्रकारार्थो वाशब्दो विकल्पार्थः, प्रयोगस्त्वेवं–मनुष्यभवे ममाचार्योऽस्तीति वा, उपाध्यायः–सूत्रदाता सोऽस्तीति वा, एवं सर्वत्र, नवरं प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्त्यादिष्विति प्रवर्ती, उक्तं च—"तवसंजमजोगेसुं जो जोगो तत्थ तं पयट्टेइ । असहं च नियत्तेई गणतत्तिल्लो पवत्ती उ ॥ १ ॥" इति, प्रवर्त्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोति इति स्थविरः, उक्तं च—"थिरकरणा पुण थेरो पवत्ति-वावारिएसु अत्थेसु । जो जत्थ सीयइ जई संतबलो तं थिरं कुणइ ॥ १ ॥" इति, गणोऽस्यास्तीति गणी–गणाचार्यः, गणधरो–जिनशिष्यविशेषः आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः, उक्तं च—"पियधम्मे दढधम्मे संविग्गो उज्जुओ य तेयंसी । संगहुवग्गहकुसलो सुत्तत्थविऊ गणाहिवई ॥ १ ॥" गणस्यावच्छेदो–विभागोऽशोऽस्यास्तीति, यो हि गणांशं

१ तपःसंयमयोगेषु यो योग्यस्तत्र तं प्रवर्त्तयति । असहं च निवर्त्तयति गणतत्पिकरः प्रवर्त्ती तु ॥ १ ॥ २ स्थिरकरणात्पुनः स्थविरः प्रवर्त्तकव्यापारितेष्वर्थेषु । यो यत्र सीदति यतिस्तद्बलस्तं स्थिरं करोति ॥ १ ॥ ३ प्रियधर्मा दृढधर्मा संविग्न ऋजुकश्च तेजस्वी । संग्रहोपग्रहकुशलः सूत्रार्थविद् गणाधिपतिः ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि शब्दस्य व्याख्या

गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदकः, आह च—"उद्धा (ब्भा) वणापहावणखेत्तोवहिमग्गणासु अविसाई । सुत्तत्थतदुभयविऊ गणवच्छो एरिसो होइ ॥ १ ॥" इति, 'इम'त्ति इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे रूपान्तरभाक् सा एतद्रूपा दिव्या—स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवानां—सुराणामृद्धिः—श्रीर्विमानरत्नादिसम्पद्देवर्द्धिः, एवं सर्वत्र, नवरं द्युतिः—दीप्तिः शरीराभरणादिसम्भवा युतिर्वा—युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणाऽनुभागः—अचिन्त्या वैक्रियकरणादिका शक्तिः लब्धः—उपार्जितो जन्मान्तरे प्राप्तः—इदानीमुपनतः अभिसमन्वागतो—भोग्यतां गतः, 'तदि'ति तस्मात्तान् भगवतः—पूज्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोम्यादरकरणेन वस्त्रादिना वा सन्मानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमितिबुद्ध्या 'पर्युपासे' सेवे इत्येकं, 'एस णं'ति 'एषः' अवध्यादिप्रत्यक्षीकृतः मानुष्यके भवे वर्त्तमान इति शेषो, मनुष्य इत्यर्थः, ज्ञानीति वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमिति ?—दुष्कराणां—सिंहगुहाकायोत्सर्गकरणादीनां मध्ये दुष्करमनुरक्तपूर्वोपभुक्तप्रार्थनापरतरुणीमन्दिरवासाप्रकम्पब्रह्मचर्यानुपालनादिकं करोतीति अतिदुष्करदुष्करकारकः, स्थूलभद्रवत्, 'तत्' तस्माद्गच्छामित्ति—पूर्वमेकवचननिर्देशेऽपीह पूज्यविवक्षया बहुवचनमिति, तान् दुष्करदुष्करकारकान् भगवतो वन्द इति द्वितीयं, तथा 'माया इ वा पिया इ वा भज्जा इ वा भाया इ वा भगिणी इ वा पुत्ता इ वा धूया इ वे'त्ति यावच्छब्दाक्षेपः स्नुषा—पुत्रभार्या, 'तदि'ति तस्मात् तेषामन्तिके—समीपे 'प्रादुर्भवामि' प्रकटीभवामि, 'ता मे'त्ति तावत् मे—ममेति तृतीयं ॥

१ उद्भावनप्रधावनक्षेत्रोपधिमार्गणास्वविषादी । सूत्रार्थतदुभयविद्गणावच्छेदक ईदृशः. ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७८]

दीप अनुक्रम [१९१]



ततो ठाणाइं देवे पीहेज्जा तं०—माणुसं भवं १ आरिते खेत्ते जम्मं २ सुकुलपच्चायातिं ३, ५। तिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा, तं०—अहो णं मते संते बले संते वीरिए संते पुरिसक्कारपरक्कमे खेमंसि सुभिक्खंसि आयरियउवज्झातेहिं विज्जमाणेहिं कल्लसरीरेणं णो बहुते सुते अहीते १, अहो णं मते इहलोगपडिबद्धेणं परलोगपरंमुहेणं विसयतिसितेणं णो दीहे सामन्नपरिताते अणुपालिते २, अहो णं मते इड्ढिरससायगरुएणं भोगामिसगिद्धेणं णो विसुद्धे चरित्ते फासिते ३, इच्चेतेहिं० ६। (सू० १७८) तिहिं ठाणेहिं देवे चतिस्सामित्ति जाणाइ, तंजहा—विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणिं जाणित्ता, इच्चेएहिं ३, ७। तिहिं ठाणेहिं देवे उव्वेगमागच्छेज्जा, तं०—अहो णं मए इमातो एतारूवातो दिव्वातो देविड्ढीओ दिव्वाओ देवजुतीतो दिव्वाओ देवाणुभावाओ पत्तातो लद्धातो अभिसमण्णागतातो चतियव्वं भविस्सति १, अहो णं मते माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसट्ठं तप्पढमयाते आहारो आहारेयव्वो भविस्सति २, अहो णं मते कलमलजंबालाते असुतीते उव्वेयणिताते भीमाते गब्भवसहीते वसियव्वं भविस्सइ, इच्चेएहिं तिहिं ३, ८। (सू० १७९) तिसंठिया विमाणा पं० तं०—वट्टा तंसा चउरंसा ३, तत्थ णं जे ते वट्टा विमाणा ते णं पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिता सव्वओ समंता पागारपरिक्खित्ता एगदुवारा पन्नत्ता, तत्थ णं जे ते तंसा विमाणा ते णं सिंघाडगसंठाणसंठिता दुहतो पागारपरिक्खित्ता, एगतो वेतिता परिक्खित्ता तिदुवारा पन्नत्ता, तत्थ णं जे ते चउरंसविमाणा ते णं अक्खाडगसंठाणसंठिता, सव्वतो समंता वेतितापरिक्खित्ता, चउदुवारा पं०। ति-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पतिट्ठिया विमाणा पं० तं०—घणोदधिपतिट्ठिता घणवातपइट्ठिया ओवासंतरपइट्ठिता, तिविधा विमाणा पं० तं०—अवट्ठिता वेउव्विता परिजाणिता । (सू० १८०)

'पीहेज्ज'त्ति स्पृहयेद्—अभिलषेदार्यक्षेत्रम्—अर्द्धषड्विंशतिजनपदानामन्यतरत् मगधादि सुकुले—इक्ष्वाकादौ देवलोकात् प्रतिनिवृत्तस्याजातिः—जन्म आयातिर्वा—आगतिः सुकुलप्रत्याजातिः सुकुलप्रत्यायातिर्वा तामिति । 'परितप्पेज्ज'त्ति पश्चात्तापं करोति, अहो विस्मये 'सति' विद्यमाने बले शारीरे वीर्ये जीवाश्रिते पुरुषकारे अभिमानविशेषे पराक्रमे अभिमान एव च निष्पादितस्वविषये इत्यर्थः, 'क्षेमे' उपद्रवाभावे सति 'सुभिक्षे' सुकाले सति 'कल्यशरीरेण' नीरोगदेहेनेति सामग्रीसद्भावेऽपि नो बहुश्रुतमधीतमित्येकं, 'विसयतिसिएणं'ति विषयतृषितत्वादिहलोकप्रतिबन्धादिना दीर्घश्रामण्यपर्यायापालनं इति द्वितीयं, तथा ऋद्धिः—आचार्यत्वादौ नरेन्द्रादिपूजा रसा—मधुरादयो मनोज्ञाः सातं—सुखमेतानि गुरूणि—आदरविषया यस्य सोऽयमृद्धिरससातगुरुकस्तेन अथवा एभिर्गुरुकस्तेषां प्राप्तावभिमानतोऽप्राप्तौ च प्रार्थनातोऽशुभभावोपात्तकर्म्मभारतयाऽलघुकस्तेन भोगेषु—कामेषु आशंसा च—अप्राप्तप्रार्थनं गृद्धं च—प्राप्ततृप्तिर्यस्य स भोगाशंसागृद्धः, इह चानुस्वारलोपह्रस्वत्वे प्राकृततयेति, पाठान्तरेण भोगामिषगृद्धेनेति, नो विशुद्धम्—अनतिचारं चरित्रं स्पृष्टमिति तृतीयम्, इत्येतैरित्यादि निगमनम्। विमानाभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिकं तच्चक्षुर्विभ्रमरूपं वा, 'कल्परुक्खगं'ति चैत्यवृक्षं, तेयलेस्सं'ति शरीरदीप्तिं सुखासिकां वा, 'इच्चेतेही'त्यादिनिगमनं, भवन्ति चैवंविधानि लिङ्गानि देवानां च्यवनकाले, उक्तं च—"माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः । दैन्यं तन्द्रा कामरा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥ १ ॥" इति, 'उव्वेगं'ति उद्वेगं–शोकं मयेतश्च्यवनीयं भविष्यतीत्येकं, तथा मातुरोजः–आर्तवं पितुः शुक्रं तत्तथाविधं किमपि विलीनानामतिविलीनं तयोः–ओजःशुक्रयोरुभयं–द्वयं तदुभयं तच्च तत्संसृष्टं च, संश्लिष्टं चेति वा, परस्परमेकीभूतमित्यर्थः, तदुभयसंसृष्टं तदुभयसंश्लिष्टं वा एवंलक्षणो य आहारस्तस्य–गर्भवासकालस्य प्रथमता तत्प्रथमता तस्यां, प्रथमसमय एवेत्यर्थः, स आहर्त्तव्यः–अभ्यवहार्यो भविष्यतीति द्वितीयं, तथा कलमलो–जठरद्रव्यसमूहः स एव जम्बालः–कर्दमो यस्यां सा तथा तस्याम् अत एवाशुचिकायां उद्वेजनीयायां–उद्वेगकारिण्यां भीमायां–भयानिकायां गर्भ एव वसतिर्गर्भवसतिस्तस्यां वस्तव्यमिति तृतीयः, अत्र गाथे भवतः—"देवावि[1] देवलोए दिव्वाभरणाणुरंजियसरीरा । जं परिवडंति तत्तो तं दुक्खं दारुणं तेसिं ॥ १ ॥ तं सुरविमाणविभवं चिंतिय च्यणं च देवलोगाओ । अइबलियं चिय जं नवि फुट्टइ सयसक्करं हिययं ॥ २ ॥" इति, 'इच्चेएही'त्यादि निगमनम् ॥ अथ देववक्तव्यतानन्तरं तदाश्रयविमानवक्तव्यतामाह–'तिसंठिए'त्यादि, सूत्रत्रयं स्फुटमेव, केवलं त्रीणि संस्थितानि–संस्थानानि येषां तानि त्रिभिर्वा प्रकारैः संस्थितानि त्रिसंस्थितानि, 'तत्थ णं'ति तेषु मध्ये 'पुक्खरकण्णिए'ति पुष्करकर्णिका–पद्ममध्यभागः, सा हि वृत्ता समोपरिभागा च भवति, 'सव्वत'इति दिक्षु 'समन्ता'दिति विदिक्षु 'सिंघाडगं'ति त्रिकोणो जलजफलविशेषः 'एकत' एकस्यां दिशि यस्यां वृत्तविमानमित्यर्थः 'अक्खाडगो' चतुरस्रः

१ देवा अपि देवलोके दिव्याभरणानुरञ्जितशरीराः । यत्परिपतन्ति ततस्तद्दुःखं दारुणं तेषाम् ॥ १ ॥ तं सुरविमानविभवं चिंतयित्वा च्यवनं च देवलोकात् । अतिबलिष्ठं चैव हृदयं यच्छतशर्करं न स्फुटति.




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत एव, वेदिका-मुण्डप्राकारलक्षणा, एतानि चैवंक्रमाण्येवावलिकाप्रविष्टानि भवन्ति, पुष्पावकीर्णानि त्वन्यथाऽपीति, भवन्ति चात्र गाथाः—"सव्वेसु पत्थडेसुं मज्झे वट्टं अणंतरे तंसं । एयंतरचतुरंसं पुणोवि वट्टं पुणो तंसं ॥ १ ॥ वट्टं वट्टस्सुवरिं तंसं तंसस्स उप्परिं होइ । चउरंसे चउरंसं उड्ढं तु विमाणसेढीओ ॥ २ ॥ वट्टं च वलयगंपि व तंसं सिंघाडगंपिव विमाणं । चउरंसविमाणंपि य अक्खाडगसंठियं भणियं ॥ ३ ॥ सव्वे वट्टविमाणा एगदुवारा हवंति विन्नेया । तिन्नि य तंसविमाणे चत्तारि य होंति चउरंसे ॥ ४ ॥ पागारपरिक्खित्ता वट्टविमाणा हवंति सव्वेवि । चउरंसविमाणाणं चउद्दिसिं वेइया होइ ॥ ५ ॥ जत्तो वट्टविमाणं तत्तो तंसस्स वेइया होइ । पागारो बोद्धव्वो अवसेसेहिं तु पासेहिं ॥ ६ ॥ आवलियासु विमाणा वट्टा तंसा तहेव चउरंसा । पुप्फावगिन्नया पुण अणेगविहरूवसंठाणा ॥ ७ ॥" इति । प्रतिष्ठानसूत्रस्येयं विभजना—"घणउदहिपइट्ठाणा सुरभवणा होंति दोसु कप्पेसु । तिसु वाउपइट्ठाणा तदुभयसुपइट्ठिया तीसु ॥ १ ॥ तेण परं उवरिमगा आगासंतरपइट्ठिया सव्वे"त्ति । अवस्थितानि—शाश्वतानि वैक्रियाणि—भोगाद्यर्थं निष्पादितानि,

१ सर्वेषु प्रस्तटेषु मध्ये वृत्तं अनन्तरं त्र्यस्रं । एतदनन्तरं चतुरस्रं पुनरपि वृत्तं पुनस्त्र्यस्रं ॥ १ ॥ वृत्तं वृत्तस्योपरि त्र्यस्रं त्र्यस्रस्योपरि भवति । चतुरस्रस्य चतुरस्रं ऊर्द्धन्तु विमानश्रेणयः ॥ २ ॥ वृत्तं च वलयमिव त्र्यस्रं शृंगाटकमिव विमानं । चतुरस्रविमानमपि चाक्षाटकसंस्थितं भणितं ॥ ३ ॥ सर्वाणि वृत्तविमानान्येकद्वाराणि भवन्ति विज्ञेयानि । त्रीणि च त्र्यस्रविमाने चत्वारि च भवन्ति चतुरस्रे ॥ ४ ॥ प्राकारपरिक्षिप्तानि वृत्तविमानानि भवंति सर्वाण्यपि । चतुरस्रविमानानां चतसृषु दिक्षु वेदिका भवति ॥ ५ ॥ यतो वृत्तविमानं ततस्त्र्यस्रस्य वेदिका भवति । प्राकारो बोद्धव्योऽवशेषेषु तु पार्श्वेषु ॥ ६ ॥ आवलिकासु विमानानि वृत्तानि त्र्यस्राणि तथैव चतुरस्राणि । पुष्पावकीर्णकानि पुनरनेकविधरूपसंस्थानानि ॥ ७ ॥ २ घनोदधिप्रतिष्ठानानि सुरभवनानि भवंति द्वयोः कल्पयोः । त्रिषु वायुप्रतिष्ठानानि तदुभयसुप्रतिष्ठितानि त्रिषु ॥ १ ॥ ततः परमुपरितनानि आकाशान्तरप्रतिष्ठितानि सर्वाणि ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यतोऽभिहितं भगवत्यां—"जाहे णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजिउकामे भवइ से कहमियाणिं पकरेति ?, गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया एगं महं नेमिपडिरूवगं विउव्वइ [ नेमिरिति चक्रधारा तद्वद्वृत्तविमानमित्यर्थः > एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं इत्यादि यावत् "[१]पासायवडिंसए सयणिज्जे, तत्थ णं से सक्के देविंदे देवराया अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहि य अणिएहिं णट्टाणीएण य गंधव्वाणीएण य सद्धिं महया नट्ट जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ"त्ति, परियानं–तिर्यग्लोकावतरणादि तत्प्रयोजनं येषां तानि पारियानिकानि–पालकपुष्पकादीनि वक्ष्यमाणानीति ॥ पूर्वतरसूत्रेषु देवा उक्ताः, अधुना वैक्रियादिसाधर्म्यान्नारकाश्चिरूपयन्नाह—

तिविधा नेरइया पं० तं०—सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी, एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं २७ । ततो दुग्गतीतो पं० तं०—णेरइयदुग्गती तिरिक्खजोणीयदुग्गती मणुयदुग्गती १, ततो सुगतीतो पं० तं०—सिद्धिसोगती देवसोगती मणुस्ससोगती २ । ततो दुग्गता पं० तं०—णेरतितदुग्गता तिरिक्खजोणितदुग्गया मणुस्सदुग्गता ३, ततो सुगता पं० तं०—सिद्धसोगता देवसोग्गता मणुस्ससुग्गता ४ (सू० १८१)

१ यदा भदन्त! शक्रो देवेन्द्रो देवराजो दिव्यान् भोगभोगान् भोक्तुकामो भवति स कथमिदानीं प्रकरोति ? गौतम ! तदैव च शक्रो देवेन्द्रो देवराज एकं महन्नेमिप्रतिरूपकं विकुर्वति, एकं योजनशतसहस्रं आयामविष्कंभाभ्यां. २ प्रासादावतंसकः शयनीयं, तत्र स शक्रो देवेन्द्रो देवराजः अष्टाभिरग्रमहीषिभिः सपरिवाराभिर्द्वाभ्यामनीकाभ्यां नृत्यानीकेन च सार्द्धं महता नृत्यं यावद्दिव्यान् भोगभोगान् भुंजन् विहरति ॥

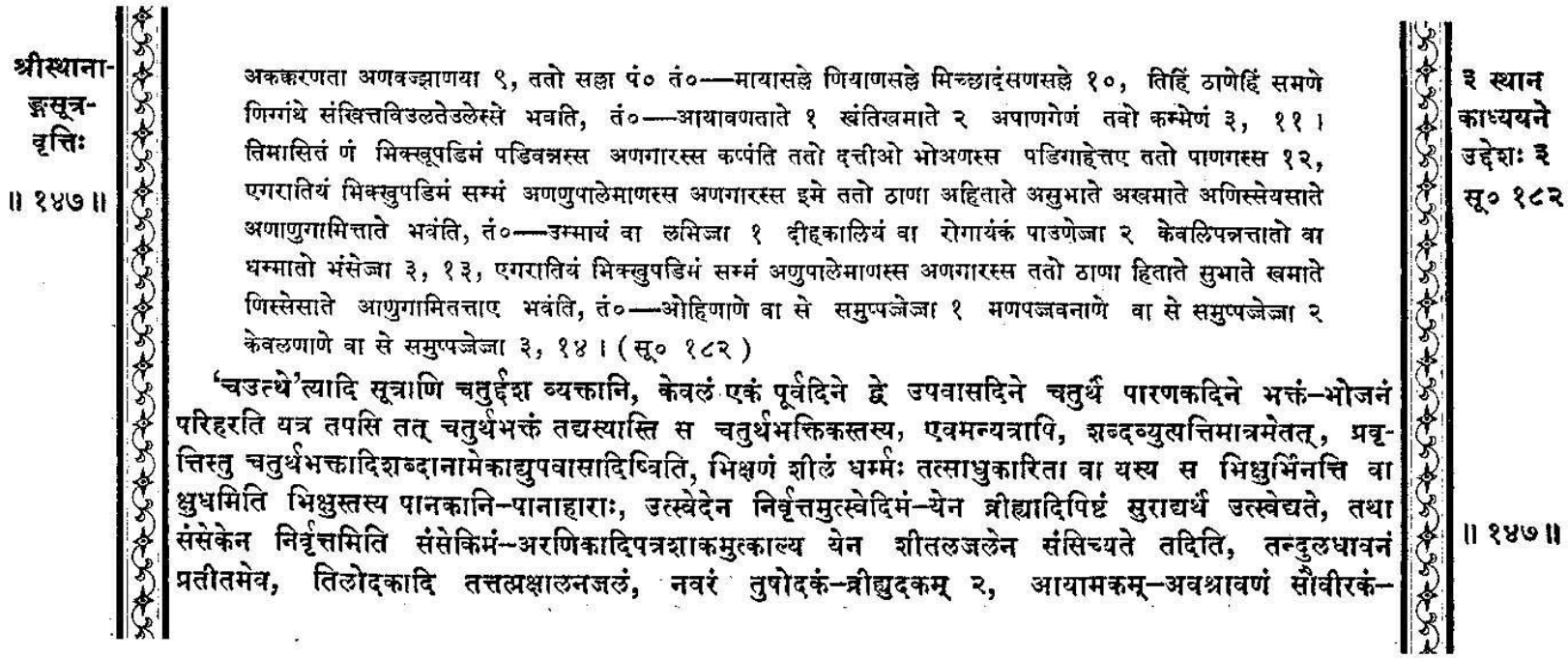



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तिविधे'त्यादि स्पष्टं, नारका दर्शनतो निरूपिताः, शेषा अपि जीवा एवंविधा एवेत्यतिदेशतः शेषानाह–'एव'-मित्यादि गतार्थं, नवरं 'विगलेंदियवज्जं'ति नारकवत् दण्डकस्त्रिधा वाच्यः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियान् विना, यतः पृथिव्यादीनां मिथ्यात्वमेव द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तु न मिश्रमिति । त्रिविधदर्शनाश्च दुर्गतिसुगतियोगात् दुर्गताः सुगताश्च भवन्तीति दुर्गत्यादिदर्शनाय सूत्रचतुष्टयमाह–'तओ'इत्यादि, व्यक्तं, परं दुष्टा गतिर्दुर्गतिर्मनुष्याणां दुर्गतिर्विवक्षयैव, तत्सुगतेरप्यभिधास्यमानत्वादिति, दुर्गताः–दुःस्थाः सुगताः–सुस्थाः । सिद्धादिसुगतास्तु[श्च] तपस्विनः सन्तो भवन्तीति तत्कर्त्तव्यपरिहर्त्तव्यविशेषमाह—

चउत्थभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं०—उस्सेतिमे संसेतिमे चाउलधोवणे १, छट्ठभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए तं०—तिलोदए तुसोदए जवोदए २, अट्ठमभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं०—आयामते सोवीरते सुद्धवियडे ३, तिविहे उवहडे पं० तं०—फलिओवहडे सुद्धोवहडे संसट्ठोवहडे ४, तिविहे उग्गहिते पं० तं०—जं च ओगिण्हति जं च साहरति जं च आसगंसि पक्खिवति ५, तिविधा ओमोयरिया पं० तं०—उवगरणोमोयरिया भत्तपाणोमोदरिता भावोमोदरिता ६, उवगरणोमोदरिता तिविहा पं० तं०—एगे वत्थे एगे पाते चियत्तोवहिसातिज्जणता ७, ततो ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहियाते असुभाते अक्खमाते अणिस्सेयसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं०—कूअणता कक्करणता अवज्झाणता ८, ततो ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हिताते सुहाते खमाते णिस्सेयसाते आणुगामिअत्ताते भवंति, तं०—अकूअणता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org





अककरणता अणवज्झाणया ९, ततो सल्ला पं० तं०—मायासल्ले णियाणसल्ले मिच्छादंसणसल्ले १०, तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवति, तं०—आयावणताते १ खंतिखमाते २ अपाणगेणं तवो कम्मेणं ३, ११। तिमासितं णं भिक्खूपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति ततो दत्तीओ भोअणस्स पडिगाहेत्तए ततो पाणगस्स १२, एगरातियं भिक्खुपडिमं सम्मं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे ततो ठाणा अहिताते असुभाते अखमाते अणिस्सेयसाते अणाणुगामित्ताते भवंति, तं०—उम्मायं वा लभिज्जा १ दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेज्जा २ केवलिपन्नत्तातो वा धम्मातो भंसेज्जा ३, १३, एगरातियं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स ततो ठाणा हिताते सुभाते खमाते णिस्सेसाते आणुगामितत्ताए भवंति, तं०—ओहिणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा १ मणपज्जवनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा २ केवलणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा ३, १४। (सू० १८२)

'चउत्थे'त्यादि सूत्राणि चतुर्दश व्यक्तानि, केवलं एकं पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्तं–भोजनं परिहरति यत्र तपसि तत् चतुर्थभक्तं तद्यस्यास्ति स चतुर्थभक्तिकस्तस्य, एवमन्यत्रापि, शब्दव्युत्पत्तिमात्रमेतत्, प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्तादिशब्दानामेकाद्युपवासादिष्विति, भिक्षणं शीलं धर्म्मः तत्साधुकारिता वा यस्य स भिक्षुर्भिनत्ति वा क्षुधमिति भिक्षुस्तस्य पानकानि–पानाहाराः, उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमं–येन व्रीह्यादिपिष्टं सुराद्यर्थं उत्स्वेद्यते, तथा संसेकेन निर्वृत्तमिति संसेकिमं–अरणिकादिपत्रशाकमुत्काल्य येन शीतलजलेन संसिच्यते तदिति, तन्दुलधावनं प्रतीतमेव, तिलोदकादि तत्तत्प्रक्षालनजलं, नवरं तुषोदकं–व्रीह्युदकम् २, आयामकम्–अवश्रावणं सौवीरकं–




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काञ्जिकं शुद्धविकटम्–उष्णोदकं ३, उपहृतमुपहितम्, भोजनस्थाने ढौकितं भक्तमिति भावः, फलिकं–प्रहेणकादि, तच्च तदुपहृतं चेति फलिकोपहृतं अवगृहीताभिधानपञ्चमपिण्डैषणाविषयभूतमिति, यदाह व्यवहारभाष्ये—"फलियं पहेणगाई वंजणभक्खेहिं वाडविरहियं जं। भोत्तुमणस्सोवहियं पंचमपिंडेसणा एस ॥ १ ॥" इति, तथा शुद्धम्–अलेपकृतं शुद्धौदनं च, तच्च तदुपहृतं चेति शुद्धोपहृतं, एतच्चाल्पलेपाभिधानचतुर्थैषणाविषयभूतमिति, तथा संसृष्टं नाम–भोक्तुकामेन गृहीतकूरादौ क्षिप्तो हस्तः क्षिप्तो न तावत् मुखे क्षिपति तच्च लेपालेपकरणस्वभावमिति, तदेवंभूतमुपहृतं संसृष्टोपहृतं, इदं चतुर्थैषणात्वेन भजनीयं, लेपालेपकृतादिरूपत्वादस्येति, अत्र गाथा—"सुद्धं च अलेवकडं अहव ण सुद्धोदणो भवे सुद्धं। संसट्ठं आउत्तं [ भोक्तुमारब्धमित्यर्थः > लेवाडमलेवडं वावि ॥ १ ॥" इति, इह च त्रये एकद्वित्रिसंयोगैः सप्ताभिग्रहवन्तः साधवो भवन्तीति ४। अवगृहीतं–नाम केनचित् प्रकारेण दायकेनात्तं भक्तादि 'य'दिति भक्तम्, चकाराः समुच्चयार्थाः अवगृह्णाति–आदत्ते हस्तेन दायकस्तदवगृहीतम्, एतच्च षष्ठी पिण्डेषणेति, एवं च वृद्धव्याख्या-परिवेषकः पिठिकायाः कूरं गृहीत्वा यस्मै दातुकामस्तद्भाजने क्षेप्तुमुपस्थितस्तेन च भणितं–मा देहि, अत्रावसरे प्राप्तेन साधुना धर्मलाभितं, ततः परिवेषको भणति–प्रसारय साधो! पात्रं, ततः साधुना प्रसारिते पात्रे क्षिप्तमोदनम्, इह च संयतप्रयोजने गृहस्थेन हस्त एव परिवर्त्तितो नान्यत् गमनादि कृतमिति जघन्यमाहृतजातमिति, इह च व्यवहार-

१ फलिकं प्रहेणकादि यद् व्यञ्जनभक्ष्यैर्वाविरहितं। भोक्तुमनस उपहृतं पंचमी पिंडैषणैषा ॥ १ ॥ २ शुद्धं चालेपकृतं अथवा शुद्धौदनः शुद्धं भवेत्संसृष्टं आयुक्तं ( भोक्तुमारब्धं ) लेपकृतमलेपकृतं वापि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाष्यश्लोकः—"भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं तं च तेण उ । जहन्नोवहडं तं तु, हत्थस्स परियत्तणा ॥ १ ॥" इति, तथा यच्च परिवेषकः स्थानादविचलन् संहरति–भक्तभाजनात् भोजनभाजनेषु क्षिपति तच्चावगृहीतमिति प्रक्रमः, श्लोकोऽत्र—"[3]अह साहीरमाणं तु, वट्टंतो [ परिवेषयन्नित्यर्थः > जो उ दायओ । दलेज्जाविचलिओ तत्तो, छट्ठी एसावि एसणा ॥ १ ॥" इति, तथा यच्च भक्तमास्यके–पिठरादिमुखे क्षिपति तच्चावगृहीतमिति, एवं चात्र वृद्धव्याख्या–कूरमवह्लादननिमित्तं कलिंजादिभाजने विशालोत्तानरूपे क्षिप्तं ततो भाक्तिकेभ्यो दत्तं ततो भुक्तशेषं यद्भूयः पिठरके प्रकाशमुखे क्षिपन्ती दद्यात् परिवेषयन्ती वा प्रकाशमुखे भाजने तत् तृतीयमवगृहीतं, श्लोकोऽत्र—"[3]भुत्तसेसं तु जं भूओ, छुब्भंती पिठरे दये । संवट्टंती व अन्नस्स, आसगंमि पगासए ॥ १ ॥" इति, ननु आस्ये–मुखे यत् प्रक्षिपतीति मुख्यार्थे सति किं पिठरकादिमुखे इति व्याख्यायत इति ?, उच्यते आस्यप्रक्षेपव्याख्यानमयुक्तं, जुगुप्साभावादिति, आह च—"पॅक्खेवए दुगुंछा, आएसो कुडमुहाईसु"न्ति ५ । अवमम्–ऊनमुदरं–जठरं यस्य सोऽवमोदरः, अवमं वोदरं अवमोदरं तद्भावोऽवमोदरता प्राकृतत्वादोमोयरियत्ति, अवमोदरस्य वा करणमवमोदरिका, व्युत्पत्तिरेवेयमस्य, प्रवृत्तिस्तूनतामात्रे, तत्र प्रथमा जिनकल्पिकादीनामेव न पुनरन्येषां, शास्त्रीयोपध्यभावे हि समग्रसंयमाभावादिति, अतिरिक्ताग्र-

१ भुंजमानस्य उत्क्षिप्तं प्रतिषिद्धं तच्च तेन तु । जघन्योपहृतं तत्तु हस्तस्य परिवर्तनात् ॥ १ ॥ २ अथ संहियमानमेव वेषकः यो वेषयन् दद्यादचलितस्ततः षष्ठ्येषाऽप्येषणा ॥ १ ॥ ३ भुक्तशेषन्तु यद् भूयः क्षिपन्ती पिठरे दद्यात् । परिवेषयन्ती वान्यस्य आस्ये प्रकाशे ॥ १ ॥ ४ (मुखे) प्रक्षेपे जुगुप्सा पिठरादिमुखेष्वादेशः (जुगुप्सायाः अभावात्).



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हणतो वोनोदरतेति, उक्तं च—"जं वट्टइ उवगारे उवकरणं तं सि(तेसि) होइ उवगरणं। अइरेगं अहिगरणं अजओ अजयं परिहरंतो ॥ १ ॥" [ अयतश्च यत्तत् भुञ्जानो भवतीत्यर्थः > भक्तपानावमोदरता पुनरात्मीयाहारमानपरित्यागतो वेदितव्या, उक्तं च—"[2]बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥ १ ॥ कवलाण य परिमाणं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्तं तु। जो वा अविगियवयणो वयणंमि छुहेज्ज वीसत्थो ॥२॥" इति, इयं चाष्ट १ द्वादश २ षोडश ३ चतुर्विंशत्ये ४ कत्रिंशदन्तैः कवलैः ५ क्रमेणाल्पाहारादिसंज्ञिता पञ्चधा भवति, उक्तं च—"[3]अप्पाहार १ अवड्ढा २ दुभाग ३ पत्ता ४ तहेव किंचूणा ५। अट्ठ १ दुवालस २ सोलस ३ चउवीस ४ तहेक्कतीसा य ५ ॥ १ ॥" इति, 'एवम्' अनेनानुसारेण पानेऽपि वाच्या, भगवत्यामप्युक्तम्—"[4]बत्तीसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्तेत्ति वत्तव्वं सिया, एत्तो एक्केणवि कवलेण ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे नो पगामरसभोइत्ति वत्तव्वं सिय"त्ति, भावोनोदरता पुनः क्रोधादित्यागः, उक्तं च—"[5]कोहाईणमणुदिणं चाओ जिणवयणभावणाओ उ। भावेणोमोदरिया पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥ १ ॥" उपकरणावमोदरिकाया भेदानाह—

१ यद्वर्त्तते उपकारे तत्तेषां उपकरणं भवति उपकरणं। अतिरेकमधिकरणमयतोऽयतं धारयन् ॥ १ ॥ २ किल द्वात्रिंशत्कवला आहारः कुक्षिपूरको भणितः। पुरुषस्य महिलाया अष्टाविंशतिर्भवेयुः कवलाः ॥ १ ॥ कवलानां परिमाणं कुक्कुट्यंडकप्रमाणमात्रं। यो वाऽविकृतवदनः वदने क्षिपेद्विश्वस्तः ॥२॥ ३ अल्पाहारापार्धा द्विभागा प्राप्ता तथैव किंचिदूना अष्टद्वादशषोडशचतुर्विंशत्येकत्रिंशत्कवलैस्तथा ॥ १ ॥ ४ द्वात्रिंशतं कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारत्वेनाहारयन् प्रमाणप्राप्त इति वक्तव्यः स्यादित एकेनापि कवलेनोनं आहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थो नो प्रकामरसभोजीति वक्तव्यः स्यात् ॥ ५ क्रोधादीनामनुदिनं त्यागो जिनवचनभावनाश्च भावेनावमोदरता प्रज्ञप्ता वीतरागैः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'उवकरणे'त्यादि, एकं वस्त्रं जिनकल्पिकादेरेव, एवं पात्रमपि, 'एगं पायं जिणकप्पियाण'मिति वचनादिति, तथा 'चियत्तेणं' संयमोपकारकोऽयमिति प्रीत्या मलिनादावप्रीत्यकरणेन वा 'चियत्तस्स वा' संयमिनां संमतस्य उपधेः–रजोहरणादिकस्य 'साइज्जणय'त्ति सेवा 'चियत्तोवहिसाइज्जणय'त्ति ७। 'चियत्तेणे'ति प्रागुक्तमेतद्विपर्ययभेदान् सकलानाह—'तओ' इत्यादि स्पष्टं, किन्तु अहिताय–अपथ्याय असुखाय–दुःखाय अक्षमाय–अयुक्तत्वाय अनिःश्रेयसाय–अमोक्षाय अनानुगामिकत्वाय–न शुभानुबन्धायेति, कूजनता–आर्त्तस्वरकरणं कर्कशता–शय्योपध्यादिदोषोद्भावनगर्भं प्रलपनं अपध्यानता–आर्त्तरौद्रध्यायित्वमिति ८, उक्तविपर्ययसूत्रं व्यक्तं ९, निर्ग्रन्थानामेव परिहर्त्तव्यं त्रयमाह—'तओ' इत्यादि, शल्यते–बाध्यते अनेनेति शल्यं, द्रव्यतस्तोमरादि भावतस्तु इदं त्रिविधं–माया–निकृतिः सैव शल्यं मायाशल्यं १, एवं सर्वत्र, नवरं नितरां दीयते–लूयते मोक्षफलमनिन्द्यब्रह्मचर्यादिसाध्यं कुशलकर्मकल्पतरुवनमनेन देवर्द्ध्यादिप्रार्थनपरिणामनिशितासिनेति निदानं मिथ्या–विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनमिति १०। निर्ग्रन्थानामेव लब्धिविशेषस्य कारणत्रयमाह–'तिहीं'त्यादि, सङ्क्षिप्ता–लघूकृता विपुलापि–विस्तीर्णाऽपि सती अन्यथाऽऽदित्यबिम्बवत् दुर्दर्शः स्यादिति तेजोलेश्या–तपोविभूतिजं तेजस्वित्वं तैजसशरीरपरिणतिरूपं महाज्वालाकल्पं येन स सङ्क्षिप्तविपुलतेजोलेश्यः आतापनानां–शीतादिभिः शरीरस्य सन्तापनानां भाव आतापनता शीतातपादिसहनमित्यर्थस्तया 'क्षान्त्या' क्रोधनिग्रहेण क्षमा–मर्षणं न त्वशक्ततयेति क्षान्तिक्षमा तया, अपानकेन पारणककालादन्यत्र 'तपःकर्म्मणा' षष्ठादिनेति, अभिधीयते च

१ एकं पात्रं जिनकल्पिकानाम्.





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवत्याम्—"जे णं गोसाला ! एगाए सनहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासणेणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविपुलतेयलेस्से भवइ"त्ति ११, 'तेमासिय'मित्यादि, भिक्षुप्रतिमाः–साधोरभिग्रहविशेषाः, ताश्च द्वादश, तत्रैकमासिक्यादयो मासोत्तराः सप्त तिस्रः सप्तरात्रिन्दिवप्रमाणाः प्रत्येकं एका अहोरात्रिकी एका एकरात्रिकीति, उक्तं च—"मासाई सत्तंता ७ पढमा १ बिइ २ तइय ३ सत्त राइदिणा १० । अहराइ ११ एगराई १२ भिक्खूपडिमाण वारसगं ॥ १ ॥"ति, अयमत्र भावार्थः—"पडिवज्जइ एयाओ संघयणधिइजुओ महासत्तो । पडिमाओ भावियप्पा सम्मं गुरुणा अणुन्नाओ ॥ १ ॥" गच्छे च्चिय निम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुन्ना । नवमस्स तइयवत्थू होइ जहन्नो सुयाभिगमो ॥ २ ॥ वोसट्ठचत्तदेहो उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी । एसण अभिग्गहीया भत्तं च अलेवडं तस्स ॥ ३ ॥ गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जइ मासियं महापडिमं । दत्तेग भोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासं ॥ ४ ॥ पच्छा गच्छमुवेती एव दुमासी तिमासि जा सत्त । नवरं दत्तिविवड्ढी जा सत्त उ सत्तमासीए ॥ ५ ॥ तत्तो अ अट्ठमी खलु हवइ इहं पढमसत्तराइंदी ।

१ मासाद्याः सप्तमासान्ताः सप्त प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिंदिवा । अहोरात्रा एकरात्रा भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकं ॥ १ ॥ प्रतिपद्यत एताः संहननधृतियुतो महासत्त्वः प्रतिमा भावितात्मा सम्यग्गुरुणाऽनुज्ञातः ॥ १ ॥ गच्छे निर्मात एव यावत्पूर्वाणि दश भवेयुरसंपूर्णानि । नवमस्य तृतीयवस्तु भवति जघन्यः श्रुताभिगमः ॥२॥ व्युत्सृष्टत्यक्तदेह उपसर्गसहो यथैव जिनकल्पी । एषणाऽभिगृहीता भक्तं चालेपकृतस्य ॥ ३ ॥ गच्छाद्विनिष्क्रम्य प्रतिपद्यते मासिकीं महाप्रतिमां । दत्त्येका भोजनस्य पानस्याप्येका यावन्मासं ॥ ४ ॥ पश्चाद्गच्छमप्येति एवं द्विमासिकीं त्रिमासिकीं यावत्सप्तमासिकीं । परं दत्तिवृद्धिर्यावत् सप्त सप्तमासिक्यां ॥५॥ ततश्चाष्टमीह भवति प्रथमा सप्तरात्रिंदिवैव । तस्यां चतुर्थचतुर्थेनापानकेनाथ विशेषः ॥ ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

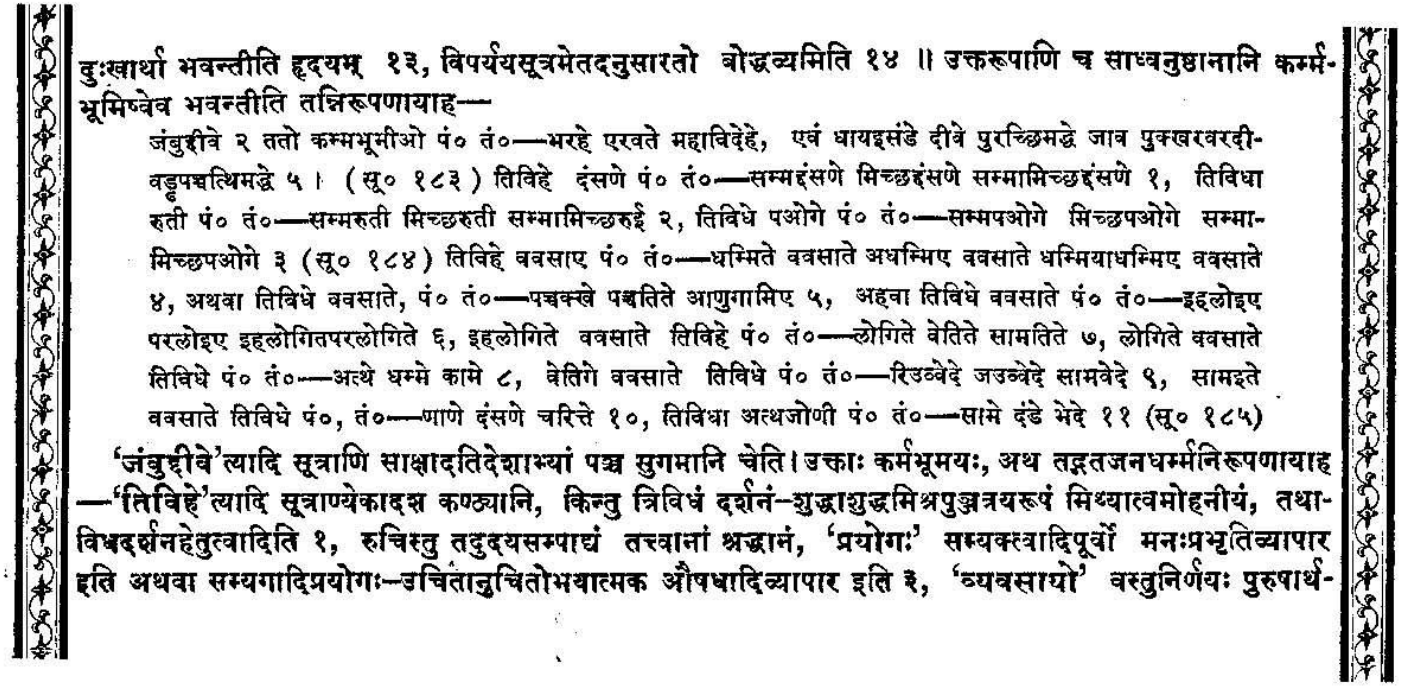
तीए चउत्थएणं अपाणएणं अह विसेसो ॥ ६ ॥ तथा चागमः—"[1]पढमसत्तराइंदियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वे"त्यादि, "[2]उत्ताणगपासली नेसज्जी वावि ठाण ठाइत्ता । अह उवसग्गे घोरे दिव्वाई सहइ अविकंपो ॥ १ ॥ दोच्चा वि एरिसि चिय बहिया गामादियाण नवरं तु । उक्कुडुलगंडसाई डंडायतिउव्व ठाइत्ता ॥ २ ॥ तच्चाएवी एवं नवरं ठाणं तु तस्स गोदोही । वीरासणमहवावी ठाएज्ज व अंबखुज्जो य ॥ ३ ॥ एमेव अहोराई छट्ठं भत्तं अपाणगं नवरं । गामनगराण बहिया वग्घारियपाणिए ठाणं ॥ ४ ॥ एमेव एगराई अट्ठमभत्तेण ठाण बाहिरओ । ईसिं पब्भारगए अणिमिसणयणेगदिट्ठीउ ॥ ५ ॥ साहट्टु दोन्नि पाए वग्घारियपाणि-ठायई ठाणं । वग्घारिलंबियभुओ सेस दसासुं जहा भणियं ॥ ६ ॥" इति, तत्र त्रिमासिकी तृतीया तां प्रतिपन्नस्य–आश्रितस्य 'दत्तिः' सकृत्प्रक्षेपलक्षणेति १२, एकरात्रिकी द्वादशी तां सम्यगननुपालयतः उन्मादः–चित्तविभ्रमो, रोगः–कुष्ठादिरातङ्कः–शूलविशूचिकादिः सद्योघाती, स च स चेति रोगातङ्कं, 'पाउणेज्जे'ति प्राप्नुयात् 'धर्म्मात्'–श्रुतचारित्रलक्षणात् भ्रश्येत्, सम्यक्त्वस्यापि हान्येति, उन्मादरोगधर्म्मभ्रंशाः प्रतिमायाः सम्यगननुपालनाजन्या 'अहिताचार्थाः'

१ प्रथमां सप्तरात्रिंदिवां भिक्षुप्रतिमां प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पते चतुर्थेन भक्तेनापानकेन ग्रामस्य बहिः॥ २ उत्तानकः पार्श्वलीनो नैषद्यी वापि स्थानं स्थित्वा । अथोपसर्गान् घोरान् दिव्यादीन् सहतेऽविकंपः ॥१॥ द्वितीयाऽपि इदृश्येव ग्रामादीनां बहिः परन्तूत्कटुकलकुटशायी दंडायत इव वा स्थित्वा ॥ २ ॥ तृतीयायामप्येवं परं तस्य स्थानं गोदोहिकैव । वीरासनं अथवा तिष्ठेत् वापि आम्रकुब्जश्च ॥३॥ एवमेवाहोरात्रिकी परंषष्ठं भक्तमपानकं । ग्रामनगरात् बहिरवलंबितपाणिना स्थानं ॥४॥ एवमेवैकरात्रिकी अष्टमभक्तेन स्थानं बहिः । ईषत्प्राग्भारगतः अनिमेषनयनैकदृष्टिः ॥ ५ ॥ संहृत्य द्वावपि पादौ अवलंबितपाणिः तिष्ठति स्थानं । अवलंबितभुजः शेषं दशासु यथा भणितं ॥ ६ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


भिक्षुप्रतिमा-वर्णनं



दुःखार्था भवन्तीति हृदयम् १३, विपर्ययसूत्रमेतदनुसारतो बोद्धव्यमिति १४ ॥ उक्तरूपाणि च साध्वनुष्ठानानि कर्म्मभूमिष्वेव भवन्तीति तन्निरूपणायाह—

जंबुद्दीवे २ ततो कम्मभूमीओ पं० तं०—भरहे एरवते महाविदेहे, एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे ५। (सू० १८३) तिविहे दंसणे पं० तं०—सम्मद्दंसणे मिच्छद्दंसणे सम्मामिच्छद्दंसणे १, तिविधा रुती पं० तं०—सम्मरुती मिच्छरुती सम्मामिच्छरुई २, तिविधे पओगे पं० तं०—सम्मपओगे मिच्छपओगे सम्मामिच्छपओगे ३ (सू० १८४) तिविहे ववसाए पं० तं०—धम्मिते ववसाते अधम्मिए ववसाते धम्मियाधम्मिए ववसाते ४, अथवा तिविधे ववसाते, पं० तं०—पच्चक्खे पच्चतिते आणुगामिए ५, अहवा तिविधे ववसाते पं० तं०—इहलोइए परलोइए इहलोगितपरलोगिते ६, इहलोगिते ववसाते तिविहे पं० तं०—लोगिते वेतिते सामतिते ७, लोगिते ववसाते तिविधे पं० तं०—अत्थे धम्मे कामे ८, वेतिगे ववसाते तिविधे पं० तं०—रिउव्वेदे जउव्वेदे सामवेदे ९, सामइते ववसाते तिविधे पं०, तं०—णाणे दंसणे चरित्ते १०, तिविधा अत्थजोणी पं० तं०—सामे दंडे भेदे ११ (सू० १८५)

'जंबुद्दीवे'त्यादि सूत्राणि साक्षाददतिदेशाभ्यां पञ्च सुगमानि चेति। उक्ताः कर्मभूमयः, अथ तद्गतजनधर्म्मनिरूपणायाह—'तिविहे'त्यादि सूत्राण्येकादश कण्ठ्यानि, किन्तु त्रिविधं दर्शनं–शुद्धाशुद्धमिश्रपुञ्जत्रयरूपं मिथ्यात्वमोहनीयं, तथाविधदर्शनहेतुत्वादिति १, रुचिस्तु तदुदयसम्पाद्यं तत्त्वानां श्रद्धानं, 'प्रयोगः' सम्यक्त्वादिपूर्वो मनःप्रभृतिव्यापार इति अथवा सम्यगादिप्रयोगः–उचितानुचितोभयात्मक औषधादिव्यापार इति ३, 'व्यवसायो' वस्तुनिर्णयः पुरुषार्थ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध्यर्थमनुष्ठानं वा, स च व्यवसायिनां 'धार्मिका१धार्म्मिक२धार्मिकाधार्म्मिकाणां' संयतासंयतदेशसंयतलक्षणानां सम्बन्धित्वादभेदेनोच्यमानस्त्रिधा भवतीति, संयमासंयमदेशसंयमलक्षणविषयभेदाद्वा ४, व्यवसायो–निश्चयः, स च प्रत्यक्षोऽवधिमनःपर्यायकेवलाख्यः, प्रत्ययात्–इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणान्निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः साध्यम्–अग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातमानुगामिकम्–अनुमानं तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति, अथवा प्रत्यक्षः–स्वयंदर्शनलक्षणः प्रात्ययिकः–आप्तवचनप्रभवः, तृतीयस्तथैवेति ५, इहलोके भव ऐहलौकिको–य इह भवे वर्त्तमानस्य निश्चयोऽनुष्ठानं वा स ऐहलौकिको व्यवसाय इति भावः, यस्तु परलोके भविष्यति स पारलौकिकः, यस्त्विह परत्र च स ऐहलौकिकपारलौकिक इति ६, लौकिकः सामान्यलोकाश्रयो निश्चयोऽनुष्ठानं वा, वेदाश्रितो वैदिकः, समयः–साङ्ख्यादीनां सिद्धान्तस्तदाश्रितस्तु सामयिकः, लौकिकादयो व्यवसायाः प्रत्येकं त्रिविधास्ते च प्रतीता एव, नवरं अर्थधर्मकामविषयो निर्णयो यथा–"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, धर्मस्य दानं च दया दमश्च । कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियासु ॥ १ ॥" इत्यादिरूपः तदर्थमनुष्ठानं वा अर्थादिरेव व्यवसाय उच्यते इति ८, ऋग्वेदाद्याहितो निर्णयो व्यापारो वा ऋग्वेदादिरेवेति ९, ज्ञानादीनि सामा(म)यिको व्यवसायः, तत्र ज्ञानं व्यवसाय एव, पर्यायशब्दत्वात्, दर्शनमपि श्रद्धानलक्षणं व्यवसायो, व्यवसायांशत्वात्तस्येति प्रतिपादितमेव, चारित्रमपि समभावलक्षणो व्यवसाय एव, बोधस्वभावस्यात्मनः परिणतिविशेषत्वात्, यच्चोच्यते, "[1]सच्चरणमणुट्ठाणं

१ तत्र विधिप्रतिषेधानुगमनुष्ठानं सच्चारित्रं.



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विहिपडिसेहाणुगं तत्थ"त्ति तत्र तद्ग्राह्यचारित्रापेक्षमवगन्तव्यमिति, अथवा ज्ञानादौ विषये यो व्यवसायो–बोधोऽनुष्ठानं वा स विषयभेदात् त्रिविध इति, सामा(म)यिकता चास्य सम्यग्मिथ्याशब्दलाञ्छितस्य ज्ञानादित्रयस्य सर्वसमयेष्वपि भावादिति १०, अर्थस्य–राजलक्ष्म्यादेर्योनिः–उपायोऽर्थयोनिः साम–प्रियवचनादि दण्डो–वधादिरूपः परनिग्रहः भेदो–जिगीषितशत्रुपरिवर्गस्य स्वाम्यादिस्नेहापनयनादिः, क्वचित्तु दण्डपदत्यागेन प्रदानेन सह तिस्रोऽर्थयोनयः पठ्यन्ते, भवन्ति चात्र श्लोकाः—"परस्परोपकाराणां, दर्शनं १ गुणकीर्त्तनम् २। सम्बन्धस्य समाख्यान३मायत्याः संप्रकाशनम् ४ ॥ १ ॥" अस्मिन्नेवं कृते इदमावयोर्भविष्यतीत्याशाजननमायतिसंप्रकाशनमिति, "वाचा पेशलया साधु तवाहमिति चार्पणम् ५। इति सामप्रयोगज्ञैः, साम पञ्चविधं स्मृतम् ॥ १ ॥" वधश्चैव १ परिक्लेशो २, धनस्य हरणं तथा ३। इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥ २ ॥ स्नेहरागापनयनं १, संहर्षोत्पादनं तदा २। सन्तर्जनं च ३ भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥ ३ ॥" संहर्षः–स्पर्द्धा सन्तर्जनं च–अस्यास्मन्मित्रविग्रहस्य परित्राणं मत्तो भविष्यतीत्यादिकरूपमिति, प्रदानलक्षणमिदम्—"यः सम्प्राप्तो धनोत्सर्गः, उत्तमाधममध्यमः । प्रतिदानं तथा तस्य, गृहीतस्यानुमोदनम् ॥ १ ॥ द्रव्यदानमपूर्वं च ३, स्वयंग्राहप्रवर्त्तनम् ४। देयस्य प्रतिमोक्षश्च ५, दानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ १ ॥ धनोत्सर्गो–धनस्पत् स्वयंग्राहप्रवर्त्तनम्–परस्वेषु देयप्रतिमोक्ष–ऋणमोक्ष इति, प्रयोगश्चासामेवम्—"उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्। नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः ॥ १ ॥" इति। अनन्तरं जीवा धर्म्मतः प्ररूपिताः, इदानीं पुद्गलांस्तथैव प्ररूपयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिविहा पोग्गला पं० तं०—पओगपरिणता मीसापरिणता वीससापरिणता, तिपतिट्ठिया णरगा पं० तं०—पुढविपतिट्ठिता आगासपतिट्ठिता आयपइट्ठिआ, णेगमसंगहववहाराणं पुढविपइट्ठिया उजुसुतस्स आगासपतिट्ठिया तिण्हं सद्दणताणं आयपतिट्ठिया ॥ (सू० १८६)

प्रयोगपरिणताः—जीवव्यापारेण तथाविधपरिणतिमुपनीताः, यथा पटादिषु कर्म्मादिषु वा, 'मीस'त्ति प्रयोगविस्रसाभ्यां परिणताः, यथा पटपुद्गला एव प्रयोगेण पटतया विस्रसापरिणामेन चाभोगेऽपि पुराणतयेति, विस्रसा—स्वभावः तत्परिणता अभ्रेन्द्रधनुरादिवदिति । पुद्गलप्रस्तावाद्विस्रसापरिणतपुद्गलरूपाणां नरकावासानां प्रतिष्ठाननिरूपणायाह—'तिपइट्ठिए'त्यादि, स्फुटं, केवलं नरका—नारकावासा आत्मप्रतिष्ठिताः—स्वरूपप्रतिष्ठिताः । तत्प्रतिष्ठानं नयैराह—'णेगमे'त्यादि, नैकेन—सामान्यविशेषग्राहकत्वात् तस्यानेकेन ज्ञानेन मिनोति—परिच्छिनत्तीति नैकमः, अथवा निगमाः—निश्चितार्थबोधास्तेषु कुशलो भवो वा नैगमः, अथवा नैको गमः—अर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगमः १, संग्रहणं भेदानां सङ्गृह्णाति वा तान् संगृह्यन्ते वा ते येन स सङ्ग्रहो—महासामान्यमात्राभ्युपगमपर इति २, व्यवहरणं व्यवहियते वा स व्यवहियते वा तेन विशेषेण वा सामान्यमवहियते—निराक्रियतेऽनेनेति लोकव्यवहारपरो वा व्यवहारो—विशेषमात्राभ्युपगमपरः ३, एतेषां नयानां मतेनेति गम्यं, ऋजु—अवक्रमभिमुखं श्रुतं—श्रुतज्ञानं यस्येति ऋजुश्रुतः, ऋजु वा—अतीतानागतवक्रपरित्यागाद्वर्त्तमानं वस्तु सूत्रयति—गमयतीति ऋजुसूत्रः—स्वकीयं साम्प्रतं च वस्तु नान्वदित्यभ्युपगमपरः, शब्द्यते—अभिधीयतेऽभिधेयमनेनेति शब्दो—वाचको ध्वनिः, नयन्ति—परिच्छिन्दन्त्यनेकधर्मात्मकं सद्वस्तु



॥ १५२ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सा(अन)वधारणतयैकेन धर्म्मेणेति नयाः शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः, ते च त्रयः—शब्दसमभिरूढैवंभूताख्याः, तत्र शब्दनमभिधानं शब्द्यते वा यः शब्द्यते वा येन वस्तु स शब्दः, तदभिधेयविमर्शपरो नयोऽपि शब्द एवेति, स च भावनिक्षेपरूपं वर्त्तमानमभिन्नलिङ्गवाचकं बहुपर्यायमपि च वस्त्वभ्युपगच्छतीति, वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहति—आश्रयति यः स समभिरूढः, स ह्यनन्तरोक्तविशेषणस्यापि वस्तुनः शक्रपुरन्दरादिवाचकभेदेन भेदमभ्युपगच्छति घटपटादिवदिति, यथा शब्दार्थो घटते—चेष्टत इति घट इत्यादिलक्षणः 'एव'मिति तथाभूतः सत्यो घटादिरर्थो नान्यथेत्येवमभ्युपगमपर एवंभूतो नयः, अयं हि भावनिक्षेपादिविशेषणोपेतं व्युत्पत्त्यर्थाविष्टमेवार्थमिच्छति, जलाहरणादिचेष्टावन्तं घटमिवेति ७, तत्राद्यत्रयस्याशुद्धत्वात् प्रायो लोकव्यवहारपरत्वाच्च पृथिवीप्रतिष्ठितत्वं नरकाणामिति मतं, चतुर्थस्य शुद्धत्वात् आकाशस्य च गच्छतां तिष्ठतां वा सर्वभावानामैकान्तिकाधारत्वात् भुवोऽनैकान्तिकत्वाच्चाकाशप्रतिष्ठितत्वमिति, त्रयाणां तु शुद्धतरत्वात् सर्वभावानां स्वभावलक्षणाधिकरणस्यान्तरङ्गत्वादव्यभिचारित्वाच्च आत्मप्रतिष्ठितत्वमिति, न हि स्वस्वभावं विहाय परस्वभावाधिकरणा भावाः कदाचनापि भवन्तीति, यत आह—"[1]वत्थुं वसइ सहावे सत्ताओ चेयणव्व जीवम्मि। न विलक्खणत्तणाओ भिन्ने [ अन्यत्र > छायातवे चेव ॥ १ ॥" इति, नरकेषु च मिथ्यात्वाद् गतिर्जन्तूनां भवतीति अथवा नया मिथ्यादृश इति सम्बन्धान्मिथ्यात्वस्वरूपमाह—

तिविधे मिच्छत्ते पं० तं०—अकिरिता अविणते अन्नाणे १, अकिरिया तिविधा, पं० तं०—पओगकिरिया समुदाणकिरिया

१ जीवे चेतनेव वस्तु स्वभावे वसति सत्त्वात् छायातपाविव वैलक्षण्यादन्यत्र न.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्नाणकिरिया २, पओगकिरिया तिविधा, पं० तं०—मणपओगकिरिया वइपओगकिरिया कायपओगकिरिया ३, समुदाणकिरिया तिविधा पं० तं०—अणंतरसमुदाणकिरिया परंपरसमुदाणकिरिया तदुभयसमुदाणकिरिता ४, अन्नाणकिरिता तिविधा पं० तं०—मतिअन्नाणकिरिया सुतअन्नाणकिरिया विभंगअन्नाणकिरिया ५, अविणते तिविहे पं० तं०—देसच्चाती निरालंबणता नाणापेज्जदोसे ६, अन्नाणे तिविधे पं० तं०—देसण्णाणे सव्वण्णाणे भावन्नाणे ७ (सू० १८७)

**'तिविधे मिच्छत्ते'** इत्यादि, सूत्राणि सप्त सुगमानि, नवरं मिथ्यात्वं विपर्यस्तश्रद्धानमिह न विवक्षितं, प्रयोगक्रियादीनां वक्ष्यमाणतद्भेदानां असम्बद्ध्यमानत्वात्, ततोऽत्र मिथ्यात्वं क्रियादीनामसम्यग्रूपता मिथ्यादर्शनानाभोगादिजनितो विपर्यासो दुष्टत्वमशोभनत्वमिति भावः, **'अकिरिय'**त्ति नञिह दुःशब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः, ततश्चाक्रिया—दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामोक्षसाधकमनुष्ठानं, यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति, एवमविनयोऽपि, अज्ञानम्—असम्यग्ज्ञानमिति, अक्रिया हि अशोभना क्रियैवातोऽक्रिया त्रिविधेत्यभिधायापि प्रयोगेत्यादिना क्रियैवोक्तेति, तत्र वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतवीर्येणात्मना प्रयुज्यते—व्यापार्यत इति प्रयोगो—मनोवाक्कायलक्षणस्तस्य क्रिया—करणं व्यापृतिरिति प्रयोगक्रिया, अथवा प्रयोगैः—मनःप्रभृतिभिः क्रियते—बध्यत इति प्रयोगक्रिया कर्म्मेत्यर्थः, सा च दुष्टत्वादक्रिया, अक्रिया च मिथ्यात्वमिति सर्वत्र प्रक्रमः, **'समुदाणं'**ति प्रयोगक्रिययैकरूपतया गृहीतानां कर्म्मवर्गणानां समिति—सम्यक् प्रकृतिबन्धादिभेदेन देशसर्वोपघातिरूपतया च आदानं—स्वीकरणं समुदानं निपातनात्तदेव क्रिया—कर्म्मेति समुदानक्रियेति, अज्ञानात् वा चेष्टा कर्म्म वा सा अज्ञानक्रियेति २, प्रयोगक्रिया त्रिविधा व्याख्यातार्था ३,




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नास्त्यन्तरं–व्यवधानं यस्याः साऽनन्तरा सा चासौ समुदानक्रिया चेति विग्रहः, प्रथमसमयवर्त्तिनीत्यर्थः, द्वितीयादिसमयवर्त्तिनी तु परम्परसमुदानक्रियेति, प्रथमाप्रथमसमयापेक्षया तु तदुभयसमुदानक्रियेति, 'मइअन्नाणकिरिय'त्ति "अविसेसिया मइच्चिय सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं । मइअन्नाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयंपि एमेव ॥ १ ॥ त्ति [अविशेषिता मतिरेव सम्यग्दृष्टेः सा मतिज्ञानम् । मत्यज्ञानं मिथ्यादृष्टेः श्रुतमप्येवमेव ॥ १ ॥] मत्यज्ञानात् क्रिया–अनुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया, एवमितरे अपि, नवरं विभङ्गो–मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभङ्गाज्ञानमिति । व्याख्यातमक्रियामिथ्यात्वं, अविनयमिथ्यात्वव्याख्यानायाह—'अविणये'त्यादि, विशिष्टो नयो विनयः–प्रतिपत्तिविशेषः तत्प्रतिषेधादविनयः, देशस्य–जन्मक्षेत्रादेस्त्यागो देशत्यागः स यस्मिन्नविनये प्रभुगालीप्रदानादावस्ति स देशत्यागी, निर्गत आलम्बनाद्–आश्रयणीयात् गच्छकुटुम्बकादेरिति निरालम्बनस्तद्भावो निरालम्बनता–आश्रयणीयानपेक्षत्वमिति भावः, पुष्टालम्बनाभावेन वोचितप्रतिपत्तिभ्रंशः, प्रेम च द्वेषश्च प्रेमद्वेषं नानाप्रकारं प्रेमद्वेषं नानाप्रेमद्वेषमविनयः, इयमत्र भावना–आराध्यविषयमाराध्यसंमतविषयं वा प्रेम तथाऽऽराध्यासम्मतविषयो द्वेष इत्येवं नियतावेतौ विनयः स्यात्, उक्तं च—"सरुषि नतिः स्तुतिवचनं, तदभिमते प्रेम तद्विषि द्वेषः । दानमुपकारकीर्त्तनममन्त्रमूलं वशीकरणम् ॥ १ ॥" इति, नानाप्रकारौ च तावाराध्यतत्संमतेतरलक्षणविशेषानपेक्षत्वेनानियतविषयादविनय इति, अज्ञानमिथ्यात्वमित उच्यते —'अन्नाणे'त्यादि, ज्ञानं हि द्रव्यपर्यायविषयो बोधस्तन्निषेधोऽज्ञानं तत्र विवक्षितद्रव्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञानमकारप्रश्लेषात्, यदा च सर्वतस्तदा सर्वाज्ञानं, यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञानमिति, अ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति अकारप्रश्लेषं विनापि न दोष इति । उक्तं मिथ्यात्वं, तच्चाधर्म्म इति तद्विपर्ययमधुना धर्म्ममाह—

तिविहे धम्मे पं० तं०— सुयधम्मे चरित्तधम्मे अत्थिकायधम्मे, तिविधे उवक्कमे पं० तं०—धम्मिते उवक्कमे अधम्मिते उवक्कमे धम्मिताधम्मिते उवक्कमे १, अहवा तिविधे उवक्कमे पं० तं०—आओवक्कमे परोवक्कमे तदुभयोवक्कमे २, एवं वेयावच्चे ३, अणुग्गहे ४, अणुसट्ठी ५, उवालंभे ६, एवमेक्केके तिन्नि २ आलावगा जहेव उवक्कमे (सू० १८८)

'तिविहे धम्मे'इत्यादि श्रुतमेव धर्म्मः श्रुतधर्म्मः—स्वाध्यायः, एवं चरित्रधर्म्मः—क्षान्त्यादिश्रमणधर्म्मः, अयं च द्विविधोऽपि—द्रव्यभावभेदे धर्म्मे भावधर्म्म उक्तः, यदाह—"[1]दुविहो उ भावधम्मो सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य। सुयधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो॥१॥"इति, अस्तिशब्देन प्रदेशा उच्यन्ते तेषां कायो—राशिरस्तिकायः स चासौ संज्ञया धर्म्मश्चेत्यस्तिकायधर्म्मो, गत्युपष्टम्भलक्षणो धर्म्मास्तिकाय इत्यर्थः, अयं च द्रव्यधर्म्म इति । अनन्तरं श्रुतधर्म्मचारित्रधर्म्मावुक्तौ अधुना तद्विशेषानाह—'तिविहे उवक्कमे'इत्यादि, सूत्राणि अष्टौ सुगमानि, परं उपक्रमणमुपक्रमः—उपायपूर्वक आरम्भः, धर्म्मे—श्रुतचारित्रात्मके भवः स वा प्रयोजनमस्येति धार्म्मिकः, श्रुतचारित्रार्थ आरम्भ इत्यर्थः, तथा न धार्मिकः अधार्मिकः—असंयमार्थः, तथा धार्मिकश्चासौ देशतः संयमरूपत्वात् अधार्मिकश्च तथैवासंयमरूपत्वात् धार्मिकाधार्म्मिकः, देशविरत्यारम्भ इत्यर्थः, अथवा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षड्विध उपक्रमः, तत्र नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्यो-

१ द्विविधस्तु भावधर्मः श्रुतधर्मः खलु चारित्रधर्मश्च । श्रुतधर्मः स्वाध्यायश्चारित्रधर्मः श्रमणधर्मः ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पक्रमस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्रिधा–सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यभेदात्, तत्र सचित्तद्रव्योपक्रमो द्विपदचतुष्पदापदभेदभिन्नः, पुनरेकैको द्विविधः–परिकर्म्मणि वस्तुविनाशे च, तत्र परिकर्म्मणि–द्रव्यस्य गुणविशेषकरणं तस्मिन् सति, तद्यथा—घृताद्युपयोगेन पुरुषस्य वर्णादिकरणम्, एवं शुकसारिकादीनां शिक्षागुणविशेषकरणं, तथा चतुष्पदानां हस्त्यादीनामपदानां च वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद्वार्द्धक्यादिगुणापादनमिति, तथा वस्तुविनाशे च पुरुषादीनां खड्गादिभिर्विनाश एवोपक्रम इति, एवमचित्तद्रव्योपक्रमः पद्मरागादिमणेः क्षारमृत्पुटपाकादिना वैमल्यापादनं विनाशश्चेति, मिश्रद्रव्योपक्रमस्तु कटकादिविभूषितपुरुषादिद्रव्यस्यैवेति, तथा क्षेत्रस्य–शालिक्षेत्रादेः परिकर्म्म विनाशो वा क्षेत्रोपक्रमः, तथा कालस्य–चन्द्रोपरागादिलक्षणस्योपक्रमः–उपायेन परिज्ञानं कालोपक्रमः, तथा भावस्य प्रशस्ताप्रशस्तरूपस्योपायतः परिज्ञानमेव भावोपक्रमः, स चाप्रशस्तो डोड्डिनीगणिकाऽमात्यदृष्टान्तावसेयः, प्रशस्तश्च श्रुतादिनिमित्तमाचार्यादिभावोपक्रम इति, एवं च धार्मिकस्य–संयतस्य यश्चारित्राद्यर्थं द्रव्यक्षेत्रकालभावानामुपक्रम उक्तस्वरूपः स धार्मिक एवोपक्रमः, तथा अधार्मिकस्य–असंयतस्यासंयमार्थं यः सोऽधार्म्मिक एव, तथा धार्म्मिकाधार्म्मिकस्य–देशविरतस्य यः स धार्मिकाधार्म्मिक इति, अथ स्वाम्यन्तरभेदेनोपक्रममेव त्रिधाऽऽह–तत्रात्मनोऽनुकूलोपसर्गादौ शीलरक्षणनिमित्तमुपक्रमो–वैहानसादिना विनाशः परिकर्म्म वा आत्मार्थं वा उपक्रमोऽन्यस्य वस्तुनः आत्मोपक्रम इति, तथा परस्य परार्थं वोपक्रमः परोपक्रम इति, तदुभयस्य–आत्मपरलक्षणस्य तदुभयार्थं वोपक्रमस्तदुभयोपक्रम इति, 'एव'मिति उपक्रमसूत्रवत् आत्मपरोभयभेदेन वैयावृत्त्यादयो वाच्याः, व्यावृत्तस्य भावः कर्म्म वा वैयावृत्त्यं–भक्तादिभिरुपष्टम्भः, तत्रात्मवैया-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृत्त्यं गच्छनिर्गतस्यैव, परवैयावृत्त्यं ग्लानादिप्रतिजागरकस्य, तदुभयवैयावृत्त्यं गच्छवासिन इति, अनुग्रहो–ज्ञानाद्युपकारः, तत्र आत्माऽनुग्रहोऽध्ययनादिप्रवृत्तस्य परानुग्रहो वाचनादिप्रवृत्तस्य तदुभयानुग्रहः शास्त्रव्याख्यानशिष्यसङ्ग्रहादिप्रवृत्तस्येति, अनुशिष्टिः–अनुशासनम्, तत्र आत्मनो यथा—"[1]बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव! न हु छलिओ। इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥ १ ॥" इति, (तथा विधेयमिति शेष इति), परानुशिष्टिर्यथा—"[2]तं तंसि भाववेज्जो भवदुक्खनिपीडिया तुहं एते। हंदि सरणं पवन्ना मोएयव्वा पयत्तेणं ॥ २ ॥" इति, तदुभयानुशिष्टिर्यथा "[3]कहकहऽवि माणुसत्ताइ पावियं चरण पवररयणं च। ता भो एत्थ पमाओ कइयावि न जुज्जए अम्हं ॥ १ ॥" इति, उपालम्भः–इयमेवानौचित्यप्रवृत्तिप्रतिपादनगर्भा, स चात्मनो यथा—"[4]चोल्लगदिट्ठंतेणं दुलहं लहिऊण माणुसं जम्मं। जं न कुणसि जिणधम्मं अप्पा किं वेरिओ तुज्झ? ॥ १ ॥" इति, परोपालम्भो यथा—"[5]उत्तमकुलसंभूओ उत्तमगुरुदिक्खिओ तुमं वच्छ!। उत्तमनाणगुणड्ढो कह सहसा ववसिओ एवं? ॥ १ ॥" इति, तदुभयोपालम्भो यथा–[6]एगस्स कए नियजीवियस्स बहुयाओ जीवकोडीओ। दुक्खे ठवंति जे केवि ताण किं सासयं जीयं? ॥ २ ॥" ति, 'एव'मित्यादिना

१ द्विचत्वारिंशदेषणासङ्कटे गहने जीव! नैव छलितः। इदानीं यथा न छल्यसे भुंजानो रागद्वेषाभ्याम् ॥ १ ॥ २ तत्त्वं तेषां भाववैद्यो(ऽसि) भवदुःखनिपीडिता एते त्वां शरणं प्रपन्ना मोचयितव्या (दुःखात्) प्रयत्नेन ॥ २ ॥ ३ कथं कथमपि मनुष्यत्वादि प्राप्तं प्रवरं चारित्ररत्नं च तत् भो अत्र प्रमादो न कदापि युज्यतेऽस्माकम् ॥ ३ ॥ ४ भोजनादिदृष्टान्तैर्दुर्लभं मानुषं जन्म लब्ध्वा यज्जिनधर्मं न करोषि किं आत्मंस्त्वमेव वैरी तव ॥ १ ॥ ५वत्स! त्वं उत्तमकुलसंभूत उत्तमगुरुदीक्षित उत्तमज्ञानगुणाढ्यः कथमेवं सहसा व्यवसितोऽसि ॥ २ ॥ ६ एकस्य निजजीवित्रस्य कृते बहुका जीवकोटीः दुःखे स्थापयंति ये केचित् तेषां किं शाश्वतं जीवितं ॥ ३ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्तोऽतिदेशो व्याख्यातः, एवं चात्राक्षरघटना–यथैवोपक्रमे आत्मपरतदुभयैस्त्रय आलापका उक्ताः एवमेकैकस्मिन् वैयावृत्त्यादिसूत्रे ते त्रयस्त्रयो वाच्या इति । अथ श्रुतधर्मभेदा उच्यन्ते—

तिविहा कहा, पं० तं०—अत्थकहा धम्मकहा कामकहा ७, तिविहे विणिच्छते पं० तं०—अत्थविणिच्छते धम्मविणिच्छते कामविणिच्छते ८, (सू० १८९)

अर्थस्य–लक्ष्म्याः कथा–उपायप्रतिपादनपरो वाक्यप्रबन्धोऽर्थकथा, उक्तं च—"सामादिधातुवादादिकृष्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थस्य प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥" तथा—"अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधानः प्रतिभासते । तृणादपि लघुं लोके, धिगर्थरहितं नरम् ॥ १ ॥" इति, इयं च कामन्दकादिशास्त्ररूपा, एवं धर्मोपायकथा धर्म्मकथा, उक्तं च—"दयादानक्षमाद्येषु, धर्माङ्गेषु प्रतिष्ठिता । धर्म्मोपादेयतागर्भा, बुधैर्धर्म्मकथोच्यते ॥ १ ॥" तथा–"धर्माख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधान इति गीयते । पापसक्तं पशोस्तुल्यं, धिग्धर्मरहितं नरम् ॥ २ ॥" इति, इयं चोत्तराध्ययनादिरूपाऽवसेयेति, एवं कामकथाऽपि, यदाह—"कामोपादानगर्भा च, वयोदाक्षिण्यसूचिका । अनुरागेङ्गिताद्युत्था, कथा कामस्य वर्णिता ॥ १ ॥" तथा—"स्मितं न लक्षेण वचो न कोटिभिर्न कोटिलक्षैः सविलासमीक्षितम् । अवाप्यतेऽन्यैर्हृदयोपगूहनं, न कोटिकोट्याऽपि तदस्ति कामिनाम् ॥ १ ॥" इति, इयमपि वात्स्यायनादिरूपाऽवसेयेति, प्रकीर्णा वा तत्तदर्था वचनपद्धतिः कथा चरित्रवर्णनरूपा वा, अर्थादिविनिश्चयाः–अर्थादिस्वरूपपरिज्ञानानि, तानि च—"अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखकारणम् ॥ १ ॥" तथा—"धनदो धनार्थिनां धर्मः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कामदः सर्वकामिनाम् । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥ २ ॥" तथा—"शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः । कामानभिलषन्तोऽपि, निष्कामा यान्ति दुर्गतिम् ॥ ३ ॥" इत्यादीनि ॥ अनन्तरमर्थादिविनिश्चय उक्त इति तत्कारणफलपरम्परां त्रिस्थानकानवतारिणीमपि प्रसङ्गतो भगवत्प्रश्नद्वारेण निरूपयन्नाह—

तहारूवं णं भंते! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किंफला पज्जुवासणता?, सवणफला, से णं भंते! सवणे किंफले?, णाणफले, से णं भंते! णाणे किंफले?, विण्णाणफले, एवमेतेणं अभिलावेणं इमा गाधा अणुगंतव्वा—सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे । अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे ॥१॥ जाव से णं भंते! अकिरिया किंफला?, निव्वाणफला, से णं भंते! निव्वाणे किंफले?, सिद्धिगइगमणपज्जवसाणफले पन्नत्ते, समणाउसो! ॥ (सू० १९०)

तृतीयस्य तृतीय उद्देशकः ॥

'तहारूवे'त्यादि पाठसिद्धं, केवलं पर्युपासना–सेवा, श्रवणं फलं यस्याः सा तथा, साधवो हि धर्म्मकथादिकं स्वाध्यायं कुर्वन्तीति श्रवणं तत्सेवायां भवतीति, ज्ञानं–श्रुतज्ञानं, विज्ञानम्–अर्थादीनां हेयोपादेयत्वविनिश्चयः, 'एव'मिति पूर्वोक्तेनाभिलापेन 'से णं भंते! विन्नाणे किंफले?, पच्चक्खाणफले' इत्यादिना, इयं गाथा अनुगन्तव्या–अनुसरणीया, एतद्गाथोक्तानि पदान्यध्येतव्यानीत्यर्थः, 'सवणे'इत्यादि, भावितार्था, नवरम् प्रत्याख्यानं–निवृत्तिद्वारेण प्रतिज्ञाकरणं संयमः–प्राणातिपाताद्यकरणम्, उक्तं च—"पञ्चाश्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्तदशभेदः ॥ १ ॥" इति, अनाश्रवो–नवकर्म्मानुपादानम्, अनाश्रवणाल्लघुकर्म्मत्वेन तपोऽनशनादिभेदं भवति, व्यवदानं–पूर्वकृतकर्म्मवनलवनं 'दाप् लवने' इति वचनात् कर्म्मकचवरशोधनं वा 'दैप् शोधन' इति वचनादिति, अक्रिया–योगनिरोधः, निर्वाणं–कर्मकृतविकाररहितत्वं सिद्ध्यन्ति–कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः–लोकाग्रं सैव गम्यमानत्वाद् गतिस्तस्यां गमनं तदेव पर्यवसानफलं–सर्वान्तिमप्रयोजनं यस्य निर्वाणस्य तत्सिद्धिगतिगमनपर्यवसानफलं प्रज्ञप्तं मया अन्यैश्च केवलिभिः, हे श्रमणायुष्मन्निति गौतमादिकं शिष्यं भगवानामन्त्रयन्निदमुवाचेति । त्रिस्थानकस्य तृतीयोद्देशको विवरणतः समाप्तः ॥

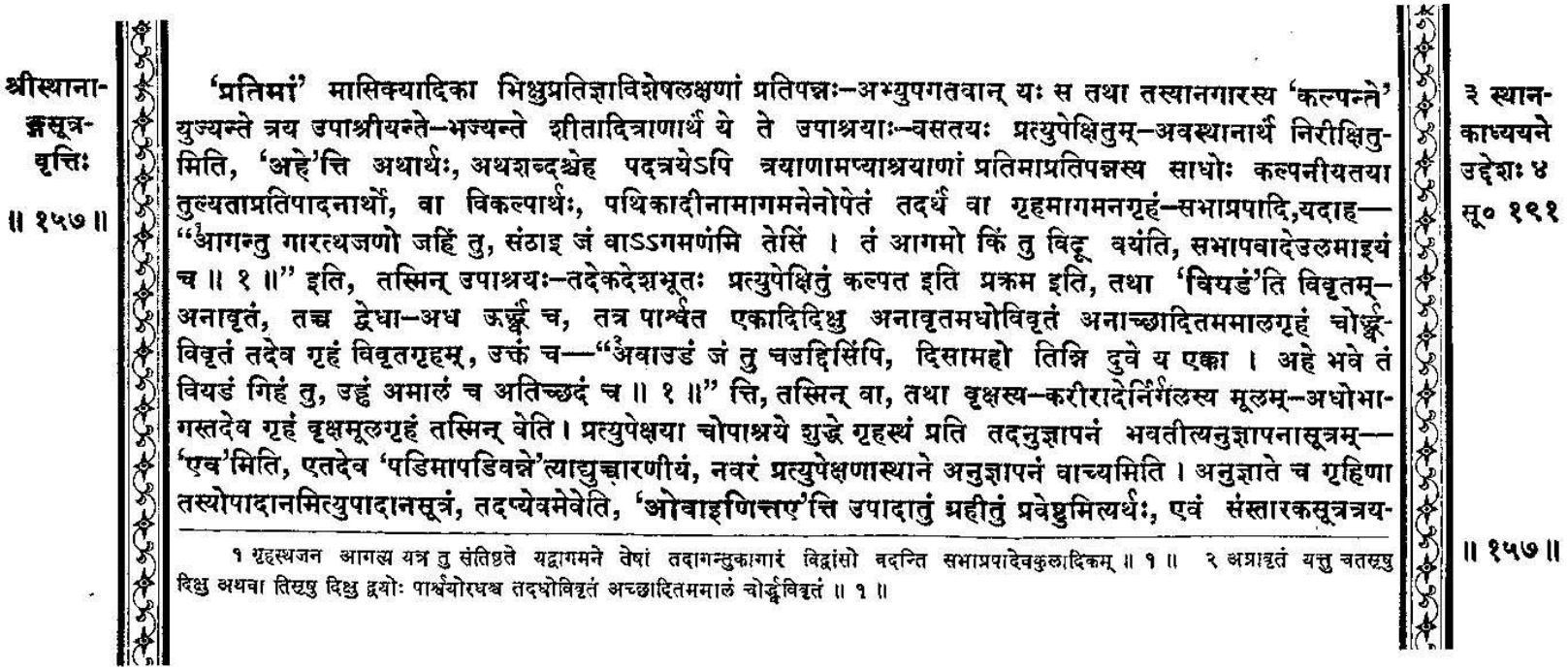
व्याख्यातः तृतीय उद्देशकः, अधुना चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–पूर्वस्मिन् उद्देशके पुद्गलजीवधर्मास्तित्वेनोक्ता इहापि त एव तथैवोच्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्येदमादिसूत्रषट्कं 'पडिमे'त्यादि, अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायमभिसम्बन्धः–पूर्वसूत्रे श्रमणमाहनस्य पर्युपासनायाः फलपरम्परोक्ता इह तु तद्विशेषस्य कल्पविधिरुच्यत इत्येवंसम्बन्धितस्यास्य व्याख्या—

पडिमापडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, तं०—अहे आगमणगिहंसि वा अहे वियडगिहंसि वा अहे रुक्खमूलगिहंसि वा, एवमणुन्नवित्तते, उवातिणित्तते, पडिमापडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ संथारगा पडिलेहित्तते, तं०—पुढविसिला कट्ठसिला अहासंथडमेव, एवं अणुण्णवित्तए उवाइणित्तए (सू० १९१)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र तृतीय-स्थानस्य तृतीय-उद्देशक: परिसमाप्तं.

**अथ तृतीय-स्थानस्य चतुर्थ-उद्देशक: आरब्ध:**



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १५७ ॥

'प्रतिमां' मासिक्यादिका भिक्षुप्रतिज्ञाविशेषलक्षणां प्रतिपन्नः–अभ्युपगतवान् यः स तथा तस्यानगारस्य 'कल्पन्ते' युज्यन्ते त्रय उपाश्रीयन्ते–भज्यन्ते शीतादित्राणार्थं ये ते उपाश्रयाः–वसतयः प्रत्युपेक्षितुम्–अवस्थानार्थं निरीक्षितुमिति, 'अहे'त्ति अथार्थः, अथशब्दश्चेह पदत्रयेऽपि त्रयाणामप्याश्रयाणां प्रतिमाप्रतिपन्नस्य साधोः कल्पनीयतया तुल्यताप्रतिपादनार्थो, वा विकल्पार्थः, पथिकादीनामागमनेनोपेतं तदर्थं वा गृहमागमनगृहं–सभाप्रपादि,यदाह—"[1]आगन्तु गारत्थजणो जहिं तु, संठाइ जं वाऽऽगमणंमि तेसिं । तं आगमो किं तु विदू वयंति, सभापवादेउलमाइयं च ॥ १ ॥" इति, तस्मिन् उपाश्रयः–तदेकदेशभूतः प्रत्युपेक्षितुं कल्पत इति प्रक्रम इति, तथा 'वियडं'ति विवृतम्–अनावृतं, तच्च द्वेधा–अध ऊर्ध्वं च, तत्र पार्श्वत एकादिदिक्षु अनावृतमधोविवृतं अनाच्छादितममालगृहं चोर्ध्वविवृतं तदेव गृहं विवृतगृहम्, उक्तं च—"[2]अवाउडं जं तु चउदिसिंपि, दिसामहो तिन्नि दुवे य एक्का । अहे भवे तं वियडं गिहं तु, उड्ढं अमालं च अतिच्छदं च ॥ १ ॥" त्ति, तस्मिन् वा, तथा वृक्षस्य–करीरादेर्निर्गलस्य मूलम्–अधोभागस्तदेव गृहं वृक्षमूलगृहं तस्मिन् वेति। प्रत्युपेक्षया चोपाश्रये शुद्धे गृहस्थं प्रति तदनुज्ञापनं भवतीत्यनुज्ञापनासूत्रम्—'एव'मिति, एतदेव 'पडिमापडिवन्ने'त्याद्युच्चारणीयं, नवरं प्रत्युपेक्षणास्थाने अनुज्ञापनं वाच्यमिति । अनुज्ञाते च गृहिणा तस्योपादानमित्युपादानसूत्रं, तदप्येवमेवेति, 'ओवाइणित्तए'त्ति उपादातुं ग्रहीतुं प्रवेष्टुमित्यर्थः, एवं संस्तारकसूत्रत्रय-

१ गृहस्थजन आगत्य यत्र तु संतिष्ठते यद्वागमने वेषां तदागन्तुकागारं विद्वांसो वदन्ति सभाप्रपादेवकुलादिकम् ॥ १ ॥ २ अप्रावृतं यत्तु चतसृषु दिक्षु अथवा तिसृषु दिक्षु द्वयोः पार्श्वयोरधश्च तदधोविवृतं अच्छादितममालं चोर्ध्वविवृतं ॥ १ ॥

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः ४ सू० १९१

॥ १५७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मपि, नवरं पृथिवीशिला उड्ढगो [उवड्ढगो]त्ति यः प्रसिद्धः, काष्ठं चासौ शिलेवायतिविस्ताराभ्यां शिला [सा] चेति काष्ठ-शिला 'यथासंस्तृतमेवे'ति यत्तृणादि यथोपभोगार्हं भवति तथैव यल्लभ्यत इति । प्रतिमाश्च नियतकाला भवन्तीति कालं त्रिधाऽऽह—

तिविहे काले पण्णत्ते तं०—तीए पडुप्पण्णे अणागए, तिविहे समए पं० तं०—तीते पडुप्पन्ने अणागए, एवं आवलिया आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते जाव वाससतसहस्से पुव्वंगे पुव्वे जाव ओसप्पिणी, तिविधे पोग्गलपरियट्टे पं० तं०—तीते पडुप्पन्ने अणागते । (सू० १९२) तिविहे वयणे पं० तं०—एगवयणे दुवयणे बहुवयणे, अहवा तिविहे वयणे पं० तं०—इत्थिवयणे पुंवयणे नपुंसगवयणे, अहवा तिविहे वयणे पं० तं०—तीतवयणे पडुप्पन्नवयणे अणागयवयणे (सू० १९३)

अति–अतिशयेनेतो–गतोऽतीतः, पिधानवदकारलोपे तीतो, वर्त्तमानत्वमतिक्रान्त इत्यर्थः, साम्प्रतमुत्पन्नः प्रत्युत्पन्नो वर्त्तमान इत्यर्थः, न आगतोऽनागतो वर्त्तमानत्वमप्राप्तो, भविष्यन्नित्यर्थः, उक्तं च—"भवति स नामातीतः प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वम् । एष्यंश्च नाम स भवति यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम् ॥ १ ॥" इति । कालसामान्यं त्रिधा विभज्य तद्विशेषांस्त्रिधा विभजन्नाह—'तिविहे समये'इत्यादि कालसूत्राणि, समयादयो द्विस्थानकाद्योद्देशकवत् व्याख्येयाः, नवरं 'पोग्गलपरियट्टे'त्ति पुद्गलानां–रूपिद्रव्याणामाहारकवर्जितानां औदारिकादिप्रकारेण ग्रहणतः एकजीवापेक्षया परिवर्त्तनं–सामस्त्येन स्पर्शः पुद्गलपरिवर्त्तः, स च यावता कालेन भवति स कालोऽपि पुद्गलपरिवर्त्तः, स चानन्तोत्सर्पि-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ण्यवसर्प्पिणीरूप इति, स चेत्थं भगवत्यामुक्तः—"कतिविहे णं भंते! पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते?, गोयमा! सत्तविहे पन्नत्ते, तंजहा–ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे एवं तेयाकम्मामणवइआणापाणूपोग्गलपरियट्टे" तथा 'से-केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–ओरालियपोग्गलपरियट्टे २?, गोयमा! जेणं जीवेणं ओरालियसरीरे वट्टमाणेणं ओरालियसरी-रपाउग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गहियाइं जाव णिसट्ठाइं भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–ओरालिय-पोग्गलपरियट्टे ओ० २"। एवं शेषा अपि वाच्याः, तथा "ओरालियपोग्गलपरियट्टे णं भंते! केवइकालस्स णिव्वट्टिज्जइ?, गोयमा! अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं"ति, एवं शेषा अपीति, अन्यत्र त्वेवमुच्यते—"ओरालं १ विउव्वा २ तेय ३ कम्म ४ भासा ५ ऽऽणुपाणु ६ मणगेहिं ७। फासेवि सव्वपोग्गल मुक्का अह बायरपरट्टो ॥१॥ दव्वे सुहुमपरट्टो जाहे एगेण अह सरीरेणं। लोगंमि सव्वपोग्गल परिणामेऊण तो मुक्का ॥ १ ॥" इति, द्रव्यपुद्गलपरिवर्त्तसदृशा येऽन्ये क्षेत्र-कालभावपरिवर्त्तास्तेऽन्यतोऽवसेया इति। एते च समयादयः पुद्गलपरिवर्त्तान्ताः स्वरूपेण बहवोऽपि तत्सामान्यलक्षण-

१ कतिविधो भदन्त! पुद्गलपरावर्त्तः प्रज्ञप्तः?, गौतम! सप्तविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–औदारिकपुद्गलपरिवर्त्तः वैक्रियपुद्गलपरिवर्त्तः एवं तेजःकर्ममनोवागान-प्राणपुद्गलपरावर्त्तः ॥ २ अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते औदारिकपुद्गलपरावर्त्तः २?, गौतम! येन जीवेन औदारिकशरीरे वर्त्तमानेनौदारिकप्रायोग्याणि द्रव्याणि औदारिकशरीरतया गृहीतानि यावन्निसृष्टानि भवन्ति, अथ तेनार्थेन गौतमैवमुच्यते औदारिकपुद्गलपरावर्त्तः २। ३ औदारिकपुद्गलपरावर्त्तः भदन्त! कियता कालेन निर्वर्त्त्यते?, गौतमानन्ताभिरुत्सर्प्पिण्यवसर्पिणीभिः ॥ ४ औदारिकवैक्रियतेजःकर्मभाषानप्राणमनोभिः सर्वे पुद्गलाः संस्पृश्य मुक्ता अथासौ बादरपरिवर्त्तः॥ द्रव्ये सूक्ष्मपरावर्त्तो यदैकेन शरीरेणाथ लोके सर्वे पुद्गलाः परिणमय्य मुक्ताः स्युस्तदा ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेकं अर्थमाश्रित्यैकवचनान्ततयोक्ताः, भवन्ति चैकादिष्वर्थेष्वेकवचनादीनीत्येकवचनादिप्ररूपणायाह—'तिविहे'इत्यादि, एकोऽर्थ उच्यतेऽनेनोक्तिर्वेति वचनमेकस्यार्थस्य वचनमेकवचनमेवमितरे अपि, अत्र क्रमेणोदाहरणानि–देवो देवौ देवाः। वचनाधिकारे अहवेत्यादि सूत्रद्वयं सुबोधम्, उदाहरणानि तु स्त्रीवचनादीनां नदी नदः कुण्डं, तीतादीनां कृतवान् करोति करिष्यति। वचनं हि जीवपर्यायस्तदधिकारात् तत्पर्यायान्तराणि त्रिस्थानकेऽवतारयन्नाह—

तिविहा पन्नवणा पं० तं०—णाणपन्नवणा दंसणपन्नवणा चरित्तपन्नवणा १, तिविधे सम्मे पं० तं०—नाणसम्मे दंसणसम्मे चरित्तसम्मे २, तिविधे उवघाते पं० तं०—उग्गमोवघाते उप्पायणोवघाते एसणोवघाते ३, एवं विसोही ४ (सू० १९४) तिविहा आराहणा पं० तं०—णाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा ५, णाणाराहणा तिविहा पं० तं०—उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना ६, एवं दंसणाराहणावि ७, चरित्ताराहणावि ८, तिविधे संकिलेसे पं० तं०—नाणसंकिलेसे दंसणसंकिलेसे चरित्तसंकिलेसे ९, एवं असंकिलेसेवि १०, एवमतिक्कमेऽवि ११, वइक्कमेऽवि १२, अइयारेऽवि १३, अणायारेवि १४। तिण्हमतिक्कमाणं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदिज्जा गरहिज्जा जाव पडिवज्जिज्जा, तं०—णाणातिक्कमस्स दंसणातिक्कमस्स चरित्तातिक्कमस्स १५, एवं वइक्कमाणवि १६, अतिचाराणं १७, अणायारणं १८ (सू० १९५) तिविधे पायच्छित्ते पं० तं०—आलोयणारिहे पडिक्कमणारिहे तदुभयारिहे १९ (सू० १९६)

'तिविहे'त्यादि सूत्राणामेकोनविंशतिः, स्पष्टा चेयं, परं प्रज्ञापना–भेदाद्यभिधानं, तत्र ज्ञानप्रज्ञापना–आभिनिबोधिकादि पञ्चधा ज्ञानम्, एवं दर्शनं क्षायिकादि त्रिधा, चारित्रं सामायिकादि पञ्चधेति, समञ्चतीति सम्यक्–अविपरीतं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षसिद्धिं प्रतीत्यानुगुणमित्यर्थः, तच्च ज्ञानादीनि, उपहननमुपघातः, पिण्डशय्यादेरकल्प्यतेत्यर्थः, तत्र उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः, तस्य चाधाकर्म्मादयः षोडश दोषाः, उक्तं च—"तत्थुग्गमो पसूई पभवो एमादि होंति एगट्ठा । सो पिंडस्सिह पगओ तस्स य दोसा इमे होंति ॥ १ ॥ आहाकम्मु १ देसिय २ पूइकम्मे य ३ मीसजाए य ४ । ठवणा ५ पाहुडियाए ६ पाओयर ७ कीय ८ पामिच्चे ९ ॥ २ ॥ परियट्टिए १० अभिहडे ११ उब्भिन्ने १२ मालोहडे इय १३ । अच्छेज्जे १४ अनिसट्ठे १५ अज्झोयरए य १६ सोलसमे ॥ ३ ॥" इति, इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोषा एवोद्गमः अतस्तेनोद्गमेनोपघातः—पिण्डादेरकल्पनीयताकरणं चरणस्य वा शबलीकरणमुद्गमोपघातः, उद्गमस्य वा—पिण्डादिप्रसूतेरुपघातः—आधाकर्म्मत्वादिभिर्दुष्टता उद्गमोपघातः, एवमितरावपि, केवलमुत्पादना—सम्पादनं गृहस्थात्पिण्डादेरुपार्जनमित्यर्थः, तद्दोषा धात्रीत्वादयः षोडश, यदाह—"[1]उप्पायण संपायण णिव्वत्तणमो य होंति एगट्ठा । आहारस्सिह पगया तीय य दोसा इमे होंति ॥ १ ॥ धाई १ दूइ २ निमित्ते ३ आजीव ४ वणीमगे ५ तिगिच्छा य ६ । कोहे ७ माणे ८ माया ९ लोभे य १० हवंति दस एए ॥ २ ॥ [2]पुव्विं पच्छा संथव ११ विज्जा १२ मंते य १३ चुन्न १४ जोगे य १५ । उप्पायणाय दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥ ३ ॥" इति, तथा एषणा—गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणं तद्दोषाः शङ्किता-

१ तत्रोद्गमः प्रसूतिः प्रभव इत्यादीन्येकार्थानि भवन्ति स पिंडस्येह प्रकृतः तस्य च दोषा इमे भवन्ति ॥ १ ॥ आधाकर्म औद्देशिकं पूतिकर्म च मिश्रजातश्च स्थापना प्राभृतिका प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं ॥ २ ॥ परिवर्त्तितः अभ्याहृतः उद्भिन्नः मालाहृतः आच्छेद्यः अनिसृष्टः अध्यवपूरकश्च षोडशः ॥३॥ २ उत्पादना सम्पादना निर्वर्त्तना च भवंति एकार्थानि आहारस्येह प्रकृता तस्यां च दोषा इमे भवन्ति ॥ १ ॥ धात्री दूती निमित्तं आजीविका वनीपकः चिकित्सा च कोधः मानः माया लोभश्च भवंति दशैते ॥ २ ॥ ३ पूर्वं पश्चाद्वा संस्तवः विद्या मन्त्रश्च चूर्णयोगश्च । उत्पादनायां दोषाः षोडशो मूलकर्म च ॥ ३ ॥



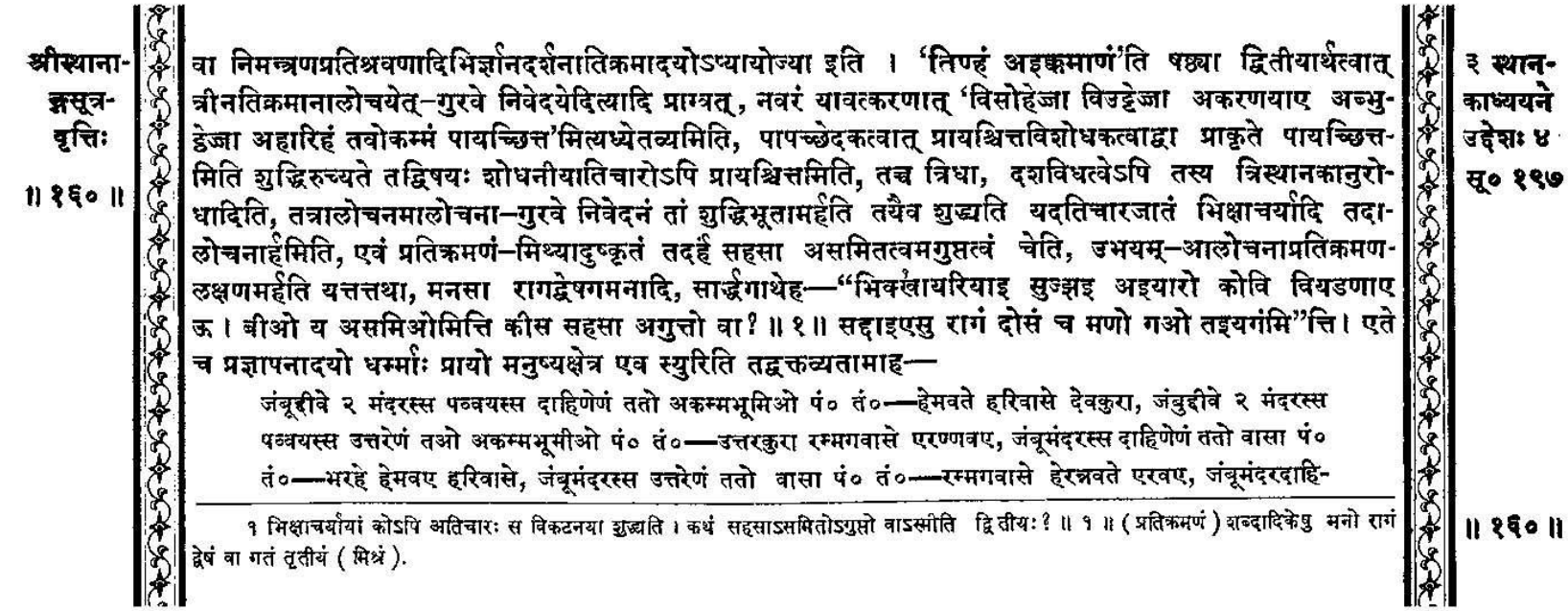
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधाकर्मादय: दोषा:

दयो दशेति, आह च—"एसणगवेसणन्नेसणा य गहणं च होंति एगट्ठा । आहारस्सिह पगया तीय य दोसा इमे होंति ॥ १ ॥ संकिय १ मक्खिय २ निक्खित्त ३ पिहिय ४ साहरिय ५ दायगु ६ म्मीसे ७। अपरिणय ८ लित्त ९ छड्डिय १० एसणदोसा दस हवंति ॥ २ ॥" इह च 'सोलस उग्गमदोसा गिहियाओ समुट्ठिए वियाणाहि । उप्पायणाय दोसा साहूओ समुट्ठिए जाण ॥ ३ ॥' एषणादोषास्तूभयसमुत्था इति, एवमुद्गमादिभिर्दोषैरविद्यमानतया वा विशुद्धिः–पिण्डचरणादीनां निर्दोषता सा उद्गमादिविशुद्धिरुद्गमादीनां वा विशुद्धिर्या सा तथेति, इदमेवातिदिशन्नाह—'एवं चिसोही' । ज्ञानस्य–श्रुतस्याराधना–कालाध्ययनादिष्वष्टस्वाचारेषु प्रवृत्त्या निरतिचारपरिपालना ज्ञानाराधना, एवं दर्शनस्य निःशङ्कितादिषु चारित्रस्य समितिगुप्तिषु, सा चोत्कृष्टादिभेदा भावभेदात् कालभेदाद्वेति, ज्ञानादिप्रतिपतनलक्षणः सङ्क्लिश्यमानपरिणामनिबन्धनो ज्ञानादिसङ्क्लेशः, ज्ञानादिशुद्धिलक्षणो विशुद्ध्यमानपरिणामहेतुकस्तदसङ्क्लेशः । 'एव'मिति, ज्ञानादिविषया एवातिक्रमादयश्चत्वारः, तत्राधाकर्म्माश्रित्य चतुर्णामपि निदर्शनम्—"[1]आहाकम्मामंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ १ । पयभेयादि वइक्कम २ गहिए तइएयरो गिलिए ॥ १ ॥" इति, इत्थमेवोत्तरगुणरूपचारित्रस्य चत्वारोऽपि, एतदुद्देशेन ज्ञानदर्शनयोस्तदुपग्रहकारिद्रव्याणां च पुस्तकचैत्यादीनामुपघाताय मिथ्यादृशामुपबृंहणार्थं

१ एषणा गवेषणाऽन्वेषणा च ग्रहणं च भवन्त्येकार्थानि आहारस्येह प्रकृता तस्यां च दोषा इमे भवन्ति ॥ १ ॥ शंकितः म्रक्षितः निक्षिप्तः पिहितः संहृतः दायक उन्मिश्रः । अपरिणतः लिप्तः छर्दितः एषणादोषा दश भवन्ति ॥ २ ॥ २ षोडशोद्गमदोषान् गृहिणः समुत्थितान् विजानीहि । उत्पादनाया दोषान् साधोः समुत्थितान् जानीहि ॥ ३ ॥ ३ आधाकर्मामंत्रणप्रतिश्रवणे अतिक्रमो भवति । पदभेदादौ व्यतिक्रमो गृहीते तृतीय इतरो गिलिते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १६० ॥

वा निमन्त्रणप्रतिश्रवणादिभिर्ज्ञानदर्शनातिक्रमादयोऽप्यायोज्या इति । 'तिण्हं अइक्कमाणं'ति षष्ठ्या द्वितीयार्थत्वात् त्रीनतिक्रमानालोचयेत्–गुरवे निवेदयेदित्यादि प्राग्वत्, नवरं यावत्करणात् 'विसोहेज्जा विउट्टेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्त'मित्यध्येतव्यमिति, पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्राकृते पायच्छित्तमिति शुद्धिरुच्यते तद्विषयः शोधनीयातिचारोऽपि प्रायश्चित्तमिति, तच्च त्रिधा, दशविधत्वेऽपि तस्य त्रिस्थानकानुरोधादिति, तत्रालोचनमालोचना–गुरवे निवेदनं तां शुद्धिभूतामर्हति तयैव शुद्ध्यति यदतिचारजातं भिक्षाचर्यादि तदालोचनार्हमिति, एवं प्रतिक्रमणं–मिथ्यादुष्कृतं तदर्हं सहसा असमितत्वमगुप्तत्वं चेति, उभयम्–आलोचनाप्रतिक्रमणलक्षणमर्हति यत्तत्तथा, मनसा रागद्वेषगमनादि, सार्द्धगाथेह—"भिक्खायरियाइ सुज्झइ अइयारो कोवि वियडणाए ऊ । बीओ य असमिओमित्ति कीस सहसा अगुत्तो वा? ॥ १ ॥ सद्दाइएसु रागं दोसं च मणो गओ तइयगंमि"त्ति। एते च प्रज्ञापनादयो धर्म्माः प्रायो मनुष्यक्षेत्र एव स्युरिति तद्वक्तव्यतामाह—

जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं ततो अकम्मभूमिओ पं० तं०—हेमवते हरिवासे देवकुरा, जंबुदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं तओ अकम्मभूमीओ पं० तं०—उत्तरकुरा रम्मगवासे एरण्णवए, जंबूमंदरस्स दाहिणेणं ततो वासा पं० तं०—भरहे हेमवए हरिवासे, जंबूमंदरस्स उत्तरेणं ततो वासा पं० तं०—रम्मगवासे हेरन्नवते एरवए, जंबूमंदरदाहि-

१ भिक्षाचर्यायां कोऽपि अतिचारः स विकटनया शुद्ध्यति । कथं सहसाऽसमितोऽगुप्तो वाऽस्मीति द्वितीयः? ॥ १ ॥ (प्रतिक्रमणं) शब्दादिकेषु मनो रागं द्वेषं वा गतं तृतीयं (मिश्रं).

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः ४ सू० १९७

॥ १६० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | आधाकर्मादय: दोषा: |

णेणं ततो वासहरपव्वता पं० तं०—चुल्लहिमवंते महाहिमवंते णिसढे, जंबूमंदरउत्तरेणं तओ वासहरपव्वता पं० तं०—णीलवंते रूप्पी सिहरी, जंबूमंदरदाहिणेणं तओ महादहा पं० तं०—पउमदहे महापउमदहे तिगिंछदहे, तत्थ णं ततो देवताओ महिड्ढियातो जाव पलिओवमट्ठितीताओ परिवसंति, तं०—सिरी हिरी धिती, एवं उत्तरेणवि, णवरं—केसरिदहे महापोंडरीयदहे पोंडरीयदहे, देवतातो कित्ती बुद्धी लच्छी, जंबूमंदरदाहिणेणं चुल्लहिमवंतातो वासधरपव्वतातो पउमदहाओ महादहातो ततो महाणतीओ पवहंति, तं०—गंगा सिंधू रोहितंसा, जंबूमंदरउत्तरेणं सिहरीओ वासहरपव्वतातो पोंडरीयद्दहाओ महादहाओ तओ महानदीओ पवहंति, तं०—सुवन्नकूला रत्ता रत्तवती, जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीताए महाणतीते उत्तरेणं ततो अंतरणतीतो पं० तं०—गाहावती दहवती पंकवती, जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीताते महाणतीते दाहिणेणं ततो अंतरणतीतो पं० तं०—तत्तजला मत्तजला उम्मत्तजला, जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओदाते महाणईए दाहिणेणं ततो अंतरणतीतो पं० तं०—खीरोदा सीतसोता अंतोवाहिणी, जंबूमंदरपच्चत्थिमेणं सीतोदाए महाणदीए उत्तरेणं तओ अंतरणदीतो पं० तं०— उम्मिमालिणी फेणमालिणी गंभीरमालिनी। एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेवि अकम्मभूमीतो आढवेत्ता जाव अंतरनदीओत्ति णिरवसेसं भाणियव्वं, जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमड्ढे तहेव निरवसेसं भाणियव्वं (सू० १९७)

'जंबूदीवे' इत्यादि, इदं च प्रकरणं द्विस्थानकानुसारेण जम्बूद्वीपपटानुसारेण चावसेयमिति, नवरमन्तरनदीनां विष्कम्भः पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतमिति। अनन्तरं मनुष्यक्षेत्रलक्षणक्षितिखण्डवक्तव्यतोक्तेत्यधुना भङ्गयन्तरेण सामान्यपृथ्वीदेशवक्तव्यतामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९७]

दीप अनुक्रम [२११]



तिहिं ठाणेहिं देसे पुढवीए चलेज्जा, तं०—अधे णमिमीसे रयणप्पभाते पुढवीते उराला पोग्गला णिवतेज्जा, तते णं ते उराला पोग्गला णिवतमाणा देसं पुढवीए चलेज्जा १, महोरते वा महिड्ढीए जाव महेसक्खे इमीसे रयणप्पभाते पुढवीते अहे उम्मज्जणिमज्जियं करेमाणे देसं पुढवीते चलेज्जा २, णागसुवन्नाण वा संगामंसि वट्टमाणंसि देसं पुढवीते चलेज्जा ३, इच्चेतेहिं तिहिं०। तिहिं ठाणेहिं केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा, तं०—अधे णं इमीसे रतणप्पभाते पुढवीते घणवाते गुप्पेज्जा, तए णं से घणवाते गुविते समाणे घणोदहिमेएज्जा, तए णं से घणोदही एइए समाणे केवलकप्पं पुढविं चालेज्जा, देवे वा महिड्ढिते जाव महेसक्खे तहारूवस्स समणस्स माहणस्स वा इड्ढिं जुतिं जसं बलं वीरितं पुरिसक्कारपरक्कमं उवदंसेमाणे केवलकप्पं पुढविं चालिज्जा, देवासुरसंगामंसि वा वट्टमाणंसि केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा, इच्चेतेहिं तिहिं०। (सू० १९८)

'तिही'त्यादि स्पष्टं, केवलं देश इति भागः, पृथिव्याः—रत्नप्रभाभिधानाया इति, 'अहे'त्ति अधः 'ओराले'त्ति उदारा—बादरा निपतेयुः—विस्रसापरिणामात् ततो विचटेयुरन्यतो वाऽऽगत्य तत्र लगेयुर्यत्रमुक्तमहोपलवत्, 'तए णं'ति ततस्ते निपतन्तो देशं पृथिव्याश्चलयेयुरिति पृथिवीदेशश्चलेदिति, महोरगो—व्यन्तरविशेषः, 'महिड्ढिए' परिवारादिना यावत्करणात् 'महज्जुइए' शरीरादिदीप्त्या 'महाबले' प्राणतः 'महाणुभागे' वैक्रियादिकरणतः 'महेसक्खे' महेश इत्याख्या यस्येति, उन्मज्जनिमज्जिकाम्—उत्पतनिपतां कुतोऽपि दर्प्पादेः कारणात् कुर्वन् देशं पृथिव्याश्चलयेत्, स च चलेदिति, नागकुमाराणां सुपर्णकुमाराणां च भवनपतिविशेषाणां परस्परं सङ्ग्रामे वर्त्तमाने—जायमाने सति 'देसं'ति देशश्चलेदिति, 'इच्चेतेहिं'ति निगमनमिति। पृथिव्या देशतश्चलनमुक्तम्, अधुना समस्तायास्तदाह—'तिही'त्यादि, स्पष्टं, किन्तु केवलैव केवल-






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कल्पा, ईषदूनता चेह न विवक्ष्यते, अतः परिपूर्णेत्यर्थः परिपूर्णप्राया वेति, पृथिवी–भूः, 'अहे'त्ति अधो घनवातः–तथाविधपरिणामो वातविशेषो 'गुप्येत' व्याकुलो भवेत् क्षुभ्येदित्यर्थः ततः स गुप्तः सन् घनोदधिं–तथाविधपरिणाम-जलसमूहलक्षणमेजयेत्–कम्पयेत्, 'तए णं'ति ततोऽनन्तरं स घनोदधिरेजितः–कम्पितः सन् केवलकल्पां पृथिवीं चालयेत्, सा च चलेदिति, देवो वा ऋद्धिं–परिवारादिरूपां द्युतिं शरीरादेः यशः–पराक्रमकृतां ख्यातिं बलं–शारीरं वीर्यं–जीवप्रभवं पुरुषकारं–साभिमानं व्यवसायं निष्पन्नफलं तमेव पराक्रममिति, बलवीर्याद्युपदर्शनं हि पृथिव्यादिच लनं विना न भवतीति तद्दर्शयंस्तां चलयेदिति, देवाश्च–वैमानिका असुराः–भवनपतयस्तेषां भवप्रत्ययं वैरं भवति, अभिधीयते च भगवत्याम्—"किं पत्तियण्णं भंते! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य?, गोयमा! तेसि णं देवाणं भवपच्चइए वेराणुबंधे"त्ति, ततश्च सङ्ग्रामः स्यात्, तत्र वर्त्तमाने पृथिवी चलेत्, तत्र तेषां महाव्यायामत उत्पातनिपातसम्भवादिति 'इच्चेएही'त्यादि, निगमनमिति। देवासुराः सङ्ग्रामकारितयाऽनन्तरमुक्ताः, ते च दशविधाः 'इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपार्षद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकश' (तत्त्वा० अ० ४ सू० ४) इति वचनात्, इति तन्मध्यवर्त्तिनः त्रिस्थानकावतारित्वात् किल्बिषिकानभिधातुमाह—

तिविधा देवकिब्बिसिया पं० सं०—तिपलिओवमट्ठितीता १ तिसागरोवमट्ठितीता २ तेरससागरोवमट्ठितीया ३, कहि णं भंते! तिपलितोवमट्ठितीता देवकिब्बिसिया परिवसंति?, उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु एत्थ णं तिप-लिओवमट्ठितीया देवा किब्बिसिया परिवसंति १, कहि णं भंते! तिसागरोवमट्ठितीता देवा किब्बिसिया परिवसंति?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

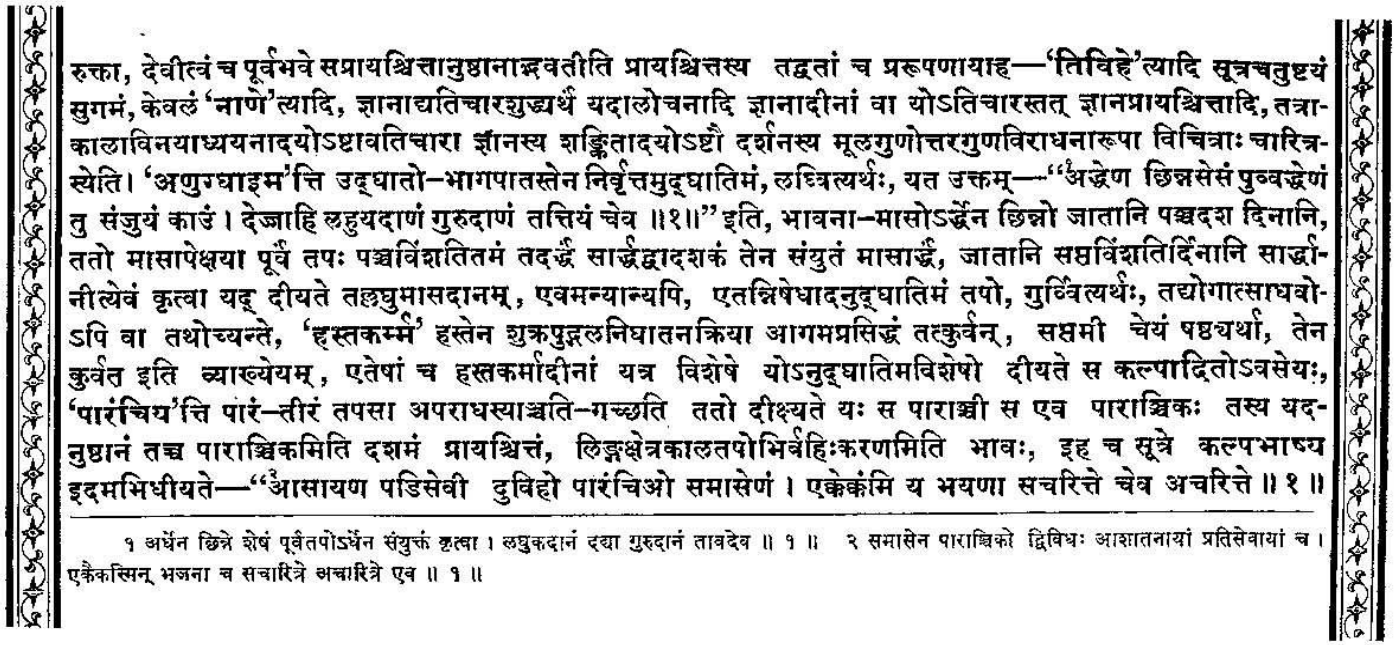
उप्पिं सोहंमीसाणाणं कप्पाणं हेट्ठिं सणंकुमारमाहिंदे कप्पे एत्थ णं तिसागरोवमट्ठितीया देवकिब्बिसिया परिवसंति २, कहि णं भंते! तेरससागरोवमट्ठितीया देवकिब्बिसिता परिवसंति?, उप्पिं बंभलोगस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतगे कप्पे एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठितीता देवकिब्बिसिया परिवसंति ३ (सू० १९९) सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो बाहिरपरिसाते देवाणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता, सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरपरिसाते देवीणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिती पं०, ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो बाहिरपरिसाते देवीणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिती पं० (सू० २००) तिविहे पायच्छित्ते पं० तं०—णाणपायच्छित्ते दंसणपायच्छित्ते चरित्तपायच्छित्ते, ततो अणुग्घातिमा पं० तं०—हत्थकम्मं करेमाणे मेहुणं सेवेमाणे राईभोयणं भुंजमाणे, तओ पारंचिता पं० तं०—दुट्ठपारंचिते पमत्तपारंचिते अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिते, ततो अणवट्ठप्पा पं० तं०—साहंमियाणं तेणं करेमाणे अन्नधम्मियाणं तेणं करेमाणे हत्थातालं दलयमाणे (सू० २०१)

**'तिविहे'**त्यादि स्फुटं, केवलं, **किब्बिसियत्ति**—"नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसाहूणं। माई अवन्नवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥१॥" त्ति एवंविधभावनोपात्तं किल्बिषं—पापं उदये विद्यते येषां ते किल्बिषिका देवानां मध्ये किल्बिषिकाः—पापा अथवा देवाश्च ते किल्बिषिकाश्चेति देवकिल्बिषिकाः—मनुष्ये चण्डाला इवास्पृश्याः, **'उप्पिं'** उपरि **'हिट्ठिं'** अधस्तात् **'सोहम्मीसाणेसु'**त्ति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। देवाधिकारायातं **'सक्के'**त्यादि सूत्रत्रयं सुगममिति। देवीनामनन्तरं स्थिति-

१ ज्ञानस्य केवलिनां धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनां। अवर्णवादी मायी किल्बिषिकीं भावनां करोति ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



रुक्ता, देवीत्वं च पूर्वभवे सप्रायश्चित्तानुष्ठानाद्भवतीति प्रायश्चित्तस्य तद्वतां च प्ररूपणायाह—'तिविहे'त्यादि सूत्रचतुष्टयं सुगमं, केवलं 'नाणे'त्यादि, ज्ञानाद्यतिचारशुद्ध्यर्थं यदालोचनादि ज्ञानादीनां वा योऽतिचारस्तत् ज्ञानप्रायश्चित्तादि, तत्राकालाविनयाध्ययनादयोऽष्टावतिचारा ज्ञानस्य शङ्कितादयोऽष्टौ दर्शनस्य मूलगुणोत्तरगुणविराधनारूपा विचित्राः चारित्रस्येति। 'अणुग्घाइम'त्ति उद्घातो–भागपातस्तेन निर्वृत्तमुद्घातिमं, लघ्वित्यर्थः, यत उक्तम्—"अद्धेण छिन्नसेसं पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं। देज्जाहि लहुयदाणं गुरुदाणं तत्तियं चेव ॥१॥" इति, भावना–मासोऽर्द्धेन छिन्नो जातानि पञ्चदश दिनानि, ततो मासापेक्षया पूर्वं तपः पञ्चविंशतितमं तदर्द्धं सार्द्धद्वादशकं तेन संयुतं मासार्द्धं, जातानि सप्तविंशतिर्दिनानि सार्द्धानीत्येवं कृत्वा यद् दीयते तल्लघुमासदानम्, एवमन्यान्यपि, एतन्निषेधादनुद्घातिमं तपो, गुर्व्वित्यर्थः, तद्योगात्साधवोऽपि वा तथोच्यन्ते, 'हस्तकर्म्म' हस्तेन शुक्रपुद्गलनिघातनक्रिया आगमप्रसिद्धं तत्कुर्वन्, सप्तमी चेयं षष्ठ्यर्था, तेन कुर्वत इति व्याख्येयम्, एतेषां च हस्तकर्मादीनां यत्र विशेषे योऽनुद्घातिमविशेषो दीयते स कल्पादितोऽवसेयः, 'पारंचिय'त्ति पारं–तीरं तपसा अपराधस्याञ्चति–गच्छति ततो दीक्ष्यते यः स पाराञ्ची स एव पाराञ्चिकः तस्य यदनुष्ठानं तच्च पाराञ्चिकमिति दशमं प्रायश्चित्तं, लिङ्गक्षेत्रकालतपोभिर्बहिःकरणमिति भावः, इह च सूत्रे कल्पभाष्यस्य इदमभिधीयते—"आसायण पडिसेवी दुविहो पारंचिओ समासेणं। एक्केक्कंमि य भयणा सचरित्ते चेव अचरित्ते ॥ १ ॥

१ अर्धेन छिन्ने शेषं पूर्वतपोऽर्धेन संयुक्तं कृत्वा। लघुकदानं दद्या गुरुदानं तावदेव ॥ १ ॥ २ समासेन पाराञ्चिको द्विविधः आशातनायां प्रतिसेवायां च। एकैकस्मिन् भजना च सचारित्रे अचारित्रे एव ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | अणुग्घाईमं आदि प्रायश्चित्तस्य वर्णनं |

प्रत सूत्रांक [२०१]

दीप अनुक्रम [२१५]



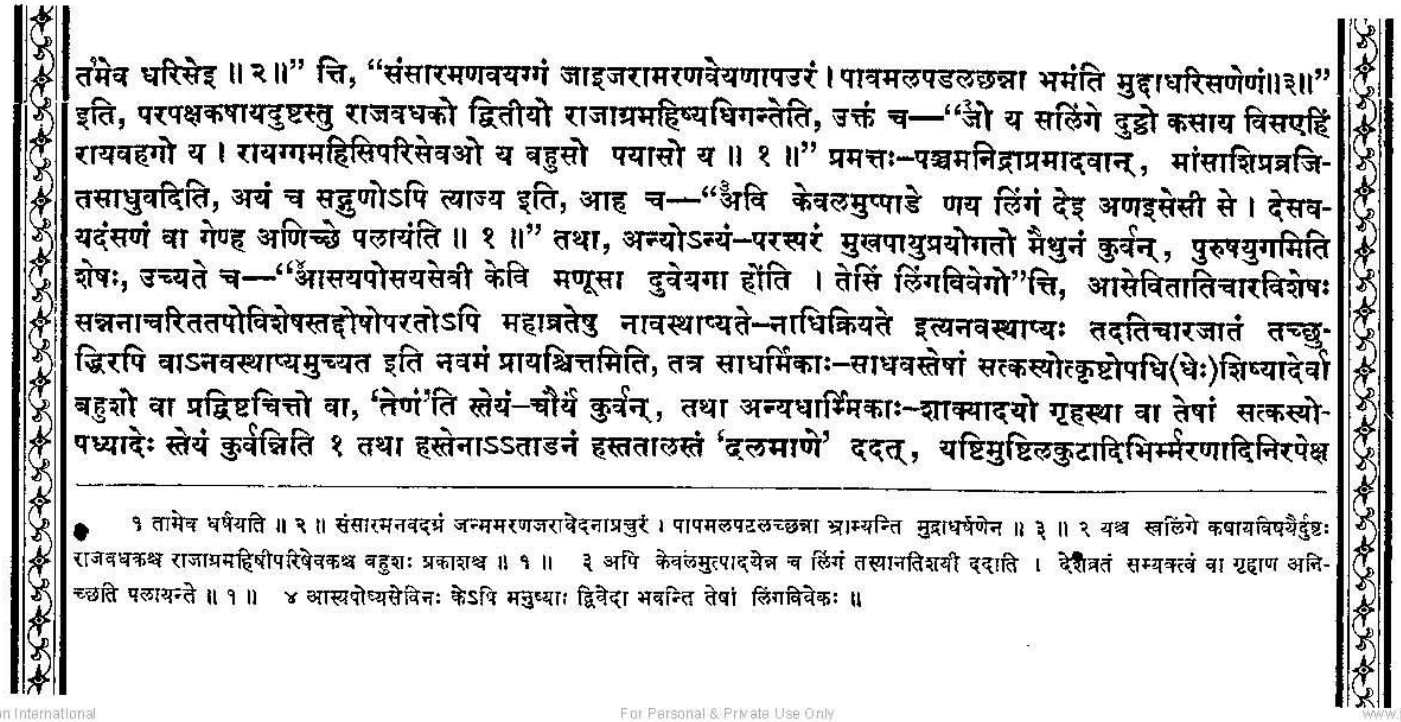
सव्वचरित्तं भस्सइ केणवि पडिसेविएण उ पएणं । कत्थइ चिट्ठइ देसो परिणामवराहमासज्ज ॥ २ ॥ तुल्लंमिवि अवराहे परिणामवसेण होइ नाणत्तं । कत्थइ परिणामंमिवि तुल्ले अवराहनाणत्तं ॥ ३ ॥" तत्र आशातकपाराञ्चिकः—'तित्थयर-पवयणसुए आयरिए गणहरे महिड्ढीए । एते आसायंते पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥ १ ॥" त्ति तत्र—"सव्वे आसायंते पावति पारंचियं ठाणं"ति, इह च सूत्रे प्रतिसेवकपाराञ्चिक एव त्रिविध उक्तः, तदुक्तम्—"पडिसेवणपारंची तिविहो सो होइ आणुपुव्वीए । दुट्ठे य पमत्ते या नायव्वो अन्नमन्ने य ॥ १ ॥" तत्र दुष्टो—दोषवान् कषायतो विषयतश्च, पुनरेकैको द्वेधा, सपक्षविपक्षभेदात्, उक्तं च—"दुविहो य होइ दुट्ठो कसायदुट्ठो य विसयदुट्ठो य । दुविहो कसायदुट्ठो सपक्ख-परपक्ख चउभंगो ॥ १ ॥" तत्र स्वपक्षे कषायदुष्टो यथा सर्षपनालिकाभिधानशाकभर्जिकाग्रहणकुपितो मृताचार्यदन्त-भञ्जकः साधुः, विषयदुष्टस्तु साध्वीकामुकः, तत्र चोक्तम्—"लिंगेण लिंगिणीए संपत्तिं जो णिगच्छई पावो । सव्वजिणाण-ऽज्जाओ संघो वाऽऽसाइतो तेणं ॥ १ ॥ पावाणं पावयरो दिट्ठिप्पासेवि सो न कप्पति तु । जो जिणपुंगवमुद्दं नमिऊण

१ सर्वं चारित्रं भ्रश्यति केनापि प्रतिषेवितेन पदेन कुत्रचित्तिष्ठति देशः परिणामापराधावासाय ॥ २ ॥ तुल्येऽप्यपराधे परिणामवशेन भवति नानात्वम् । कुत्रचित् परिणामे तुल्येऽपि अपराधनानात्वम् ॥ ३ ॥ २ तीर्थकरप्रवचनश्रुतानि आचार्यान् गणधरान् महर्द्धिकान् । एतानाशातयति प्रायश्चित्ते मार्गणा भवति ॥१॥ ३ सर्वानाशातयन् प्राप्नोति पाराञ्चिकं स्थानम् । ४ प्रतिषेवणापाराञ्चिकस्त्रिविधः स आनुपूर्व्या दुष्टश्च प्रमत्तश्च ज्ञातव्योऽन्योऽन्यश्च ॥ १ ॥ ५ द्विविधश्च भवति दुष्टः कषायदुष्टश्च विषयदुष्टश्च । द्विविधः कषायदुष्टः स्वपक्षपरपक्षयोः चतुर्भङ्गः ॥ १ ॥ ६ लिंगेन लिंगिन्याः संप्राप्तिं यो गच्छति पापः । सर्वजिनानामार्याः संघश्चाशातितस्तेन ॥ १ ॥ पापानां पापतरो दृष्टिप्पर्शोऽपि कर्तुं तस्य नैव कल्पते यो जिनवरमुद्रां नत्वा




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


| | |
|---|---|
| | अणुग्घाईमं आदि प्रायश्चित्तस्य वर्णनं |



तमेव धरिसेइ ॥ २ ॥" त्ति, "संसारमणवयग्गं जाइजरामरणवेयणापउरं । पावमलपडलछन्ना भमंति मुद्दाधरिसणेणं॥३॥" इति, परपक्षकषायदुष्टस्तु राजवधको द्वितीयो राजाग्रमहिष्यधिगन्तेति, उक्तं च—"जो य सलिंगे दुट्ठो कसाय विसएहिं रायवहगो य । रायग्गमहिसिपरिसेवओ य बहुसो पयासो य ॥ १ ॥" प्रमत्तः—पञ्चमनिद्राप्रमादवान्, मांसाशिप्रव्रजितसाधुवदिति, अयं च सद्गुणोऽपि त्याज्य इति, आह च—"अवि केवलमुप्पाडे णय लिंगं देइ अणइसेसी से । देसव्वयदंसणं वा गेण्ह अणिच्छे पलायंति ॥ १ ॥" तथा, अन्योऽन्यं—परस्परं मुखपायुप्रयोगतो मैथुनं कुर्वन्, पुरुषयुगमिति शेषः, उच्यते च—"आसयपोसयसेवी केवि मणूसा दुवेयगा होंति । तेसिं लिंगविवेगो"त्ति, आसेवितातिचारविशेषः सन्ननाचरिततपोविशेषस्तद्दोषोपरतोऽपि महाव्रतेषु नावस्थाप्यते—नाधिक्रियते इत्यनवस्थाप्यः तदतिचारजातं तच्छुद्धिरपि वाऽनवस्थाप्यमुच्यत इति नवमं प्रायश्चित्तमिति, तत्र साधर्मिकाः—साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधि(धेः)शिष्यादेर्वा बहुशो वा प्रद्विष्टचित्तो वा, 'तेणं'ति स्तेयं—चौर्यं कुर्वन्, तथा अन्यधार्मिकाः—शाक्यादयो गृहस्था वा तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तेयं कुर्वन्निति १ तथा हस्तेनाऽऽताडनं हस्तालस्तं 'दलमाणे' ददत्, यष्टिमुष्टिलकुटादिभिर्म्मरणादिनिरपेक्ष

१ तामेव धर्षयति ॥ २ ॥ संसारमनवदग्रं जन्ममरणजरावेदनाप्रचुरं । पापमलपटलच्छन्ना भ्राम्यन्ति मुद्राधर्षणेन ॥ ३ ॥ २ यश्च स्वलिंगे कषायविषयैर्दुष्टः राजवधकश्च राजाग्रमहिषीपरिषेवकश्च बहुशः प्रकाशश्च ॥ १ ॥ ३ अपि केवलमुत्पादयेन्न च लिंगं तस्यानतिशयी ददाति । देशव्रतं सम्यक्त्वं वा गृहाण अनिच्छति पलायन्ते ॥ १ ॥ ४ आस्यपोष्यसेविनः केऽपि मनुष्याः द्विवेदा भवन्ति तेषां लिंगविवेकः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | अणुग्घाईमं आदि प्रायश्चित्तस्य वर्णनं |

आत्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः, उक्तं च—"[1]उक्कोसं बहुसो वा पदुट्ठचित्तो व तेणियं कुणइ । पहरइ जो य सपक्खे निरवेक्खो घोरपरिणामो ॥ १ ॥" अथवा 'अत्थायाणं दलमाणो'त्ति पाठस्तत्र अर्थादानं—द्रव्योपादानकारणमष्टाङ्गनिमित्तं तद्ददत्, प्रयुञ्जान इत्यर्थः, अथवा 'हत्थालंबं दलमाणे'त्ति पाठः तत्र हस्तालम्ब इव हस्तालम्बस्तं हस्तालम्बं ददद्, अशिवपुररोधादौ तच्छमनार्थमभिचारकमन्त्रविद्यादि प्रयुञ्जान इत्यर्थः । पूर्वोक्तप्रायश्चित्तं प्रव्राजनादियुक्तस्य भवति, तानि चायोग्यनिरासेन योग्यानां विधेयानीति तदयोग्यान्निरूपयन् सूत्रषट्कमाह—

ततो णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं०—पंडए वातिते कीवे १, एवं मुंडावित्तए २, सिक्खावित्तए ३, उवट्ठावित्तए ४, संभुंजित्तते ५, संवासित्तते ६, (सू २०२)

'तओ' इत्यादि कण्ठ्यं, किन्तु 'पण्डकं' नपुंसकं, तच्च लक्षणादिना विज्ञाय परिहर्त्तव्यं, लक्षणानि चास्य—"[2]महिलासहावो सरवन्नभेओ, मेंढं महंतं मउई य वाया । ससद्दगं मुत्तमफेणगं च, एयाणि छप्पंडगलक्खणाणि ॥ १ ॥" त्ति, तथा वातोऽस्यास्तीति वातिकः, यदा स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा मेहनं कषायितं भवति तदा न शक्नोति यो वेदं धारयितुं यावन्न प्रतिसेवा कृता स वातिक इति, अयं च निरुद्धवेदो नपुंसकतया परिणमति, क्वचित्तु 'वाहिय'त्ति पाठः, तत्र व्याधितो रोगीत्यर्थः, तथा क्लीबः—असमर्थः, स च चतुर्द्धा—दृष्टिक्लीबशब्दक्लीबादिग्धक्लीबनिमन्त्रणक्लीबभेदात्, तत्र य-

१ उत्कृष्टं बहुशो वा प्रद्विष्टचित्तश्च स्तैन्यं करोति । प्रहरति यः स्वपक्षे निरपेक्षः घोरपरिणामः ॥ १ ॥ २ महिलास्वभावः स्वरवर्णभेदः मेहनं महन्मृद्वी च वाणी । सशब्दकं मूत्रमफेनं च एतानि षट् पंडकलक्षणानि ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्यानुरागतो विवस्त्राद्यवस्थं विपक्षं पश्यतो मेहनं गलति स दृष्टिक्लीबः, यस्य तु सुरतादिशब्दं शृण्वतः स द्वितीयो, यस्तु विपक्षेणावगूढो निमन्त्रितो वा व्रतं रक्षितुं न शक्नोति स आदिग्धक्लीबो निमन्त्रितक्लीबश्चेति, चतुर्विधोऽप्ययं निरोधे नपुंसकतया परिणमतीति, वातिकक्लीबयोस्तु परिज्ञानं तयोस्तन्मित्रादीनां वा कथनादेरिति, विस्तरश्चात्र कल्पादवसेयः, एते चोत्कटवेदतया व्रतपालनासहिष्णव इति न कल्पन्ते प्रव्राजयितुं, प्रव्राजकस्याप्याज्ञाभङ्गेन दोषप्रसङ्गादिति, उक्तं च—"जिणवयणे पडिकुट्ठं जो पव्वावेइ लोभदोसेणं । चरणट्ठिओ तवस्सी लोवेइ तमेव उ चरित्तं ॥ १ ॥" इति, इह त्रयोऽप्रव्राज्या उक्ताः त्रिस्थानकानुरोधाद्, अन्यथा अन्येऽपि ते सन्ति, यदाह—"बाले वुड्ढे नपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए । तेणे रायावगारी य, उम्मत्ते य अदंसणे ॥ १ ॥ दासे दुट्ठे (य) मूढे (य), अणत्ते जुंगिए इय । ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ॥ २ ॥ गुव्विणी बालवच्छा य, पव्वावेउं न कप्पइ"त्ति, अदंसणो—अन्धः अणत्तो—ऋणपीडितः जुंगिओ—जात्यङ्गहीनः ओबद्धओ—विद्यादायकादिप्रतिजागरकः सेहणिप्फेडिआ—अपहृत इति, 'एव'मित्यादि, यथैते प्रव्राजयितुं न कल्पन्ते एवमेत एव कथञ्चिच्छलितेन प्रव्राजिता अपि सन्तो मुण्डयितुं शिरोलोचेन न कल्पन्ते, उक्तं च —"पव्वाविओ सियत्ति, [ यः स्यादित्यर्थः > मुंडावेउं अणायरणजोगो । अहवा मुंडाविन्ते दोसा अणिवारिया पुरिमा ॥ १ ॥" इति, एवं शिक्षयितुं—प्रत्युपेक्षणादिसामाचारीं ग्राहयितुं, तथा उपस्थापयितुं—महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुं, तथा

१ जिनवचने प्रतिकुष्टं यः प्रव्राजयति लोभदोषेण । चरणस्थितस्तपस्वी लोपयति तदेव चारित्रं ॥ १ ॥ २ बालो वृद्धो नपुंसक जडः क्लीबश्च व्याधितः । स्तेनो राजापकारी च उन्मत्तश्चादर्शनः ॥ १ ॥ दासो दुष्टश्च मूढश्च ऋणार्त्तो जुंगित इति अवबद्धको भृतकः शिष्यनिष्फेटिकेति ॥ २ ॥ गर्भिणी बालवत्सा च प्रव्राजयितुं न कल्पते ॥ ३ स्यात्प्रव्राजितः मुंडयितुं अनाचरणयोग्यः अथवा मुंडिते पौरस्त्या दोषा अनिवारिताः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०२]

दीप अनुक्रम [२१६]



सम्भोक्तुम्–उपध्यादिना, एवमनाभोगात् संभुक्ताश्च संवासयितुम्–आत्मसमीपे आसयितुं न कल्पन्त इति प्रक्रम इति। कथञ्चित् संवासिता अपि वाचनाया अयोग्याः– न वाचनीया इति, तानाह—

ततो अवायणिज्जा पं० तं०—अविणीए विगतीपडिबद्धे अविओसितपाहुडे, तओ कप्पंति वातित्तते, तं०—विणीए अविगतीपडिबद्धे विउसियपाहुडे। तओ दुसन्नप्पा पं० तं०—दुट्ठे मूढे वुग्गाहिते, तओ सुसन्नप्पा पं० तं०—अदुट्ठे अमूढे अवुग्गाहिते ( सू० २०३ )

'तओ' इत्यादि सुगमं, नवरं न वाचनीयाः–सूत्रं न पाठनीयाः, अत एवार्थमप्यश्रावणीयाः, सूत्रादर्थस्य गुरुत्वात्, तत्राविनीतः सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहितः, तद्वाचने हि दोषः, यत उक्तम्—"इहरहवि ताव थब्भइ अविणीओ लंभिओ किमु सुएणं?। मा णट्ठो नासिहिई खए व खारोवसेगो उ ॥ १॥ गोजूहस्स पडागा सयं पलायस्स वड्ढइ य वेगं। दोसोदए य समणं न होइ न नियाणतुल्लं च ॥ २ ॥" निदानतुल्यमेव भवतीत्यर्थः, "विणयाहीया विज्जा देइ फलं इह परे य लोयंमि। न फलंतऽविणयगहिया सस्साणिव तोयहीणाइं ॥ ३ ॥" इति, तथा विकृतिप्रतिबद्धो–घृतादिरसविशेषगृद्धः अनुपधानकारीति भावः, इहापि दोष एव, यदाह—"अतवो न होइ जोगो न य फलए इच्छियं फलं विज्जा।

१ इतरथाऽपि तावत् स्तभ्नाति अविनीतो लंभितः किं श्रुतेन मा नश्यत्राशयिष्यति क्षते क्षारावसेकादिव ॥ १ ॥ गोयूथस्य पताका स्वयं पलायमानस्य वर्द्धयति वेगं दोषोदये च शमनं न भवति न च निदानतुल्यं ॥ २ ॥ २ विनयाधीता विद्या इह परस्मिंश्च लोके ददाति फलं न फलन्त्यविनयगृहीताः शस्यानीव तोयहीनानि ॥ १ ॥ ३ अतपो न भवति योगो न च





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवि फलति विउलमगुणं साहणहीणा जहा विज्जा ॥ १ ॥" इति, अव्यवसितम्–अनुपशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतं नरकपालकौशलिकं परमक्रोधो यस्य सोऽव्यवसितप्राभृतः, उक्तं च—"अप्पेवि पारमाणिं अवराहे वयइ खामियं तं च। बहुसो उदीरयंतो अविओसियपाहुडो स खलु ॥ १ ॥" इति, 'पारमाणिं'परमक्रोधसमुद्घातं व्रजतीति भावः, एतस्य वाचने इहलोकतस्त्यागोऽस्य प्रेरणायां कलहनात् प्रान्तदेवताछलनाच्च, परलोकतोऽपि त्यागः, तत्र श्रुतस्य दत्तस्य निष्फलत्वात्, ऊषरक्षिप्तबीजवदिति, आह च—"दुविहो उ परिच्चाओ इह चोयण कलह १ देवयाछलणं २। परलोगंमि अ अफलं खित्तंपि व ऊसरे बीयं ॥ १ ॥" इति, एतद्विपर्ययसूत्रं सुगमं। श्रुतदानस्यायोग्या उक्ताः, इदानीं सम्यक्त्वस्याप्ययोग्यानाह—'तओ' इत्यादि कण्ठ्यं, किन्तु दुःखेन–कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते–प्रज्ञाप्यन्ते बोध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः, तत्र दुष्टो–द्विष्टः तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रति, स चाप्रज्ञापनीयो, द्वेषेणोपदेशाप्रतिपत्तेः, एवं मूढो–गुणदोषानभिज्ञः, व्युद्ग्राहितः–कुप्रज्ञापकदृढीकृतविपर्यासः, सोऽप्युपदेशं न प्रतिपद्यते, उक्तं च "पुव्वं कुग्गाहिया केई, बाला पंडियमाणिणो। नेच्छंति कारणं सोउं, दीवजाए जहा णरे ॥ १ ॥" इति, एतेषां स्वरूपं कल्पात् कथाकोशाच्चावसेयमिति। एतद्वि-

---

१ फलतीच्छितं फलं विद्या। विपुलमगुणं साधनहीना फलति यथा विद्या ॥ १ ॥ २ अल्पेऽपि अपराधे क्रोधं व्रजति क्षामितं च बहुश उदीरयति सोऽव्युत्पितप्राभृतः खलु ॥ १ ॥ ३ द्विविधस्तु परित्यागः इह चोदने कलहः देवताछलनं। परलोके चाफलं ऊषरे क्षेत्रे बीजमिव ॥ १ ॥ ४ पूर्वं कुग्राहिताः केचिद्बालाः पंडितमानिनः। नेच्छन्ति कारणं श्रोतुं द्वीपजाता यथा नराः ॥ १ ॥ (दुग्गाहियेति गाथावृत्तिः).


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२०३]

दीप अनुक्रम [२१७]



पर्यस्तान् सुसंज्ञाप्यतयाऽऽह—'तओ' इत्यादि, स्फुटमिति, उक्ताः प्रज्ञापनार्हाः पुरुषाः, अधुना तत्प्रज्ञापनीयवस्तूनि त्रिस्थानकावतारीण्याह—

ततो मंडलिया पव्वता पं० तं०—माणुसुत्तरे कुंडलवरे रुअगवरे (सू० २०४) ततो महतिमहालया पं० तं०—जंबुद्दीवे मंदरे मंदरेसु सयंभुरमणे समुद्दे समुद्देसु बंभलोए कप्पे कप्पेसु (सू० २०५)

'तओ मंडलिए'त्यादि, मण्डलं—चक्रवालं तदस्ति येषां ते मण्डलिकाः—प्राकारवलयवदवस्थिता मानुषेभ्यो मानुषक्षेत्राद्बोत्तरः—परतोवर्त्ती मानुषोत्तर इति, तत्स्वरूपं चेदम्—"पुक्खरवरदीवद्धं परिखिवइ माणुसुत्तरो सेलो । पायारसरिसरूवो विभयंतो माणुसं लोगं ॥ १ ॥ सत्तरस एगवीसाइ जोयणसयाइ सो समुव्विद्धो । चत्तारि य तीसाइं मूले कोसं च ओगाढो ॥ २ ॥ दस बावीसाइ अहे विच्छिन्नो होइ जोयणसयाइं । सत्त य तेवीसाइं विच्छिन्नो होइ मज्झंमि ॥ ३ ॥ चत्तारि य चउवीसे वित्थारो होइ उवरि सेलस्स । अड्ढाइज्जे दीवे दो य समुद्दे अणुपरीइ ॥ ४ ॥" इति । तथा—[२]जंबूदीवो धायइ[३] पुक्खरदीवो य वारुणिवरो य । खीरवरोऽवि य [४]दीवो घयवरदीवो [५]य खोयवरो ॥ ५ ॥

१ पुष्करवरद्वीपार्द्धं परिक्षिपति मानुषोत्तरः शैलः प्राकारसदृशरूपः विभजन् मानुषं लोकं ॥ १ ॥ एकविंशत्यधिकसप्तदशयोजनशतानि स समुच्चः त्रिंशदधिकचतुःशतानि क्रोशं चावगाढः ॥ २ ॥ द्वाविंशत्यधिकदशयोजनशतानि अधो विस्तीर्णो भवति त्रयोविंशत्यधिकसप्तशतानि मध्ये विस्तीर्णो भवति ॥ ३ ॥ चतुर्विंशत्यधिकचतुःशतानि शैलस्योपरि विस्तारो भवति सार्द्धद्वयद्वीपान् द्वौ समुद्रावनुपर्येति ॥ ४ ॥ २ जंबूद्वीपो धातकी पुष्करद्वीपश्च वारुणीवरश्च क्षीरवरोऽपि च द्वीपो घृतवरद्वीपश्च क्षोदवरः ॥ ५ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नंदीसरो [१] य [२] अरुणो अरुणोवाओ य कुंडलवरो य । तह संख [१२] रुअग [१३] भुअवर [१४] कुसे [१५] कुंचवरो [१६] तओ दीवो ॥ ६ ॥" इति क्रमापेक्षया एकादशे कुण्डलवराख्ये द्वीपे प्राकारकुण्डलाकृतिः कुण्डलवर इति, तद्रूपमिदम्—"कुंडलवरस्स [२] मज्झे णगुत्तमो होति कुण्डलो सेलो । पागारसरिसरूवो विभयंतो कुण्डलं दीवं ॥ १ ॥ बायालीससहस्से उव्विद्धो कुंडलो हवइ सेलो । एगं चेव सहस्सं धरणियलमहे समोगाढो ॥ २ ॥ दस चेव जोयणसए बावीसे वित्थडो य मूलंमि । सत्तेव जोयणसए बावीसे वित्थडो मज्झे ॥ ३ ॥ चत्तारि जोयणसए चउवीसे वित्थडो उ सिहरतले"त्ति, तथा त्रयोदशे रुचकवराख्ये द्वीपे कुण्डलाकृती रुचक इति, एतस्य त्विदं स्वरूपं—"[३]रुयगवरस्स उ मज्झे नगुत्तमो होति पव्वओ रुअगो । पागारसरिसरूवो रुअगं दीवं विभयमाणो ॥ १ ॥ रुयगस्स उ उस्सेहो चउरासीतिं भवे सहस्साइं । एगं चेव सहस्सं धरणियलमहे समोगाढो ॥ २ ॥ दस चेव सहस्सा खलु बावीसा जोयणाण बोद्धव्वा । मूलंमि उ विक्खंभो साहीओ रुयगसेलस्स ॥ ३ ॥" तथा मध्यविस्तारोऽस्य सप्त सहस्राणि द्वाविंशत्यधिकानि, शिरोविस्तारस्तु

---

१ नंदीश्वरश्चारुणोऽरुणावपातश्च कुंडलवरश्च तथा शंखः रुचकः भुजवरः कुशः क्रौंचवरश्च ततो द्वीपः ॥ ६ ॥ २ कुंडलवरस्य मध्ये नगोत्तमो भवति कुंडलः शैलः प्राकारसदृशरूपो विभजन् कुंडलं द्वीपं ॥ १ ॥ द्विचत्वारिंशत्सहस्राण्युद्विद्धः कुंडलो भवति शैलः अधो धरणीतले एकमेव सहस्रं समवगाढः ॥ २ ॥ दशयोजनशतानि द्वाविंशत्यधिकानि मूले विस्तृतो द्वाविंशत्यधिकसप्तयोजनशतानि मध्ये विस्तृतः ॥ ३ ॥ चतुर्विंशत्यधिकचतुर्योजनशतानि शिखरतले विस्तृतः ॥ ४ ॥ ३ रुचकवरस्य मध्ये नगोत्तमो भवति पर्वतो रुचकः प्राकारसदृशरूपः रुचकं द्वीपं विभजन् ॥ १ ॥ रुचकस्योत्सेधः चतुरशीतिर्भवेत् सहस्राणि धरणितले एकमेव सहस्रमधः समवगाढः ॥ २ ॥ द्वाविंशत्यधिकदशसहस्रयोजनानि बोद्धव्यः मूले तु विष्कम्भः साधिकः रुचकशैलस्य ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्वारि सहस्राणि चतुर्विंशत्यधिकानीति । मानुषोत्तरादयो महान्त उक्ता इति महदधिकारादतिमहत आह—'तओ महई'त्यादि व्यक्तं, केवलमतिमहान्तश्च ते आलयाश्च—आश्रयाः अतिमहालया महान्तश्च तेऽतिमहालयाश्चेति महातिमहालयाः, अथवा लय इत्येतस्य स्वार्थिकत्वात् महातिमहान्त इत्यर्थः, द्विरुच्चारणं च महच्छब्दस्य मन्दरादीनां सर्वगुरुत्वख्यापनार्थम्, अव्युत्पन्नो वाऽयमतिमहदर्थे वर्त्तत इति, 'मंदरेसु'त्ति मेरूणां मध्ये जम्बूद्वीपकस्य सातिरेकलक्षयोजनप्रमाणत्वाच्छेषाणां चतुर्णां सातिरेकपञ्चाशीतियोजनसहस्रप्रमाणत्वादिति, स्वयम्भूरमणो महान् सुमेरोरारभ्य तस्य शेषसर्वद्वीपसमुद्रेभ्यः समधिकप्रमाणत्वात्, तेषां तस्य च क्रमेण किञ्चिन्न्यूनाधिकरज्जुपादप्रमाणत्वादिति, ब्रह्मलोकस्तु महान्, तत्प्रदेशे पञ्चरज्जुप्रमाणत्वात् लोकविस्तरस्य, तत्प्रमाणतया च विवक्षितत्वात् ब्रह्मलोकस्येति । अनन्तरं ब्रह्मलोककल्प उक्त इति कल्पशब्दसाधर्म्यात् कल्पस्थितिं त्रिधाऽऽह—

तिविधा कप्पठिती पं०, तं—सामाइयकप्पठिती छेदोवट्ठावणियकप्पट्ठिती निव्विसमाणकप्पट्ठिती ३, अहवा तिविहा कप्पट्ठिती पं० तं०—णिव्विट्ठकप्पट्ठिती जिणकप्पठिती थेरकप्पठिती ३ ( सू० २०६ )

सूत्रद्वयं व्यक्तं, केवलं समानि—ज्ञानादीनि तेषामायो—लाभः समायः स एव सामायिकं—संयमविशेषस्तस्य तदेव वा कल्पः—करणमाचारः, यथोक्तम्—"सामर्थ्ये वर्णनायां च, करणे छेदने तथा । औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥" इति सामायिककल्पः, स च प्रथमचरमतीर्थयोः साधूनामल्पकालः, छेदोपस्थापनीयस्य सद्भावात्, मध्यतीर्थेषु महाविदेहेषु च यावत्कथिकः, छेदोपस्थापनीयाभावात्, तदेवं तस्य तत्र वा स्थितिः—मर्यादा सामायिककल्प-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थितिः, सा च शय्यातरपिण्डपरिहारे चतुर्यामपालने पुरुषज्येष्ठत्वे बृहत्पर्यायस्येतरेण वन्दनकदाने च नियमलक्षणा शुक्लप्रमाणोपेतवस्त्रापेक्षया यदचेलत्वं तत्र १ तथा आधाकर्म्मिकभक्तादिग्रहणे २ राजपिण्डाग्रहणे ३ प्रतिक्रमणकरणे ४ मासकल्पकरणे ५ पर्युषणकल्पकरणे ६ चानियमलक्षणा चेति, अत्रोक्तम्—"सिज्जायरपिंडे या १ चाउज्जामे य २ पुरिसजेट्ठे य ३। किइकम्मस्स य करणे ४ चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥ १ ॥ आचेलु १ कुद्देसिय २ सपडिक्कमणे य ३ रायपिंडे य ४। मासं ५ पज्जोसवणा ६ छप्पेअणवट्ठिया कप्पा ॥ २ ॥" तत्राचेलकत्वमेवम्—"दुविहो होइ अचेलो असंतचेलो य संतचेलो य। तत्थ असंतेहिं जिणा संताऽचेला भवे सेसा ॥ १ ॥ सीसावेढियपोत्तं नइउत्तरणंमि नग्गयं बेंति। जुन्नेहिं नग्गियम्हि तुर सालिय! देहि मे पोत्तिं ॥ २ ॥ जुन्नेहिं खंडिएहिं असव्वतणुयाउएहिं ण य णिच्चं। संतेहिवि णिग्गंथा अचेलया होंति चेलेहिं ॥ ३ ॥" इत्यादि, तथा पूर्वपर्यायच्छेदेनोपस्थापनीयम्—आरोपणीयं छेदोपस्थापनीयं, व्यक्तितो महाव्रतारोपणमित्यर्थः, तच्च प्रथमपश्चिमतीर्थयोरेवेति, शेषा व्युत्पत्तिस्तथैव, तस्थितिश्चोक्तलक्षणेष्वेव दशसु स्थानकेष्ववश्यंपालनलक्षणेति, तथाहि—"दसठाणठिओ कप्पो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। एसो धुयरय—

१ शय्यातरपिंडश्च चतुर्यामश्च पुरुषज्येष्ठश्च कृतिकर्मणश्च करणे चत्वारोऽवस्थिताः कल्पाः ॥ १ ॥ आचेलक्यमौद्देशिकं सप्रतिक्रमणश्च राजपिंडश्च मासः पर्युषणा षडप्येतेऽनवस्थिताः कल्पाः ॥ २ ॥ २ द्विविधो भवत्यचेलोऽसचेलश्च सचेलश्च तत्रासत्सु जिना अचेलाः शेषाः सत्स्वपि चेलेषु ॥ १ ॥ शीर्षावेष्टितपोतं नद्युत्तरणे नग्नं ब्रुवन्ति जीर्णेषु नग्नास्मि शालिक! त्वर मे पोतं देहि ॥ २ ॥ जीर्णेषु खंडितेषु असर्वतनुप्रावृतेषु नच नित्यं चेलेषु सत्स्वपि निर्ग्रन्था अचेलका भवन्ति ॥ ३ ॥ ३ दशस्थानस्थितः कल्पः पूर्वस्य पश्चिमस्य च जिनस्य एष धूतरजाः—


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


कल्प-मर्यादायाः वर्णनं

प्रत सूत्रांक [२०६]

दीप अनुक्रम [२२०]



कप्पो दसठाणपइट्ठिओ होइ ॥ १ ॥" इति, "[1]आचेल १ कुद्देसिय २ सिज्जायर ३ रायपिंड ४ किइकम्मे ५ । वय ६ जेट्ठ ७ पडिक्कमणे ८ मासं ९ पज्जोसवणकप्पे १० ॥ २ ॥" इति, निर्विशमाना ये परिहारविशुद्धितपोऽनुचरन्ति परिहारिका इत्यर्थः, तेषां कल्पे स्थितिर्यथा–ग्रीष्मशीतवर्षाकालेषु क्रमेण तपो जघन्यं चतुर्थषष्ठाष्टमानि मध्यमं षष्ठादीनि उत्कृष्टमष्टमादीनीति, पारणं चायाममेव, पिण्डैषणासप्तके चाद्ययोरभिग्रह एव, पञ्चसु पुनरेकया भक्तमेकया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रह इति, उक्तं च—"[2]बारस १ दस २ अट्ठ ३ दस १ ट्ठ २ छट्ठ ३ अट्ठेव १ छट्ठ २ चउरो य ३ । उक्कोसमज्झिमजहन्नगा उ वासासिसिरगिम्हे ॥ १ ॥ पारणगे आयामं पंचसु गहो दोसऽभिग्गहो भिक्खे"ति, निर्विष्टा –आसेवितविवक्षितचारित्रा अनुपरिहारिका इत्यर्थः, तत्कल्पस्थितिर्यथा प्रतिदिनमायाममात्रं तपो भिक्षा तथैवेति, उक्तं च—"[3]कप्पट्ठियावि पइदिण करेंति एमेव चायामं"ति, एते च निर्विशमानका निर्विष्टाश्च परिहारविशुद्धिका उच्यन्ते, तेषां च नवको गणो भवति, ते च एवंविधाः—"[4]सव्वे चरित्तवंतो उ, दंसणे परिनिट्ठिया । नवपुव्विया जहन्नेणं, उक्कोसा दसपुव्विया ॥ १ ॥ पंचविहे ववहारे, कप्पंमि दुविहंमि य । दसविहे य पच्छित्ते, सव्वे ते परिनिट्ठिया ॥ २ ॥

१ कल्पः दशस्थानप्रतिष्ठितो भवति ॥ १ ॥ २ आचेलक्यमौद्देशिकं शय्यातरपिंडः राजपिंडः कृतिकर्म व्रतानि ज्येष्ठः प्रतिक्रमणं मासः पर्युषणाकल्पः ॥१॥ ३ द्वादशमं दशमं अष्टमं दशमं अष्टमं षष्ठं । अष्टमं षष्ठं चतुर्थं चोत्कृष्टमध्यमजघन्यतो वर्षाशिशिरग्रीष्मेषु ॥ १ ॥ पारणके आचामाम्लं पंचसु ग्रहो द्वयोरभिग्रहो भिक्षायां ॥ ४ कल्पस्थिता अपि प्रतिदिनमेवमेवाचाम्लं कुर्वन्ति ॥ ५ सर्वे चारित्रवन्त एव दर्शने परिनिष्ठिताः जघन्येन नवपूर्विण उत्कृष्टतो दशपूर्विणः ॥ पंचविधे व्यवहारे द्विविधे कल्पे च दशविधे च प्रायश्चित्ते सर्व एते परिनिष्ठिताः ॥ २ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कल्प-मर्यादाया: वर्णनं

इत्यादि, जिना–गच्छनिर्गतसाधुविशेषास्तेषां कल्पस्थितिर्जिनकल्पस्थितिः, सा चैवम्–जिनकल्पं हि प्रतिपद्यते जघन्यतोऽपि नवमपूर्वस्य तृतीयवस्तुनि सति उत्कृष्टतस्तु दशसु भिन्नेषु प्रथमे संहनने, दिव्याद्युपसर्गं रोगवेदनाश्चासौ सहते, एकाक्येव भवति, दशगुणोपेतस्थण्डिल एवोच्चारादि जीर्णवस्त्राणि च त्यजति, वसतिः सर्वोपाधिविशुद्धास्य, भिक्षाचर्या तृतीयपौरुष्यां, पिण्डैषणोत्तरासां पञ्चानामेकतरैव, विहारो मासकल्पेन, तस्यामेव वीथ्यां षष्ठदिने भिक्षाटनमिति, एवंप्रकारा चेयं 'सुयसंघयणे'त्यादिकाद् गाथासमूहात् कल्पोक्तादवगन्तव्येति, भणितं च—"[1]गच्छंमि य निम्माया धीरा जाहे य गहियपरमत्था। अग्गहि जोग अभिग्गहि, उवेंति जिणकप्पियचरित्तं ॥ १ ॥" अग्रहे आद्ययोरभिग्रहे–पञ्चानां पिण्डैषणानां द्वयोर्योगे–द्वयोर्मध्ये एकतरस्या गृहीतपरमार्थाः, "[2]धिइबलिया तवसूरा निंती गच्छाउ ते पुरिससीहा। बलवीरियसंघयणा उवसग्गसहा अभीरुया ॥ १ ॥" इति, स्थविराः–आचार्यादयो गच्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः, सा च "[3]पव्वज्जा सिक्खावयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो। निप्फत्ती य विहारो सामायारी ठिई चेव ॥ १ ॥" इत्यादिकेति, इह च सामायिके सति छेदोपस्थापनीयं तत्र च परिहारविशुद्धिकभेदरूपं निर्विशमानकं तदनन्तरं निर्विष्टकायिकं तदनन्तरं जिनकल्पः स्थविरकल्पो वा भवतीति सामायिककल्पस्थित्यादिकः सूत्रयोः क्रमोपन्यास इति। उक्तकल्पस्थितिव्यतिक्रामिणो नारकादिशरीरिणो भवन्तीति तच्छरीरनिरूपणायाह—

१ गच्छे च निर्मातो धीरा यदा गृहीतपरमार्थाः अग्राह्याभिग्रहयोगे चोपयंति जिनकल्पिकचरित्रं ॥ १ ॥ २ धृतिबलिकाः तपःशूराहते पुरुषसिंहा गच्छान्निर्गच्छंति बलवीर्यसंहननयुता उपसर्गसहा अभीरवः ॥ १ ॥ ३ प्रव्रज्या शिक्षा व्रतानि अर्थग्रहणं चानियतो वासः शिष्याणां निष्पत्तिश्च विहारः सामाचारी स्थितिश्च ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कल्प-मर्यादायाः वर्णनं

नेरइयाणं ततो सरीरगा पं० तं०—वेउव्विते तेयए कम्मए, असुरकुमाराणं ततो सरीरगा पं० तं०—एवं चेव, एवं सव्वेसिं देवाणं, पुढविकाइयाणं ततो सरीरगा पं० तं०—ओरालिते तेयए कम्मते, एवं वाउकाइयवज्जाणं जाव चउरिंदियाणं (सू० २०७) गुरुं पडुच्च ततो पडिणीता पं० तं०—आयरियपडिणीते उवज्झायपडिणीते थेरपडिणीते १, गतिं पडुच्च ततो पडिणीया पं० तं०—इहलोगपडिणीए परलोगपडिणीए दुहओ लोगपडिणीए २, समूहं पडुच्च ततो पडिणीता पं० तं०—कुलपडिणीए गणपडिणीए संघपडिणीते ३, अणुकंपं पडुच्च ततो पडिणीया पं० तं०—तवस्सिपडिणीए गिलाणपडिणीए सेहपडिणीए ४, भावं पडुच्च ततो पडिणीता पं० तं०—णाणपडिणीए दंसणपडिणीए चरित्तपडिणीए ५, सुयं पडुच्च ततो पडिणीता पं० तं०—सुत्तपडिणीते अत्थपडिणीते तदुभयपडिणीए ६ (सू० २०८)

'नेरइयाण'मित्यादि, दण्डकः कण्ठ्यः, किन्तु 'एवं सव्वदेवाणं'ति यथा असुराणां त्रीणि शरीराणि एवं नागकुमारादिभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानाम्, एवं 'वाउकाइयवज्जाणं'ति, वायूनां हि आहारकवर्जानि चत्वारि शरीराणीति तद्वर्जनमेवं पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारि मनुष्याणां तु पञ्चापीति त इह न दर्शिताः। कल्पस्थितिव्यतिक्रामिणश्च प्रत्यनीका अपि भवन्तीति तानाह—'गुरु'मित्यादि सूत्राणि षड् व्यक्तानि, किन्तु गृणाति—अभिधत्ते तत्त्वमिति गुरुस्तं प्रतीत्य—आश्रित्य प्रत्यनीकाः—प्रतिकूलाः, स्थविरो जात्यादिभिः, एतत्प्रत्यनीकता चैवम्—"[1]जच्चाईहि अवण्णं विभासइ वट्टइ नयावि उववाए। अहिओ छिद्दप्पेही पगासवादी अणणुलोमो॥ १॥" [2]अहवावि वए एवं

१ जात्यादिभिरवर्णं विभाषते नोपपातेऽपि वर्त्तते अहितः छिद्रप्रेक्षी प्रकटवादी अननुलोमः॥ १॥ २ अथवाऽपि वदेदेवं




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उवएसं परस्स देंति एवं तु । दसविहवेयावच्चे कायव्व सयं न कुव्वंति ॥ २ ॥" इति, गतिः–मानुषत्वादिका तत्रेहलोकस्य–प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात् पञ्चाग्नितपस्विवदिहलोकप्रत्यनीकः, परलोको–जन्मान्तरं तत्प्रत्यनीकः इन्द्रियार्थतत्परो, द्विधालोकप्रत्यनीकश्चौर्यादिभिरिन्द्रियार्थसाधनपरः, यद्वा इहलोकप्रत्यनीक इहलोकोपकारिणां भोगसाधनादीनामुपद्रवकारीहलोकप्रत्यनीकः, एवं ज्ञानादीनामुपद्रवकारी परलोकप्रत्यनीकः, उभयेषां तु द्विधालोकप्रत्यनीक इति, अथवेहलोको–मनुष्यलोकः परलोको–नारकादिरुभयमेतदेव द्वितयं, प्रत्यनीकता तु तद्वितथप्ररूपणेति, कुलं चान्द्रादिकं तत्समूहो गणः कोटिकादिस्तत्समूहः सङ्घ इति, प्रत्यनीकता चैतेषां अवर्णवादादिभिरिति, कुलादिलक्षणं चेदम्–'ऐत्थ कुलं विन्नेयं एगायरियस्स संतई जा उ । तिण्ह कुलाण मिहो पुण सावेक्खाणं गणो होइ ॥ १ ॥ सव्वोऽवि नाणदंसणचरणगुणविभूसियाण समणाणं । समुदायो पुण संघो गुणसमुदाओत्तिकाऊणं ॥ २ ॥' अनुकम्पाम्–उपष्टम्भं प्रतीत्य–आश्रित्य तपस्वी–क्षपकः, ग्लानो–रोगादिभिरसमर्थः, शैक्षः–अभिनवप्रव्रजितः, एते ह्यनुकम्पनीया भवन्ति, तदकरणाकारणाभ्यां च प्रत्यनीकतेति, भावः–पर्यायः, स च जीवाजीवगतः, तत्र जीवस्य प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, तत्र प्रशस्तः क्षायिकादिः, अप्रशस्तो विवक्षयौदयिकः, क्षायिकादिश्च ज्ञानादिरूपः, ततो भावं–ज्ञानादि प्रतीत्य प्रत्यनीकस्तेषां वितथप्ररूपणतो दूषणतो वा, यथा–"पायैयसुत्तनिबद्धं को

१ परस्योपदेशं ददति एवमेव दशविधं वैयावृत्त्यं कर्त्तव्यं परं स्वयं न कुर्वन्ति ॥ २ ॥ २ अत्र कुलं विज्ञेयमेकाचार्यस्य या तु संततिः । त्रयाणां कुलानां मिथः सापेक्षाणां गणो भवति ॥१॥ सर्वोऽपि ज्ञानदर्शनचरणगुणविभूषितानां श्रमणानां । समुदायः पुनः संघः गुणसमुदाय इतिकृत्वा ॥२॥ ३ प्राकृतभाषानिबद्धमेतच्छ्रुतं को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा जाणइ पणीय केणेयं ? । किं वा चरणेणं तू दाणेण विणा उ किं हवइ ॥ १ ॥" इति, सूत्रं–व्याख्येयमर्थः–तद् व्याख्यानं निर्युक्त्यादिस्तदुभयं–द्वितयमिति तत्प्रत्यनीकता–"कोया वया य ते चिय ते चेव पमाय अप्पमाया य । मोक्खाहिगारियाणं जोइसजोणीहि किं कज्जं ? ॥ १ ॥" इत्यादिदूषणोद्भावनमिति । उक्ता कल्पस्थितिर्गर्भजमनुजानामेव तच्छरीरं च मातापितृहेतुकमिति तयोस्तदङ्गेषु हेतुत्वे विभागमाह—

ततो पितियंगा पं० तं०—अट्ठी अट्ठिमिंजा केसमंसुरोमनहे । तओ माउयंगा पं० तं०—मंसे सोणिते मत्थुलिंगे (सू० २०९)

सूत्रद्वयं कण्ठ्यं, केवलं पितुः–जनकस्याङ्गानि–अवयवाः पित्रङ्गानि प्रायः शुक्रपरिणतिरूपाणीत्यर्थः, अस्थि प्रतीतं १ अस्थिमिंजा–अस्थिमध्यरसः २ केशाश्च–शिरोजाः श्मश्रु च–कूर्चेः रोमाणि च–कक्षादिजातानि नखाश्च–प्रतीताः केशश्मश्रुरोमनखमित्येकमेव प्रायः समानत्वादिति । मात्रङ्गानि आर्त्तवपरिणतिप्रायाणीत्यर्थः, मांसं प्रतीतं, शोणितं–रक्तं, मस्तुलिङ्गं–शेषं मेदःफिप्फिसादि, कपालमध्यवर्त्ति भेज्जकमित्येके । पूर्वोक्तस्थविरकल्पस्थितिप्रतिपन्नस्य विशिष्टनिर्जराकारणान्यभिधातुमाह—

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं—कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा सुयं अहिज्जि-

१ वा जानाति केनेदं प्रणीतं ? । किंवा दानेन विना चारित्रेण भवति इति ॥ १ ॥ २ काया व्रतानि च तान्येव प्रमादा अप्रमादाश्च त एव । मोक्षाधिकारिणां ज्योतिर्योनिभिः किं कार्यम् ॥ २ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्सामि, कया णमहमेकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरिस्सामि, कया णमहमपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिते भत्तपाणपडियाइक्खिते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि, एवं स मणसा स वयसा स कायसा पागडेमाणे (पहोरमाणे) निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति । तिहिं ठाणेहिं समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं०—कया णमहमप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि १ कया णं अहं मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारितं पव्वइस्सामि २ कया णं अहं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिते भत्तपाणपडियातिक्खते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि ३, एवं स मणसा स वयसा स कायसा पागडेमाणे [ जागरमाणे ] समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति (सू० २१०)

**'तिहीं'त्यादि सुगमं, नवरं महती निर्जरा–कर्म्मक्षपणा यस्य स तथा महत्–प्रशस्तमात्यन्तिकं वा पर्यवसानं–पर्यन्तं समाधिमरणतोऽपुनर्मरणतो वा जीवितस्य यस्य स तथा, अत्यन्तं शुभाशयत्वादिति, 'एवं समणस'त्ति एवमुक्तलक्षणं त्रयं, स इति–साधुः 'मणस'त्ति मनसा ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात्, एवं स वयसत्ति वचसा स 'कायस'त्ति कायेनेत्यर्थः, सकारागमः प्राकृतत्वादेव, त्रिभिरपि करणैरित्यर्थः, अथवा स्वमनसेत्यादि, प्रधारयन्–पर्यालोचयन् क्वचित्तु पागडेमाणेत्ति पाठस्तत्र प्रकटयन् व्यक्तीकुर्वन्नित्यर्थः । यथा श्रमणस्य तथा श्रमणोपासकस्यापि त्रीणि निर्जरादिकारणानीति दर्शयन्नाह—'तिहीं'त्यादि, कण्ठ्यं । अनन्तरं कर्म्मनिर्जरोक्ता, सा च पुद्गलपरिणामविशेषरूपेतिपुद्गलपरिणामविशेषमभिधातुमाह—**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिविहे पोग्गलपडिघाते, पं० तं०—परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलं पप्प पडिहन्निज्जा लुक्खत्ताते वा पडिहण्णिज्जा लोगंते वा पडिहन्निज्जा (सू० २११) तिविहे चक्खू पं० तं—एगचक्खू बिचक्खू तिचक्खू, छउमत्थे णं मणुस्से एगचक्खू देवे बिचक्खू तहारूवे समणे वा माहणे वा उप्पन्ननाणदंसणधरे से णं तिचक्खूत्ति वत्तव्वं सिता (सू० २१२) तिविधे अभिसमागमे पं० तं०—उड्ढं अहं तिरियं, जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अतिसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जति से णं तप्पढमताते उड्ढमभिसमेति ततो तिरियं ततो पच्छा अहे, अहोलोगे णं दुरभिगमे पन्नत्ते समणाउसो ! (सू० २१३)

'तिविहे' इत्यादि, पुद्गलानाम्—अण्वादीनां प्रतिघातो—गतिस्खलनं पुद्गलप्रतिघातः, परमाणुश्चासौ पुद्गलश्च परमाणुपुद्गलः स तदन्तरं प्राप्य प्रतिहन्येत—गतेः प्रतिघातमापद्येत, रूक्षतया वा तथाविधपरिणामान्तरात् गतितः प्रतिहन्येत, लोकान्ते वा, परतो धर्म्मास्तिकायाभावादिति । पुद्गलप्रतिघातं च सचक्षुरेव जानातीति तन्निरूपणायाह—'तिविहे' इत्यादि, प्रायः कण्ठ्यं, चक्षुः—लोचनं तद् द्रव्यतोऽक्षि भावतो ज्ञानं तद्यस्यास्ति स तद्योगाच्चक्षुरेव, चक्षुष्मानित्यर्थः, स च त्रिविधः—चक्षुःसङ्ख्याभेदात्, तत्रैकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुरेवमितरावपि, छादयतीति छद्म—ज्ञानावरणादि तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः, स च यद्यप्यनुत्पन्नकेवलज्ञानः सर्व एवोच्यते तथापीहातिशयवत्श्रुतज्ञानादिवर्जितो विवक्षित इति एकचक्षुः चक्षुरिन्द्रियापेक्षया, देवो द्विचक्षुः चक्षुरिन्द्रियावधिभ्याम्, उत्पन्नमावरणक्षयोपशमेन ज्ञानं च—श्रुतावधिरूपं दर्शनं च—अवधिदर्शनरूपं यो धारयति—वहति स तथा य एवंभूतः स त्रिचक्षुः, चक्षुरिन्द्रियपरमश्रुतावधिभि-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिति वक्तव्यं स्यात्, स हि साक्षादिवावलोकयति हेयोपादेयानि समस्तवस्तूनि, केवली त्विह न व्याख्यातः, केवलज्ञानदर्शनलक्षणचक्षुर्द्वयकल्पनासम्भवेऽपि चक्षुरिन्द्रियलक्षणचक्षुष उपयोगाभावेनासत्कल्पतया तस्य चक्षुष्त्वयं न विद्यत इतिकृत्वेति, द्रव्येन्द्रियापेक्षया तु सोऽपि न विरुध्यत इति । चक्षुष्माननन्तरमुक्तः, तस्य चाभिसमागमो भवतीति तं दिग्भेदेन विभजयन्नाह—'तिविहे'इत्यादि, अभीत्यर्थाभिमुख्येन न तु विपर्यासरूपतया समिति—सम्यक् न संशयतया तथा आ—मर्यादया गमनमभिसमागमो—वस्तुपरिच्छेदः । इहैव ज्ञानभेदमाह—'जया ण'मित्यादि, 'अइसेस'त्ति शेषाणि—छद्मस्थज्ञानान्यतिक्रान्तमतिशेषं—ज्ञानदर्शनं तच्च परमावधिरूपमिति संभाव्यते, केवलस्य न क्रमेणोपयोगो येन तत्प्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवद्यं स्यादिति, तस्य—ज्ञानादेरुत्पादस्य प्रथमता तत्प्रथमता तस्यां 'उड्ढंति' ऊर्ध्वलोकमभिसमेति—समवगच्छति जानाति ततस्तिर्यगिति—तिर्यग्लोकं ततस्तृतीये स्थानेऽध इत्यधोलोकमभिसमेति, एवं च सामर्थ्यात् प्राप्तमधोलोको दुरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताधिगम्यत्वादिति, हे श्रमणायुष्मन्निति शिष्यामन्त्रणमिति । अनन्तरमभिसमागम उक्तः, स च ज्ञानं तच्चर्द्धिरिहैव वक्ष्यमाणत्वादिति ऋद्धिसाधर्म्यात् तद्भेदानाह—

तिविधा इड्ढी पं० तं०—देविड्ढी राइड्ढी गणिड्ढी १, देविड्ढी तिविहा पं० तं०—विमाणिड्ढी विगुव्वणिड्ढी परियारणिड्ढी २, अहवा देविड्ढी तिविहा पं० तं०—सचित्ता अचित्ता मीसिता ३, राइड्ढी तिविधा पं० तं०—रन्नो अतियाणिड्ढी रन्नो निज्जाणिड्ढी रण्णो बलवाहणकोसकोट्ठागारिड्ढी ४, अहवा रातिड्ढी तिविहा पं० तं०—सचित्ता अचित्ता मीसिता ५, गणिड्ढी तिविहा पं० तं०—णाणिड्ढी दंसणिड्ढी चरित्तिड्ढी६, अहवा गणिड्ढी तिविहा पं० तं०—सचित्ता अचित्ता मीसिया ७, (सू० २१४)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तिविहा इड्ढी'इत्यादि, सूत्राणि सप्त सुगमानि, नवरं देवस्य–इन्द्रादेर्ऋद्धिः ऐश्वर्यं देवर्द्धिरेवं राज्ञः–चक्रवर्त्यादेर्गणिनो–गणाधिपतेराचार्यस्येति १ । विमानानां विमानलक्षणा वा ऋद्धिः–समृद्धिः, द्वात्रिंशल्लक्षादिकं बाहुल्यं महत्त्वं रत्नादिरमणीयत्वं चेति विमानर्द्धिः, भवति च द्वात्रिंशल्लक्षादिकं सौधर्मादिषु विमानबाहुल्यम्, यथोक्तम्–"बत्तीस अट्ठवीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा । आरेण बंभलोगा विमाणसंखा भवे एसा ॥ १ ॥ पंचास चत्त छच्चेव सहस्सा लंतसुक्कसहस्सारे । सयचउरो आणयपाणएसु तिन्नारणच्चुयए ॥ २ ॥ एक्कारसुत्तर हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए । सयमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥ ३ ॥" इति, उपलक्षणं चैतत् भवननगराणामिति, वैक्रियकरणलक्षणा ऋद्धिर्वैक्रियर्द्धिः, वैक्रियशरीरैर्हि जम्बूद्वीपद्वयमसङ्ख्यातान् वा द्वीपसमुद्रान् पूरयन्तीति, उक्तं च भगवत्याम्–"चमरे णं भंते ! केमहिड्ढिए जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा ! चमरे णं जाव पभू णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य आइन्नं जाव करेत्तए, अदुत्तरं च णं गोयमा ! पभू चमरे जाव तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं आइन्ने जाव करित्तए, एस णं गोयमा ! चमरस्स ३ अयमेयारूवे विसयमेत्ते

१ द्वात्रिंशदष्टाविंशतिर्द्वादशाष्ट च चत्वारि शतसहस्राणि । आराद्ब्रह्मलोकात् विमानसंख्यैषा भवेत् ॥ १ ॥ पंचाशच्चत्वारिंशत् षट् सहस्राणि लान्तकशुक्रसहस्रारेषु चत्वारि शतान्यानतप्राणतयोस्त्रीण्यारणाच्युतयोः ॥ २ ॥ अधस्तने एकादशाधिकं मध्यमे सप्तोत्तरं शतं उपरितने एकं शतं अनुत्तरविमानानि पंचैव ॥ ३ ॥ २ चमरो भदन्त ! कीदृशो महर्द्धिको यावत्कियद्विकुर्वयितुं प्रभुः ? गौतम ! चमरो यावत्समर्थः केवलकल्पं जंबूद्वीपं बहुभिरसुरकुमारनिकायैः देवैः देवीभिश्च आकीर्णं यावत् कर्त्तुं, अथ च गौतम ! प्रभुश्चमरो यावत्तिर्यगसंख्येयद्वीपसमुद्रान् बहुभिरसुरकुमारनिकायैराकीर्णान् यावत्कर्त्तुं, एष गौतम ! चमरस्य एतादृशस्वरूपः विषयमात्र उक्तः




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु ३, एवं सक्केऽवि दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे जाव आइन्ने करेज्ज"त्ति, परिचारणा–कामासेवा तद्वद्धिः अन्यान् देवानन्यसत्का देवीः स्वकीया देवीरभियुज्यात्मानं च विकृत्य परिचारयतीत्येवमुक्तलक्षणेति २। सचित्ता–स्वशरीराग्रमहिष्यादिसचेतनवस्तुसम्पत् अचेतना–वस्त्राभरणादिविषया मिश्रा–अलङ्कृतदेव्यादिरूपा ३। अतियानं–नगरप्रवेशः, तत्र ऋद्धि–तोरणहट्टशोभाजनसम्मर्दादिलक्षणा निर्यानं–नगरान्निर्गमः तत्र ऋद्धिः–हस्तिकल्पनसामन्तपरिवारादिका बलं–चतुरङ्गं वाहनानि–वेगसरादीनि कोशो–भाण्डागारं कोष्ठा–धान्यभाजनानि तेषामगारं–गेहं कोष्ठागारं धान्यगृहमित्यर्थः तेषां तान्येव वा ऋद्धिर्या सा तथा ४। सचित्तादिका पूर्ववद् भावनीयेति ५। ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसम्पत्, दर्शनर्द्धिः–प्रवचने निःशङ्कितादित्वं प्रवचनप्रभावकशास्त्रसम्पद्वा चारित्रर्द्धिर्निरतिचारता ६। सचित्ता शिष्यादिका अचित्ता वस्त्रादिका मिश्रा तथैवेति ७। इह च विकुर्वणादिऋद्धयोऽन्येषामपि भवन्ति, केवलं देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्ता इति। ऋद्धिसद्भावे च गौरवं भवतीति तद्भेदानाह—

ततो गारवा पं० तं०—इड्ढीगारवे रसगारवे सातागारवे (सू० २१५) तिविधे करणे पं० तं०—धम्मिते करणे अधम्मिए करणे धम्मिताधम्मिए करणे (सू० २१६) तिविहे भगवता धम्मे पं० तं०—सुअधिज्झिते सुज्झातिते सुतवस्सिते, जया सुअधिज्झितं भवति तदा सुज्झातियं भवति जया सुज्झातियं भवति तदा सुतवस्सियं भवति, से सुअधिज्झिते सुज्झातिते सुतवस्सिते सुतक्खाते णं भगवता धम्मे पण्णत्ते (सू० २१७)

१ न चैव संपत्त्या व्यकार्षीत् विकरोति विकरिष्यति। एवं शक्रोऽपि द्वौ केवलकल्पौ जंबूद्वीपौ द्वीपौ आकीर्णौ यावत्कुर्यात्॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तओ गारवे'त्यादि व्यक्तं, परं गुरोर्भावः कर्म्म वेति गौरवं, तच्च द्वेधा–द्रव्यतो वज्रादेर्भावतोऽभिमानलोभलक्षणाशुभभाववत आत्मनः, तत्र भावगौरवं त्रिधा, तत्र ऋद्ध्या–नरेन्द्रादिपूजालक्षणया आचार्यत्वादिलक्षणया वा अभिमानाद्दिद्वारेण गौरवं ऋद्धिगौरवं, ऋद्धिप्राप्त्यभिमानाप्राप्तप्रार्थनाद्वारेणात्मनोऽशुभभावो भावगौरवमित्यर्थः, एवमन्यत्रापि, नवरं रसो–रसनेन्द्रियार्थो मधुरादिः सातं–सुखमिति, अथवा ऋद्ध्यादिषु गौरवमादर इति । अनन्तरं चारित्रर्द्धिरुक्ता, चारित्रं च करणमिति तद्भेदानाह—'तिविहे'इत्यादि, कृतिः करणमनुष्ठानं, तच्च धार्म्मिकादिस्वामिभेदेन त्रिविधं, तत्र धार्म्मिकस्य–संयतस्येदं धार्म्मिकमेवमितरे, नवरमधार्म्मिकः–असंयतस्तृतीयो देशसंयतः, अथवा धर्म्मे भवं धर्म्मो वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकं, विपर्यस्तमितरत्, एवं तृतीयमपीति । धार्म्मिककरणमनन्तरमुक्तं, तच्च धर्म एवेति तद्भेदानाह—'तिविहे'इत्यादि स्पष्टं, केवलं भगवता महावीरेणेत्येवं जगाद सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीति, सुष्ठु–कालविनयाद्याराधनेनाधीतं–गुरुसकाशात् सूत्रतः पठितं स्वधीतं, तथा सुष्ठु–विधिना तत एव व्याख्यानेनार्थतः श्रुत्वा ध्यातम्–अनुप्रेक्षितं, श्रुतमिति गम्यं सुध्यातम्, अनुप्रेक्षणाऽभावे तत्त्वानवगमेनाध्ययनश्रवणयोः प्रायोऽकृतार्थत्वादिति, अनेन भेदद्वयेन श्रुतधर्म्म उक्तः, तथा सुष्ठु–इहलोकाद्याशंसारहितत्वेन तपस्यितं–तपस्यानुष्ठानं, सुतपस्यितमिति च चारित्रधर्म्म उक्त इति, त्रयाणामप्येषामुत्तरोत्तरतोऽविनाभावं दर्शयति—'जया'इत्यादि व्यक्तं, परं निर्दोषाध्ययनं विना श्रुतार्थाप्रतीतेः सुध्यातं न भवति तदभावे ज्ञानविकलतया सुतपस्यितं न भवतीति भावः, यदेतत्–स्वधीतादित्रयं भगवता वर्द्धमानस्वामिना धर्म्मः प्रज्ञप्तः 'से'त्ति स स्वाख्यातः–सुष्ठूक्तः सम्यग्ज्ञानक्रियारूपत्वात्, तयोश्चैका-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्तिकात्यन्तिकसुखावन्ध्योपायत्वेन निरुपचरितधर्म्मत्वात्, सुगतिधारणाद्धि धर्म्म इति, उक्तं च–"नाणं पयासयं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो। तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ १ ॥" इति, [ज्ञानं प्रकाशकं शोधकं तपः संयमस्तु गुप्तिकरः। त्रयाणामपि समायोगो मोक्षो जिनशासने भणितः ॥ १ ॥] णमिति वाक्यालङ्कारे। सुतपस्वितमिति चारित्रमुक्तं, तच्च प्राणातिपातादिविनिवृत्तिस्वरूपमिति तस्या भेदानाह—

तिविधा वावत्ती पं० तं०—जाणू अजाणू वितिगिच्छा, एवमज्झोववज्जणा परियावज्जणा (सू० २१८) तिविधे अंते पं० तं०—लोगंते वेयंते समयंते (सू० २१९) ततो जिणा पं० तं०—ओहिणाणजिणे मणपज्जवणाणजिणे केवलणाणजिणे १, ततो केवली पं० तं०—ओहिनाणकेवली मणपज्जवनाणकेवली केवलनाणकेवली २, तओ अरहा, पं० तं०—ओहिनाणअरहा मणपज्जवनाणअरहा केवलनाणअरहा ३ (सू० २२०)

'तिविहे'त्यादि, व्यावर्त्तनं व्यावृत्तिः, कुतोऽपि हिंसाद्यवधेर्निवृत्तिरित्यर्थः, सा च या ज्ञस्य–हिंसादेर्हेतुस्वरूपफलविदुषो ज्ञानपूर्विका व्यावृत्तिः, सा तदभेदात् जाणुत्ति गदिता, या त्वज्ञस्याज्ञानात् सा अजाणू इत्यभिहिता, या तु विचिकित्सातः–संशयात् सा निमित्तनिमित्तिनोरभेदाद्विचिकित्सेत्यभिहिता। व्यावृत्तिरित्यनेनानन्तरं चारित्रमुक्तं तद्विपक्षश्चाशुभाध्यवसायानुष्ठाने इति तयोरधुना भेदानतिदेशत आह—'एव'मित्यादि सूत्रे, 'एव'मिति व्यावृत्तिरिव त्रिधा 'अज्झोववज्जण'त्ति अध्युपपादनं क्वचिदिन्द्रियार्थे अध्युपपत्तिरभिष्वङ्ग इत्यर्थः तत्र जानतो विषयजन्यमनर्थं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या तत्राध्युपपत्तिः सा जाणू या त्वजानतः सा अजाणू या तु संशयवतः सा विचिकित्सेति, 'परियावज्जण'त्ति पर्यापदनं पर्यापत्तिरासेवेतियावत्, साऽप्येवमेवेति । 'जाणु'त्ति ज्ञः, स च ज्ञानात् स्यादित्युक्तं, ज्ञानं चातीन्द्रियार्थेषु प्रायः शास्त्रादिति शास्त्रभेदेन तद्भेदानाह—'तिविहे अंते'इत्यादि, अमनमधिगमनमन्तः—परिच्छेदः, तत्र लोको—लोकशास्त्रं तत्कृतत्वात् तदध्येयत्वाच्चार्थशास्त्रादिः तस्मादन्तो—निर्णयस्तस्य वा परमरहस्यं पर्यन्तो वेति लोकान्तः, एवमितरावपि, नवरं वेदा ऋगादयः ४ समया जैनादिसिद्धान्ता इति । अनन्तरं समयान्त उक्तः, समयश्च जिनकेवल्यर्हच्छब्दवाच्यैरुक्तः सम्यग्भवतीति जिनादिशब्दवाच्यभेदानभिधातुं त्रिसूत्रीमाह—'तओ जिणे'त्यादि, सुगमा, नवरं रागद्वेषमोहान् जयन्तीति जिनाः—सर्वज्ञाः, उक्तं च—"रागो द्वेषस्तथा मोहो, जितो येन जिनो ह्यसौ । अस्त्रीशस्त्राक्षमालत्वादर्हन्नेवानुमीयते ॥ १ ॥" इति, तथा जिना इव ये वर्त्तन्ते निश्चयप्रत्यक्षज्ञानतया तेऽपि जिनास्तत्रावधिज्ञानप्रधानो जिनोऽवधिजिनः एवमितरावपि, नवरमाद्यावुपचरितावितरौ निरुपचारः, उपचारकारणं तु प्रत्यक्षज्ञानित्वमिति, केवलम्—एकमनन्तं पूर्णं वा ज्ञानादि येषामस्ति ते केवलिनः, उक्तं च—"कसिणं केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पासंति । केवलचरित्तणाणी तम्हा ते केवली होंति ॥ १ ॥" इति, इहापि जिनवद् व्याख्या, अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः, अथवा नास्ति रहः—प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात्ते अरहसः, शेषं प्राग्वत् । एते च सलेश्या अपि भवन्तीति लेश्याप्रकरणमाह—

१ कृत्स्नं केवलकल्पं लोकं जानाति पश्यति च । केवलचारित्रज्ञानी तस्मात्स केवली भवति ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततो लेसाओ दुब्भिगंधाओ पं० तं०—कण्हलेसा णीललेसा काउलेसा १, तओ लेसाओ सुब्भिगंधाओ पं० तं०—तेऊ० पम्ह० सुक्कलेसा २ एवं दोग्गतिगामिणीओ ३ सोगतिगामिणीओ ४ संकिलिट्ठाओ ५ असंकिलिट्ठाओ ६ अमणुन्नाओ ७ मणुन्नाओ ८ अविसुद्धाओ ९ विसुद्धाओ १० अप्पसत्थाओ ११ पसत्थाओ १२ सीतलुक्खाओ १३ णिद्धुण्हाओ १४ (सू० २२१) तिविहे मरणे पं० तं०—बालमरणे पंडियमरणे बालपंडियमरणे, बालमरणे तिविहे पं० तं०—ठितलेसे संकिलिट्ठलेसे पज्जवजातलेसे, पंडियमरणे तिविहे पं० तं०—ठितलेसे असंकिलिट्ठलेसे पज्जवजातलेसे ३, बालपंडितमरणे तिविधे पं० तं०—ठितलेस्से असंकिलिट्ठलेसे अपज्जवजातलेसे ४ (सू० २२२)

'तओ'इत्यादि सुगमं, नवरं 'दुब्भिगंधाओ'त्ति दुरभिगन्धा दुर्गन्धाः, दुरभिगन्धत्वं च तासां पुद्गलात्मकत्वात्, पुद्गलानां च गन्धादीनां अवश्यंभावादिति, आह च–"[1]जह गोमडस्स गंधो सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स। एत्तोवि अणंतगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १ ॥" इति, नामानुसारी चासां वर्णः, कपोतवर्णा लेश्या कपोतलेश्या, धूम्रवर्णेत्यर्थः, 'सुब्भिगंधाओ'त्ति सुरभिगन्धयः, आह च–"[2]जह सुरभिकुसुमगंधो गंधो वासाण पिस्समाणाणं। एत्तोवि अणंतगुणो पसत्थलेसाण तिण्हंपि ॥ १ ॥" इति, तेजो–वह्निस्तद्वर्णा लेश्या लोहितवर्णेत्यर्थः, तेजोलेश्येति, पद्मगर्भ-

१ यथा गोशवस्य गन्धो श्वशवस्याहिशवस्य वा गन्धः इतोऽप्यनन्तगुणोऽप्रशस्तानां लेश्यानां गन्धः ॥ १ ॥ २ यथा सुरभिकुसुमगन्धो गन्धो वासानां पिष्यमाणानां। इतोऽप्यनन्तगुणः प्रशस्तानां तिसृणामपि लेश्यानाम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्णा लेश्या पीतवर्णेत्यर्थः पद्मलेश्या, शुक्ला प्रतीता, एवंकरणात्प्रथमसूत्रवत्। 'तओ' इत्याद्यभिलापेन शेषसूत्राण्यध्येयानीति, तत्र दुर्गतिं–नरकतिर्यग्रूपां गमयन्ति प्राणिनमिति दुर्गतिगामिन्यः, सुगतिः–मनुष्यदेवगतिरूपा, सङ्क्लिष्टाः सङ्क्लेशहेतुत्वादिति, विपर्ययः सर्वत्र सुज्ञानः, अमनोज्ञाः अमनोज्ञरसोपेतपुद्गलमयत्वात्, अविशुद्धा वर्णतः, अप्रशस्ताः–अश्रेयस्योऽनादेया इत्यर्थः, शीतरूक्षाः स्पर्शतः आद्याः, द्वितीयास्तु स्निग्धोष्णाः स्पर्शत एवेति। अनन्तरं लेश्या उक्ता, अधुना तद्विशेषितमरणनिरूपणायाह—'तिविहे' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं, बालः–अज्ञस्तद्वद् यो वर्त्तते विरतिसाधकविवेकविकलत्वात् स बालः–असंयतस्तस्य मरणं बालमरणम्, एवमितरे, केवलं–पडिधातोर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वाद्विरतिफलेन फलवद्विज्ञानसंयुक्तत्वात् पण्डितो–बुद्धतत्त्वः संयत इत्यर्थः, तथा अविरतत्वेन बालत्वाद्विरतत्वेन च पण्डितत्वाद् बालपण्डितः–संयतासंयत इति, स्थिता–अवस्थिता अविशुध्यन्त्यसङ्क्लिश्यमाना च लेश्या कृष्णादिर्यस्मिन् तत्स्थितलेश्यः, सङ्क्लिष्टा–सङ्क्लिश्यमाना सङ्क्लेशमागच्छन्तीत्यर्थः, सा लेश्या यस्मिंस्तत्तथा, तथा पर्यवाः–पारिशेष्याद्विशुद्धिविशेषाः प्रतिसमयं जाता यस्यां सा तथा, विशुध्या वर्द्धमानेत्यर्थः, सा लेश्या यस्मिंस्तत्तथेति, अत्र प्रथमं कृष्णादिलेश्यः सन् यदा कृष्णादिलेश्येष्वेव नारकादिषूत्पद्यते तदा प्रथमं भवति, यदा तु नीलादिलेश्यः सन् कृष्णादिलेश्येषूत्पद्यते तदा द्वितीयं, यदा पुनः कृष्णलेश्यादिः सन् नीलकापोतलेश्येषूत्पद्यते तदा तृतीयम्, उक्तं चान्यद्व्यसंवादि भगवत्याम् यदुत—"[1]से णूणं भंते! कण्हलेसे नीललेसे जाव सुक्कलेसे भवित्ता काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ?, हंता,

१ अथ नूनं भदन्त! कृष्णलेश्यो नीललेश्यो यावच्छुक्ललेश्यो भूत्वा कापोतलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते



॥ १७५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोयमा !, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! लेसाठाणेसु संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसु वा काउलेस्सं परिणमइ २ काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ"त्ति, एतदनुसारेणोत्तरसूत्रयोरपि स्थितलेश्यादिविभागो नेय इति। पण्डितमरणे सङ्क्लिश्यमानता लेश्याया नास्ति संयतत्वादेवेत्ययं बालमरणाद्विशेषः, बालपण्डितमरणे तु सङ्क्लिश्यमानता विशुद्ध्यमानता च लेश्याया नास्ति, मिश्रत्वादेवेत्ययं विशेष इति। एवं च पण्डितमरणं वस्तुतो द्विविधमेव, सङ्क्लिश्यमानलेश्यानिषेधे अवस्थितवर्द्धमानलेश्यत्वात् तस्य, त्रिविधत्वं तु व्यपदेशमात्रादेव, बालपण्डितमरणं त्वेकविधमेव, सङ्क्लिश्यमानपर्यवजातलेश्यानिषेधे अवस्थितलेश्यत्वात् तस्येति, त्रैविध्यं त्वस्येतरव्यावृत्तितो व्यपदेशत्रयप्रवृत्तेरिति । मरणमनन्तरमुक्तं, मृतस्य तु जन्मान्तरे यथाविधस्य यद्वस्तुत्रयं यस्मै सम्पद्यते तस्य तत्तस्मै दर्शयितुमाह—

ततो ठाणा अव्ववसितस्स अहिताते असुभाते अखमाते अणिस्सेसाते अणाणुगामियत्ताते भवंति, तं०—से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिते णिग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते वितिगिच्छिते भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं णो सद्दहति णो पत्तियति णो रोएति तं परिस्सहा अभिजुंजिय २ अभिभवंति, णो से परिस्सहे अभिजुंजिय २ अभिभवइ १, से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारितं पव्वतिते पंचहिं महव्वएहिं संकिते जाव कलुससमावन्ने पंच महव्वताइं नो सद्दहति जाव णो से परिस्सहे अभिजुंजिय २ अभिभवति, से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिते छहिं

१ गौतमैवं, अथ केनार्थेन भदन्तैवमुच्यते गौतम! लेश्यास्थानेषु संक्लिश्यमानेषु विशुद्ध्यमानेषु वा कापोतलेश्यां परिणमते परिणम्य च कापोतलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवनिकाएहिं जाव अभिभवइ ३ । ततो ठाणा ववसियस्स हिताते जाव आणुगामितत्ताते भवंति, तं०—से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिते णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिते णिक्कंखिते जाव नो कलुससमावन्ने णिग्गंथं पावयणं सद्दहति पत्तियति रोतेति से परिस्सहे अभिजुंजिय २ अभिभवति, नो तं परिस्सहा अभिजुंजिय २ अभिभवंति १, से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिते समाणे पंचहिं महव्वएहिं णिस्संकिए णिक्कंखिए जाव परिस्सहे अभिजुंजिय २ अभिभवइ, नो तं परिस्सहा अभिजुंजिय २ अभिभवंति २, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए छहिं जीवनिकाएहिं णिस्संकिते जाव परिस्सहे अभिजुंजिय २ अभिभवति, नो तं परिस्सहा अभिजुंजिअ २ अभिभवंति ३ (सू० २२३)

'तओ ठाणे'त्यादि, त्रीणि स्थानानि—प्रवचनमहाव्रतजीवनिकायलक्षणानि अव्यवसितस्य—अनिश्चयवतोऽपराक्रमवतो वाऽहिताय—अपथ्यायासुखाय—दुःखाय अक्षमाय—असङ्गतत्वाय अनिःश्रेयसाय—अमोक्षायाननुगामिकत्वाय—अशुभानुबन्धाय भवन्ति, 'से णं'ति यस्य त्रीणि स्थानान्यहितादित्वाय भवन्ति स शङ्कितो—देशतः सर्वतो वा संशयवान्, काङ्क्षितस्तथैव मतान्तरस्यापि साधुत्वेन मन्ता विचिकित्सितः—फलं प्रति शङ्कोपेतः अत एव भेदसमापन्नो—द्वैधीभावमापन्नः—एवमिदं न चैवमितिमतिकः कलुषसमापन्नो—नैतदेवमितिप्रतिपत्तिकः, ततश्च निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थं प्रशस्तं प्रगतं प्रथमं वा वचनमिति प्रवचनम्—आगमो दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, न श्रद्धत्ते सामान्यतो न प्रत्येति—न प्रीतिविषयीकरोति नो रोचयति—न चिकीर्षाविषयीकरोति 'त'मिति य एवंभूतस्तं प्रव्रजिताभासं परिसहन्त इति परीषहाः—क्षुदादयः अ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

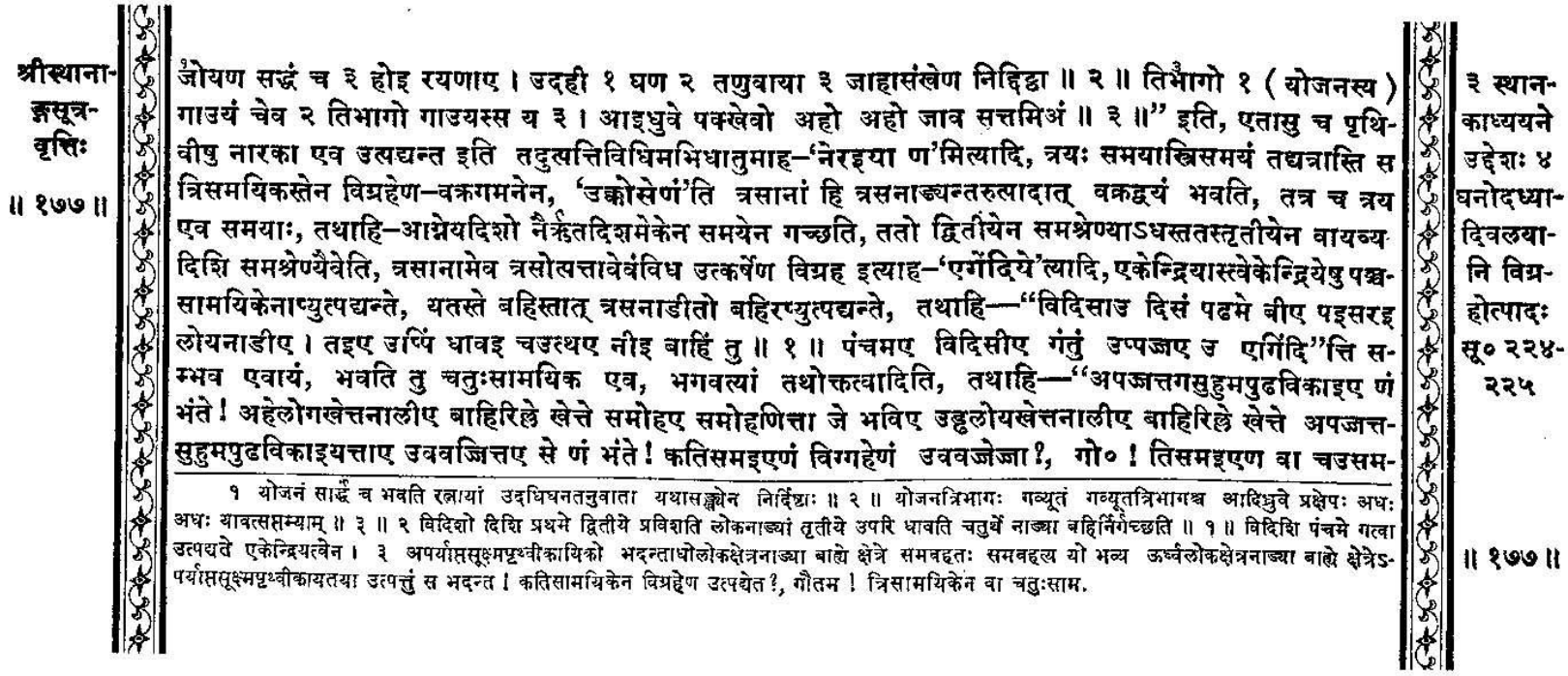
भियुज्य २–सम्बन्धमुपगत्य प्रतिस्पर्द्धां वा अभिभवन्ति–न्यक्कुर्वन्तीति, शेषं सुगमम् । उक्तविपर्ययसूत्रं प्राग्वत्, किन्तु हितम्–अदोषकरमिह परत्र चात्मनः परेषां च पथ्यान्नभोजनवत्, सुखम्–आनन्दस्तृषितस्य शीतलजलपान इव क्षमम्–उचितं तथाविधव्याधिव्याधातकौषधपानमिव निःश्रेयसं–निश्चितं श्रेयः–प्रशस्यं भावतः पञ्चनमस्कारकरणमिव अनुगामिकम्–अनुगमनशीलं भास्वरद्रव्यजनितच्छायेवेति । अयं चैवंविधः साधुरिहैव पृथिव्यां भवतीत्यर्थेन सम्बन्धेन पृथिवीस्वरूपमाह—

एगमेगा णं पुढवी तिहिं वलएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, तं०—घणोदधिवलएणं घणवातवलएणं तणुवायवलएणं (सू० २२४) णेरइया णं उक्कोसेणं तिसमतितेणं विग्गहेणं उववज्जंति, एगिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं (सू० २२५)

'एगमेगे'त्यादि, एकैका पृथ्वी रत्नप्रभादिका सर्व्वतः, किमुक्तं भवति?–समन्तादथवा दिक्षु विदिक्षु चेत्यर्थः 'सम्परिक्षिप्ता' वेष्टिता आभ्यन्तरं घनोदधिवलयं ततः क्रमेणेतरे, तत्र घनः–स्थानो हिमशिलावत् उदधिः–जलनिचयः स चासौ स चेति घनोदधिः स एव वलयमिव वलयं–कटकं घनोदधिवलयं तेन, एवमितरे अपि, नवरं घनश्चासौ वातश्च तथाविधपरिणामोपेतो घनवातः, एवं तनुवातोऽपि तथाविधपरिणाम एवेति, भवन्त्यत्र गाथाः—"[1]नवि अ फुसंति अलोगं चउसुंपि दिसासु सव्वपुढवीओ । संगहिया वलएहिं विक्खंभं तेसि वोच्छामि ॥ १ ॥ छच्चेव १ अद्धपंचम २

१ नैव च स्पृशंति अलोकं चतसृष्वपि दिक्षु सर्वाः पृथ्व्यः संगृहीता वलयैर्विष्कंभं तेषां वक्ष्ये ॥ १ ॥ षट् चैवार्द्धपञ्चमानि ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १७७ ॥

जोयण सद्धं च ३ होइ रयणाए । उदही १ घण २ तणुवाया ३ जाहासंखेण निद्दिट्ठा ॥ २ ॥ तिभागो १ ( योजनस्य ) गाउयं चेव २ तिभागो गाउयस्स य ३ । आइधुवे पक्खेवो अहो अहो जाव सत्तमिअं ॥ ३ ॥" इति, एतासु च पृथिवीषु नारका एव उत्पद्यन्त इति तदुत्पत्तिविधिमभिधातुमाह–'नेरइया ण'मित्यादि, त्रयः समयास्त्रिसमयं तद्यत्रास्ति स त्रिसमयिकस्तेन विग्रहेण–वक्रगमनेन, 'उक्कोसेणं'ति त्रसानां हि त्रसनाड्यन्तरुत्पादात् वक्रद्वयं भवति, तत्र च त्रय एव समयाः, तथाहि–आग्नेयदिशो नैर्ऋतदिशमेकेन समयेन गच्छति, ततो द्वितीयेन समश्रेण्याऽधस्ततस्तृतीयेन वायव्यदिशि समश्रेण्यैवेति, त्रसानामेव त्रसोत्पत्तावेवंविध उत्कर्षेण विग्रह इत्याह–'एगिंदिये'त्यादि, एकेन्द्रियास्त्वेकेन्द्रियेषु पञ्चसामयिकेनाप्युत्पद्यन्ते, यतस्ते बहिस्तात् त्रसनाडीतो बहिरप्युत्पद्यन्ते, तथाहि—"विदिसाउ दिसं पढमे बीए पइसरइ लोयनाडीए । तइए उप्पिं धावइ चउत्थए नीइ बाहिं तु ॥ १ ॥ पंचमए विदिसीए गंतुं उप्पज्जए उ एगिंदि"त्ति सम्भव एवायं, भवति तु चतुःसामयिक एव, भगवत्यां तथोक्तत्वादिति, तथाहि—"अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! अहेलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?, गो० ! तिसमइएण वा चउसम-

१ योजनं सार्द्धं च भवति रत्नायां उदधिघनतनुवाता यथासङ्ख्येन निर्दिष्टाः ॥ २ ॥ योजनत्रिभागः गव्यूतं गव्यूतत्रिभागश्च आदिधुवे प्रक्षेपः अधः अधः यावत्सप्तम्याम् ॥ ३ ॥ २ विदिशो दिशि प्रथमे द्वितीये प्रविशति लोकनाड्यां तृतीये उपरि धावति चतुर्थे नाड्या बहिर्निर्गच्छति ॥ १ ॥ विदिशि पंचमे गत्वा उत्पद्यते एकेन्द्रियत्वेन । ३ अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिको भदन्ताधोलोकक्षेत्रनाड्या बाह्ये क्षेत्रे समवहतः समवहत्य यो भव्य ऊर्ध्वलोकक्षेत्रनाड्या बाह्ये क्षेत्रेऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायतया उत्पत्तुं स भदन्त ! कतिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्येत ?, गौतम ! त्रिसामयिकेन वा चतुःसाम.

३ स्थानकाध्ययने उद्देशः ४ घनोदध्यादिवलयानि विग्रहोत्पादः सू० २२४-२२५

॥ १७७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इएंण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा" इत्यादि, विशेषणवत्यामप्युक्तम्—"सुत्ते चउसमयाओ नत्थि गई उ परा विणिद्दिट्ठा। जुज्जइ य पंचसमया जीवस्स इमा गई लोए ॥ १ ॥ जो तमतमविदिसाए समोहओ बंभलोगविदिसाए । उववज्जई गईए सो नियमा पंचसमयाए ॥ २ ॥ उववायाभावाओ न पंचसमयाहवा न संतावि । भणिया जह चउसमया महल्लबंधे न सन्तावि ॥ ३ ॥" इति, अत उक्तम्—'एगिंदियवज्जं'ति, यावद्वैमानिकानामिति—वैमानिकान्तानां जीवानां त्रिसामयिक उत्कर्षेण विग्रहो भवतीति भावः । मोहवतां त्रिस्थानकमभिधायाधुना क्षीणमोहस्य तदाह—

खीणमोहस्स णं अरहओ ततो कम्मंसा जुगवं खिज्जंति, तं०—नाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं अंतरातियं (सू० २२६) अभितीणक्खत्ते तितारे पं० १ एवं सवणो २ अस्सिणी ३ भरणी ४ मगसिरे ५ पूसे ६ जेट्ठा ७ (सू० २२७) धम्मातो णं अरहाओ संती अरहा तिहिं सागरोवमेहिं तिचउब्भागपलिओवमऊणएहिं वीतिक्कंतेहिं समुप्पन्ने (सू० २२८) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव तचाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकरभूमी, मल्ली णं अरहा तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वतिते, एवं पासेवि (सू० २२९) समणस्स णं भगवतो महावीरस्स तिन्नि सया चउद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवातीणं जिण इव अवितहवागरमाणाणं उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया हुत्था (सू० २३०) तओ तित्थयरा चक्कवट्टी होत्था तं०—संती कुंथू अरो ३ (सू० २३१)

१ यिकेन वापि विग्रहेणोत्पद्यते ॥ २ सूत्रे चतुःसमयाया गत्याः परा गतिर्न निर्दिष्टा युज्यते च पंचसमया जीवस्यैषा गतिर्लोके ॥ १ ॥ यस्तमस्तमोविदिशि समवहतो ब्रह्मलोकविदिशि उत्पद्यते स नियमात् पंचसमयया गत्या ॥ २ ॥ उत्पादाभावान्न पंचसमया अथवा सत्यपि न भणिता यथा चतुःसमया महत्प्रबन्धे सत्यपि ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२३१]

दीप अनुक्रम [२४५]



'खीणे'त्यादि 'क्षीणमोहस्य' क्षीणमोहनीयकर्म्मणोऽर्हतो–जिनस्य त्रयः कर्मांशाः–कर्म्मप्रकृतय इति, उक्तं च—"[1]चरमे नाणावरणं पंचविहं दंसणं चउविगप्पं । पंचविहमंतरायं खवइत्ता केवली होइ ॥ १ ॥" इति, शेषं कण्ठ्यम् । अनन्तरमशाश्वतानां त्रिस्थानकमुक्तम्, अधुना शाश्वतानां तदाह—'अभी'त्यादि सूत्राणि सप्त कण्ठ्यानीति । परम्परसूत्रे क्षीणमोहस्य त्रिस्थानकमुक्तमधुना तद्विशेषाणां तीर्थकृतां तदाह—'धम्मे'त्यादि प्रकरणं, 'तिचउब्भाग'त्ति त्रिभिश्चतुर्भागैः–पादैः पल्योपमस्य सत्कैरूनानि त्रिचतुर्भागपल्योपमोनानि तैर्व्यतिक्रान्तैरिति, उक्तं च–"[2]धम्मजिणाओ संती तिहि उ तिचउभागपलियऊणेहिं । अयरेहिं समुप्पन्नो"त्ति । 'समणस्से'त्यादि, युगानि पञ्चवर्षमानानि कालविशेषा लोकप्रसिद्धानि वा कृतयुगादीनि तानि च क्रमव्यवस्थितानि ततश्च पुरुषा गुरुशिष्यक्रमिणः पितापुत्रक्रमवन्तो वा युगानीव पुरुषयुगानि, पुरुषसिंहवत्समासः, ततश्च पञ्चम्या द्वितीयार्थत्वात् तृतीयं पुरुषयुगं यावत्, जम्बूस्वामिनं यावदित्यर्थः, 'युग'त्ति पुरुषयुगं तदपेक्षयाऽन्तकराणां–भवान्तकारिणां निर्वाणगामिनामित्यर्थः, भूमिः–कालो युगान्तकरभूमिः, इदमुक्तं भवति–भगवतो वर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे तस्मादेवावधेस्तृतीयं पुरुषं जम्बूस्वामिनं यावन्निर्वाणमभूत्, तत उत्तरं तद्व्यवच्छेद इति । 'मल्ली'त्यादि सूत्रद्वयं, तत्र संवादः—"एगो भगवं वीरो पासो मल्ली य तिहिं तिहिं सएहिं"ति मल्लिजिनः स्त्रीशतैरपि त्रिभिः । 'समणे'त्यादि, 'अजिणाणं'ति असर्वज्ञत्वेन जिनसंकाशानां सकलसंशयच्छेद-

१ चरमसमये पंचविधं ज्ञानावरणं चतुर्विकल्पं दर्शनावरणं अंतरायं पंचविधं क्षपयित्वा केवली भवति ॥ १ ॥ २ धर्मजिनाच्छान्तिः चतुर्भागोनपल्यैस्त्रिभिः पल्यैः त्रिभिरर्तरैः समुत्पन्नः ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कत्वेन सर्व्वे–सकला अक्षरसन्निपाताः–अकारादिसंयोगा विद्यन्ते येषां ते तथा स्वार्थिकेन्प्रत्ययोपादानात् तेषां, विदितसकलवाङ्मयानामित्यर्थः, 'वागरमाणाण'न्ति व्याकुर्वतामित्यर्थः । 'तओ' इत्यादि, अत्रोक्तम्—"'संती कुंथू अ अरो अरहंता चेव चक्कवट्टी य । अवसेसा तित्थयरा मंडलिआ आसि रायाणो ॥ १ ॥" इति । तीर्थकराश्चैते विमानेभ्योऽवतीर्णा इति विमानत्रिस्थानकमाह—

ततो गेविज्जविमाणपत्थडा पन्नत्ता तं०—हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उपरिमगेविज्जविमाणपत्थडे, हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पं० तं०—हेट्ठिम २ गेविज्जविमाणपत्थडे हेट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे हेट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे, मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पं० तं०—मज्झिमहेट्ठिमगेवेज्जविमाणपत्थडे मज्झिम २—गेविज्ज० मज्झिमउवरिमगेविज्ज०, उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पं० तं०—उवरिमहेट्ठिमगेविज्ज० उवरिममज्झिमगेविज्ज० उवरिम २ गेविज्जविमाणपत्थडे (सू० २३२) जीवाणं तिट्ठाणणिव्वत्तिते पोग्गले पावकम्मत्ताते चिणिंसु वा चिणिंति वा चिणिस्संति वा, तं०—इत्थिणिव्वत्तिते पुरिसनिव्वत्तिए णपुंसगनिव्वत्तिते, एवं चिणउवचिणबंधउदीरवेद तह णिज्जरा चेव (सू० २३३) तिपतेसिता खंधा अणंता पण्णत्ता, एवं जाव तिगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पन्नत्ता । (सू० २३४) तिट्ठाणं समत्तं ततियं अज्झयणं समत्तं ॥

१ शान्तिः कुन्थुश्चारश्च अर्हन्तश्चैव चक्रवर्त्तिनश्च । अवशेषास्तीर्थकरा मांडलिकराजा आसन् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२३४]

दीप अनुक्रम [२४८]



'तओ' इत्यादि, लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थाने भवानि ग्रैवेयकानि तानि च तानि विमानानि च तेषां प्रस्तटा–रचनाविशेषवन्तः समूहाः । इयं च ग्रैवेयकादिविमानवासिता कर्म्मणः सकाशात् भवतीति कर्म्मणः त्रिस्थानकमाह—'जीवाण'मित्यादि, सूत्राणि षट्, तत्र त्रिभिः स्थानैः–स्त्रीवेदादिभिर्निर्वर्त्तितान्–अर्जितान् पुद्गलान् पापकर्म्मतया अशुभकर्म्मत्वेनोत्तरोत्तराशुभाध्यवसायतश्चितवन्तः–आसंकलनत एवमुपचितवन्तः–परिपोषणत एव बद्धवन्तो–निर्मापणतः उदीरितवन्तः–अध्यवसायवशेनानुदीर्णोदयप्रवेशनतः वेदितवन्तः अनुभवनतः निर्जरितवन्तः प्रदेशपरिशाटनतः, सङ्ग्रहणीगाथार्द्धमत्र—'एवं चिणउवचिणबंधउदीरवेय तह निज्जरा चेव'त्ति 'एव'मिति यथैकं कालत्रयाभिलापेनोक्तं तथा सर्वाण्यपीति । कर्म्म च पुद्गलात्मकमिति पुद्गलस्कन्धान् प्रति त्रिस्थानकमाह—'तिपएसिए'त्यादि, सप्तमिति, सर्वसूत्रेषु व्याख्यातशेषं कण्ठ्यमिति ॥ त्रिस्थानकस्य चतुर्थोद्देशकः समाप्तः ॥ तत्समाप्तौ च श्रीमदभयदेवसूरिविरचितस्थानाङ्गविवरणे तृतीयं त्रिस्थानकाख्यमध्ययनं समाप्तमिति । समाप्तं तृतीयमध्ययनम् ॥

॥ इति श्रीमदभयदेवसूरिवरविहितविवरणयुतं त्रिस्थानकाख्यं तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥





व्याख्यातं तृतीयमध्ययनम्, अधुना सङ्ख्याक्रमसंबद्धमेव चतुःस्थानकाख्यं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायं पूर्वेण सह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र तृतीय-स्थानं परिसमाप्तं

**अथ चतुर्थ-स्थानं आरभ्यते**

विशेषसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने विचित्रा जीवाजीवद्रव्यपर्याया उक्ता इहापि त एवोच्यन्ते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य चतुरुद्देशकस्य चतुरनुयोगद्वारस्य सूत्रानुगमे प्रथमोद्देशकादिसूत्रमेतत्—

चत्तारि अंतकिरियातो पं० तं०—तत्थ खलु पढमा इमा अंतकिरिया—अप्पकम्मपच्चायाते यावि भवति, से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिते संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले लूहे तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवति णो तहप्पगारा वेयणा भवति तहप्पगारे पुरिसज्जाते दीहेणं परितातेणं सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिणिव्वाति सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी, पढमा अंतकिरिया १, अहावरा दोच्चा अंतकिरिया, महाकम्मे पच्चाजाते यावि भवति, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वतिते, संजमबहुले संवरबहुले जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी, तस्स णं तहप्पगारे तवे भवति तहप्पगारा वेयणा भवति, तहप्पगारे पुरिसजाते निरुद्धेणं परितातेणं सिज्झति जाव अंतं करेति जहा से गतसूमाले अणगारे, दोच्चा अंतकिरिया २, अहावरा तच्चा अंतकिरिया, महाकम्मे पच्चायाते यावि भवति, से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिते, जहा दोच्चा, नवरं दीहेणं परितातेणं सिज्झति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति, जहा से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी तच्चा अंतकिरिया ३, अहावरा चउत्था अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चायाते यावि भवति, से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वतिते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२३५]

दीप अनुक्रम [२४९]



संजमबहुले जाव तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवति णो तहप्पगारा वेयणा भवति, तहप्पगारे पुरिसजाए णिरुद्धेणं परितातेण सिज्झति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति, जहा सा मरुदेवा भगवती, चउत्था अंतकिरिया ४ (सू० २३५)

अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तरोद्देशकस्योपान्त्यसूत्रे कर्म्मणश्चयाद्युक्तमिह तु कर्म्मणस्तत्कार्यस्य वा भवस्यान्तक्रियोच्यत इति, अथवा श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातमित्यभिधाय यत्तदाख्यातं तदभिहितं तथेदमपरं तेनैवाख्यातं यत्तदुच्यत इत्येवंसम्बन्धस्यास्य व्याख्या–अन्तक्रिया–भवस्यान्तकरणम् तत्र यस्य न तथाविधं तपो नापि परीषहादिजनिता तथाविधा वेदना दीर्घेण च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिर्भवति तस्यैका १ यस्य तु तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिः स्यात् तस्य द्वितीया २ यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेण च पर्यायेण सिद्धिस्तस्य तृतीया ३ यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेदनस्य ह्रस्वपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति, अन्तक्रियाया एकस्वरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदात् चातुर्विध्यमिति समुदायार्थः, अवयवार्थस्त्वयं–चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रज्ञप्ता भगवतेति गम्यते, 'तत्रे'ति सप्तमी निर्द्धारणे तासु चतसृषु मध्ये इत्यर्थः, खलुर्वाक्यालङ्कारे, इयमनन्तरं वक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासन्ना प्रथमा, इतरापेक्षया आद्या अन्तक्रिया, इह कश्चित्पुरुषः देवलोकादौ यात्वा ततोऽल्पैः–स्तोकैः कर्म्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः–प्रत्यागतो मानुषत्वं इति अल्पकर्म्मप्रत्यायातो य इति गम्यते, अथवा एकत्र जनित्वा ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायातः स तथा, लघुकर्मतयोत्पन्न इत्यर्थः, चकारो वक्ष्यमाणमहाकर्म्मापेक्षया समुच्चयार्थः, अपि सम्भावने, सम्भाव्यतेऽयमपि पक्ष इत्यर्थः, भवति–स्यात्, स इति असौ, णं वाक्यालङ्कारे, मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतो रागाद्यपनयनेन अगाराद्–



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंतक्रियाया: वर्णनं

द्रव्यतो गेहाद्भावतः संसाराभिनन्दिदेहिनामावासभूतादविवेकगेहान्निष्क्रम्येति गम्यते अनगारितां–अगारी–गृही असंयतः तत्प्रतिषेधादनगारी–संयतस्तद्भावस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः, प्रव्रजितः–प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः, अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया–निर्ग्रन्थतया 'प्रव्रजितः' प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः, किंभूत इत्याह—'संजमबहुले'त्ति संयमेन–पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः–प्रचुरो यः स तथा, संयमो वा बहुलो यस्य स तथा, एवं संवरबहुलोऽपि, नवरमाश्रवनिरोधः संवरः, अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादिभेदः, एवं च संयमबहुलग्रहणं प्राणातिपातविरतेः प्राधान्यख्यापनार्थं, यतः—"एकं चिय एत्थ वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं । पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥ १ ॥" इति, एतच्च द्वितयमपि रागाद्युपशमयुक्तचित्तवृत्तेर्भवति, अत आह–समाधिबहुलः, समाधिस्तु–प्रशमवाहिता ज्ञानादिर्वा, समाधिः पुनर्निःस्नेहस्यैव भवतीत्याह–'लूहे'रूक्षः–शरीरे मनसि च द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन परुषः, लूषयति वा कर्म्ममलमपनयतीति लूषः, कथमसावेवं संवृत्त इत्याह–यतः "तीरट्ठी" तीरं–पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवंशीलस्तीरार्थी तीरस्थायी वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् तीरट्ठेत्ति, अत एव 'उवहाणवं'ति उपधीयते–उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानं श्रुतविषयस्तपउपचार इत्यर्थः तद्वान्, अत एव—'दुक्खक्खवे'त्ति दुःखम्–असुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म्म तत् क्षपयतीति दुःखक्षपः, कर्म्मक्षपणं च तपोहेतुकमित्यत आह–'तवस्सी'ति तपोऽभ्यन्तरं कर्म्मेन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षणमस्ति यस्य स तपस्वी, 'तस्स णं'ति यश्चैवंविधस्तस्य णं वाक्यालङ्कारे नो तथाप्रकारम्–अत्यन्तघोरं

१ अत्र—एकमेवात्र व्रतं सर्वैर्जिनवरैर्निर्दिष्टं । प्राणातिपातविरमणमवशेषाणि तस्य रक्षार्थं ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


अंतक्रियाया: वर्णनं

वर्द्धमानजिनस्येव तपः–अनशनादि भवति, तथा नो तथाप्रकारा–अतिघोरैवोपसर्गादिसम्पाद्या वेदना–दुःखासिका भवति, अल्पकर्म्मप्रत्यायातत्वादिति, ततश्च तत्तथाप्रकारमल्पकर्म्मप्रत्यायातादिविशेषणकलापोपेतं पुरुषजातं–पुरुषप्रकारो 'दीर्घेण' बहुकालेन 'पर्यायेण' प्रव्रज्यालक्षणेन करणभूतेन सिद्ध्यति–अणिमादियोगेन निष्ठितार्थो वा विशेषतः सिद्धिगमनयोग्यो वा भवति, सकलकर्म्मनायकमोहनीयघातात्, ततो घातिचतुष्टयघातेन बुध्यते केवलज्ञानभावात् समस्तवस्तूनि, ततो मुच्यते भवोपग्राहिकर्म्मभिः, ततः परिनिर्व्वाति–सकलकर्म्मकृतविकारव्यतिकरनिराकरणेन शीतीभवतीति, किमुक्तं भवतीत्याह–सर्वदुःखानामन्तं करोति, शारीरमानसानामित्यर्थः, अतथाविधतपोवेदनो दीर्घेणापि पर्यायेण किं कोऽपि सिद्धः? इति शङ्कापनोदार्थमाह—'जहा से'इत्यादि, यथाऽसौ यः प्रथमजिनप्रथमनन्दनो नन्दनशताग्रजन्मा भरतो राजा चत्वारोऽन्ताः–पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिमवल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता तस्या अयं स्वामित्वेनेति चातुरन्तः स चासौ चक्रवर्त्ती चेति स तथा, स हि प्राग्भवे लघूकृतकर्म्मा सर्वार्थसिद्धविमानाच्च्युत्वा चक्रवर्त्तितयोत्पद्य राज्यावस्थ एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वलक्षप्रव्रज्यः अतथाविधतपोवेदन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमान्तक्रियेति १, 'अहावरे'ति 'अथ' अनन्तरमपरा पूर्वापेक्षयाऽन्या द्वितीयस्थानेऽभिधानात् द्वितीया महाकर्म्मभिः–गुरुकर्म्मभिर्महाकर्मा सन् प्रत्यायातः प्रत्याजातो वा यः स तथा, 'तस्स ण'मिति, तस्य–महाकर्म्मप्रत्यायातत्वेन तत्क्षपणाय तथाप्रकारं घोरं तपो भवति, एवं वेदनाऽपि, कर्मोदयसम्पाद्यत्वादुपसर्गादीनामिति, 'निरुद्धेने'ति अल्पेन यथाऽसौ गजसुकुमारो विष्णुलघुभ्राता, स हि भगवतोऽरिष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य श्मशाने कृतकायोत्सर्ग-



॥ १८१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंतक्रियाया: वर्णनं

लक्षणमहातपाः शिरोनिहितजाज्वल्यमानाङ्गारजनितात्यन्तवेदनोऽल्पेनैव पर्यायेण सिद्धवानिति, शेषं कण्ठ्यम् २, 'अहावरे'त्यादि कण्ठ्यं, यथाऽसौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्त्ती, स हि महातपा महावेदनश्च सरोगत्वात् दीर्घतरपर्यायेण सिद्धः, तद्भवे सिद्ध्यभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति ३, 'अहावरे'त्यादि कण्ठ्यं, यथाऽसौ मरुदेवी प्रथमजिनजननी, सा हि स्थावरत्वेऽपि क्षीणप्रायकर्म्मत्वेनाल्पकर्मा अविद्यमानतपोवेदना च सिद्धा, गजवरारूढाया एवायुःसमाप्तौ सिद्धत्वादिति ४, एतेषां च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीयम्, देशदृष्टान्तत्वादेषां, यतो मरुदेव्या 'मुण्डे भवित्ते'त्यादिविशेषणानि कानिचिन्न घटन्ते, अथवा फलतः सर्वसाधर्म्यमपि मुण्डनादिकार्यस्य सिद्धस्य सिद्धत्वादिति । पुरुषविशेषाणामन्तक्रियोक्ता, अधुना तेषामेव स्वरूपनिरूपणाय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसूत्राणि षड्विंशतिमाह—

चत्तारि रुक्खा पं० तं०—उन्नए नाममेगे उन्नए १ उन्नते नाममेगे पणते २ पन्नते नाममेगे उन्नते ३ पणते नाममेगे पणते ४, १ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—उन्नते नामेगे उन्नते, तहेव जाव पणते नामेगे पणते २ । चत्तारि रुक्खा पं० तं०—उन्नते नाममेगे उन्नतपरिणए १ उण्णए नाममेगे पणतपरिणते २ पणते णाममेगे उन्नतपरिणते ३ पणए नाममेगे पणयपरिणए ४, ३ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उन्नते नाममेगे उन्नयपरिणते चउभंगो ४, ४ । चत्तारि रुक्खा पं० तं०—उन्नते नामेगे उन्नतरूवे तहेव चउभंगो ४, ५ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं० —उन्नए नामं० ४, ६ । चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उन्नते नाममेगे उन्नतमणे उन्न० ४, ७ । एवं संकप्पे ८ पन्ने


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


अंतक्रियाया: वर्णनं

९ दिट्ठी १० सीलायारे ११ ववहारे १२ परक्कमे १३ एगे पुरिसजाए पडिवक्खो नत्थि । चत्तारि रुक्खा पं० तं०—उज्जूनाममेगे उज्जू उज्जू नाममेगे वंके, चउभंगो ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—उज्जूनाममेगे ४, एवं जहा उन्नतपणतेहिं गमो तहा उज्जुवंकेहिवि भाणियव्वो, जाव परक्कमे । २६ ( सू० २३६ )

कण्ठ्यं, किन्तु वृश्च्यन्ते–छिद्यन्ते इति वृक्षाः, ते विवक्षया चत्वारः प्रज्ञप्ता भगवता, तत्र उन्नतः–उच्चो द्रव्यतया 'नामे'ति सम्भावने वाक्यालङ्कारे वा 'एकः' कश्चिद्वृक्षविशेषः, स एव पुनरुन्नतो–जात्यादिभावतोऽशोकादिरित्येको भङ्गः, उन्नतो नाम द्रव्यत एव एकः अन्यः प्रणतो–जात्यादिभावैर्हीनो निम्बादिरित्यर्थः इति द्वितीयः प्रणतो नामैको द्रव्यतः खर्व्व इत्यर्थः स एव उन्नतो जात्यादिना भावेनाशोकादिरिति तृतीयः, प्रणतो द्रव्यत एव खर्व्वः स एव प्रणतो जात्यादिहीनो निम्बादिरिति चतुर्थः, अथवा पूर्वमुन्नतः–तुङ्गः अधुनाऽप्युन्नतस्तुङ्ग एवेत्येवं कालापेक्षया चतुर्भङ्गीति १, 'एव'मित्यादि, एवमेव वृक्षवच्चत्वारि पुरुषजातानि–पुरुषप्रकारा अनगारा अगारिणो वा, उन्नतः पुरुषः कुलैश्वर्यादिभिर्लौकिकगुणैः शरीरेण वा गृहस्थपर्याये पुनरुन्नतो लोकोत्तरैर्ज्ञानादिभिः प्रव्रज्यापर्याये अथवा उन्नत उत्तमभवत्वेन पुनरुन्नतः शुभगतित्वेन कामदेवादिवदित्येकः 'तहेव'त्ति वृक्षसूत्रमिवेदं, 'जाव'त्ति यावत् 'पणए नामं एगे पणए'त्ति चतुर्थभङ्गकस्तावद् वाच्यं, तत्र उन्नतस्तथैव प्रणतस्तु ज्ञानविहारादिहीनतया दुर्गतिगमनाद्वा शिथिलत्वे शैलकराजर्षिवत् ब्रह्मदत्तवद्वेति द्वितीयः, तृतीयः पुनरागतसंवेगः शैलकवत् मेतार्यवद्वा, चतुर्थ उदायिनृपमारकवत्कालशौकरिकवद्वेति २, एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसूत्रे सामान्यतोऽभिधाय तद्विशेषसूत्राण्याह–उन्नतः तुङ्गतया एको वृक्षः






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्नतपरिणतः अशुभरसादिरूपमनुन्नतत्वमपहाय शुभरसादिरूपोन्नततया परिणत इत्येकः, द्वितीये भङ्गे प्रणतपरिणत उक्तलक्षणोन्नतत्वत्यागात्, एतदनुसारेण तृतीयचतुर्थौ वाच्यौ, विशेषसूत्रता चास्य पूर्वमुन्नतत्वप्रणतत्वे सामान्येनाभिहिते इह तु पूर्वावस्थातोऽवस्थान्तरगमनेन विशेषिते इति, एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि परिणतसूत्रमवगन्तव्यमिति ४, परिणामश्चाकारबोधक्रियाभेदात् त्रिधा, तत्राकारमाश्रित्य रूपसूत्रं, तत्र उन्नतरूपः संस्थानावयवादिसौन्दर्यात् ५, गृहस्थपुरुषोऽप्येवं, प्रव्रजितस्तु संविग्नसाधुनेपथ्यधारीति ६, बोधपरिणामापेक्षाणि चत्वारि सूत्राणि, तत्र उन्नतो जात्यादिगुणैरुच्चतया वा उन्नतमनाः–प्रकृत्या औदार्यादियुक्तमनाः, एवमन्येऽपि त्रयः, 'एव'मिति सङ्कल्पादिसूत्रेषु चतुर्भङ्गिकातिदेशोऽकारि लाघवार्थं, सङ्कल्पो–विकल्पो मनोविशेष एव विमर्श इत्यर्थः, उन्नतत्वं चास्यौदार्यादियुक्ततया सदर्थविषयतया वा ८, प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञा, सूक्ष्मार्थविवेचकत्वमित्यर्थः, तस्याश्चोन्नतत्वमविसंवादितया ९, तथा दर्शनं दृष्टिः–चक्षुर्ज्ञानं नयमतं वा, तदुन्नतत्वमप्यसंवादितयैवेति १०, क्रियापरिणामापेक्षमतः सूत्रत्रयम्, तत्र शीलाचारः, शीलं–समाधिस्तत्प्रधानस्तस्य वाऽऽचारः–अनुष्ठानं शीलेन वा–स्वभावेनाचार इति, उन्नतत्वं चास्यादूषणतया, वाचनान्तरे तु शीलसूत्रमाचारसूत्रं च भेदेनाधीयत इति ११, व्यवहारः–अन्योऽन्यदानग्रहणादिर्विवादो वा, उन्नतत्वमस्य श्लाघ्यत्वेनेति १३, पराक्रमः–पुरुषकारविशेषः परेषां वा–शत्रूणामाक्रमणं, तस्योन्नतत्वमप्रतिहतत्वेन शोभनविषयत्वेन चेति १२, उन्नतविपर्ययः सर्वत्र प्रणतत्वं भावनीयमिति, 'एगे पुरी'त्यादि, एतेषु मनःप्रभृतिषु सप्तसु चतुर्भङ्गिकासूत्रेषु एक एव पुरुषजातालापकोऽध्येतव्यः, प्रतिपक्षो–द्वितीयपक्षो दृष्टान्तभूतः वृक्षसूत्रं नास्ति, नाध्येतव्यमितियावत्, इह मनःप्रभृतीनां दार्ष्टा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्तिकपुरुषधर्माणां दृष्टान्तभूतवृक्षेष्वसम्भवादिति । 'उज्जु'त्ति ऋजुः–अवक्रो नामेति पूर्ववदेकः कश्चिद्वृक्षः तथा ऋजुः अविपरीतस्वभाव औचित्येन फलादिसम्पादनादित्येकः, द्वितीये द्वितीयं पदं वङ्क इति–वक्रः, फलादौ विपरीतः, तृतीये प्रथमपदं वक्रः–कुटिलः चतुर्थः सुज्ञानः, अथवा पूर्वं ऋजुरवक्रः, पश्चादपि ऋजुः–अवक्रोऽथवा मूले ऋजुरन्ते च ऋजुरित्येवं चतुर्भङ्गी कार्येत्येष दृष्टान्तः १, पुरुषस्तु ऋजुः–अवक्रो बहिस्तात् शरीरगतिवाक्चेष्टादिभिस्तथा ऋजुरन्तर्निर्म्मायत्वेन सुसाधुवदित्येकः, तथा ऋजुस्तथैव 'वङ्क' इति तु वक्रः अन्तर्मायित्वेन कारणवशप्रयुक्तार्जवभावदुःसाधुवदिति द्वितीयः, तृतीयस्तु कारणवशाद्दर्शितबहिरनार्जवोऽन्तर्निर्माय इति. प्रवचनगुप्तिरक्षाप्रवृत्तसाधुवदिति, चतुर्थ उभयतो वक्रः, तथाविधशठवदिति, कालभेदेन वा व्याख्येयम् २ । अथ ऋजु ऋजुपरिणत इत्यादिका एकादश चतुर्भङ्गिका लाघवार्थमतिदेशेनाह—'एव'मित्यनेन ऋजुर्नाम ऋजुरित्यादिनोपदर्शितक्रमभङ्गकक्रमेण 'यथे'ति येन प्रकारेण परिणतरूपादिविशेषणनवकविशेषिततयेत्यर्थः, उन्नतप्रणताभ्यां परस्परं प्रतिपक्षभूताभ्यां गमः–सदृशपाठः कृतः, 'तथा' तेन प्रकारेण परिणतरूपादिविशेषिताभ्यामित्यर्थः, ऋजुवक्राभ्यामपि भणितव्यः, कियान् स इत्याह–'जाव परक्कमे'त्ति, ऋजुवक्रवृक्षसूत्रात्त्रयोदशसूत्रं यावदित्यर्थः, तत्र च ऋजु २ ऋजुपरिणत २ ऋजुरूप २ लक्षणानि षट् सूत्राणि वृक्षदृष्टान्तपुरुषदार्ष्टान्तिकस्वरूपाणि, शेषाणि तु मनःप्रभृतीनि सप्त अदृष्टान्तानीति १३ । पुरुषविचार एवेदमाह—

पडिमापडिवन्नस्स णमणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासातो भासित्तए, तं०—जायणी पुच्छणी अणुन्नवणी पुट्ठस्स वागरणी (सू० २३७) चत्तारि भासाजाता पं० तं०—सच्चमेगं भासजायं बीयं मोसं तइयं सच्चमोसं चउत्थं असच्चमोसं ४





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सू० २३८) चत्तारि वत्था, पं० तं०—सुद्धे णामं एगे सुद्धे १ सुद्धे णामं एगे असुद्धे २ असुद्धे णामं एगे सुद्धे ३ असुद्धे णामं एगे असुद्धे ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—सुद्धे णामं एगे सुद्धे चउभंगो ४, एवं परिणत-रूवे वत्था सपडिवक्खा, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—सुद्धे णामं एगे सुद्धमणे चउभंगो ४, एवं संकप्पे जाव पर-क्कमे (सू० २३९)

स्फुटं, परं प्रतिमा–भिक्षुप्रतिमा द्वादश समयप्रसिद्धास्ताः प्रतिपन्नः–अभ्युपगतवान् यस्तस्य, याच्यतेऽनयेति याचनी पानकादेः दाहिसि मे एत्तो अन्नतरं पाणगजायमित्यादिसमयप्रसिद्धक्रमेण, तथा प्रच्छनी मार्गादेः कथञ्चित्सूत्रार्थयोर्वा, तथा अनुज्ञापनी अवग्रहस्य तथा पृष्टस्य केनाप्यर्थादेर्व्याकरणी–प्रतिपादनीति ॥ भाषाप्रस्तावाद्भाषाभेदानाह—'चत्तारि भासे'त्यादि, जातम्–उत्पत्तिधर्म्मकं तच्च व्यक्तिवस्तु, अतो भाषाया जातानि–व्यक्तिवस्तूनि भेदाः–प्रकाराः भाषाजा-तानि, तत्र सन्तो मुनयो गुणाः पदार्था वा तेभ्यो हितं सत्यमेकं–प्रथमं सूत्रक्रमापेक्षया भाष्यते सा तया वा भाषणं वा भाषा–काययोगगृहीतवाग्योगनिसृष्टभाषाद्रव्यसंहतिः तस्या जातं–प्रकारो भाषाजातं अस्त्यात्मेत्यादिवत्, द्वितीयं सूत्रक्रमादेव 'मोसं'ति प्राकृतत्वान्मृषा–अनृतं नास्त्यात्मेत्यादिवत्, तृतीयं सत्यमृषा–तदुभयस्वभावं आत्माऽस्त्य-कर्त्तेत्यादिवत्, चतुर्थमसत्यामृषा–अनुभयस्वभावं देहीत्यादिवदिति, भवतश्चात्र गाथे—"सच्चा हिया सतामिह संतो मुणओ गुणा पयत्था वा। तव्विवरीया मोसा मीसा जा तदुभयसहावा ॥ १ ॥ अणहिगया जा तीसुवि सद्दो च्चिय

१ सत्या हिता सतामिह सन्तो मुनयो गुणाः पदार्था वा। तद्विपरीता मृषा मिश्रा सा या तदुभयस्वभावा ॥ १ ॥ या तिसृष्वपि अनधिकृता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केवलो असच्चमुसा । एया सभेयलक्खण सोदाहरणा जहा सुत्ते ॥ २ ॥" इति, पुरुषभेदनिरूपणायैवेयं त्रयोदशसूत्री— 'चत्तारि वत्थे'त्यादि, स्पष्टा, नवरं शुद्धं वस्त्रं निर्मलतन्त्वादिकारणारब्धत्वात् पुनः शुद्धमागन्तुकमलाभावादिति, अथवा पूर्वं शुद्धमासीदिदानीमपि शुद्धमेव, विपक्षौ सुज्ञानावेवेति, अथ दार्ष्टान्तिकयोजना 'एवमेवे'त्यादि, शुद्धो जात्यादिना पुनः शुद्धो निर्मलज्ञानादिगुणतया कालापेक्षया वेति 'चउभंगो'त्ति चत्वारो भङ्गाः समाहृताः चतुर्भङ्गी चतुर्भङ्गं वा, पुंल्लिङ्गता चात्र प्राकृतत्वात्, तदयमर्थो—वस्त्रवच्चत्वारो भङ्गाः पुरुषेऽपि वाच्या इति। 'एव'मिति यथा शुद्धात् शुद्धपदे परे चतुर्भङ्गं सदार्ष्टान्तिकं वस्त्रमुक्तमेवं शुद्धपदप्राक्पदे परिणतपदे रूपपदे च चतुर्भङ्गानि वस्त्राणि 'सपडिवक्ख'त्ति सप्रतिपक्षाणि सदार्ष्टान्तिकानि वाच्यानीति, तथाहि—चत्तारि वत्था पन्नत्ता, तंजहा—सुद्धे नामं एगे सुद्धपरिणए चतुर्भङ्गी, 'एवमेवे'त्यादि पुरुषजातसूत्रचतुर्भङ्गी, एवं सुद्धे नामं एगे सुद्धरूवे चतुर्भङ्गी, एवं पुरुषेणापि, व्याख्या तु पूर्ववत्। 'चत्तारी'त्यादि, शुद्धो बहिः शुद्धमना अन्तः एवं शुद्धसङ्कल्पः शुद्धप्रज्ञः शुद्धदृष्टिः शुद्धशीलाचारः शुद्धव्यवहारः शुद्धपराक्रम इति वस्त्रवर्जाः पुरुषा एव चतुर्भङ्गवन्तो वाच्याः, व्याख्या च प्रागिवेति, अत एवाह—'एव'मित्यादि। पुरुषभेदाधिकार एवेदमाह—

चत्तारि सुता पं० तं०—अतिजाते अणुजाते अवजाते कुलिंगाले (सू० २४०) चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—सच्चे नामं एगे सच्चे, सच्चे नामं एगे असच्चे ४, एवं परिणते जाव परक्कमे, चत्तारि वत्था पं० तं०—सुतीनामं एगे सुती,

१ केवलः शब्द एव साऽसत्यमृषा । एताः सभेदलक्षणाः सोदाहरणा यथा सूत्रे ॥ २ ॥

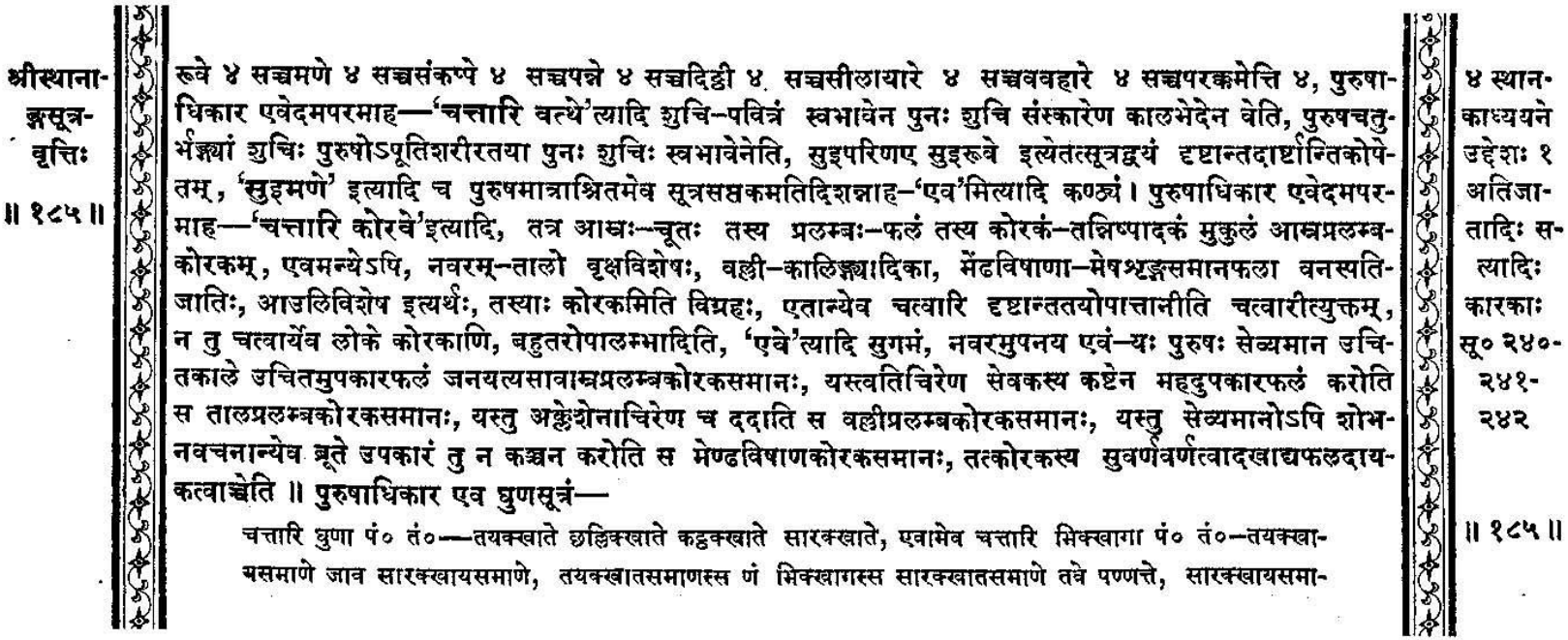


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुईनामं एगे असुई, चउभंगो ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता, पं० तं०—सुतीणामं एगे सुती, चउभंगो, एवं जहेव सुद्धेणं वत्थेणं भणितं तहेव सुतिणावि, जाव परक्कमे (सू० २४१) चत्तारि कोरवा पं० तं०—अंबपलंबकोरवे तालपलंबकोरवे वल्लिपलंबकोरवे मेंढविसाणकोरवे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—अंबपलंबकोरवसमाणे तालपलंबकोरवसमाणे वल्लिपलंबकोरवसमाणे मेंढविसाणकोरवसमाणे (सू० २४२)

सुताः—पुत्राः 'अइजाए'त्ति पितुः सम्पदमतिलङ्घ्य जातः—संवृत्तोऽतिक्रम्य वा तां यातः—प्राप्तो विशिष्टतरसम्पदं समृद्धतर इत्यर्थः इत्यतिजातोऽतियातो वा, ऋषभवत्, तथा 'अणुजाए'त्ति अनुरूपः, सम्पदा पितुस्तुल्यो जातोऽनुजातः अनुगतो वा पितृविभूत्याऽनुयातः, पितृसम इत्यर्थः, महायशोवत्, आदित्ययशसा पित्रा तुल्यत्वात्तस्य, तथा 'अवजाए'त्ति अप इत्यपसदो हीनः पितुः सम्पदो जातोऽपजातः पितुः सकाशादीषद्धीनगुण इत्यर्थः, आदित्ययशोवत्, भरतापेक्षया तस्य हीनत्वात्, तथा 'कुलिङ्गाले'त्ति कुलस्य—स्वगोत्रस्याङ्गार इवाङ्गारो दूषकत्वादुपतापकत्वाद्वेति कण्डरीकवत्, एवं शिष्यचातुर्विध्यमप्यवसेयं, सुतशब्दस्य शिष्येष्वपि प्रवृत्तिदर्शनात् तत्रातिजातः सिंहगिर्यपेक्षया वैरस्वामिवत्, अनुजातः शय्यंभवापेक्षया यशोभद्रवत्, अपजातो भद्रबाहुस्वाम्यपेक्षया स्थूलभद्रवत्, कुलाङ्गारः कूलवालकवदुदायिनृपमारकवद्वेति। तथा 'चत्तारी'त्यादि, सत्यो यथावद्वस्तुभणनाद् यथाप्रतिज्ञातकरणाच्च, पुनः सत्यः संयमित्वेन सद्भ्यो हितत्वाद्, अथवा पूर्वं सत्य आसीदिदानीमपि सत्य एवेति चतुर्भङ्गी। एवंप्रकारसूत्राण्यतिदिशन्नाह—'एव'मित्यादि, व्यक्तं, नवरमेवं सूत्राणि—'चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—सच्चे नामं एगे सच्चपरिणए ४, एवं सच्च-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १८५ ॥

रूवे ४ सच्चमणे ४ सच्चसंकप्पे ४ सच्चपन्ने ४ सच्चदिट्ठी ४ सच्चसीलायारे ४ सच्चववहारे ४ सच्चपरक्कमेत्ति ४, पुरुषाधिकार एवेदमपरमाह—'चत्तारि वत्थे'त्यादि शुचि–पवित्रं स्वभावेन पुनः शुचि संस्कारेण कालभेदेन वेति, पुरुषचतुर्भङ्ग्यां शुचिः पुरुषोऽपूतिशरीरतया पुनः शुचिः स्वभावेनेति, सुइपरिणए सुइरूवे इत्येतत्सूत्रद्वयं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपेतम्, 'सुइमणे' इत्यादि च पुरुषमात्राश्रितमेव सूत्रसप्तकमतिदिशन्नाह–'एव'मित्यादि कण्ठ्यं। पुरुषाधिकार एवेदमपरमाह—'चत्तारि कोरवे'इत्यादि, तत्र आम्रः–चूतः तस्य प्रलम्बः–फलं तस्य कोरकं–तन्निष्पादकं मुकुलं आम्रप्रलम्बकोरकम्, एवमन्येऽपि, नवरम्–तालो वृक्षविशेषः, वल्ली–कालिङ्ग्यादिका, मेंढविषाणा–मेषशृङ्गसमानफला वनस्पतिजातिः, आउलिविशेष इत्यर्थः, तस्याः कोरकमिति विग्रहः, एतान्येव चत्वारि दृष्टान्ततयोपात्तानीति चत्वारीत्युक्तम्, न तु चत्वार्येव लोके कोरकाणि, बहुतरोपालम्भादिति, 'एवे'त्यादि सुगमं, नवरमुपनय एवं–यः पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकारफलं जनयत्यसावाम्रप्रलम्बकोरकसमानः, यस्त्वतिचिरेण सेवकस्य कष्टेन महदुपकारफलं करोति स तालप्रलम्बकोरकसमानः, यस्तु अक्लेशेनाचिरेण च ददाति स वल्लीप्रलम्बकोरकसमानः, यस्तु सेव्यमानोऽपि शोभनवचनान्येव ब्रूते उपकारं तु न कञ्चन करोति स मेण्ढविषाणकोरकसमानः, तत्कोरकस्य सुवर्णवर्णत्वादखाद्यफलदायकत्वाच्चेति ॥ पुरुषाधिकार एव घुणसूत्रं—

चत्तारि घुणा पं० तं०—तयक्खाते छल्लिक्खाते कट्ठक्खाते सारक्खाते, एवामेव चत्तारि भिक्खागा पं० तं०–तयक्खायसमाणे जाव सारक्खायसमाणे, तयक्खातसमाणस्स णं भिक्खागस्स सारक्खातसमाणे तवे पण्णत्ते, सारक्खायसमा-

४ स्थानकाध्ययने उद्देशः १ अतिजातादिः स्यादिः कारकाः सू० २४०-२४१-२४२

॥ १८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णस्स णं भिक्खागस्स तयक्खातसमाणे तवे पण्णत्ते, छल्लिक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स कट्ठक्खायसमाणे तवे पण्णत्ते, कट्ठक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स छल्लिक्खायसमाणे तवे पण्णत्ते (सू० २४३)

त्वचं–बाह्यवल्कं खादतीति त्वक्खादः, एवं शेषा अपि, नवरं 'छल्लि'त्ति अभ्यन्तरं वल्कं काष्ठं–प्रतीतं सारः–काष्ठमध्यमिति दृष्टान्तः, 'एवमेवे'त्याद्युपनयसूत्रं, भिक्षणशीला भिक्षणधर्माणो भिक्षणे साधवो वा भिक्षाकाः, त्वक्खादेन घुणेन समानोऽत्यन्तं सन्तोषितया आयामाम्लादिप्रान्ताहारभक्षकत्वात् त्वक्खादसमानः, एवं छल्लीखादसमानोऽलेपाहारकत्वात् काष्ठखादसमानो निर्विकृतिकाहारतया सारखादसमानः सर्वकामगुणाहारत्वादिति, एतेषां चतुर्णामपि भिक्षाकाणां तपोविशेषाभिधानसूत्रं 'तयक्खाये'त्यादि, सुगमं, केवलमयं भावार्थः–त्वक्कल्पासाराहाराभ्यवहर्त्तुर्निरभिष्वङ्गत्वात् कर्म्मभेदमङ्गीकृत्य वज्रसारं तपो भवतीत्यतोऽपदिश्यते—'सारक्खायसमाणे तवे'त्ति, सारखादघुणस्य सारखादत्वादेव समर्थत्वात् वज्रतुण्डत्वाच्चोक्तलक्षणस्य साभिष्वङ्गतया त्वक्खादसमानं कर्म्मसारभेदं प्रत्यसमर्थं तपः स्यात्, त्वक्खादकघुणस्य हि तत्त्वादेव सारभेदनं प्रत्यसमर्थत्वादिति, तथा छल्लीखादघुणसमानस्य भिक्षाकस्य त्वक्खादघुणसमानापेक्षया किञ्चिद्विशिष्टभोजित्वेन किञ्चित्साभिष्वङ्गत्वात् सारखादकाष्ठखादघुणसमानापेक्षया त्वसारभोजित्वेन निरभिष्वङ्गित्वाच्च कर्मभेदं प्रति काष्ठखादघुणसमानं तपः प्रज्ञप्तं, नातितीव्रं, सारखादघुणवत्, नाप्यतिमन्दादि, त्वक्छल्लीखादघुणवदिति भावः, तथा काष्ठखादघुणसमानस्य साधोः सारखादघुणसमानापेक्षया असारभोजित्वेन निरभिष्वङ्गत्वात् त्वक्छल्लीखादघुणसमानापेक्षया सारतरभोजित्वेन साभिष्वङ्गत्वाच्च छल्लीखादघुणसमानं तपः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञप्तं, कर्म्मभेदं प्रति न सारखादकाष्ठखादघुणवदतिसमर्थादि नापि त्वक्खादघुणवदतिमन्दमिति भावः, प्रथमविकल्पे प्रधानतरं तपो द्वितीयेऽप्रधानतरं, तृतीये प्रधानं, चतुर्थेऽप्रधानमिति ॥ अनन्तरं वनस्पत्यवयवखादका घुणाः प्ररूपिता इति वनस्पतिमेव प्ररूपयन्नाह—

चउव्विहा तणवणस्सतिकातिता पं० तं०—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया (सू० २४४) चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे णेरइए णेरइयलोगंसि इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तते, णो चेव णं संचातेइ हव्वमागच्छित्तते, अहुणोववण्णे नेरइए णिरयलोगंसि समुब्भूयं वेयणं वेयमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तते णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तते १, अहुणोववन्ने णेरइए निरतलोगंसि णिरयपालेहिं भुज्जो २ अहिट्ठिज्जमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तते, णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तते २, अहुणोववन्ने णेरइए णिरतवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेतितंसि अणिज्जिन्नंसि इच्छेज्जा०, नो चेव णं संचाएइ ३, एवं णिरयाउअंसि कम्मंसि अक्खीणंसि जाव णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तते ४, इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने नेरतिते जाव नो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तए ४ (सू० २४५) कप्पंति णिग्गंथीणं चत्तारि संघाडीओ धारित्तए वा परिहरित्तते वा, तं०—एगं दुहत्थवित्थारं, दो तिहत्थवित्थारा एगं चउहत्थवित्थारं (सू० २४६)

'चउव्विहे'त्यादि, वनस्पतिः प्रतीतः स एव कायः—शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः त एव वनस्पतिकायिकाः, तृणप्रकारा वनस्पतिकायिकास्तृणवनस्पतिकायिका बादरा इत्यर्थः, अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः—कोरिण्टकादयः, अग्रे वा




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बीजं येषां तेऽग्रबीजाः–व्रीह्यादयः, मूलमेव बीजं येषां ते मूलबीजाः–उत्पलकन्दादयः, एवं पर्वबीजा–इक्ष्वादयः, स्कन्धबीजाः–सल्लक्यादयः, स्कन्धः थुडमिति, एतानि च सूत्राणि नान्यव्यवच्छेदनपराणि, तेन बीजरुहसम्मूर्च्छनजादीनां नाभावो मन्तव्यः, सूत्रान्तरविरोधादिति। अनन्तरं वनस्पतिजीवानां चतुःस्थानकमुक्तम्, अधुना जीवसाधर्म्यान्नारकजीवानाश्रित्य तदाह—'चउही'त्यादि सुगमं, केवलं 'ठाणेहिं'ति कारणैः 'अहुणोववन्ने'त्ति अधुनोपपन्नः–अचिरोपपन्नः, निर्गतमयं–शुभमस्मादिति निरयो–नरकस्तत्र भवो नैरयिकः, तस्य चानन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह–निरयलोके, तस्मादिच्छेन्मानुषाणामयं मानुषस्तं लोकं–क्षेत्रविशेषं 'हव्वं' शीघ्रमागन्तुं, 'नो चेव'त्ति नैव, णं वाक्यालङ्कारे, 'संचाएइ' सम्यक् शक्नोति आगन्तुं, 'समुब्भूयं'ति समुद्भूताम्–अतिप्रबलतयोत्पन्नां पाठान्तरेण 'सम्मुखभूताम्' एकहेलोत्पन्नां पाठान्तरेणामहतो महतो भवनं महद्भूतम् तेन सह या सा समहद्भूता तां सुमहद्भूतां वा वेदनां–दुःखरूपां वेदयमानः–अनुभवन् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणम् १, एतदेव चाशकनस्य, तीव्रवेदनाभिभूतो हि न शक्त आगन्तुमिति, तथा निरयपालैः–अम्बादिभिः भूयो भूयः–पुनः पुनरधिष्ठीयमानः–समाक्रम्यमाणः आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव चागमनाशक्तिकारणं, तैरत्यन्ताक्रान्तस्यागन्तुमशक्तत्वादिति २, तथा निरये वेद्यते–अनुभूयते यत् निरययोग्यं वा यद्वेदनीयं तन्निरयवेदनीयं–अत्यन्ताशुभनामकर्म्मादि असातवेदनीयं वा तत्र कर्म्मणि अक्षीणे स्थित्या अवेदिते अननुभूतानुभागतया अनिर्जीर्णे–जीवप्रदेशेभ्योऽपरिशटिते इच्छेत् मानुषं लोकमागन्तुं न च शक्नोति, अवश्यवेद्यकर्म्मनिगडनियन्त्रितत्वादित्यागमनाशकन एव कारणमिति ३, तथा 'एव'मिति 'अहुणोववन्ने' इत्याद्य-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिलापसंसूचनार्थं निरयायुष्के कर्म्मणि अक्षीणे यावत्करणात् अवेइए इत्यादि दृश्यमिति ४, निगमयन्नाह—'इच्चेएहिं'ति, इति एवंप्रकारैरेतैः—प्रत्यक्षैरनन्तरोक्तत्वादिति। अनन्तरं नारकस्वरूपमुक्तं, ते चासंयमोपष्टम्भकपरिग्रहादुत्पद्यन्त इति तद्विपक्षभूतं परिग्रहविशेषं चतुःस्थानकेऽवतारयन्नाह—'कप्पंती'त्यादि, कल्पन्ते—युज्यन्ते निर्गता ग्रन्थाद्—बन्धहेतोर्हिरण्यादेर्मिथ्यात्वादेश्चेति निर्ग्रन्थ्यः—साध्व्यस्तासां सङ्घाट्यः—उत्तरीयविशेषरूपा धारयितुं वा परिग्रहे परिहर्त्तुं वा परिभोक्तुमिति, द्वौ हस्तौ विस्तारः—पृथुत्वं यस्याः सा तथा, कल्पन्त इति क्रियापेक्षया कर्तृत्वात् संघाटीनां, 'एगं दुहत्थवित्थारं, एगं चउहत्थवित्थारं'ति प्रथमा स्यात्तदर्थे च प्राकृतत्वात् द्वितीयोक्ता, धारयन्ति परिभुञ्जते चेति, प्रत्ययपरिणामेन वेति (वा) क्रियानुस्मृतेः द्वितीयैव, तत्र प्रथमा उपाश्रये भोग्या त्रिहस्तविस्तारयोरेका भिक्षागमने द्वितीया विचारभूमिगमने चतुर्थी समवसरणे, उक्तं च—"संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयंमि ॥ दुन्नि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एग एग उच्चारे। ओसरणे चउहत्था निसन्नपच्छायणी मसिणा ॥ १ ॥" इति नारकत्वं ध्यानविशेषाद्, ध्यानविशेषार्थमेव च संघाट्यादिपरिग्रह इति ध्यानं प्रकरणत आह—

चत्तारि झाणा पं० तं०—अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे झाणे सुक्के झाणे, अट्टे झाणे चउव्विहे पं० तं०—अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति १, मणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति २ आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवति ३, परिजुसितकामभोगसंपओगसंपउत्ते

१ संघाट्यश्चतस्रस्तत्र द्विहस्ता उपाश्रये ॥ द्वे त्रिहस्तायामे भिक्षायै एका उच्चारे चैका अवसरणे चतुर्हस्ता निषण्णप्रच्छादनी मसृणा ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४७]

दीप अनुक्रम [२६१]

तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवइ ४, अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं०, तं०—कंदणता सोतणता तिप्पणता परिदेवणता। रोद्दे झाणे चउव्विहे पं० तं०—हिंसाणुबंधि मोसाणुबंधि तेणाणुबंधि सारक्खणाणुबंधि, रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं०, तं०—ओसण्णदोसे बहुदोसे अन्नाणदोसे आमरणंतदोसे। धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पं० तं०—आणाविजते अवायविजते विवागविजते संठाणविजते, धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—आणारुई णिसग्गरुई सुत्तरुई ओगाढरुती, धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पं० तं०—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा, धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं० तं०—एगाणुप्पेहा अणिच्चाणुप्पेहा असरणाणुप्पेहा संसाराणुप्पेहा, सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पं० तं०—पुहुत्तवितक्के सवियारी १, एगत्तवितक्के अवियारी २, सुहुमकिरिते अणियट्टी ३, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाती ४, सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—अव्वहे असम्मोहे विवेगे विउस्सग्गे, सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पं० तं०—खंती मुत्ती मद्दवे अज्जवे, सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं० तं०—अणंतवत्तियाणुप्पेहा विप्परिणामाणुप्पेहा असुभाणुप्पेहा अवायाणुप्पेहा (सू० २४७)

सुगमं चैतन्नवरं–ध्यातयो ध्यानानि, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं चित्तस्थिरतालक्षणानि, उक्तं च—"[1]अंतोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि। छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥ १ ॥" इति, तत्र ऋतं–दुःखं तस्य निमित्तं

१ अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं एकत्र वस्तुनि मनोऽवस्थानं। ध्यानं छद्मस्थानां जिनानां तु योगनिरोधः ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


चत्वारः ध्यानस्य वर्णनं

प्रत सूत्रांक [२४७]

दीप अनुक्रम [२६१]



तत्र वा भवं ऋते वा–पीडिते भवमार्त्तं ध्यानं–दृढोऽध्यवसायः हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रं श्रुतचरणधर्म्मादनपेतं धर्म्यं शोधयत्यष्टप्रकारं कर्म्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लं, 'चउव्विहे'त्ति चतस्रो विधा–भेदा यस्य तत्तथा, अमनोज्ञस्य–अनिष्टस्य, असमणुन्नस्सत्ति पाठान्तरे अस्वमनोज्ञस्य–अनात्मप्रियस्य शब्दादिविषयस्य तत्साधनवस्तुनो वा सम्प्रयोगः–सम्बन्धस्तेन सम्प्रयुक्तः–सम्बद्धः अमनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तो अस्वमनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तो वा य इति गम्यते 'तस्से'ति अमनोज्ञशब्दादेर्विप्रयोगाय–विप्रयोगार्थं स्मृतिः–चिन्ता तां समन्वागतः–समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी सोऽभेदोपचारादार्त्तमिति, चापीतिशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चयार्थः, अथवा अमनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तो यः प्राणी तस्य प्राणिनः विप्रयोगे–प्रक्रमादमनोज्ञशब्दादिवस्तूनां वियोजने स्मृतिः–चिन्तनं तस्याः समन्वागतं–समागमनं समन्वाहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतं, चापीति तथैव, भवति आर्त्तध्यानमिति प्रक्रमः, अथवा अमनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्ते प्राणिनि 'तस्से'ति अमनोज्ञशब्दादेर्विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतमार्त्तध्यानमिति, उक्तं च—"आर्त्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः" (तत्त्वार्थ० अ० ९ सू० ३१) इति प्रथममेवमुत्तरत्रापि, नवरं मनोज्ञं–वल्लभं धनधान्यादि अविप्रयोगः–अवियोग इति द्वितीयमार्त्तमिति, तथा आतङ्को–रोग इति तृतीयं, तथा 'परिजुसिय'त्ति निषेविताः ये कामाः–कमनीयाः भोगाः–शब्दादयोऽथवा कामौ–शब्दरूपे भोगाः–गन्धरसस्पर्शाः कामभोगाः कामानां वा–शब्दादीनां यो भोगस्तैस्तेन वा सम्प्रयुक्तः, पाठान्तरे तु तेषां तस्य वा सम्प्रयोगस्तेन सम्प्रयुक्तो यः स तथा, अथवा 'परिझुसिय'त्ति परिक्षीणो जरादिना स चासौ कामभोगसम्प्रयुक्तश्च यस्तस्य तेषामेवाविप्रयोग-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्वार: ध्यानस्य वर्णनं

स्मृतेः समन्वागतं–समन्वाहारः, तदपि भवत्यार्त्तध्यानमिति चतुर्थं, द्वितीयं वल्लभधनादिविषयं चतुर्थं तत्सम्पाद्यशब्दादिभोगविषयमिति भेदोऽनयोर्भावनीयः, शास्त्रान्तरे तु द्वितीयचतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तु तत्र निदानमुक्तं, उक्तं च—"[1]अमणुन्नाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स । (वस्तूनि–शब्दादिसाधनानि दोसोत्ति द्वेषः) धणियं वियोगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ॥ १ ॥ तह सूलसीसरोगाइवेयणाए विओगपणिहाणं । तयसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ॥ २ ॥ इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स । अविओगज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥ ३ ॥ देविंदचक्कवट्टित्तणाइगुणरिद्धिपत्थणामइअं । अहमं नियाणचिंतणमन्नाणाणुगयमच्चंतं ॥ ४ ॥" इति, आर्त्तध्यानलक्षणान्याह–लक्ष्यते–निर्णीयते परोक्षमपि चित्तवृत्तिरूपत्वादार्त्तध्यानमेभिरिति लक्षणानि, तत्र क्रन्दनता–महता शब्देन विरवणं शोचनता–दीनता तेपनता–तिपेः क्षरणार्थत्वादश्रुविमोचनं परिदेवनता–पुनः पुनः क्लिष्टभाषणमिति, एतानि चेष्टवियोगानिष्टसंयोगरोगवेदनाजनितशोकरूपस्यैवार्त्तस्य लक्षणानि, यत आह—"[2]तस्सक्कंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं । इट्ठाणिट्ठवियोगाविओगवियणानिमित्ताइं ॥ १ ॥" इति, निदानस्यान्येषां च लक्षणान्तरमस्ति, आह च—

१ शब्दादिविषयसाधनानामनोज्ञानां द्वेषमलिनस्य वियोगचिंतनं बाढं असंप्रयोगानुस्मरणं च ॥ १ ॥ तथा शूलशिरोरोगादिवेदनाया वियोगप्रणिधानं तदसम्प्रयोगचिन्ता तत्प्रतीकाराकुलमनसः ॥ २ ॥ इष्टानां विषयादीनामनुभवे रागरक्तस्याविवोगाध्यवसानं तथा संयोगाभिलाषश्च ॥ ३ ॥ देवेन्द्रचक्रवर्त्तित्वादिगुणर्द्धिप्रार्थनामयं । अधर्मं निदानचिन्तनमज्ञानानुगतमत्यन्तम् ॥ ४ ॥ २ तस्याक्रंदनशोचनपरिदेवनताडनानि लिंगानि । इष्टानिष्टवियोगाविवोगवेदनानिमित्तानि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्वारः ध्यानस्य वर्णनं

"निंदइ नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ । पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ॥ १ ॥" इति ॥ अथ रौद्रध्यानभेदा उच्यन्ते, हिंसां–सत्त्वानां बधबन्धनादिभिः प्रकारैः पीडामनुबध्नाति–सततप्रवृत्तं करोतीत्येवंशीलं यत्प्रणिधानं हिंसानुबन्धो वा यत्रास्ति तद्धिंसानुबन्धि रौद्रध्यानं इति प्रक्रम इति, उक्तं च—"[1]सत्तवहवेहबंधणडहणंकणमारणाइप्पणिहाणं । अइकोहग्गहगत्थं णिग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥ १ ॥" इति, तथा मृषा–असत्यं तदनुबध्नाति पिशुनाऽसभ्यासद्भूतादिभिर्वचनभेदैस्तन्मृषानुबन्धि, आह च—"पिसुणाऽसब्भासब्भूयभूयघायाइवयणपणिहाणं । मायाविणोऽतिसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥ १ ॥" इति, तथा स्तेनस्य–चौरस्य कर्म्म स्तेयं तीव्रक्रोधाद्याकुलतया तदनुबन्धवत् स्तेयानुबन्धि, आह च—"तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूतोवघायणमणज्जं । परदव्वहरणचित्तं परलोगावायनिरवेक्खं ॥ १ ॥" इति, संरक्षणे–सर्वोपायैः परित्राणे विषयसाधनधनस्यानुबन्धो यत्र तत्संरक्षणानुबन्धि, यदाह—"सद्दाइविसयसाहणधणसंरक्खणपरायणमणिट्ठं । सव्वाहिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥ १ ॥" इति । अथैतल्लक्षणान्युच्यन्ते—'ओसन्नदोसे'त्ति हिंसादीनामन्यतरस्मिन् ओसन्नं–प्रवृत्तेः प्राचुर्यं बाहुल्यं यत्स एव दोषः अथवा 'ओसन्नं'ति बाहुल्ये-

१ निन्दति निजकृतानि प्रशंसति सविस्मयो विभूतीः प्रार्थयति तासु रज्यति तदर्जनपरायणो भवति ॥ १ ॥ २ सत्त्ववधवेधबंधनदहनांकनमारणादिप्रणिधानमतिक्रोधग्रहग्रस्तं निर्घृणमनसोऽधमविपाकं ॥ १ ॥ ३ पिशुनासभ्यासद्भूतभूतघातादिवचनप्रणिधानं । मायाविनोऽतिसंधानपरस्य प्रच्छन्नपापस्य ॥ १ ॥ ४ तथा तीव्रक्रोधलोभाकुलस्य भूतोपघातनमनार्यं परद्रव्यहरणचित्तं परलोकापायनिरपेक्षं ॥ १ ॥ ५ शब्दादिविषयसाधनधनसंरक्षणपरायणमनिष्टं । सर्वाभिशंकनपरोपघातकलुषाकुलं चित्तं ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्वार: ध्यानस्य वर्णनं

नानुपरतत्वेन दोषो हिंसादीनां चतुर्णामन्यतर ओसन्नदोषः, तथा बहुष्वपि–सर्वेष्वपि हिंसादिषु दोषः–प्रवृत्तिलक्षणो बहुदोषः, बहुर्वा–बहुविधो हिंसानृतादिरिति बहुदोषः, तथा अज्ञानात्–कुशास्त्रसंस्कारात् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्ध्याऽभ्युदयार्थं या प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः, अथवा उक्तलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति, अन्यत्र नानाविधदोष इति पाठस्तत्र नानाविधेषु तु–उक्तलक्षणादिषु हिंसाद्युपायेषु दोषोऽसकृत्प्रवृत्तिरिति नानाविधदोष इति, तथा मरणमेवान्तो मरणान्तः आमरणान्तादामरणान्तम् असञ्जातानुतापस्य कालसौकरिकादेरिव या हिंसादिषु प्रवृत्तिः सैव दोष आमरणान्तदोषः । अथ धर्म्यं चतुर्विधमिति स्वरूपेण चतुर्षु पदेषु–स्वरूपलक्षणालम्बनानुप्रेक्षालक्षणेष्ववतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुष्पदावतारं चतुर्विधस्यैव पर्यायो वाऽयमिति, क्वचित् 'चउप्पडोयार'मिति पाठस्तत्र चतुर्षु पदेषु प्रत्यवतारो यस्येति विग्रह इति, 'आणाविजए'त्ति आ–अभिविधिना ज्ञायन्तेऽर्था यया साऽऽज्ञा–प्रवचनं सा विचीयते–निर्णीयते पर्यालोच्यते वा यस्मिंस्तदाज्ञाविचयं धर्म्मध्यानमिति, प्राकृतत्वेन विजयमिति, आज्ञा या विजीयते अधिगमद्वारेण परिचिता क्रियते यस्मिन्नित्याज्ञाविजयं, एवं शेषाण्यपि, नवरं अपाया–रागादिजनिताः प्राणिनामैहिकामुष्मिका अनर्थाः, विपाकः–फलं कर्म्मणां ज्ञानाद्यावारकत्वादि संस्थानानि लोकद्वीपसमुद्रजीवादीनामिति, आह च—"आज्ञवचनं प्रवचनमाज्ञा विचयस्तदर्थनिर्णयनम् । आश्रवविकथागौरवपरीषहाद्यैरपायस्तु ॥ १ ॥ अशुभशुभकर्म्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् । द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्त्विव ॥ २ ॥" ति, एतल्लक्षणान्याह—'आणारुइ'त्ति आज्ञा–सूत्रव्याख्यानं निर्युक्त्यादि तत्र तया वा रुचिः–श्रद्धानं आ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञारुचिः, एवमन्यत्रापि, नवरं निसर्गः–स्वभावोऽनुपदेशस्तेन, तथा सूत्रम्–आगमः तत्र तस्माद्वा, तथा अवगाहनमव-गाढम्–द्वादशाङ्गावगाहो विस्ताराधिगम इति सम्भाव्यते तेन रुचिः अथवा ओगाढत्ति साधुप्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधू-पदेशाद्रुचिः, उक्तं च—"[1]आगमउवएसेणं निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं । भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ १ ॥" इति, तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयं, धर्मस्यालम्बनान्युच्यन्ते–धर्मध्यानसौधारोहणा-र्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि वाचनं वाचना–विनेयाय निर्जरायै सूत्रदानादि, तथा शङ्किते सूत्रादौ शङ्कापनोदाय गुरोः प्रच्छनं प्रतिप्रच्छना, प्रतिशब्दस्य धात्वर्थमात्रार्थत्वादिति, तथा पूर्वाधीतस्यैव सूत्रादेरविस्मरणनिर्जरार्थमभ्यासः परि-वर्त्तनेति, अनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा–सूत्रार्थानुस्मरणमिति । अथानुप्रेक्षा उच्यन्ते–अन्विति–ध्यानस्य पश्चात्प्रेक्षणानि–पर्यालो-चनान्यनुप्रेक्षाः, तत्र 'एकोऽहं न च मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम ॥१॥" इत्येवमात्मन एकस्य–एकाकिनो असहायस्यानुप्रेक्षा–भावना एकानुप्रेक्षा, तथा—"कायः सन्निहितापायः, सम्पदः पदमा-पदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्व्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ १ ॥" इत्येवं जीवितादेरनित्यस्यानुप्रेक्षा अनित्यानुप्रेक्षेति, तथा "जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १ ॥" एवमशरणस्य–अत्राणस्यात्मनोऽनुप्रेक्षा अशरणानुप्रेक्षेति, तथा—"माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे । व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥ १ ॥" इत्येवं संसारस्य–चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्यानुप्रेक्षा संसा-

[1] आगमोपदेशेन निसर्गतो यज्जिनप्रणीतानां भावानां श्रद्धानं तद्धर्मध्यानिनो लिंगं ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

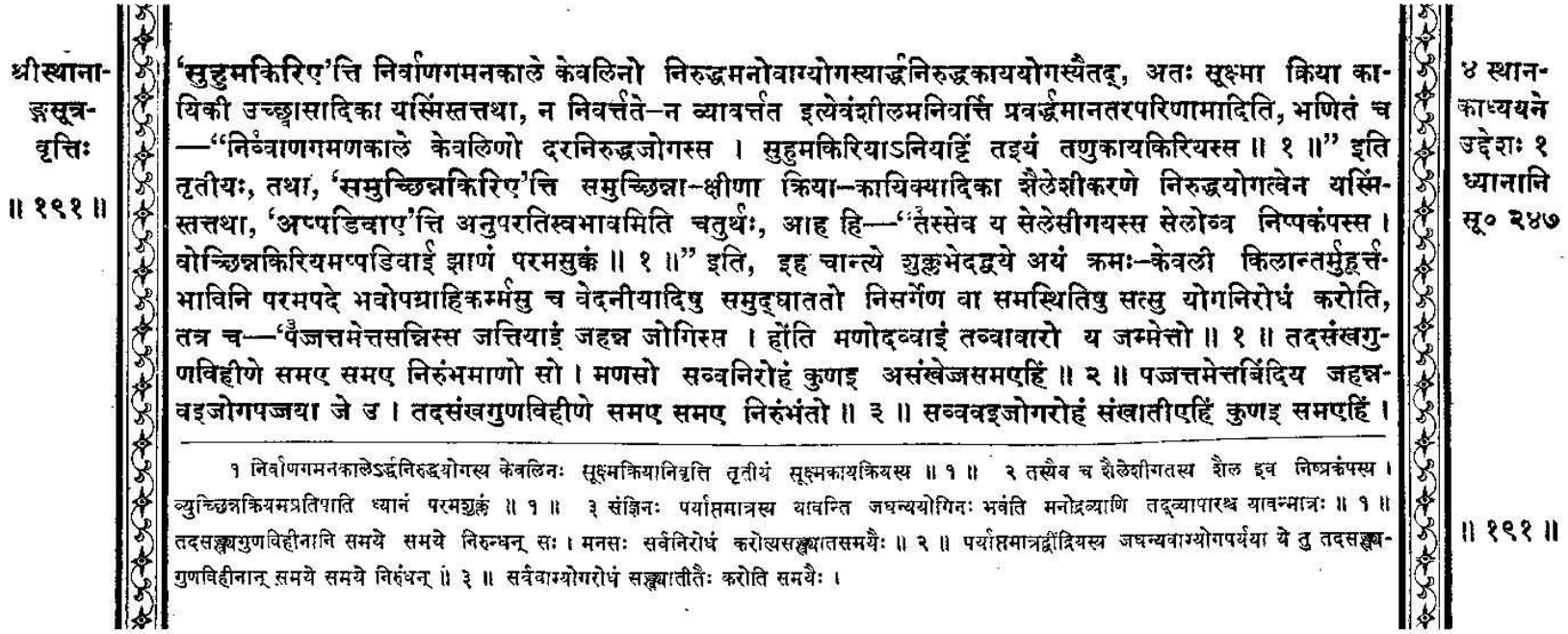

चत्वार: ध्यानस्य वर्णनं

रानुप्रेक्षेति । अथ शुक्लमाह—'पुहुत्तवितक्के'त्ति पृथक्त्वेन—एकद्रव्याश्रितानामुत्पादादिपर्यायाणां भेदेन पृथुत्वेन वा विस्तीर्णभावेनेत्यन्ये वितर्को—विकल्पः पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणलक्षणो यस्मिंस्तत्तथा, पूज्यैस्तु वितर्कः श्रुतालम्बनतया श्रुतमित्युपचारादधीत इति, तथा विचरणम्—अर्थाद् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे तथा मनःप्रभृतीनां योगानामन्यतरस्मादन्यतरस्मिन्निति विचारो 'विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्ति'रिति (तत्त्वा० अ० ९ सू० ४६) वचनात्, सह विचारेण सविचारि, सर्वधनादित्वादिन्समासान्तः, उक्तं च—"उप्पायठितिभंगाइं पज्जयाणं जमेगदव्वंमि । नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥ १ ॥ सवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं पढमसुक्कं । होति पुहुत्तवियक्कं सवियारमरागभावस्स ॥ २ ॥" इत्येको भेदः, तथा 'एगत्तवियक्के'त्ति एकत्वेन—अभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनतयेत्यर्थो वितर्कः—पूर्वगतश्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कम्, तथा न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरितरस्मादितरत्र तथा मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र सञ्चरणलक्षणो निर्वातगृहगतप्रदीपस्येव यस्य तदविचारीति पूर्ववदिति, उक्तं च—"[१]जं पुण सुनिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं । उप्पायठिइभंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ॥ १ ॥ अवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं । पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवियक्कमवियारं ॥ २ ॥" इति द्वितीयः, तथा

१ उत्पादस्थितिभंगादिपर्यवाणां यदेकस्मिन् द्रव्ये नानानयैरनुसरणं पूर्वगतश्रुतानुसारेण ॥ १ ॥ सविचारमर्थव्यञ्जनयोगान्तरतस्तत् प्रथमशुक्लम् भवति पृथक्त्ववितर्कं सविचारमरागभावस्य ॥ २ ॥ २ यत्पुनः सुनिष्प्रकंपं निवातस्थानप्रदीपमिव चित्तं उत्पादस्थितिभंगादीनामेकस्मिन् पर्याये ॥ १ ॥ अविचारमर्थव्यञ्जनयोगान्तरतस्तत् द्वितीयं शुक्लम् । पूर्वगतश्रुतालम्बनमेकत्ववितर्कमविचारम् ॥ २ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


चत्वारः ध्यानस्य वर्णनं



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ १९१ ॥

'सुहुमकिरिए'त्ति निर्वाणगमनकाले केवलिनो निरुद्धमनोवाग्योगस्यार्द्धनिरुद्धकाययोगस्यैतद्, अतः सूक्ष्मा क्रिया कायिकी उच्छ्वासादिका यस्मिंस्तत्तथा, न निवर्त्तते—न व्यावर्त्तत इत्येवंशीलमनिवर्त्ति प्रवर्द्धमानतरपरिणामादिति, भणितं च —"निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स । सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ १ ॥" इति तृतीयः, तथा, 'समुच्छिन्नकिरिए'त्ति समुच्छिन्ना—क्षीणा क्रिया—कायिक्यादिका शैलेशीकरणे निरुद्धयोगत्वेन यस्मिंस्तत्तथा, 'अप्पडिवाए'त्ति अनुपरतिस्वभावमिति चतुर्थः, आह हि—"तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई झाणं परमसुक्कं ॥ १ ॥" इति, इह चान्त्ये शुक्लभेदद्वये अयं क्रमः—केवली किलान्तर्मुहूर्त्तभाविनि परमपदे भवोपग्राहिकर्म्मसु च वेदनीयादिषु समुद्घाततो निसर्गेण वा समस्थितिषु सत्सु योगनिरोधं करोति, तत्र च—"पज्जत्तमेत्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्न जोगिस्स । होंति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मेत्तो ॥ १ ॥ तदसंखगुणविहीणे समए समए निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं कुणइ असंखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥ पज्जत्तमेत्तबेंदिय जहन्नवइजोगपज्जया जे उ । तदसंखगुणविहीणे समए समए निरुंभंतो ॥ ३ ॥ सव्ववइजोगरोहं संखातीएहिं कुणइ समएहिं ।

१ निर्वाणगमनकालेऽर्द्धनिरुद्धयोगस्य केवलिनः सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति तृतीयं सूक्ष्मकायक्रियस्य ॥ १ ॥ २ तस्यैव च शैलेशीगतस्य शैल इव निष्प्रकंपस्य । व्युच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति ध्यानं परमशुक्लं ॥ १ ॥ ३ संज्ञिनः पर्याप्तमात्रस्य यावन्ति जघन्ययोगिनः भवंति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यावन्मात्रः ॥ १ ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीनानि समये समये निरुन्धन् सः । मनसः सर्वनिरोधं करोत्यसङ्ख्यातसमयैः ॥ २ ॥ पर्याप्तमात्रद्वींद्रियस्य जघन्यवाग्योगपर्यया ये तु तदसङ्ख्यगुणविहीनान् समये समये निरुंधन् ॥ ३ ॥ सर्ववाग्योगरोधं सङ्ख्यातीतैः करोति समयैः ।

४ स्थानकाध्ययने उद्देशः १ ध्यानानि सू० २४७

॥ १९१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्तो अ सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ ४ ॥ जो किर जहन्नजोगो तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केके । समए निरुंभमाणो देहतिभागं च मुंचतो ॥ ५ ॥ रुंभइ स काययोगं संखाईतेहिं चेव समएहिं । तो कयजोगनिरोहो सेलेसीभावणामेइ ॥ ६ ॥' शैलेशस्येव–मेरोरिव या स्थिरता सा शैलेशीति, 'ह्रस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भन्नंति । अच्छइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥ १ ॥ तणुरोहारंभाओ झायइ सुहुमकिरियाणियट्टिं सो । वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइं सेलेसिकालंमि ॥ २ ॥" इति । अथ शुक्लध्यानलक्षणान्युच्यन्ते—'अव्वहे'त्ति देवादिकृतोपसर्गादिजनितं भयं चलनं वा व्यथा तस्या अभावो अव्यथम्, तथा देवादिकृतमायाजनितस्य सूक्ष्मपदार्थविषयस्य च संमोहस्य–मूढताया निषेधादसम्मोहः, तथा देहादात्मन आत्मनो वा सर्वसंयोगानां विवेचनं–बुद्ध्या पृथक्करणं विवेकः, तथा निःसङ्गतया देहोपधित्यागो व्युत्सर्ग इति । अत्र विवरणगाथा—"[3]चालिज्जइ बीहेइ व धीरो न परीसहोवसग्गेहिं । सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु २ ॥ १ ॥ देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तहय सव्वसंजोगे ३ । देहोवहिवुस्सग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ २ ॥" इति, आलंबनसूत्रं व्यक्तं, तत्र गाथा—"[3]अह खंतिमद्दवज्जवमुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ । आलंबणाइं

१ ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोत्पन्नस्य ॥ ४ ॥ यः किल जघन्ययोगस्तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन् समये निरुंधन् देहत्रिभागं च मुंचन् ॥ ५ ॥ स काययोगं सङ्ख्यातीतैश्चैव समयै रुणद्धि ततः कृतयोगनिरोधः शैलेशीभावनां एति ॥ ६ ॥ येन मध्येन कालेन पंच ह्रस्वाक्षराणि भण्यन्ते । तावन्मात्रं कालं ततः शैलेशीगतस्तिष्ठति ॥ १ ॥ तनुरोधारम्भात् ध्यायति सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति सः । व्युच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शैलेशीकाले ॥ २ ॥ २ चाल्यते विभेति वा धीरो न परिषहोपसर्गैः सूक्ष्मेष्वपि भावेषु न संमुह्यति न च देवमायासु ॥ १ ॥ आत्मानं देहविविक्तं प्रेक्षते तथा सर्वसंयोगांश्च देहोपधिव्युत्सर्गं निस्संगः सर्वथा करोति ॥ २ ॥
३ अथ क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तयः आलंबनानि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[1]जेहि उ सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ १ ॥" इति, अथ तदनुप्रेक्षा उच्यन्ते—'अणंतवत्तियाणुप्पेह'त्ति अनन्ता—अत्यन्तं प्रभूता वृत्तिः—वर्त्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः अनन्ततया वा वर्त्तत इत्यनन्तवर्त्ती तद्भावस्तत्ता, भवसन्तानस्येति गम्यते, तस्या अनुप्रेक्षा अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा अनन्तवर्त्तितानुप्रेक्षा वेति, यथा—"[2]एस अणाइ जीवो संसारो सागरोव्व दुत्तारो। नारयतिरियनरामरभवेसु परिहिंडए जीवो ॥ १ ॥" इति, एवमुत्तरत्रापि समासः, नवरं 'विपरिणामे'त्ति विविधेन प्रकारेण परिणमनं विपरिणामो वस्तूनामिति गम्यते, यथा—"[3]सव्वट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोगे य। सुरअसुरनराईणं रिद्धिविसेसा सुहाइं च ॥ १ ॥" 'असुभे'त्ति अशुभत्वं संसारस्येति गम्यते, यथा—"[4]धी संसारो जंमि(मी)जुयाणओ परमरूवगव्वियओ। मरिऊण जायइ किमी तत्थेव कडेवरे नियए ॥ १ ॥" तथा अपाया आश्रवाणामिति गम्यते, यथा—"[5]कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा। चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ १ ॥" इह गाथा—"[6]आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च। भवसंताणमणंतं वत्थूणं विपरिणामं च ॥ १ ॥" इति। ध्यानाद् देवत्वमपि स्यादतो देवस्थितिसूत्रं—

१ जिनमतप्रधानाः यैस्तु शुक्लध्यानं समारोहति ॥ १ ॥ २ एष जीवोऽनादिः सागर इव संसारो दुरुत्तारः। जीवो नारकतिर्यग्नरामरभवेषु परिहिंडते ॥ १ ॥ ३ इह देवलोके च सर्वाणि स्थानान्यशाश्वतान्येव सुरासुरनरादीनां ऋद्धिविशेषाः सुखानि च ॥ १ ॥ ४ धिक् संसारं यस्मिन् युवा परमरूपगर्वितः मृत्वा कृमिर्जायते तत्रैव निजे कलेवरे ॥ १ ॥ ५ क्रोधो मानश्चाभिगृहीतौ माया च लोभश्च विवर्धमानौ चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः पुनर्भवस्य मूलानि सिञ्चन्ति ॥ १ ॥ ६ आश्रवद्वारापायान् तथा संसाराशुभानुभावं अनन्तं भवसन्तानं वस्तूनां परिणामं च ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्वार: ध्यानस्य वर्णनं

प्रत सूत्रांक [२४८]

दीप अनुक्रम [२६२]

चउव्विहा देवाण ठिती पं० तं०—देवे णाममेगे १ देवसिणाते नाममेगे २ देवपुरोहिते नाममेगे ३ देवपज्जलणे नाममेगे ४, चउव्विधे संवासे पं० तं०—देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, देवे णाममेगे छवीते सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, छवी णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, छवी णाममेगे छवीते सद्धिं संवासं गच्छेज्जा (सू० २४८) चत्तारि कसाया पं० तं०—कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोभकसाए, एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं २४, चउपतिट्ठिते कोहे पं० तं०— आतपइट्ठिते परपतिट्ठिए तदुभयपइट्ठिते अपतिट्ठिए, एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं २४, एवं जाव लोभे, वेमाणियाणं २४, चउहिं ठाणेहिं कोधुप्पत्ती सिता, तं०—खेत्तं पडुच्चा वत्थुं पडुच्चा सरीरं पडुच्चा उवहिं पडुच्चा, एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं २४, एवं जाव लोभ० वेमाणियाणं २४, चउव्विधे कोहे पं० तं०— अणंताणुबंधिकोहे अपच्चक्खाणकोहे पच्चक्खाणावरणे कोहे संजलणे कोहे, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं २४, एवं जाव लोभे वेमाणियाणं २४, चउव्विहे कोहे पं० तं०—आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगणिव्वत्तिते उवसंते अणुवसंते, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं २४, एवं जाव लोभे जाव वेमाणियाणं २४ (सू० २४९)

स्थितिः—क्रमो मर्यादा राजामात्यादिमनुष्यस्थितिवदेव, देवः सामान्यो नामेति वाक्यालङ्कारे एकः कश्चित् स्नातकः—प्रधानः, देव एव देवानां वा स्नातक इति विग्रहः, एवमुत्तरत्रापि, नवरं पुरोहितः—शान्तिकर्म्मकारी 'पज्जलणे'त्ति प्रज्वलयति—दीपयति वर्णवादकरणेन मागधवदिति प्रज्वलन इति । देवस्थितिप्रस्तावात् तद्विशेषभूतसंवाससूत्रम्, एतच्च व्यक्तं, किन्तु संवासो—मैथुनार्थं संवसनं, 'छवि'त्ति त्वक्तद्योगादौदारिकशरीरं तद्वती नारी तिरश्ची वा तद्व्यतिर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४९]

दीप अनुक्रम [२६३]



स्तिर्यग्वा छविरित्युच्यते । अनन्तरं संवास उक्तः, स च वेदलक्षणमोहोदयादिति मोहविशेषभूतकषायप्रकरणमाह—'चत्तारि कसाये'त्यादि, तत्र कृषन्ति—विलिखन्ति कर्म्मक्षेत्रं सुखदुःखफलयोग्यं कुर्व्वन्ति कलुषयन्ति वा जीवमिति निरुक्तिविधिना कषायाः, उक्तं च—"[1]सुहदुक्खबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसंति ते जम्हा । कलुसंति जं च जीवं तेण कसाय-त्ति वुच्चंति ॥ १ ॥" अथवा कषति—हिनस्ति देहिन इति कषं—कर्म्म भवो वा तस्याया लाभहेतुत्वात् कषं वा आय-यन्ति—गमयन्ति देहिन इति कषायाः, उक्तं च—"[2]कम्मं कसं भवो वा कसमाओ सिं जओ कसायातो । कसमाय-यंति व जओ गमयंति कसं कसायत्ति ॥ १ ॥" इति, तत्र क्रोधनं क्रुध्यति वा येन स क्रोधः—क्रोधमोहनीयोदयस-म्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः क्रोधमोहनीयकर्मैव वेति, एवमन्यत्रापि, नवरं जात्यादिगुणवानहमेवेत्येवं मननम्—अ-वगमनं मन्यते वाऽनेनेति मानः, तथा मानं हिंसनं वञ्चनमित्यर्थो मीयते वाऽनयेति माया, तथा लोभनम्—अभिकाङ्क्षणं लुभ्यते वाऽनेनेति लोभः । 'एव'मिति यथा सामान्यतश्चत्वारः कषायास्तथा विशेषतो नारकाणामसुराणां यावच्चतुर्विंश-तितमे पदे वैमानिकानामिति । 'चउप्पइट्ठिए'त्ति चतुर्षु—आत्मपरोभयतदभावेषु प्रतिष्ठितः चतुःप्रतिष्ठितः, तत्र 'आय-पइट्ठिए'त्ति आत्मापराधेनैहिकामुष्मिकापायदर्शनादात्मविषय आत्मप्रतिष्ठितः परेणाक्रोशादिनोदीरितः परविषयो वा परप्रतिष्ठितः आत्मपरविषय उभयप्रतिष्ठितः आक्रोशादिकारणनिरपेक्षः केवलं क्रोधवेदनीयोदयाद् यो भवति सोऽप्र-

१ सुखदुःखबहुशस्यं कर्मक्षेत्रं कर्षन्ति ते यस्मात् । यच्च जीवं कलुषयन्ति तेन कषाया इति उच्यन्ते ॥ १ ॥ २ यद्वा कषः कर्म भवो वा कषः अनयोरायो यतः कषायात् कषमायर्यंति वा यतो गमयन्ति वा कषं कषाया इति ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'कषाय' अर्थ एवं वर्णनं

तिष्ठितः, उक्तं च—"सापेक्षाणि च निरपेक्षाणि च कर्म्माणि फलविपाकेषु। सोपक्रमञ्च निरुपक्रमं च दृष्टं यथाऽऽयुष्कम् ॥ १ ॥" इति, अयं च चतुर्थभेदो जीवप्रतिष्ठितोऽपि आत्मादिविषयेऽनुत्सन्नत्वादप्रतिष्ठित उक्तो, न तु सर्वथा अप्रतिष्ठितः, चतुःप्रतिष्ठितत्वस्याभावप्रसङ्गादिति । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां कोपस्यात्मादिप्रतिष्ठितत्वं पूर्वभवे तत्परिणामपरिणतमरणेनोत्पन्नानामिति, एवं मानमायालोभैर्दण्डकत्रयमपरमध्येतव्यमिति, क्षेत्रं नारकादीनां ४ स्वं स्वमुत्पत्तिस्थानं प्रतीत्य—आश्रित्य एवं वस्तु सचेतनादि ३ वास्तु वा—गृहम् शरीरं दुःसंस्थितं विरूपं वा उपधिर्यद्यस्योपकरणं, एकेन्द्रियादीनां भवान्तरापेक्षयेति, एवं मानादिभिरपि दण्डकत्रयं, अनन्तं भवमनुबध्नाति—अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी अनन्तो वाऽनुबन्धोऽस्येत्यनन्तानुबन्धी—सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमादिस्वरूपोपशमादिचरणलवविबन्धी, चारित्रमोहनीयत्वात् तस्य, न चोपशमादिभिरेव चारित्री अल्पत्वाद्यथाऽमनस्को न संज्ञी किन्तु महता मूलगुणादिरूपेण चारित्रेण चारित्री, मनःसंज्ञया संज्ञिवद्, अत एव त्रिविधं दर्शनमोहनीयं पञ्चविंशतिविधं चारित्रमोहनीयमिति, ननु 'पढमिल्लुयाण उदए नियमेत्यादि विरुध्यते, चारित्रावारकस्य सम्यक्त्वावारकत्वानुपपत्तेः, अत एव सप्तविधं दर्शनमोहनीयमेकविंशतिविधं चारित्रमोहनीयमिति मतं सङ्गतमाभातीति, अत्रोच्यते, 'पढमेल्लुयाणे'त्यादि यदुक्तं तदनन्तानुबन्धिनां न सम्यक्त्वावारकतया किन्तु सम्यक्त्वसहभाव्युपशमाद्यावारकतया, अन्यथाऽनन्तानुबन्धिभिरेव सम्यक्त्वस्यावृतत्वात् किमपरेण मिथ्यात्वेन प्रयोजनं?, आवृतस्याप्यावरणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्माद्यथा "केवलियनाणलंभो

१ कषायाणां क्षयादन्यत्र न केवलज्ञानलंभः ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'कषाय' अर्थ एवं वर्णनं

नन्नत्थ खए कसायाणं"ति इह कषायाणां केवलज्ञानस्यानावारकत्वेऽपि कषायक्षयः केवलज्ञानकारणतयोक्तः, तस्मिन्नेव तस्य भावाद्, एवमनन्तानुबन्धिक्षयोपशम एव सम्यक्त्वलाभ उच्यते, तस्मिन् सति तस्य भावाद्, यतो नानन्तानुबन्धिषूदितेषु मिथ्यात्वं क्षयोपशममुपयाति, तदभावाच्च न सम्यक्त्वमिति, यच्च सप्तविधं सम्यग्दर्शनमोहनीयमिति मतान्तरं तत्सम्यक्त्वसहचरितत्वेनोपशमादिगुणानां सम्यक्त्वोपचारादिति मन्यामह इति, न विद्यते प्रत्याख्यानम्–अणुव्रतादिरूपं यस्मिन् सोऽप्रत्याख्यानो–देशविरत्यावारकः, प्रत्याख्यानम् आमर्यादया सर्वविरतिरूपमेवेत्यर्थो वृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः सङ्ज्वलयति–दीपयति सर्वसावद्यविरतिमपीन्द्रियार्थसम्पाते वा सङ्ज्वलति–दीप्यत इति सञ्ज्वलनः–यथाख्यातचारित्रावारकः, एवं मानमायालोभेष्वप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदचतुष्टयमध्येतव्यमिति, एषां निरुक्तिः पूज्यैरियमुक्ता—"अनन्तान्यनुबध्नन्ति, यतो जन्मानि भूतये। अतोऽनन्तानुबन्ध्याख्या, क्रोधाद्याऽऽद्येषु दर्शिता ॥ १ ॥ नात्यमप्युत्सहेद्येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता ॥ २ ॥ सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमुदाहृतम् । तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥ ३ ॥ शब्दादीन् विषयान् प्राप्य, सज्ज्वलन्ति यतो मुहुः । अतः सज्ज्वलनाह्वानं, चतुर्थानामिहोच्यते ॥ ४ ॥" इति, एवं मानादिभिरपि दण्डकत्रयम् । 'आभोगणिव्वत्तिए'त्ति आभोगो–ज्ञानं तेन निर्वर्त्तितो यज्जानन् कोपविपाकादि रुष्यति, इतरस्तु यदजानन्निति, उपशान्तः–अनुदयावस्थः, तत्प्रतिपक्षोऽनुपशान्तः, एकेन्द्रियादीनामाभोगनिर्वर्त्तितः संज्ञिपूर्वभवापेक्षया, अनाभोगनिर्वर्त्तितस्तु तद्भवापेक्षयाऽपि, उप-






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'कषाय' अर्थ एवं वर्णनं

शान्तो नारकादीनां विशिष्टोदयाभावात् अनुपशान्तो निर्विचार एवेति, एवं मानादिभिरपि दण्डकत्रयम् । इदानीं कषायाणामेव कालत्रयवर्त्तिनः फलविशेषा उच्यन्ते—

जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु, तं०—कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं, एवं जाव वेमाणियाणं २४, एवं चिणंति एस दंडओ, एवं चिणिस्संति एस दंडओ, एवमेतेणं तिन्नि दंडगा, एवं उवचिणिंसु उवचिणंति उवचिणिस्संति, बंधिंसु ३ उदीरिंसु ३ वेदेंसु ३ निज्जरेंसु णिज्जरेंति निज्जरिस्संति, जाव वेमाणियाणं, एवमेक्केक्के पदे तिन्नि २ दंडगा भाणियव्वा, जाव निज्जरिस्संति (सू० २५०) चत्तारि पडिमाओ पं० तं०—समाहिपडिमा उवहाणपडिमा विवेगपडिमा विउस्सग्गपडिमा, चत्तारि पडिमाओ पं० तं०—भद्दा सुभद्दा महाभद्दा सव्वतोभद्दा, चत्तारि पडिमातो पं० तं०—खुड्डिया मोयपडिमा महल्लिया मोयपडिमा जवमज्झा वइरमज्झा (सू० २५१)

'जीवा ण'मित्यादि गतार्थं, नवरम् चयनं—कषायपरिणतस्य कर्म्मपुद्गलोपादानमात्रं उपचयनं—चितस्याबाधाकालं मुक्त्वा ज्ञानावरणीयादितया निषेकः, स चैवं—प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्म्मदलिकं निषिञ्चति, ततो द्वितीयायां विशेषहीनं, एवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति, उक्तं च—"मोत्तूण सगमबाहं पढमाइ ठिईए बहुतरं दव्वं। सेसे विसेसहीणं जावुक्कोसंति सव्वेसिं ॥१॥" इति, बन्धनं—तस्यैव ज्ञानावरणीयादितया निषिक्तस्य पुनरपि कषायपरिणतिविशेषान्निकाचनमिति, उदीरणम्—अनुदयप्राप्तस्य करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणमिति, वेदनं—स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्म्मण उदीरणाकरणेन वोदयभावमुप-

१ स्वकमबाधाकालं मुक्त्वा (निषेके) प्रथमस्थितौ बहुतरं द्रव्यं शेषायां विशेषहीनं यावदुत्कृष्टायां सर्वासां ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३] अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [२५१]

दीप अनुक्रम [२६५]



नीतस्यामुभवनमिति, निर्जरा–कर्म्मणोऽकर्म्मत्वभवनमिति, इह च देशनिर्जरैव ग्राह्या, सर्वनिर्जरायाश्चतुर्विंशतिदण्डकेऽसम्भवात्, क्रोधादीनां च तदकारणत्वात्, क्रोधादिक्षयस्यैव तत्कारणत्वादिति, इह प्रज्ञापनाधीता सङ्ग्रहगाथा—
"[1]आयपइट्ठिय १ खेत्तं पडुच्च २ णंताणुबंधि ३ आभोगे ४ । चिणउवचिणबंध उदीर वेय तह निज्जरा चेव ॥ १ ॥"
इति । अनन्तरं निर्जरोक्ता, सा च विशिष्टा प्रतिमाद्यनुष्ठानाद्भवतीति प्रतिमासूत्रत्रयं, तद् द्विस्थानकाधीतमपीहाधीयते, चतुःस्थानकानुरोधादिति, व्याख्याऽप्यस्य पूर्ववदनुसर्त्तव्या, किन्तु स्मरणाय किञ्चिदुच्यते–समाधिः–श्रुतं चारित्रं च तद्विषया प्रतिमा–प्रतिज्ञा अभिग्रहः समाधिप्रतिमा द्रव्यसमाधिर्वा प्रसिद्धस्तद्विषया प्रतिमा–अभिग्रहः समाधिप्रतिमा एवमन्या अपि, नवरमुपधानं–तपः विवेकः–अशुद्धातिरिक्तभक्तपानवस्त्रशरीरतन्मलादित्यागः 'विउस्सग्गे'त्ति कायोत्सर्गः । तथा पूर्वादिदिक्चतुष्टयाभिमुखस्य प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयमानः कायोत्सर्गो भद्रेति, अहोरात्रद्वयेन चास्याः समासिरिति, सुभद्राऽप्येवंभूतैव सम्भाव्यते, न च दृष्टेति न लिखितेति, एवमेव चाहोरात्रप्रमाणः कायोत्सर्गो महाभद्रा, चतुर्भिश्चाहोरात्रैरियं समाप्यते, यस्तु दिग्दशकाभिमुखस्याहोरात्रप्रमाणः कायोत्सर्गः सा सर्व्वतोभद्रा, सा च दशभिरहोरात्रैः समाप्यत इति । मोयप्रतिमा–प्रश्रवणप्रतिज्ञा सा च क्षुल्लिका या षोडशभक्तेन समाप्यते महती तु याऽष्टादशभक्तेनेति, यवमध्या या यववद्वृत्तिकवलादिभिराद्यन्तयोर्हीना मध्ये च वृद्धेति, वज्रमध्या तु याऽद्यन्तवृद्धा मध्ये हीना चेति । प्रतिमाश्च जीवास्तिकाये एवेति तद्विपर्ययस्वरूपाजीवास्तिकायसूत्रं—

१ आत्मप्रतिष्ठितः क्षेत्रं प्रतीत्य अनन्तानुबन्धी आभोगः चिनाति उपचिनाति बध्नाति उदीरयति वेदयति निर्जरयति ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पं० तं०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए, चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया पं० तं०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए (सू० २५२) चत्तारि फला पं० तं०—आमे णामं एगे आममहुरे १ आमे णाममेगे पक्कमहुरे २ पक्के णाममेगे आममहुरे ३ पक्के णाममेगे पक्कमहुरे ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—आमे णाममेगे आममहुरफलसमाणे, ४ (सू० २५३) चउव्विहे सच्चे पं० तं०—काउज्जुयया भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे, चउव्विहे मोसे पं० तं०—कायअणुज्जुयया भासअणुज्जुयया भावअणुज्जुयया विसंवादणाजोगे, चउव्विहे पणिहाणे पं० तं०—मणपणिहाणे वइपणिहाणे कायपणिहाणे उवकरणपणिधाणे, एवं णेरइयाणं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं २४, चउव्विहे सुप्पणिहाणे पं० तं०—मणसुप्पणिहाणे जाव उवगरणसुप्पणिहाणे, एवं संजयमणुस्साणवि, चउव्विहे दुप्पणिहाणे, पं० तं०—मणदुप्पणिहाणे जाव उवकरणदुप्पणिहाणे, एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं २४ (सू० २५४)

'अत्थिकाय'त्ति, अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना, अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति, अस्तिशब्देन प्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः, ते चाजीवकायाः अचेतनत्वात् । अस्तिकाया मूर्त्तामूर्त्ता भवन्तीत्यमूर्त्तप्रतिपादनायारूप्यस्तिकायसूत्रं, रूपं—मूर्त्तिर्वर्णादिमत्त्वं तदस्ति येषां ते रूपिणस्तत्पर्युदासादरूपिणः—अमूर्त्ता इति । अनन्तरं जीवास्तिकाय उक्तः, तद्विशेषभूतपुरुषनिरूपणाय फलसूत्रं, आमम्—अपक्वं सत् आममिव मधुरम् आममधुरमीषन्मधुरमित्यर्थः, तथा आमं सत् पक्वमिव मधुरमत्यन्तमधु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रमित्यर्थः, तथा पक्कं सत् आममधुरं प्राग्वत्, तथा पक्कं सत् पक्कमधुरं प्राग्वदेवेति, पुरुषस्तु आमो–वयःश्रुताभ्यामव्यक्तः आममधुरफलसमानः, उपशमादिलक्षणस्य माधुर्यस्याल्पस्यैव भावात्, तथा आम एव पक्कमधुरफलसमानः–पक्कफलवन्मधुरस्वभावः, प्रधानोपशमादिगुणयुक्तत्वादिति, तथा पक्वोऽन्यो वयःश्रुताभ्या परिणतः आममधुरफलसमानः, उपशमादिमाधुर्यस्याल्पत्वात्, तथा पक्वस्तथैव, पक्कमधुरफलसमानोऽपि तथैवेति । अनन्तरं पक्कमधुर उक्तः, स च सत्यगुणयोगात् भवतीति सत्यं तद्विपर्ययं च मृषा तथा सत्यासत्यनिमित्तं प्रणिधानं प्रतिपिपादयिषुः सूत्राण्याह—'चउव्विहे सच्चे' इत्यादीनि गतार्थानि, नवरमृजुकस्य–अमायिनो भावः कर्म्म वा ऋजुकता कायस्य ऋजुकता कायर्जुकता, एवमितरे अपि, नवरं भावो–मन इति, कायर्जुकतादयश्च शरीरवाङ्मनसां यथावस्थितार्थप्रत्यायनार्थाः प्रवृत्तयः, तथा अनाभोगादिना गवादिकमश्वादिकं यद्वदति कस्यैचित् किञ्चिदभ्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादना तद्विपक्षेण योगः–सम्बन्धोऽविसंवादनायोग इति, 'मोसे'त्ति मृषाऽसत्यं कायस्यानृजुकतेत्यादि वाक्यम् । प्रणिधिः प्रणिधानं–प्रयोगः, तत्र मनसः प्रणिधानम्–आर्त्तरौद्रधर्म्मादिरूपतया प्रयोगो मनःप्रणिधानम्, एवं वाक्काययोरपि, उपकरणस्य–लौकिकलोकोत्तररूपस्य वस्त्रपात्रादेः संयमासंयमोपकाराय प्रणिधानं–प्रयोग उपकरणप्रणिधानं । 'एव'मिति यथा सामान्यतस्तथा नैरयिकाणामिति, तथा चतुर्विंशतिदण्डकपठितानां मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषामपि वैमानिकान्तानामेवमेवेति, एकेन्द्रियादीनां मनःप्रभृतीनामसम्भवेन प्रणिधानासम्भवादिति । प्रणिधानविशेषः सुप्रणिधानं दुष्प्रणिधानञ्चेति तत्सूत्राणि, शोभनं संयमार्थत्वात् प्रणिधानं–मनःप्रभृतीनां प्रयोजनं सुप्रणिधानमिति । इदं च सुप्रणिधानं



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशतिदण्डकनिरूपणायां मनुष्याणां तत्रापि संयतानामेव भवति, चारित्रपरिणतिरूपत्वात् सुप्रणिधानस्येत्याह–'एवं संजये'त्यादि, दुष्प्रणिधानसूत्रं सामान्यसूत्रवत् नवरं दुष्प्रणिधानम्–असंयमार्थे मनःप्रभृतीनां प्रयोग इति। पुरुषाधिकारादेवापरथा पुरुषसूत्राणि चतुर्दश

चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—आवातभद्दते णाममेगे णो संवासभद्दते १, संवासभद्दए णाममेगे णो आवातभद्दए २, एगे आवातभद्दतेवि संवासभद्दतेवि ३ एगे णो, आवायभद्दते नो वा संवासभद्दए ४, १, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अप्पणो नाममेगे वज्जं पासति णो परस्स, परस्स णाममेगे वज्जं पासति ४, २, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अप्पणो णाममेगे वज्जं उदीरेइ णो परस्स ४, ३, अप्पणो नाममेगे वज्जं उवसामेति णो परस्स ४, ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अब्भुट्ठेइ नाममेगे णो अब्भुट्ठावेति, ५, एवं वंदति णाममेगे णो वंदावेइ ६, एवं सक्कारेइ ७ सम्माणेति ८ पूएइ ९ वाएइ १० पडिपुच्छति ११ पुच्छइ १२ वागरेति, १३, सुत्तधरे णाममेगे णो अत्थधरे अत्थधरे नाममेगे णो सुत्तधरे १४ (सू० २५५)

सुगमानि, नवरमापतनमापातः–प्रथममीलकः तत्र भद्रको–भद्रकारी दर्शनालापादिना सुखकरत्वात्, संवासः–चिरं सहवासस्तस्मिन भद्रको हिंसकत्वात् संसारकारणनियोजकत्वाद्वेति, संवासभद्रकः सह संवसतामत्यन्तोपकारितया नो आपातभद्रकः अनालापकठोरालापादिना, एवं द्वावन्यौ। 'वज्जं'ति वर्ज्यत इति वर्ज्यम् अवद्यं वा अकारलोपात्, वज्रवद्वज्रं वा गुरुत्वाद्धिंसाऽनृतादि पापं कर्म्म तदात्मनः सम्बन्धि कलहादौ पश्यति, पश्चात्तापान्वितत्वात्, न परस्य, तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्युदासीनत्वात्, अन्यस्तु परस्य नात्मनः, साभिमानत्वात्, इतर उभयोः, निरनुशयत्वेन यथावद्वस्तुबोधात्, अपरस्तु नोभयोर्विमूढत्वात् इति। दृष्ट्वा चैक आत्मनः सम्बन्धि अवद्यमुदीरयति–भणति यदुत मया कृतमेतदिति, उपशान्तं वा पुनः प्रवर्त्तयत्यथवा वज्रं–कर्म्म तदुदीरयति–पीडोत्पादनेन उदये प्रवेशयतीति, एवमुपशमयति–निवर्त्तयति पापं कर्म्म वा। 'अब्भुट्ठेइ'त्ति अभ्युत्थानं करोति न कारयति परेण, संविग्नपाक्षिको लघुपर्यायो वा, कारयत्येव गुरुः, उभयवृत्तिर्वृषभादिः, अनुभयवृत्तिर्जिनकल्पिकोऽविनीतो वेति। एवं वन्दनादिसूत्रेष्वपि, नवरं वन्दते द्वादशावर्त्तादिना, सत्करोति वस्त्रादिदानेन, सन्मानयति स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणेन, पूजयति उचितपूजाद्रव्यैरिति, वाचयति–पाठयति, 'नो वायावेइ' आत्मानमन्येनेति उपाध्यायादिः, द्वितीये शैक्षकः, तृतीये क्वचित् ग्रन्थान्तरेऽनधीती, चतुर्थे जिनकल्पिकः। एवं सर्वत्रोदाहरणं स्वबुद्ध्या योजनीयम्, प्रतीच्छतीति सूत्रार्थौ गृह्णाति, पृच्छति–प्रश्नयति सूत्रादि व्याकरोति–ब्रूते तदेवेति सूत्रधरः–पाठकः, अर्थधरो बोद्धा, अन्यस्तूभयधरः, चतुर्थस्तु जड इति।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो चत्तारि लोगपाला पं० तं०—सोमे जमे वरुणे वेसमणे, एवं बलिस्सवि सोमे जमे वेसमणे वरुणे, धरणस्स कालपाले कोलपाले सेलपाले संखपाले, एवं भूयाणंदस्स चत्तारि कालपाले कोलपाले संखपाले सेलपाले, वेणुदेवस्स चित्ते विचित्ते चित्तपक्खे विचित्तपक्खे वेणुदालिस्स चित्ते विचित्ते विचित्तपक्खे चित्तपक्खे हरिकंतस्स पभे सुप्पभे पभकंते सुप्पभकंते हरिस्सहस्स पभे सुप्पभे सुप्पभकंते पभकंते अग्गिसिहस्स तेऊ तेउसिहे तेउकंते तेउप्पभे अग्गिमाणवस्स तेऊ तेउसिहे तेउपभे तेउकंते पुन्नस्स रूए रूयंसे रूदकंते रूदप्पभे, एवं विसिट्ठस्स




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूते रूतंसे रूतप्पभे रूयकंते, जलकंतस्स जले जलइते जलकंते जलप्पभे जलप्पहस्स जले जलरते जलप्पहे जलकंते, अमितगतिस्स तुरियगती खिप्पगती सीहगती सीहविक्कमगती अमितवाहणस्स तुरियगती खिप्पगती सीहविक्कमगती सीहगती वेलंबस्स काले महाकाले अंजणे रिट्ठे पभंजणस्स काले महाकाले रिट्ठे अंजणे, घोसस्स आवत्ते वियावत्ते णंदियावत्ते महाणंदियावत्ते महाघोसस्स आवत्ते वियावत्ते महाणंदियावत्ते णंदियावत्ते २०, सक्कस्स सोमे जमे वरुणे वेसमणे, ईसाणस्स सोमे जमे वेसमणे वरुणे, एवं एगंतरिता जावच्चुतस्स, चउव्विहा वाउकुमारा० पं० तं०—काले महाकाले वेलंबे पभंजणे (सू० २५६) चउव्विहा देवा पं० तं०—भवणवासी वाणमंतरा जोइसिया विमाणवासी (सू० २५७) चउव्विहे पमाणे पं० तं०—दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे (सू० २५८)

पुरुषाधिकारादेव देवविशेषपुरुषनिरूपणपराणि लोकपालादिसूत्राणि कण्ठ्यानि, नवरं इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात् प्रभुर्महान् वा गजेन्द्रवत्, राजा तु राजनाद् दीपनात् शोभावत्त्वादित्यर्थः आराध्यत्वाद्वा, एकार्थौ वैताविति, दाक्षिणात्येषु यो नामतस्तृतीयो लोकपालः स औदीच्येषु चतुर्थश्चतुर्थस्त्वितर इति, एवं 'एक्कंतरिय'त्ति, यन्नामानः शक्रस्य तन्नामान एव सनत्कुमारब्रह्मलोकशुक्रप्राणतेन्द्राणां तथा यन्नामान ईशानस्य तन्नामान एव माहेन्द्रलान्तकसहस्राराच्युतेन्द्राणामिति। कालादयः पातालकलशस्वामिन इति। चतुर्विधा देवा इत्युक्तम्, एतच्च सङ्ख्याप्रमाणमिति प्रमाणप्ररूपणसूत्रं, तत्र प्रमिति प्रमीयते वा—परिच्छिद्यते येनार्थस्तत् प्रमाणं, तत्र द्रव्यमेव प्रमाणं दण्डादिद्रव्येण वा धनुरादिना शरीरादेर्द्रव्यैर्वा दण्डहस्ताङ्गुलादिभिः द्रव्यस्य वा जीवादेः द्रव्याणां वा जीवधर्माधर्मादीनां द्रव्ये वा परमाण्वादौ पर्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

याणां द्रव्येषु वा तेष्वेव तेषामेव प्रमाणं द्रव्यप्रमाणं, एवं यथायोगं सर्वत्र विग्रहः कार्यः, तत्र द्रव्यप्रमाणं द्विधा–प्रदेशनिष्पन्नं विभागनिष्पन्नं च, तत्र आद्यं परमाण्वाद्यनन्तप्रदेशिकान्तं, विभागनिष्पन्नं पञ्चधा–मानादि, तत्र मानं धान्यमानं सेतिकादि रसमानं कर्षादि १ उन्मानं तुलाकर्षादि २ अवमानं हस्तादि ३ गणितमेकादि ४ प्रतिमानं गुञ्जावल्लादीति ५ क्षेत्रम्–आकाशं तस्य प्रमाणं द्विधा–प्रदेशनिष्पन्नादि, तत्र प्रदेशनिष्पन्नमेकप्रदेशावगाढादि असङ्ख्यप्रदेशावगाढान्तं, विभागनिष्पन्नमङ्गुल्यादि, कालः–समयस्तन्मानं द्विधा प्रदेशनिष्पन्नमेकसमयस्थित्यादि असङ्ख्येयसमयस्थित्यन्तं विभागनिष्पन्नं समयावलिकेत्यादि, क्षेत्रकालयोर्द्रव्यत्वे सत्यपि भेदनिर्देशो जीवादिद्रव्यविशेषकत्वेनानयोस्तत्पर्यायताऽपीति द्रव्याद्विशिष्टताख्यापनार्थः, भाव एव भावानां वा प्रमाणं भावप्रमाणं गुणनयसङ्ख्याभेदभिन्नं, तत्र गुणा–जीवस्य ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तत्र ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानोपमानागमरूपं प्रमाणमिति, नया–नैगमादयः, सङ्ख्या–एकादिकेति । देवाधिकारे एवेदं सूत्रचतुष्टयं—

चत्तारि दिसाकुमारिमहत्तरियाओ पं० तं०—रूया रूयंसा सुरूवा रूयावती, चत्तारि विज्जुकुमारिमहत्तरियाओ पं० तं०—चित्ता चित्तकणगा सतेरा सोतामणी (सू० २५९) सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो मज्झिमपरिसाते देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पं०, ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो मज्झिमपरिसाए देवीणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पं० (सू० २६०) चउव्विहे संसारे पं० तं०—दव्वसंसारे खेत्तसंसारे कालसंसारे भावसंसारे (सू० २६१)

**'चत्तारि दिसा' इत्यादि सुगमं, नवरं दिक्कुमार्यश्च ता महत्तरिकाश्च–प्रधानतमास्तासां वा महत्तरिका दिक्कुमारीमह-**



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्तरिकाः, एता मध्यरुचकवास्तव्या अर्हतो जातमात्रस्य नालकल्पनादि कुर्वन्तीति, विद्युत्कुमारीमहत्तरिकास्तु विदिग्रुचकवास्तव्याः, एताश्च भगवतो जातमात्रस्य चतसृष्वपि दिक्षु स्थिता दीपिकाहस्ता गायन्तीति । एते च देवाः संसारिण इति संसारसूत्रं, तत्र संसरणम्–इतश्चेतश्च परिभ्रमणं संसारः, तत्र संसारशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्याणां वा–जीवपुद्गललक्षणानां यथायोगं भ्रमणं द्रव्यसंसारः, तेषामेव क्षेत्रे–चतुर्दशरज्ज्वात्मके यत्संसरणं स क्षेत्रसंसारः, यत्र वा क्षेत्रे संसारो व्याख्यायते तदेव क्षेत्रमभेदोपचारात् संसारो यथा रसवती गुणनिकेत्यादि, कालस्य–दिवसपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिलक्षणस्य संसरणं–चक्रन्यायेन भ्रमणं पल्योपमादिकालविशेषविशेषितं वा यत्कस्यापि जीवस्य नरकादिषु स कालसंसारः, यस्मिन् वा काले–पौरुष्यादिके संसारो व्याख्यायते स कालोऽपि संसार उच्यते अभेदाद्यथा प्रत्युपेक्षणाकरणात् कालोऽपि प्रत्युपेक्षणेति, तथा संसारशब्दार्थज्ञः तत्रोपयुक्तो जीवपुद्गलयोर्वा संसरणमात्रमुपसर्जनीकृतसम्बन्धिद्रव्यं भावानां वौदयिकादीनां वर्णादीनां वा संसरणपरिणामो भावसंसार इति । अयञ्च द्रव्यादिसंसारोऽनेकनयैर्दृष्टिवादे विचार्यते इति दृष्टिवादसूत्रं—

चउव्विहे दिट्ठिवाए पं० तं०—परिकम्मं सुत्ताइं पुव्वगए अणुजोगे (सू० २६२) चउव्विहे पायच्छित्ते पं० तं०—णाणपायच्छित्ते दंसणपायच्छित्ते चरित्तपायच्छित्ते चियत्तकिच्चपायच्छित्ते, १। चउव्विहे पायच्छित्ते पं० तं०—परिसेवणापायच्छित्ते संजोयणापायच्छित्ते आरोअणापायच्छित्ते पलिउंचणापायच्छित्ते २। (सू० २६३)

'चउव्विहे दिट्ठिवाए' इत्यादि, तत्र दृष्टयो दर्शनानि–नया उद्यन्ते–अभिधीयन्ते पतन्ति वा–अवतरन्ति यस्मि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२६३]

दीप अनुक्रम [२७७]



न्नसौ दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा–द्वादशमङ्गम्, तत्र सूत्रादिग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थं परिकर्म गणितपरिकर्मवत्, तच्च सिद्धसेनिकादि, सूत्राणीति ऋजुसूत्रादीनि द्वाविंशतिर्भवन्ति, इह सर्वद्रव्यपर्यायनयाद्यर्थसूचनात् सूत्राणीति, समस्तश्रु तात्पूर्वं करणात् पूर्वाणि, तानि चोत्पादपूर्वादीनि चतुर्दशेति, एतेषां चैवं नामप्रमाणानि, तद्यथा—"उप्पाय १ अग्गेणीयं २ वीरियं ३ अत्थिनत्थि उ पवायं ४। णाणपवायं ५ सच्चं ६ आयपवायं च ७ कम्मं च ८ ॥ १ ॥ पुव्वं पच्चक्खाणं ९ विज्जणुवायं १० अवंझ ११ पाणाउं १२। किरियाविसालपुव्वं १३ चोद्दसमं बिंदुसारं तु १४ ॥ २ ॥ उप्पाये पयकोडी १ अग्गेणीयंमि छन्नउइलक्खा २। विरियम्मि सयरिलक्खा ३ सट्ठिलक्खा उ अत्थिणत्थिम्मि ४ ॥ ३ ॥ एगा पउणा कोडी णाणपवायंमि होइ पुव्वंमि ५। एगा पयाण कोडी छच्च पया सच्चवायंमि ॥ ४ ॥ छव्वीसं कोडीओ आयपवायंमि होइ पयसंखा ७। कम्मपवाए कोडी असीती लक्खेहिं अब्भहिआ ८ ॥ ५ ॥ चुलसीइ सयसहस्सा पच्चक्खाणंमि वन्निया पुव्वे। एक्का पयाण कोडी दससहसहिया य अणुवाए १० ॥ ६ ॥ छव्वीसं कोडीओ पयाण पुव्वे अवंझणामंमि ११। पाणाउम्मि य कोडी छप्पणलक्खेहि अब्भहिया १२ ॥ ७ ॥ नवकोडीओ संखा किरियविसालंमि

१ उत्पादं अग्रायणीयं वीर्यं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादमात्मप्रवादं च कर्मप्रवादं च ॥ १ ॥ प्रत्याख्यानं पूर्वं विद्यानुवादं अवन्ध्यं प्राणायुः क्रियाविशालं पूर्वं चतुर्दशं बिन्दुसारं तु ॥ २ ॥ उत्पादे पदकोटी अग्रायणीये षण्णवतिलक्षाः वीर्ये सप्ततिलक्षाः अस्तिनास्तिपूर्वे षष्टिलक्षाः ॥ ३ ॥ पादोनैका कोटी ज्ञानप्रवादे भवति पूर्वं सत्यवादे षडधिकैका पदकोटी ॥ ४ ॥ आत्मप्रवादे षड्विंशतिः कोट्यः पदसङ्ख्यया भवंति अशीत्या लक्षैरधिका पदकोटी कर्मप्रवादे ॥ ५ ॥ प्रत्याख्यानपूर्वं चतुरशीतिसहस्राणि वर्णितानि विद्यानुवादे दशसहस्राधिकैका कोटी पदानां ॥ ६ ॥ अवन्ध्यनाम्नि पूर्वं षड्विंशतिः कोट्यः पदानां प्राणायुषि च षट्पंचाशल्लक्षाधिका कोटी ॥ ७ ॥ गुरुणा क्रियाविशाले नव कोट्यो





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्दश-पूर्वस्य नामानि एवं श्लोक प्रमाणं

वंन्निया गुरुणा १३। अद्धत्तेरसलक्खा पयसंखा बिंदुसारम्मि ॥ ८ ॥" इति, तेषु गतं–प्रविष्टं यत् श्रुतं तत्पूर्वगतं–पूर्वाण्येव, अङ्गप्रविष्टमङ्गानि यथेति, योजनं योगः अनुरूपोऽनुकूलो वा सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सह योग इत्यनुयोगः, स चैकस्तीर्थकराणां प्रथमसम्यक्त्वावाप्तिपूर्वभवादिगोचरो यः स मूलप्रथमानुयोगोऽभिधीयते, यस्तु कुलकरादिवक्तव्यतागोचरः स गण्डिकानुयोग इति। पूर्वगतमनन्तरमुक्तं, तत्र च प्रायश्चित्तप्ररूपणाऽऽसीदिति प्रायश्चित्तसूत्रद्वयं, तत्र ज्ञानमेव प्रायश्चित्तं, यतस्तदेव पापं छिनत्ति प्रायः चित्तं वा शोधयतीति निरुक्तिवशात् ज्ञानप्रायश्चित्तमिति, एवमन्यत्रापि, 'वियत्तकिच्चे'त्ति व्यक्तस्य–भावतो गीतार्थस्य कृत्यं–करणीयं व्यक्तकृत्यं प्रायश्चित्तमिति, गीतार्थो हि गुरुलाघवपर्यालोचनेन यत् किञ्चन करोति तत्सर्वं पापविशोधकमेव भवतीति, अथवा ज्ञानाद्यतिचारविशुद्धये यानि प्रायश्चित्तान्यालोचनादीनि विशेषतोऽभिहितानि तानि तथा व्यपदिश्यन्ते, (यद्वा) 'वियत्ते'ति विशेषेण–अवस्थाद्यौचित्येन विशेषानभिहितमपि दत्तं–वितीर्णमभ्यनुज्ञातमित्यर्थः, यत्किञ्चिन्मध्यस्थगीतार्थेन कृत्यम्–अनुष्ठानं तद् विदत्तकृत्यं प्रायश्चित्तमेव, 'चियत्तकिच्चे'त्ति पाठान्तरतस्तु प्रीतिकृत्यं वैयावृत्त्यादीति, प्रतिषेवणम्–आसेवनमकृत्यस्येति प्रतिषेवणा, सा च द्विधा–परिणामभेदात् प्रतिषेवणीयभेदाद्वा, तत्र परिणामभेदात् "[२]पडिसेवणा उ भावो सो पुण कुसलोव्व होज्जऽकुसलो वा। कुसलेण होइ कप्पो अकुसलपरिणामओ दप्पो ॥ १ ॥" प्रतिषेवणीयभेदात्तु "[३]मूलगुणउत्तरगुणे दुविहा

१ वर्णिताः पदसङ्ख्यया अर्द्धत्रयोदश लक्षा बिन्दुसारे पदसङ्ख्यया ॥ ८ ॥ २ भावः प्रतिषेवना सः पुनः कुशलो वा भवेदकुशलो वा। कुशलेन भवति कल्पः अकुशलपरिणामाद्दर्पः ॥ १ ॥ ३ मूलगुणोत्तरगुणेषु द्विविधा


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


चतुर्दश-पूर्वस्य नामानि एवं श्लोक प्रमाणं, प्रायश्चित-वर्णनं.

प्रत सूत्रांक [२६३]

दीप अनुक्रम [२७७]



पैंडिसेवणा समासेणं १ । मूलगुणे पंचविहा पिंडविसोहाइगी इयरा ॥ १ ॥" तस्यां प्रायश्चित्तमालोचनादि, तच्चेदम्—"[3]आलोयण १ पडिक्कमणे २ मीस ३ विवेगे ४ तहा विउस्सग्गे ५ । तव ६ छेय ७ मूल ८ अणवट्ठया य ९ पारंचिए १० चेव ॥ १ ॥" इति प्रतिषेवणाप्रायश्चित्तं १, संयोजनम्—एकजातीयातिचारमीलनं संयोजना यथा शय्यातरपिण्डो गृहीतः सोऽप्युदकार्द्रहस्तादिना सोऽप्यभ्याहृतः सोऽप्याधाकर्म्मिकस्तत्र यत् प्रायश्चित्तं तत् संयोजनाप्रायश्चित्तम्, तथा आरोपणमेकापराधप्रायश्चित्ते पुनः पुनरासेवनेन विजातीयप्रायश्चित्ताध्यारोपणमारोपणा, यथा पञ्चरात्रिन्दिवप्रायश्चित्तमापन्नः पुनस्तत्सेवने दशरात्रिन्दिवं पुनः पञ्चदशरात्रिन्दिवमेवं यावत्षण्मासात् ततस्तस्याधिकं तपो देयं न भवति अपि तु शेषतपांसि तत्रैवान्तर्भावनीयानि, इह तीर्थे षण्मासान्तत्वात् तपस इति, उक्तं च—"[3]पंचाईयारोवण नेयव्वा जाव होंति छम्मासा । तेण पर मासियाणं छण्हुवरिं जोसणं कुज्जा ॥ १ ॥" इति, आरोपणया प्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तमिति, तथा परिकुञ्चनम्—अपराधस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावानां गोपायनमन्यथा सतामन्यथा भणनं परिकुञ्चना परिवञ्चना वा, उक्तं च—"दव्वे खेत्ते काले भावे पलिउंचणा चउवियप्प"त्ति, तथाहि—[4]सचित्ते अचित्तं[*1] जणवयपडिसेवियं च अद्धाणे २ । सुब्भिक्खे य दुभिक्खे ३ हट्ठेण तहा गिलाणेणं ॥ १ ॥" इति, तस्याः प्रायश्चित्तं परिकुञ्चनाप्रायश्चित्तं, विशेषोऽत्र व्यवहारपीठाद्वसेय इति । प्रायश्चित्तं च कालापेक्षया दीयत इति कालनिरूपणासूत्रमिम्—

१ प्रतिषेवणा समासेन । मूलगुणेषु पंचविधा पिंडविशोध्यादिका इतरा ॥ १ ॥ २ आलोचनं प्रतिक्रमणं मिश्रं विवेकस्तथा व्युत्सर्गः । तपश्छेदो मूलमनवस्थाप्यं पारांचितं चैव ॥ १ ॥ ३ पंचादिकारोपणा ज्ञातव्या यावद्भवन्ति षण्मासास्ततः परं मासादीनां षण्णामुपरि शोषणं कुर्यात् ॥ १ ॥ ४ सचित्तमचित्तं जनपदप्रतिसेवितं चाध्वनि सुभिक्षे दुर्भिक्षे च हृष्टेन तथा ग्लानेन ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


प्रायश्चित-वर्णनं. प्रायश्चित्तस्य दश-भेदा:

चउव्विहे काले पं० तं०—पमाणकाले अहाउयनिव्वत्तिकाले मरणकाले अद्धाकाले (सू० २६४) चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पन्नत्ते तं०—वन्नपरिणामे गंधपरिणामे रसपरिणामे फासपरिणामे (सू० २६५) भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं०—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वाओ बहिद्धादाणा [परिग्गहा]ओ वेरमणं १, सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति, तं०—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, जाव सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं (सू० २६६)

तत्र प्रमीयते–परिच्छिद्यते येन वर्षशतपल्योपमादि तत्प्रमाणं तदेव कालः प्रमाणकालः, स च अद्धाकालविशेष एव दिवसादिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्तीति, उक्तं च—"[1]दुविहो पमाणकालो दिवसपमाणं च होइ राई य। चउपोरिसिओ दिवसो राई चउपोरिसी चेव ॥ १ ॥" इति, यथा–यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः–कर्म्मविशेषो यथायुस्तस्य रौद्रादिध्यानादिना निर्वृतिः–बन्धनं तस्याः सकाशाद्यः कालो–नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथायुर्निर्वृतिकालः, अथवा यथाऽऽयुषो निर्वृतिस्तथा यः कालो–नारकादिभवेऽवस्थानं स तथेति, अयमप्यद्धाकाल एवायुष्ककर्मानुभवविशिष्टः, सर्वसंसारिजीवानां वर्त्तनादिरूप इति, उक्तं च—"[2]आउयमेत्तविसिट्ठो स एव जीवाण वत्तणादिमओ। भन्नइ अहाउकालो

१ द्विविधः प्रमाणकालः दिवसप्रमाणो भवति रात्रिप्रमाणश्च चतुष्पौरुषीको दिवसो रात्रिरपि चतुःपौरुषी एव ॥ १ ॥ २ आयुर्मात्रविशिष्टः स एव जीवानां वर्त्तनादिमयः। भण्यते यथाऽऽयुष्ककालो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्त्तइ जो जच्चिरं जेणं ॥ १ ॥" इति, मरणस्य–मृत्योः कालः–समयो[1] मरणकालः, अयमप्यद्धासमयविशेष एव, मरणविशिष्टो मरणमेव वा कालो, मरणपर्यायत्वादिति, उक्तं च—"[2]कालोत्ति मयं मरणं जहेह मरणं गओत्ति कालगओ। तम्हा स कालकालो जो जस्स मओ मरणकालो ॥ १ ॥" इति, तथा अद्धैव कालः अद्धाकालः, कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकालादिष्वपि वर्त्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति, अयं च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्ती समयादिरूपोऽवसेयः, उक्तं च—"[3]सूरकिरियाविसिट्ठो गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो । अद्धाकालो भन्नइ समयक्खेत्तंमि समयाइ ॥ १ ॥ समयावलियमुहुत्ता दिवसमहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरजुगपलिया सागरओसप्पिपरियट्टा ॥ २ ॥" इति । द्रव्यपर्यायभूतस्य कालस्य चतुःस्थानकमुक्तम्, इदानीं पर्यायाधिकारात् पुद्गलानां पर्यायभूतस्य परिणामस्य तदाह—'चउव्विहे'इत्यादि, परिणामः–अवस्थातोऽवस्थान्तरगमनम्, उक्तं च—"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न तु सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥" इति, तत्र वर्णस्य–कालादेः परिणामः–अन्यथा भवनं वर्णेन वा कालादिनेतरत्यागेन पुद्गलस्य परिणामो वर्णपरिणामः, एवमन्येऽपि । अजीवद्रव्यपरिणाम उक्तोऽधुना तु जीवद्रव्यस्य परिणामा विचित्रा सूत्रप्रपञ्चेनाभिधीयन्ते–तत्र च 'भरते'त्यादिसूत्रद्वयं व्यक्तमेव, किन्तु पूर्वपश्चिमवर्जाः,

१ वर्तते यो यच्चिरं येन ॥ १ ॥ २ काल इति मतं मरणं यथेह मरणं गत इति कालगतः । तस्मात् स कालकालो यो यस्य मतो मरणकालः ॥ २ ॥ ३ सूर्यक्रियाविशिष्टो गोदोहादिक्रियासु निरपेक्षः । अद्धाकालो भण्यते समयादिः समयक्षेत्रे ॥ १ ॥ समय आवलिका मुहूर्त्तः दिवसोऽहोरात्रः पक्षः मासः संवत्सरं युगं पल्यः सागरः उत्सर्पिणी परावर्त्तः ॥ २ ॥

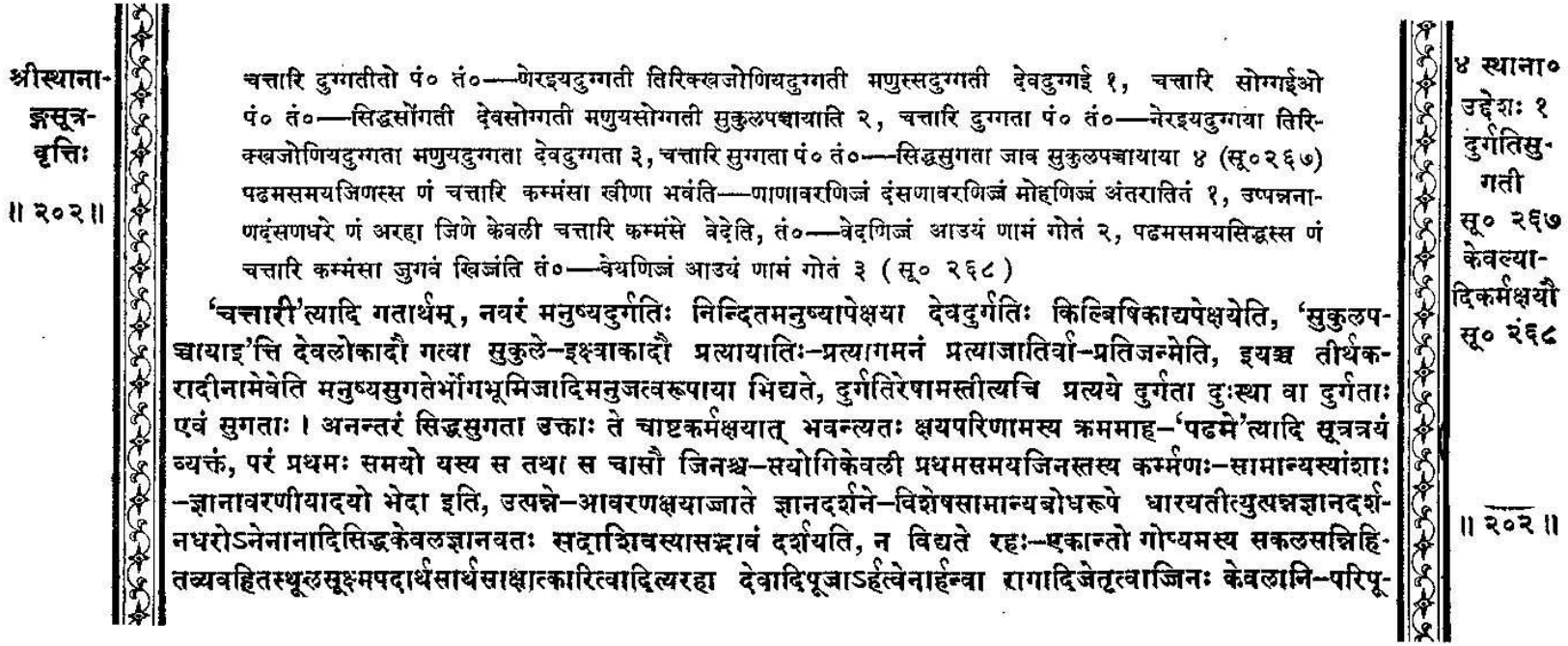



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किमुक्तं भवति?–मध्यमका इति, ते चाष्टादयोऽपि भवन्तीत्युच्यते–द्वाविंशतिरिति, चत्वारो यमा एव यामा निवृत्तयो यस्मिन् स तथा 'बहिद्धादाणाओ'त्ति बहिर्द्धा–मैथुनं परिग्रहविशेषः आदानं च–परिग्रहस्तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथवा आदीयत इत्यादानं–परिग्राह्यं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह–बहिस्तात्–धर्मोपकरणाद् बहिर्यदिति, इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यत इति प्रत्याख्येयस्य प्राणातिपातादेश्चतुर्विधत्वात् चतुर्यामता धर्म्मस्येति, इयं चेह भावना–मध्यमतीर्थकराणां विदेहकानां च चतुर्यामधर्म्मस्य पूर्वपश्चिमतीर्थकरयोश्च पञ्चयामधर्म्मस्य प्ररूपणा शिष्यापेक्षा, परमार्थतस्तु पञ्चयामस्यैवोभयेषामप्यसौ, यतः प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थसाधव ऋजुजडा वक्रजडाश्चेति, तत्त्वादेव परिग्रहो वर्जनीय इत्युपदिष्टे मैथुनवर्जनमवबोद्धुं पालयितुं च न क्षमाः, मध्यमविदेहजतीर्थकरतीर्थसाधवस्तु ऋजुप्रज्ञत्वात् तद्बोद्धुं वर्जयितुं च क्षमा इति, भवतश्चात्र श्लोकौ—"पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा। मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥ १ ॥ पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालए। कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसुज्झे सुपालए ॥ २ ॥" इति। अनन्तरोक्तेभ्यः प्राणातिपातादिभ्योऽनुपरतोपरतानां दुर्गतिसुगती भवतः, तद्वन्तश्च ते दुर्गतेतरा भवन्तीति दुर्गतिसुगत्यात्मकपरिणामयोर्दुर्गतसुगतानां च भेदान् सूत्रचतुष्टयेनाह—

१ प्रथमे ऋजुजडाः वक्रजडाश्च पाश्चात्याः मध्यमास्तु ऋजुप्रज्ञास्तेन धर्मो द्विधा कृतः ॥ १ ॥ २ पूर्वाणां दुर्विशोध्यस्तु चरमाणां दुरनुपाल्यः कल्पः मध्यमानान्तु सुविशोध्यः खनुपाल्यश्च ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २०२ ॥

चत्तारि दुग्गतीतो पं० तं०—णेरइयदुग्गती तिरिक्खजोणियदुग्गती मणुस्सदुग्गती देवदुग्गई १, चत्तारि सोग्गईओ पं० तं०—सिद्धसोंगती देवसोग्गती मणुयसोग्गती सुकुलपच्चायाति २, चत्तारि दुग्गता पं० तं०—नेरइयदुग्गया तिरिक्खजोणियदुग्गता मणुयदुग्गता देवदुग्गता ३, चत्तारि सुग्गता पं० तं०—सिद्धसुगता जाव सुकुलपच्चायाया ४ (सू०२६७) पढमसमयजिणस्स णं चत्तारि कम्मंसा खीणा भवंति—णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं मोहणिज्जं अंतरातितं १, उप्पन्ननाणदंसणधरे णं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्मंसे वेदेति, तं०—वेदणिज्जं आउयं णामं गोतं २, पढमसमयसिद्धस्स णं चत्तारि कम्मंसा जुगवं खिज्जंति तं०—वेयणिज्जं आउयं णामं गोतं ३ (सू० २६८)

'चत्तारी'त्यादि गतार्थम्, नवरं मनुष्यदुर्गतिः निन्दितमनुष्यापेक्षया देवदुर्गतिः किल्बिषिकाद्यपेक्षयेति, 'सुकुलपच्चायाइ'त्ति देवलोकादौ गत्वा सुकुले–इक्ष्वाकादौ प्रत्यायातिः–प्रत्यागमनं प्रत्याजातिर्वा–प्रतिजन्मेति, इयञ्च तीर्थकरादीनामेवेति मनुष्यसुगतेर्भोगभूमिजादिमनुजत्वरूपाया भिद्यते, दुर्गतिरेषामस्तीत्यर्चि प्रत्यये दुर्गता दुःस्था वा दुर्गताः एवं सुगताः। अनन्तरं सिद्धसुगता उक्ताः ते चाष्टकर्मक्षयात् भवन्त्यतः क्षयपरिणामस्य क्रममाह–'पढमे'त्यादि सूत्रत्रयं व्यक्तं, परं प्रथमः समयो यस्य स तथा स चासौ जिनश्च–सयोगिकेवली प्रथमसमयजिनस्तस्य कर्म्मणः–सामान्यस्यांशाः –ज्ञानावरणीयादयो भेदा इति, उत्पन्ने–आवरणक्षयाज्जाते ज्ञानदर्शने–विशेषसामान्यबोधरूपे धारयतीत्युत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽनेनानादिसिद्धकेवलज्ञानवतः सदाशिवस्यासद्भावं दर्शयति, न विद्यते रहः–एकान्तो गोप्यमस्य सकलसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहा देवादिपूजाऽर्हत्वेनार्हन्वा रागादिजेतृत्वाज्जिनः केवलानि–परिपू-

४ स्थाना० उद्देशः १ दुर्गतिसुगती सू० २६७ केवल्यादिकर्मक्षयौ सू० २६८

॥ २०२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

र्णानि ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवलीति, सिद्धत्वस्य कर्मक्षपणस्य च एकसमये सम्भवात् प्रथमसमयसिद्धस्येत्यादि व्यपदिश्यते। असिद्धानां तु हास्यादयो विकारा भवन्तीति हास्यं तावच्चतुःस्थानकावतारित्वादाह—

चउहिं ठाणेहिं हासुप्पत्ती सिता तं०—पासित्ता भासेत्ता सुणेत्ता संभरेत्ता (सू० २६९) चउव्विहे अंतरे पं० तं० —कट्ठंतरे पम्हंतरे लोहंतरे पत्थरंतरे, एवामेव इत्थिए वा पुरिसस्स वा चउव्विहे अंतरे पं० तं०—कट्ठंतरसमाणे पम्हंतरसमाणे लोहंतरसमाणे पत्थरंतरसमाणे (सू० २७०) चत्तारि भयगा पं० तं०—दिवसभयते जत्ताभयते उच्चत्तभयते कब्बालभयते (सू० २७१) चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—संपागडपडिसेवी णामेगे णो पच्छन्नपडिसेवी पच्छन्नपडिसेवी णामेगे णो संपागडपडिसेवी एगे संपागडपडिसेवीवि पच्छन्नपडिसेवीवि एगे नो संपागडपडिसेवी णो पच्छन्नपडिसेवी (सू० २७२)

'चउही'त्यादि, हसनं हासः—हासमोहोदयजनितो विकारस्तस्योत्पत्तिः—उत्पादः हासोत्पत्तिः 'पासित्त'त्ति दृष्ट्वा विदूषकादिचेष्टां चक्षुषा, तथा भाषित्वा वाचा किञ्चिच्चसूरिवचनं तथा श्रुत्वा श्रोत्रेण परोक्तं तथाविधवाक्यं तथा तथाविधमेव चेष्टावाक्यादिकं स्मृत्वा हसतीति शेषः, एवं दर्शनादीनि हासकरणानि भवन्तीति। असिद्धानामेव धर्मान्तरनिरूपणाय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकार्थवत्सूत्रद्वयम्, 'चउव्विहे' इत्यादि, काष्ठस्य च काष्ठस्य चेति काष्ठयोरन्तरं—विशेषो रूपनिर्म्माणादिभिरिति काष्ठान्तरमेवं पक्ष्म—कर्पासरूतादि पक्ष्मणोरन्तरं विशिष्टसौकुमार्यादिभिः लोहान्तरं अत्यन्तच्छेदकत्वादिभिः प्रस्तरान्तरं—पाषाणान्तरं चिन्तितार्थप्रापणादिभिरिति, 'एवमेव' काष्ठाद्यन्तरवत्, स्त्रिया वा स्त्र्यन्तरापेक्षया पुरुषस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा पुरुषान्तरापेक्षया, वाशब्दौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विध्यं प्रति निर्विशेषताख्यापनार्थौ, काष्ठान्तरेण समानं–तुल्यमन्तरं-विशेषो विशिष्टपदवीयोग्यत्वादिना पक्ष्मान्तरसमानं वचनसुकुमारतयैव लोहांतरसमानं स्नेहच्छेदेन परीषहादौ निर्भङ्ग-त्वादिभिश्च प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तातिक्रान्तमनोरथपूरकत्वेन विशिष्टगुणवद्वन्द्यपदवीयोग्यत्वादिना चेति । अनन्त-रमन्तरमुक्तमिति पुरुषविशेषान्तरनिरूपणाय भृतकसूत्रं, तत्र भ्रियते–पोष्यते स्मेति भृतः स एवानुकम्पितो भृतकः कर्म्मकर इत्यर्थः, प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्म्मकरणार्थं यो गृह्यते स दिवसभृतकः १ यात्रा–देशान्तरगमनं तस्यां सहाय इति भ्रियते यः स यात्राभृतकः २ मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं यथावसरं कर्म्म कार्यते स उच्चताभृतकः, कब्बाडभृतकः–क्षितिखानकः ओडादिः, यस्य स्वं कर्म्मार्प्यते द्विहस्ता त्रिहस्ता वा त्वया भूमिः खनितव्यैतावते धनं दास्यामीत्येवं नियम्येति, इह गाथे—"दिवसभयओ उ घेप्पइ छिन्नेण धणेण दिवसदेवसियं । जत्ता उ होइ गमणं उ-भयं वा [ आगमनं चेत्यर्थः ] एत्तियधणेणं ॥ १ ॥ कब्बाल ओडमाई हत्थमियं कम्म एत्तियधणेणं । एच्चिरकालुच्चत्ते कायव्वं कम्म जं बेंति ॥ २ ॥" उक्तं लौकिकस्य पुरुषविशेषस्यान्तरमधुना लोकोत्तरस्य तस्यान्तरप्रतिपादनाय प्रतिषेवि-सूत्रं, तत्र सम्प्रकटम्–अगीतार्थसमक्षमकल्प्यभक्तादि प्रतिषेवितुं शीलं यस्य स सम्प्रकटप्रतिसेवीत्येवं सर्वत्र, नवरं प्र-

१ छिन्नेन धनेन दिवसे दिवसे दिवसभृतकस्तु गृह्यते यात्रा तु भवति गमनं गमनागमने वा इयता धनेन ॥ १ ॥ ओडादिः कब्बडभृतको नियम्य इयता धनेन हस्तमितं कर्म्म कार्यते उच्चताभृतक इयत्कालं कर्म कर्त्तव्यं यद् ब्रवीति ( भवति ) ॥ २ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च्छन्नमगीतार्थासमक्षं, अत्र चाद्ये भङ्गकत्रये पुष्टालम्बनो बकुशादिः निरालम्बनो वा पार्श्वस्थादिर्द्रष्टव्यः, चतुर्थे तु निर्ग्रन्थः स्नातको वेति, अन्तराधिकारादेव देवपुरुषाणां स्त्रीकृतमन्तरं प्रतिपादयन्नाह—

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—कणगा कणगलता चित्तगुत्ता वसुंधरा, एवं जमस्स वरुणस्स वेसमणस्स, बलिस्स णं वतिरोयणिंदस्स वतिरोयणरन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—मित्तगा सुभद्दा विज्जुत्ता असणी, एवं जमस्स वेसमणस्स वरुणस्स, धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो कालवालस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—असोगा विमला सुप्पभा सुदंसणा, एवं जाव संखवालस्स, भूताणंदस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो कालवालस्स महारन्नो चत्तारि अग्ग० पं० तं०—सुणंदा सुभद्दा सुजाता सुमणा, एवं जाव सेलवालस्स जहा धरणस्स, एवं सव्वेसिं दाहिणिंदलोगपालाणं जाव घोसस्स जहा भूताणंदस्स एवं जाव महाघोसस्स लोगपालाणं, कालस्स णं पिसाइंदस्स पिसायरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—कमला कमलप्पभा उप्पला सुदंसणा, एवं महाकालस्सवि, सुरूवस्स णं भूतिंदस्स भूतरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—रूववती बहुरूवा सुरूवा सुभगा, एवं पडिरूवस्सवि, पुण्णभद्दस्स णं जक्खिंदस्स जक्खरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—पुत्ता बहुपुत्तिता उत्तमा तारगा, एवं माणिभद्दस्सवि, भीमस्स णं रक्खसिंदस्स रक्खसरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—पउमा वसुमती कणगा रतणप्पभा, एवं महाभीमस्सवि, किंनरस्स णं किंनरिंदस्स चत्तारि अग्ग० पं० तं०—वडेंसा केतुमती रतिसेणा रतिप्पभा, एवं किंपुरिसस्सवि, सप्पुरिसस्स णं किंपुरिसिंदस्स०


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

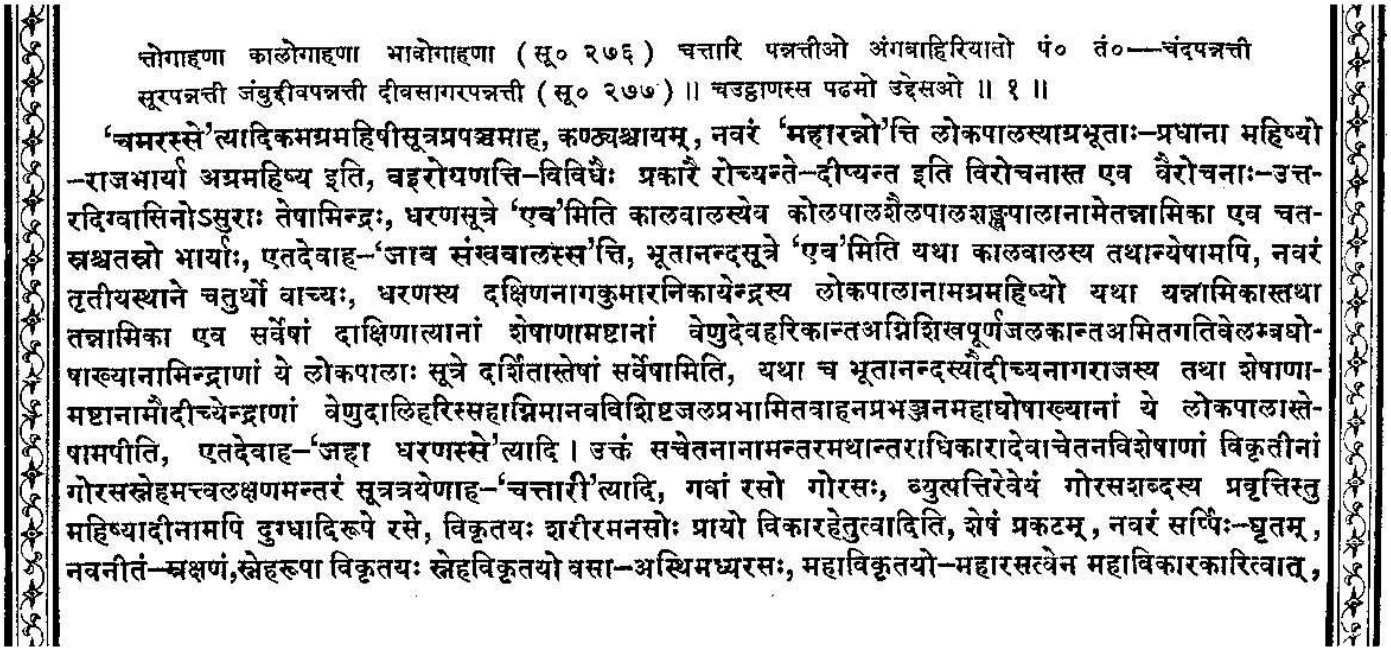

चमर आदि असुरकुमारस्स अग्रमहिष्यः

चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—रोहिणी णवमिता हिरी पुप्फवती, एवं महापुरिसस्सवि, अतिकायस्स णं महोरगिंदस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—भुयगा भुयगवती महाकच्छा फुडा, एवं महाकायस्सवि, गीतरतिस्स णं गंधव्विंदस्स चत्तारि अग्ग० पं० तं०—सुघोसा विमला सुस्सरा सरस्सती, एवं गीयजसस्सवि, चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—चंदप्पभा दोसिणाभा अच्चिमाली पभंकरा, एवं सूरस्सवि, णवरं सूरप्पभा दोसिणाभा अच्चिमाली पभंकरा, इंगालस्स णं महागहस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पं० तं०—विजया वेजयंती जयंती अपराजिया, एवं सव्वेसिं महग्गहाणं जाव भावकेउस्स, सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्ग० पं० तं०—रोहिणी मयणा चित्ता सोमा, एवं जाव वेसमणस्स, ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्ग० पं० तं०—पुढवी राती रयणी विज्जू, एवं जाव वरुणस्स (सू० २७३) चत्तारि गोरसविगतीओ पं० तं०—खीरं दहिं सप्पिं णवणीतं, चत्तारि सिणेहविगइतीओ पं० तं०—तेलं घयं वसा णवणीतं, चत्तारि महाविगतीओ पं० तं०—महुं मंसं मज्जं णवणीतं (सू० २७४) चत्तारि कूडागारा पं० तं०—गुत्ते णामं एगे गुत्ते गुत्ते णामं एगे अगुत्ते अगुत्ते णामं एगे गुत्ते अगुत्ते णामं एगे अगुत्ते, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—गुत्ते णाममेगे गुत्ते ४, चत्तारि कूडागारसालाओ पं० तं०—गुत्ता णाममेगा गुत्तदुवारा गुत्ताणाममेगा अगुत्तदुवारा अगुत्ता णाममेगा गुत्तदुवारा अगुत्ता णाममेगा अगुत्तदुवारा, एवामेव चत्तारित्थीओ पं० तं०—गुत्ता नाममेगा गुत्तिंदिता गुत्ता णाममेगा अगुत्तिंदिआ [ह] ४ (सू० २७५) चउविहा ओगाहणा पं० तं०—दव्वोगाहणा खे-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

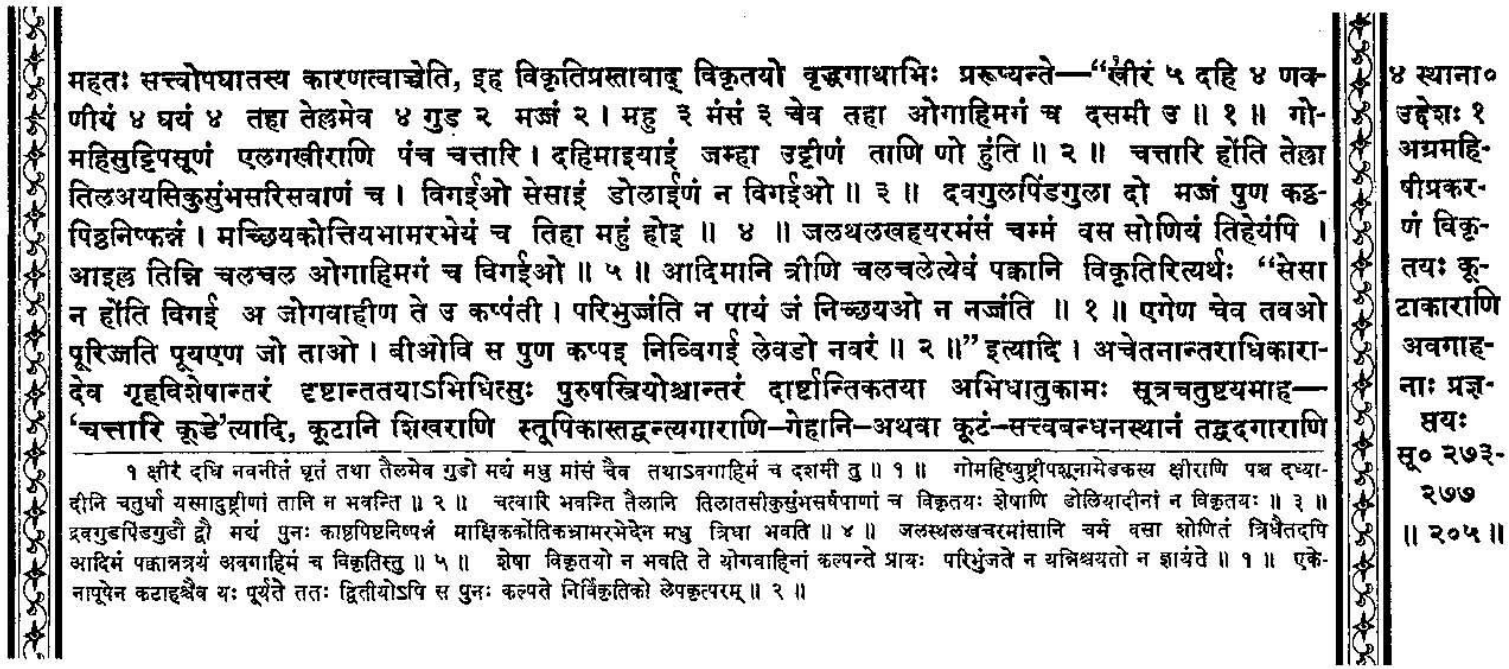
चमर आदि असुरकुमारस्स अग्रमहिष्य:



त्तोगाहणा कालोगाहणा भावोगाहणा (सू० २७६) चत्तारि पन्नत्तीओ अंगबाहिरियातो पं० तं०—चंदपन्नत्ती सूरपन्नत्ती जंबुद्दीवपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती (सू० २७७) ॥ चउट्ठाणस्स पढमो उद्देसओ ॥ १ ॥

'चमरस्से'त्यादिकमग्रमहिषीसूत्रप्रपञ्चमाह, कण्ठ्यश्चायम्, नवरं 'महारन्नो'त्ति लोकपालस्याग्रभूताः—प्रधाना महिष्यो—राजभार्या अग्रमहिष्य इति, वइरोयणत्ति—विविधैः प्रकारै रोच्यन्ते—दीप्यन्त इति विरोचनास्त एव वैरोचनाः—उत्तरदिग्वासिनोऽसुराः तेषामिन्द्रः, धरणसूत्रे 'एव'मिति कालवालस्येव कोलपालशैलपालशङ्खपालानामेतन्नामिका एव चतस्रश्चतस्रो भार्याः, एतदेवाह—'जाव संखवालस्स'त्ति, भूतानन्दसूत्रे 'एव'मिति यथा कालवालस्य तथान्येषामपि, नवरं तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः, धरणस्य दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्यो यथा यन्नामिकास्तथा तन्नामिका एव सर्वेषां दाक्षिणात्यानां शेषाणामष्टानां वेणुदेवहरिकान्तअग्निशिखपूर्णजलकान्तअमितगतिवेलम्बघोषाख्यानामिन्द्राणां ये लोकपालाः सूत्रे दर्शितास्तेषां सर्वेषामिति, यथा च भूतानन्दस्यौदीच्यनागराजस्य तथा शेषाणामष्टानामौदीच्येन्द्राणां वेणुदालिहरिस्सहाग्निमानवविशिष्टजलप्रभामितवाहनप्रभञ्जनमहाघोषाख्यानां ये लोकपालास्तेषामपीति, एतदेवाह—'जहा धरणस्से'त्यादि। उक्तं सचेतनानामन्तरमथान्तराधिकारादेवाचेतनविशेषाणां विकृतीनां गोरसस्नेहमत्स्यलक्षणमन्तरं सूत्रत्रयेणाह—'चत्तारी'त्यादि, गवां रसो गोरसः, व्युत्पत्तिरेवेयं गोरसशब्दस्य प्रवृत्तिस्तु महिष्यादीनामपि दुग्धादिरूपे रसे, विकृतयः शरीरमनसोः प्रायो विकारहेतुत्वादिति, शेषं प्रकटम्, नवरं सर्पिः—घृतम्, नवनीतं—म्रक्षणं, स्नेहरूपा विकृतयः स्नेहविकृतयो वसा—अस्थिमध्यरसः, महाविकृतयो—महारसत्वेन महाविकारकारित्वात्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org





महतः सत्त्वोपघातस्य कारणत्वाच्चेति, इह विकृतिप्रस्तावाद् विकृतयो वृद्धगाथाभिः प्ररूप्यन्ते—"खीरं ५ दहि ४ णवणीयं ४ घयं ४ तहा तेलमेव ४ गुड २ मज्जं २। महु ३ मंसं ३ चेव तहा ओगाहिमगं च दसमी उ ॥ १ ॥ गोमहिसुट्टिपसूणं एलगखीराणि पंच चत्तारि। दहिमाइयाइं जम्हा उट्टीणं ताणि णो हुंति ॥ २ ॥ चत्तारि होंति तेल्ला तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च। विगईओ सेसाइं डोलाईणं न विगईओ ॥ ३ ॥ दवगुलपिंडगुला दो मज्जं पुण कट्ठपिट्ठनिप्फन्नं। मच्छियकोत्तियभामरभेयं च तिहा महुं होइ ॥ ४ ॥ जलथलखहयरमंसं चम्मं वस सोणियं तिहेयंपि। आइल्ल तिन्नि चलचल ओगाहिमगं च विगईओ ॥ ५ ॥ आदिमानि त्रीणि चलचलेत्येवं पक्वानि विकृतिरित्यर्थः "सेसा न होंति विगई अ जोगवाहीण ते उ कप्पंती। परिभुज्जंति न पायं जं निच्छयओ न नज्जंति ॥ १ ॥ एगेण चेव तवओ पूरिज्जति पूयएण जो ताओ। बीओवि स पुण कप्पइ निव्विगई लेवडो नवरं ॥ २ ॥" इत्यादि। अचेतनान्तराधिकारादेव गृहविशेषान्तरं दृष्टान्ततयाऽभिधित्सुः पुरुषस्त्रियोश्चान्तरं दार्ष्टान्तिकतया अभिधातुकामः सूत्रचतुष्टयमाह—'चत्तारि कूडे'त्यादि, कूटानि शिखराणि स्तूपिकास्तद्वन्त्यगाराणि—गेहानि—अथवा कूटं—सत्त्वबन्धनस्थानं तद्वदगाराणि

१ क्षीरं दधि नवनीतं घृतं तथा तैलमेव गुडो मद्यं मधु मांसं चैव तथाऽवगाहिमं च दशमी तु ॥ १ ॥ गोमहिष्युष्ट्रीपशूनामेडकस्य क्षीराणि पञ्च दध्यादीनि चतुर्धा यस्मादुष्ट्रीणां तानि न भवन्ति ॥ २ ॥ चत्वारि भवन्ति तैलानि तिलातसीकुसुंभसर्षपाणां च विकृतयः शेषाणि डोलियादीनां न विकृतयः ॥ ३ ॥ द्रवगुडपिंडगुडौ द्वौ मद्यं पुनः काष्ठपिष्टनिष्पन्नं माक्षिककौतिकभ्रामरभेदेन मधु त्रिधा भवति ॥ ४ ॥ जलस्थलखचरमांसानि चर्म वसा शोणितं त्रिधैतदपि आदिमं पक्वान्नत्रयं अवगाहिमं च विकृतिस्तु ॥ ५ ॥ शेषा विकृतयो न भवति ते योगवाहिनां कल्पन्ते प्रायः परिभुंजते न यन्निश्चयतो न ज्ञायंते ॥ १ ॥ एकेनापूपेन कटाहश्चैव यः पूर्यते ततः द्वितीयोऽपि स पुनः कल्पते निर्विकृतिको लेपकृत्परम् ॥ २ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कूटागाराणि, तत्र गुप्तं–प्राकारादिवृतं भूमिगृहादि वा पुनर्गुप्तं स्थगितद्वारतया पूर्वकालापरकालापेक्षया वेति, एवमन्येऽपि त्रयो भङ्गा बोद्धव्याः, पुरुषस्तु गुप्तो नेपथ्यादिनाऽन्तर्हितत्वेन पुनर्गुप्तो गुप्तेन्द्रियत्वेन, अथवा गुप्तः पूर्वं पुनर्गुप्तोऽधुनापीति, विपर्यय ऊह्यः, तथा कूटस्येव आकारो यस्याः शालाया–गृहविशेषस्य सा तथा, अयं च स्त्रीलिङ्गदृष्टान्तः, स्त्रीलक्षणदार्ष्टान्तिकार्थसाधर्म्यवशात्, तत्र गुप्ता–परिवारावृता गृहान्तर्गता वस्त्राच्छादिताङ्गा गूढस्वभावा वा गुप्तेन्द्रियास्तु निगृहीतानौचित्यप्रवृत्तेन्द्रियाः, एवं शेषभङ्गा ऊह्याः। अनन्तरं गुप्तेन्द्रियत्वमुक्तमिन्द्रियाणि चावगाहनाश्रयाणीत्यवगाहनानिरूपणसूत्रं, अवगाहन्ते–आसते यस्यां आश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना–शरीरं द्रव्यतोऽवगाहना द्रव्यावगाहना, एवं सर्वत्र, तत्र द्रव्यतोऽनन्तद्रव्या क्षेत्रतोऽसङ्ख्येयप्रदेशावगाढा, कालतोऽसङ्ख्येयसमयस्थितिका, भावतो वर्णाद्यनन्तगुणेति, अथवाऽवगाहना विवक्षितद्रव्यस्याधारभूता आकाशप्रदेशाः, तत्र द्रव्याणामवगाहना द्रव्यावगाहना, क्षेत्रमेवावगाहना क्षेत्रावगाहना, कालस्यावगाहना समयक्षेत्रलक्षणा कालावगाहना, भाववतां द्रव्याणामवगाहना भावावगाहना, भावप्राधान्यादिति, आश्रयणमात्रं वा अवगाहना, तत्र द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना–आश्रयणं द्रव्यावगाहना, एवं क्षेत्रस्य कालस्य, भावानां द्रव्येणेति, अन्यथा वोपयुज्य व्याख्येयमिति। अवगाहनायाश्च प्ररूपणा प्रज्ञप्तिष्विति तच्चतुःस्थानकसूत्रम्, तत्र प्रज्ञाप्यन्ते–प्रकर्षेण बोध्यन्ते अर्था यासु ताः प्रज्ञप्तयः, अङ्गानि–आचारादीनि तेभ्यो बाह्याः अङ्गबाह्याः, यथार्थाभिधानाश्चैताः कालिकश्रुतरूपाः, तत्र सूरप्रज्ञप्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्ती पञ्चमषष्ठाङ्गयोरुपाङ्गभूते, इतरे तु प्रकीर्णकरूपे इति, व्याख्याप्रज्ञप्तिरस्ति पञ्चमी केवलं साऽङ्गप्रविष्टेत्येताश्चतस्र उक्ता इति ॥ चतुःस्थानकस्य प्रथमोद्देशकः समाप्त इति।

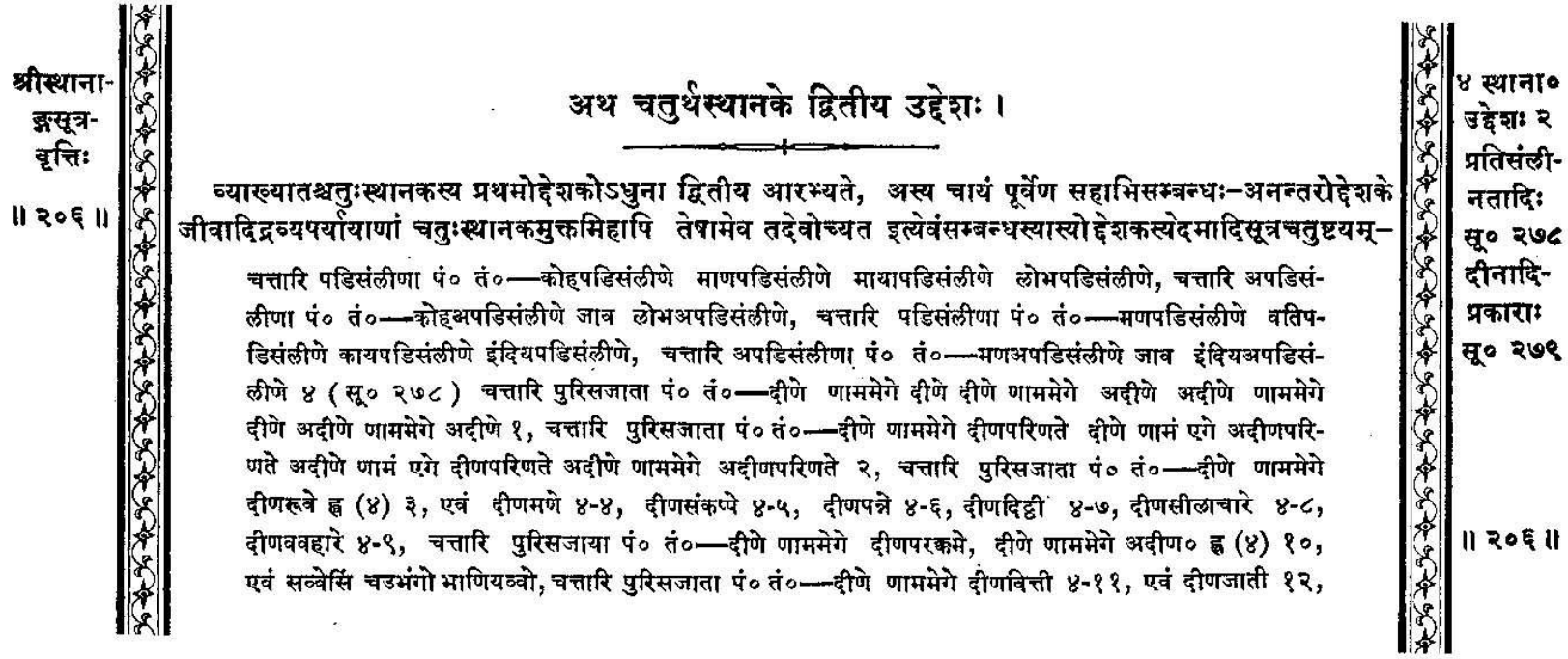
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ चतुर्थ-स्थानस्य प्रथमो उद्देशकः परिसमाप्तः।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२७८]

दीप अनुक्रम [२९२]



श्रीस्थाना-ङ्गसूत्र-वृत्तिः ॥ २०६ ॥

## अथ चतुर्थस्थानके द्वितीय उद्देशः ।

व्याख्यातश्चतुःस्थानकस्य प्रथमोद्देशकोऽधुना द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायं पूर्वेण सहाभिसम्बन्धः–अनन्तरोद्देशके जीवादिद्रव्यपर्यायाणां चतुःस्थानकमुक्तमिहापि तेषामेव तदेवोच्यत इत्येवंसम्बन्धस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रचतुष्टयम्–

चत्तारि पडिसंलीणा पं० तं०—कोहपडिसंलीणे माणपडिसंलीणे मायापडिसंलीणे लोभपडिसंलीणे, चत्तारि अपडिसंलीणा पं० तं०—कोहअपडिसंलीणे जाव लोभअपडिसंलीणे, चत्तारि पडिसंलीणा पं० तं०—मणपडिसंलीणे वतिपडिसंलीणे कायपडिसंलीणे इंदियपडिसंलीणे, चत्तारि अपडिसंलीणा पं० तं०—मणअपडिसंलीणे जाव इंदियअपडिसंलीणे ४ (सू० २७८) चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—दीणे णाममेगे दीणे दीणे णाममेगे अदीणे अदीणे णाममेगे दीणे अदीणे णाममेगे अदीणे १, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—दीणे णाममेगे दीणपरिणते दीणे णामं एगे अदीणपरिणते अदीणे णामं एगे दीणपरिणते अदीणे णाममेगे अदीणपरिणते २, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—दीणे णाममेगे दीणरूवे ह्र (४) ३, एवं दीणमणे ४-४, दीणसंकप्पे ४-५, दीणपन्ने ४-६, दीणदिट्ठी ४-७, दीणसीलाचारे ४-८, दीणववहारे ४-९, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—दीणे णाममेगे दीणपरक्कमे, दीणे णाममेगे अदीण० ह्र (४) १०, एवं सव्वेसिं चउभंगो भाणियव्वो, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—दीणे णाममेगे दीणवित्ती ४-११, एवं दीणजाती १२,

४ स्थाना० उद्देशः २ प्रतिसंलीनतादिः सू० २७८ दीनादिप्रकाराः सू० २७९

॥ २०६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ चतुर्थ-स्थानस्य द्वितीय-उद्देशकः आरभ्यते।

प्रत सूत्रांक [२७९]

दीप अनुक्रम [२९३]

दीणभासी १३, दीणोभासी १४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—दीणे णाममेगे दीणसेवी ह्र (४) १५, एवं दीणे णाममेगे दीणपरियाए १६, दीणे णाममेगे दीणपरियाले ह्र (४) १७, सव्वत्थ चउभंगो (सू० २७९)

'चत्तारि पडिसंलीणे'त्यादि, अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायमभिसम्बन्धः—अनन्तरसूत्रे प्रज्ञप्तय उक्ताः, ताश्च प्रतिसंलीनैरेव बुध्यन्त इति प्रतिसंलीनाः सेतराः अनेनाभिधीयन्त इत्येवंसम्बद्धमिदं सुगमं, नवरं, क्रोधादिकं वस्तु वस्तु प्रति सम्यग्लीना—निरोधवन्तः प्रतिसंलीनाः, तत्र क्रोधं प्रति उदयनिरोधेनोदयप्राप्तविफलीकरणेन च प्रतिसंलीनः क्रोधप्रतिसंलीनः, उक्तं च—"[1]उदयस्सेव निरोहो उदयप्पत्ताण वाऽफलीकरणं । जं एत्थ कसायाणं कसायसंलीणया एसा ॥ १ ॥" कुशलमनउदीरणेनाकुशलमनोनिरोधेन च मनः प्रतिसंलीनं यस्य स मनसा वा प्रतिसंलीनो मनःप्रतिसंलीनः, एवं वाक्कायेन्द्रियेष्वपि, नवरं शब्दादिषु मनोज्ञामनोज्ञेषु रागद्वेषपरिहारी इन्द्रियप्रतिसंलीन इति, अत्र गाथा —"[2]अपसत्थाण निरोहो जोगाणमुदीरणं च कुसलाणं । कज्जंमि य विही गमणं जोगे संलीणया भणिया ॥१॥" [3]सद्देसु य भद्दयपावएसु सोयविसमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होयव्वं ॥ १ ॥" एवं शेषेन्द्रियेष्वपि वक्तव्या, इत्येवं मनःप्रभृतिभिरसंलीनो भवति विपर्ययादिति । असंलीनमेव प्रकारान्तरेण सप्तदशभिश्चतुर्भङ्गीरूपैर्दीनसूत्रैराह—दीनो—दैन्यवान् क्षीणोर्जितवृत्तिः पूर्वं पश्चादपि दीन एव अथवा दीनो बहिर्वृत्त्या पुनर्दीनोऽन्तर्वृत्त्येत्यादिश्चतुर्भङ्गी,

१ उदयस्यैव निरोध उदयप्राप्तानां वाऽफलीकरणं यदत्र कषायाणां एषा कषायसंलीनता ॥ १ ॥ २ अप्रशस्तानां योगानां निरोधः कुशलानामुदीरणं च कार्ये च विधिना गमनं एषा योगे संलीनतोक्ता ॥ १ ॥ ३ शब्देषु भद्रकपापकेषु श्रोत्रविषयमुपगतेषु रुष्टेन वा तुष्टेन वा सदा श्रमणेन न भवितव्यं ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'प्रतिसंलिनता' विषयक विवरण

तथा दीनो बहिर्वृत्त्या म्लानवदनत्वादिगुणयुक्तशरीरेणेत्यर्थः, एवं प्रज्ञासूत्रं यावदादिपदं व्याख्येयं, दीनपरिणतः अदीनः सन् दीनतया परिणतोऽन्तर्वृत्त्येत्यादि चतुर्भङ्गी २, तथा दीनरूपो मलिनजीर्णवस्त्रादिनेपथ्यापेक्षया ३, तथा दीनमनाः स्वभावत एवानुन्नतचेताः ४, दीनसङ्कल्प उन्नतचित्तस्वाभाव्येऽपि कथञ्चिद्दीनविमर्शः ५, तथा दीनप्रज्ञः हीनसूक्ष्मार्थालोचनः ६, तथा दीनश्चित्तादिभिरेवमुत्तरत्राप्यादिपदं, तथा दीनदृष्टिर्विच्छायचक्षुः ७, तथा दीनशीलसमाचारः हीनधर्म्मानुष्ठानः ८, तथा दीनव्यवहारो दीनान्योऽन्यदानप्रतिदानादिक्रियः हीनविवादो वा ९, तथा दीनपराक्रमो हीनपुरुषकार इति १०, तथा दीनस्येव वृत्तिः–वर्त्तनं जीविका यस्य स दीनवृत्तिः ११, तथा दीनं–दैन्यवन्तं पुरुषं दैन्यवद्वा यथा भवति तथा याचत इत्येवंशीलो दीनयाची, दीनं वा यातीति दीनयायी, दीना वा–हीना जातिरस्येति दीनजातिः १२, तथा दीनवद्दीनं वा भाषते दीनभाषी १३, दीनवदवभासते–प्रतिभाति अवभाषते वा–याचत इत्येवंशीलो दीनावभासी दीनावभाषी वा १४, तथा दीनं नायकं सेवत इति दीनसेवी १५, तथा दीनस्येव पर्यायः–अवस्था प्रव्रज्यादिलक्षणा यस्य स दीनपर्यायः १६, 'दीनपरियाले'त्ति दीनः परिवारो यस्य स तथा १७, 'सव्वत्थ चउभंगो'त्ति सर्वसूत्रेषु चत्वारो भङ्गा द्रष्टव्या इति । पुरुषजाताधिकारवत्येवेयमष्टादशसूत्री

चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—अज्जे णाममेगे अज्जे ४, १ । चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—अज्जे णाममेगे अज्जपरिणए ४, २ । एवं अज्जरूवे ३ । अज्जमणे ४ । अज्जसंकप्पे ५ । अज्जपन्ने ६ । अज्जदिट्ठी ७ । अज्जसीलाचारे ८ । अज्जववहारे ९ । अज्जपरक्कमे १० । अज्जवित्ती ११ । अज्जजाती १२ । अज्जभासी १३ । अज्जओभासी १४ । अज्जसेवी १५ ।





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं अज्जपरियाए १६ । अज्जपरियाले १७, एवं सत्तर आलावगा १७, जहा दीणेणं भणिया तहा अज्जेणवि भाणियव्वा, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अज्जे णाममेगे अज्जभावे अज्जे नाममेगे अणज्जभावे अणज्जे नाममेगे अज्जभावे अणज्जे नाममेगे अणज्जभावे १८ (सू० २८०) चत्तारि उसभा पं० तं०—जातिसंपन्ने कुलसंपन्ने बलसंपन्ने रूवसंपन्ने, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—जातिसंपन्ने जाव रूवसंपन्ने १, चत्तारि उसभा पं० तं०—जातिसंपन्ने णामं एगे नो कुलसंपण्णे, कुलसंपण्णे नामं एगे नो जाइसंपण्णे, एगे जातिसंपण्णेवि कुलसंपण्णेवि, एगे नो जातिसंपण्णे नो कुलसंपन्ने, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे ४, २, चत्तारि उसभा पन्नत्ता तं०—जातिसंपन्ने नामं एगे नो बलसंपन्ने, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जातिसंपन्ने ४, ३, चत्तारि उसभा पं० तं०—जाइसंपन्ने नामं एगे नो रूवसंपन्ने ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जातिसंपन्ने नामं एगे नो रूवसंपन्ने, रूवसंपन्ने णाममेगे ह्र ४, ४, चत्तारि उसभा पं० तं०—कुलसंपन्ने नामं एगे नो बलसंपन्ने ह्र ४ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—कुलसंपन्ने नाममेगे नो बलसंपन्ने ह्र ४, ५, चत्तारि उसभा पं० तं०—कुलसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने, ह्र ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—कुल० ह्र ४, ६, चत्तारि उसभा पं० तं०—बलसंपन्ने णामं एगे नो रूवसंपण्णे ४ ह्र एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तं०—बलसंपण्णे नाममेगे ४, ७। चत्तारि हत्थी पं० तं०—भद्दे मंदे मिते संकिन्ने, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—भद्दे मंदे मिते संकिन्ने, चत्तारि हत्थी पं० तं०—भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे, भद्दे णाममेगे मियमणे, भद्दे नाममेगे संकिन्नमणे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—भद्दे णाम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२८१]

दीप अनुक्रम [३००]



मेगे भद्दमणे भद्दे णाममेगे मंदमणे भद्दे णाममेगे मियमणे भद्दे णाममेगे संकिन्नमणे, चत्तारि हत्थी पं० तं०—मंदे णाममेगे भद्दमणे मंदे नाममेगे मंदमणे मंदे णाममेगे मियमणे मंदे णाममेगे संकिन्नमणे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता, पं० तं०—मंदे णाममेगे भद्दमणे तं चेव, चत्तारि हत्थी पं० तं०—मिते णाममेगे भद्दमणे मिते णाममेगे मंदमणे मिते णाममेगे मियमणे मिते णाममेगे संकिन्नमणे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं०, तं०—मिते णाममेगे भद्दमणे तं चेव, चत्तारि हत्थी पं० तं०—संकिण्णे नाममेगे भद्दमणे संकिन्ने नाममेगे मंदमणे संकिन्ने नाममेगे मियमणे संकिन्ने णाममेगे संकिन्नमणे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं०, तं०—संकिन्ने नाममेगे भद्दमणे तं चेव जाव संकिन्ने नाममेगे संकिन्नमणे,—मधुगुलियपिंगलक्खो अणुपुव्वसुजायदीहणंगूलो । पुरओ उदग्गधीरो सव्वंगसमाधितो भद्दो ॥ १ ॥ चल-बहलविसमचम्मो थूलसिरो थूलएण पेएण । थूलणहदंतवालो हरिपिंगललोयणो मंदो ॥ २ ॥ तणुओ तणुतग्गीवो तणुयततो तणुयदंतणहवालो । भीरू तत्थुव्विग्गो तासी य भवे मिते णामं ॥ ३ ॥ एतेसिं हत्थीणं थोवं थोवं तु जो हरति हत्थी । रूवेण व सीलेण व सो संकिन्नोत्ति नायव्वो ॥ ४ ॥ भद्दो मज्जइ सरए मंदो उण मज्जते वसंतंमि । मिउ मज्जति हेमंते संकिन्नो सव्वकालंमि ॥ ५ ॥ (सू० २८१)

गतार्था, नवरं, आर्यो नवधा, यदाह—खेत्ते जाई कुल कम्म सिप्प भासाइ नाणचरणे य । दंसणआरिय णवहा मिच्छा सगजवणखसमाइ ॥ १ ॥ इति, तत्र आर्यः क्षेत्रतः पुनरार्यः पापकर्मबहिर्भूतत्वेनापाप इत्यर्थः, एवं सप्तदश

१ क्षेत्रे जातिकुलकर्म्मशिल्पभाषाभ्यः ज्ञानचरणाभ्यां दर्शनाचार्यो नवधा शकयवनखसादयो म्लेच्छाः ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्राणि नेयानि, तथा आर्यभावः क्षायिकादिज्ञानादियुक्तः अनार्यभावः क्रोधादिमानेति । पुरुषजातप्रकरणमेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकार्थोपेतमा विकथासूत्रादभिधीयते, पाठसिद्धं चैतत्, नवरं ऋषभा–बलीवर्दाः जातिः–गुणवन्मातृकत्वं कुलं–गुणवत्पितृकत्वं बलं–भारवहनादिसामर्थ्यं रूपं–शरीरसौन्दर्यमिति, पुरुषास्तु स्वयं भावयितव्याः, २, अनन्तरदृष्टान्तसूत्राणि तु सपुरुषदार्ष्टान्तिकानि जात्यादीनि चत्वारि पदानि भुवि विन्यस्य षण्णां द्विकसंयोगानां 'जाइसंपन्ने नो कुलसंपन्ने' इत्यादिना स्थानभङ्गक्रमेण षडेव चतुर्भङ्गिकाः कृत्वा समवसेयानि । हस्तिसूत्रे भद्रादयो हस्तिविशेषा वक्ष्यमाणलक्षणा वनादिविशेषिताश्च, यदाह—"भद्रो मन्दो मृगश्चेति, विज्ञेयास्त्रिविधा गजाः । वनप्रचार १ सारूप्य २, सत्त्वभेदोपलक्षिताः ३ ॥ १ ॥" इति, तत्र भद्रो हस्ती भद्र एव धीरत्वादिगुणयुक्तत्वात्, मन्दो मन्द एव धैर्यवेगादिगुणेषु मन्दत्वात्, मृगो मृग एव तनुत्वभीरुत्वादिना, सङ्कीर्णः किञ्चिद् भद्रादिगुणयुक्तत्वात् सङ्कीर्ण एवेति, पुरुषोऽप्येवं भावनीयः, उत्तरसूत्राणि तु चत्वारि सदार्ष्टान्तिकानि, भद्रादिपदानि चत्वारि तदधः क्रमेण चत्वार्येव भद्रमनःप्रभृतीनि च विन्यस्य "भद्दे नामं एगे भद्दमणे" इत्यादिना क्रमेण समवसेयानि, तत्र भद्रो जात्याकाराभ्यां प्रशस्तस्तथा भद्रं मनो यस्याथवा भद्रस्येव मनो यस्य स तथा धीर इत्यर्थः, मन्दं मन्दस्येव वा मनो यस्य स तथा, नात्यन्तधीरः, एवं मृगमना भीरुरित्यर्थः, सङ्कीर्णमना भद्रादिचित्रलक्षणोपेतमना विचित्रचित्त इत्यर्थः, पुरुषास्तु वक्ष्यमाणभद्रादिलक्षणानुसारेण प्रशस्ताप्रशस्तस्वरूपा मन्तव्या इति, भद्रादिलक्षणमिदम्—'मद्दु'गाथा, मधुगुटिकेव–क्षौद्रवटिकेव पिङ्गले–पिङ्गे अक्षिणी–लोचने यस्य स तथा, अनुपूर्वेण–परिपाट्या

| भ । मं । मृ । सं |
|---|
| भ । मं । मृ । सं |


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२८१]

दीप अनुक्रम [३००]



सुष्ठु जातः—उत्पन्नो यः सोऽनुपूर्वसुजातः, स्वजात्युचितकालक्रमजातो हि बलरूपादिगुणयुक्तो भवति स चासौ दीर्घलाङ्गूलश्च—दीर्घपुच्छ इति स तथा, अनुपूर्व्वेण वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरलक्षणेन सुजातं दीर्घं लाङ्गूलं यस्य स तथेति, पुरतः—अग्रभागे उदग्रः—उन्नतः तथा धीरः—अक्षोभः तथा सर्वाण्यङ्गानि सम्यक्—प्रमाणलक्षणोपेतत्वेन आहितानि—व्यवस्थितानि यस्य स सर्वाङ्गसमाहितो भद्रो नाम गजविशेषो भवतीति, 'चल'गाहा, चलं—श्लथं बहलं—स्थूलं विषमं—वलियुक्तं चर्म्म यस्य स तथा, स्थूलशिराः, स्थूलकेन 'पेएण'त्ति पेचकेन पुच्छमूलेन युक्तः स्थूलनखदन्तवालो, हरिपिङ्गललोचनः—सिंहवत् पिङ्गाक्षो मन्दो गजविशेषो भवतीति, 'तणु'गाहा, तनुकः—कृशः तनुग्रीवः तनुत्वक्—तनुचर्म्मा तनुकदन्तनखवालः, भीरुः—भयशीलः स्वभावतस्त्रस्तो भयकारणवशात् स्तब्धकर्णकरणादिलक्षणोपेतो भीत एव उद्विग्नः कष्टविहारादावुद्वेगवान् स्वयं त्रस्तः परानपि त्रासयतीति त्रासी च भवेन्मृगो नाम गजभेद इति, 'एएसिं गाहा' 'भद्दो गाहा' कण्ठ्ये, तथा "[1]दंतेहिं हणइ भद्दो मंदो हत्थेण आहणइ हत्थी । गत्ताधरेहि य मिओ, संकिन्नो सव्वओ हणइ ॥ १ ॥" इति, अनन्तरं संकीर्णः सङ्कीर्णमना इत्यत्र मनःस्वरूपमुक्तमथ वाचःस्वरूपभणनाय विकथाकथाप्रकरणमाह—

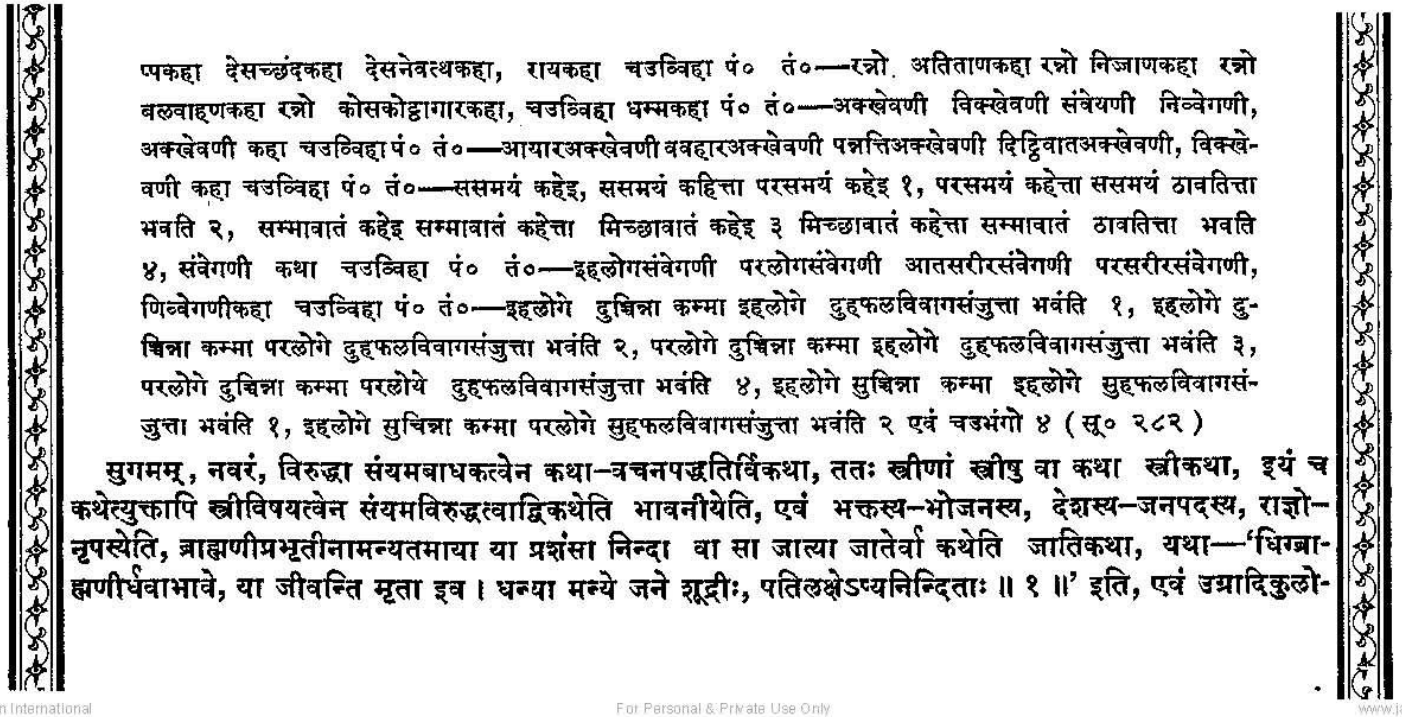
चत्तारि विकहातो पं०, तं०—इत्थिकहा भत्तकहा देसकहा रायकहा, इत्थिकहा चउव्विहा पं० तं०—इत्थीणं जाइकहा इत्थीणं कुलकहा इत्थीणं रूवकहा इत्थीणं णेवत्थकहा, भत्तकहा चउव्विहा पं० तं०—भत्तस्स आवावकहा भत्तस्स णिव्वावकहा भत्तस्स आरंभकहा भत्तस्स निट्ठाणकहा, देसकहा चउव्विहा पं० तं०—देसविहिकहा देसविक-

१ भद्रो दन्तैर्हन्ति मन्दो हस्तेनाहंति हस्ती गात्राधराभ्यां च मृगः संकीर्णः सर्वैर्हन्ति ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



प्पकहा देसच्छंदकहा देसनेवत्थकहा, रायकहा चउव्विहा पं० तं०—रन्नो अतिताणकहा रन्नो निज्जाणकहा रन्नो बलवाहणकहा रन्नो कोसकोट्ठागारकहा, चउव्विहा धम्मकहा पं० तं०—अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी निव्वेगणी, अक्खेवणी कहा चउव्विहा पं० तं०—आयारअक्खेवणी ववहारअक्खेवणी पन्नत्तिअक्खेवणी दिट्ठिवातअक्खेवणी, विक्खेवणी कहा चउव्विहा पं० तं०—ससमयं कहेइ, ससमयं कहित्ता परसमयं कहेइ १, परसमयं कहेत्ता ससमयं ठावतित्ता भवति २, सम्मावातं कहेइ सम्मावातं कहेत्ता मिच्छावातं कहेइ ३ मिच्छावातं कहेत्ता सम्मावातं ठावतित्ता भवति ४, संवेगणी कथा चउव्विहा पं० तं०—इहलोगसंवेगणी परलोगसंवेगणी आतसरीरसंवेगणी परसरीरसंवेगणी, णिव्वेगणीकहा चउव्विहा पं० तं०—इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति १, इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति २, परलोगे दुच्चिन्ना कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ३, परलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोये दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ४, इहलोगे सुच्चिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति १, इहलोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति २ एवं चउभंगो ४ (सू० २८२)

सुगमम्, नवरं, विरुद्धा संयमबाधकत्वेन कथा—वचनपद्धतिर्विकथा, ततः स्त्रीणां स्त्रीषु वा कथा स्त्रीकथा, इयं च कथेत्युक्तापि स्त्रीविषयत्वेन संयमविरुद्धत्वाद्विकथेति भावनीयेति, एवं भक्तस्य—भोजनस्य, देशस्य—जनपदस्य, राज्ञो—नृपस्येति, ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमाया या प्रशंसा निन्दा वा सा जात्या जातेर्वा कथेति जातिकथा, यथा—'धिग्ब्राह्मणीर्धवाभावे, या जीवन्ति मृता इव। धन्या मन्ये जने शूद्रीः, पतिलक्षेऽप्यनिन्दिताः ॥ १ ॥' इति, एवं उग्रादिकुलो-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'विकथा' सम्बन्धी दीर्घचर्चा

तन्नानामन्यतमाया यत् प्रशंसादि सा कुलकथा, यथा—'अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम् । पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्नौ, याः प्रेमरहिता अपि ॥ १ ॥' इति, तथा अन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमाया रूपस्य यत्प्रशंसादि सा रूपकथा, यथा—'चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्वीः पीनघनस्तनी । किं लाटी नो मता साऽस्य, देवानामपि दुर्लभा? ॥ १ ॥" इति, तासामेव अन्यतमायाः कच्छाबन्धादिनेपथ्यस्य यत्प्रशंसादि नेपथ्यकथेति, यथा—'धिग्नारीरौदीच्या बहुवसनाच्छादिताङ्गलतिकत्वात् । यद्यौवनं न यूनां चक्षुर्मोदाय भवति सदा ॥ १ ॥" इति, स्त्रीकथायां चैते दोषाः—"[1]आयपरमोहुदीरणं उड्डाहो सुत्तमाइपरिहाणी । बंभवयस्स अगुत्ती पसंगदोसा य गमणादी ॥ १ ॥" उन्निष्क्रमणादय इत्यर्थः, तथा शाकघृतादीन्येतावन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपा कथा आवापकथा, एतावन्तस्तत्र पक्वापक्वान्नभेदा व्यञ्जनभेदा वेति निर्वापकथेति, तित्तिरादीनामियतां तत्रोपयोग इत्यारम्भकथा, एतावत् द्रविणं तत्रोपयुज्यत इति निष्ठानकथेति, उक्तञ्च—"[2]सागधयादावादो पक्वापक्को य होइ निव्वावो। आरंभ तित्तिराई णिट्ठाणं जा सयसहस्सं ॥१॥" इति, इह चामी दोषाः—"[3]आहारमन्तरेणवि गेहीओ जायए सइंगालं । अजिइंदिय ओदरियावाओ उ अणुन्नदोसा य ॥ २ ॥" इति, तथा देशे मगधादौ विधिः—विरचना भोजनमणिभूमिकादीनां भुज्यते वा यद्यत्र प्रथमतयेति देशविधिस्तत्कथा देशविधिकथा, एवमन्यत्रापि, नवरं, विकल्पः—सस्यनिष्पत्तिः, वप्रकूपादिदेवकुलभवनादिविशेषश्चेति, छन्दो—

१ आत्मपरयोर्मोहोदीरणा उड्डाहः सूत्रादिपरिहानिः ब्रह्मव्रतस्यागुप्तिः प्रसंगदोषा उन्निष्क्रमणं च ॥ १ ॥ २ शाकघृतादिरावापः पक्वापक्वश्च भवति निर्वापः । तित्तिरादयारंभः यावच्छतसहस्रादि निष्ठानं ॥ १ ॥ ३ आहारमन्तरेणापि गृध्या सांगारं जायते अजितेन्द्रियता औदरिकवादस्तु अनुज्ञादोषश्च ॥ १ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'विकथा' सम्बन्धी दीर्घचर्चा

प्रत सूत्रांक [२८२]

दीप अनुक्रम [३०१]

गम्यागम्यविभागो यथा लाटदेशे मातुलभगिनी गम्या अन्यत्रागम्येति, नेपथ्यं–स्त्रीपुरुषाणां वेषः स्वाभाविको विभूषाप्रत्ययश्चेति, इह दोषाः—"[१]रागद्दोसुप्पत्ती सपक्खपरपक्खओ य अहिगरणं । बहुगुण इमोत्ति देसो सोउं गमणं च अन्नेसिं ॥ १ ॥" इति, तथा अतियानं–नगरादौ प्रवेशस्तत्कथा अतियानकथा, यथा—"[२]सियसिंधुरखंधगओ सियचमरो सेयछत्तछन्नणहो । जणणयणकिरणसेओ एसो पविसइ पुरे राया ॥ १ ॥" इति, एवं सर्वत्र, नवरं निर्याणं–निर्गमः, तत्कथा यथा—"[३]वज्जंताउज्जममंदबंदिसद्दं मिलंतसामंतं । संखुद्धसेन्नमुद्धुयचिंधं नयरा निवो नियइ ॥ १ ॥" बलं–हस्त्यादि वाहनं–वेगसरादि, तत्कथा यथा—"हेसंतहयं गज्जंतमयगलं घणघणंतरहलक्खं । कस्सऽन्नस्सवि सेन्नं णिन्नासियसत्तुसिन्नं भो! ॥ १ ॥" कोशो–भाण्डागारं कोष्ठागारं–धान्यागारमिति, तत्कथा यथा—"[४]पुरिसपरंपरपत्तेण भरियविस्संभरेण कोसेणं । णिज्जियवेसमणेणं तेण समो को निवो अन्नो? ॥ १ ॥" इति, इह चैते दोषाः—"[५]चारिय चोरा १ भिमरे २ हिय १ मारिय २ संक काउकामा वा । भुत्ताभुत्तोहाणे करेज्ज वा आससपओगं ॥ १ ॥" भुक्तभोगोऽभुक्तभोगो वा अवधावनं कुर्यादित्यर्थः । आक्षिप्यते–मोहात् तत्त्वं प्रत्याकृष्यते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी, तथा विक्षिप्यते–

१ रागद्वेषोत्पत्तिः स्वपक्षपरपक्षाभ्यामधिकरणं च एष बहुगुणो देश इति श्रुत्वाऽन्येषां गमनं च ॥ १ ॥ २ सितसिन्धुरस्कन्धगतः सितचामरः सितच्छत्रच्छन्ननभाः जननयनकिरणश्चेत एष प्रविशति पुरे राजा ॥ १ ॥ ३ वाद्यमानायुधं अमंदबंदिशब्दं मीलत्सामन्तं संक्षुब्धसैन्यं उद्भूतचिह्नं नगरान्नृपो निर्गच्छति ॥ १ ॥ ४ हेषद्धयं गर्जद्गजं घनघनायमानरथलक्षं कस्यान्यस्यापि सैन्यं निर्नाशितशत्रुसैन्यं भोः! ॥ १ ॥ ५ पुरुषपरम्परया प्राप्तेन भृतसमग्रविश्वेन कोशागारेण । निर्जितवैश्रमणेन तेन समोऽन्यः को नृपः? ॥ १ ॥ ५ चारिकचौराभिमरतया हृते मारिते शङ्का कर्त्तुकामा वा । भुक्ताभुक्तयोरवधावनं कुर्यादाशंसाप्रयोगं वा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'विकथा' सम्बन्धी दीर्घचर्चा

प्रत सूत्रांक [२८२]

दीप अनुक्रम [३०१]



सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोताऽनयेति विक्षेपणी, संवेगयति–संवेगं करोतीति संवेद्यते वा–संबोध्यते संवेज्यते वा–संवेगं ग्राह्यते श्रोताऽनयेति संवेदनी संवेजनी वेति, निर्विद्यते–संसारादेर्निर्विण्णः क्रियते अनयेति निर्वेदनीति, आचारो–लोचास्नानादिसत्प्रकाशनेन आक्षेपणी आचाराक्षेपणीति, एवमन्यत्रापि, नवरं व्यवहारः–कथञ्चिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रज्ञप्तिः–संशयापन्नस्य श्रोतुर्मधुरवचनैः प्रज्ञापनं, दृष्टिवादः–श्रोत्रपेक्षया नयानुसारेण सूक्ष्मजीवादिभावकथम्, अन्ये त्वभिदधति–आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति, अस्याश्चायं रसः—"विज्जाचरणं च तवो पुरिसक्कारो य समिइगुत्तीओ । उवइस्सइ खलु जं सो कहाऍ अक्खेवणीइ रसो ॥ १ ॥" इति, स्वसमयं–स्वसिद्धान्तं कथयति, तद्गुणानुदीपयति पूर्वं, ततस्तं कथयित्वा परसमयं कथयति, तद्दोषान् दर्शयतीत्येका, एवं परसमयकथनपूर्वकं स्वसमयं स्थापयिता–स्वसमयगुणानां स्थापको भवतीति द्वितीया, 'सम्मावाय'मित्यादि, अस्यायमर्थः–परसमयेष्वपि घुणाक्षरन्यायेन यो यावान् जिनागमतत्त्ववादसदृशतया सम्यग्–अविपरीततत्त्वानां वादः सम्यग्वादः तं कथयति, तं कथयित्वा तेष्वेव यो जिनप्रणीततत्त्वात् विरुद्धत्वान्मिथ्यावादस्तं दोषदर्शनतः कथयतीति तृतीया, परसमयेष्वेव मिथ्यावादं कथयित्वा सम्यग्वादं स्थापयिता भवतीति चतुर्थी, अथवा सम्यग्वादः–अस्तित्वं, मिथ्यावादो–नास्तित्वं, तत्र आस्तिकवादिदृष्टीरुक्त्वा नास्तिकवादिदृष्टीर्भणतीति तृतीया, एतद्विपर्यया चतुर्थीति, इहलोको–मनुष्यजन्म तत्स्वरूपकथनेन संवेगनी इहलोकसंवेगनी, सर्वमिदं मानुषत्वमसारमध्रुवं कद-

१ विद्याचरणं च तपः पुरुषकारश्च समितिगुप्तयः । उपदिश्यते खलु यत् स कथाया आक्षेपण्या रसः ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'विकथा' सम्बन्धी दीर्घचर्चा

लीस्तम्भसमानमित्यादिरूपा, एवं परलोकसंवेदनी देवादिभवस्वभावकथनरूपा–देवा अपीर्ष्याविषादभयवियोगादिदुःखैरभिभूताः, किं पुनस्तिर्यगादय इति, आत्मशरीरसंवेगनी यदेतदस्मदीयं शरीरमेतदशुचि अशुचिकारणजातमशुचिद्वारविनिर्गतमिति न प्रतिबन्धस्थानमित्यादिकथनरूपा, एवं परशरीरसंवेगनी, अथवा परशरीरं–मृतकशरीरमिति, इहलोके दुश्चीर्णानि–चौर्यादीनि कर्म्माणि–क्रिया इहलोके दुःखमेव कर्म्मद्रुमजन्यत्वात् फलं दुःखफलं तस्य विपाकः–अनुभवो दुःखफलविपाकस्तेन संयुक्तानि दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति चौरादीनामिवेत्येका, एवं नारकाणामिवेति द्वितीया, आ गर्भात् व्याधिदारिद्र्याभिभूतानामिवेति तृतीया, प्राक्कृताशुभकर्मोत्पन्नानां नरकप्रायोग्यं बध्नतां काकगृध्रादीनामिव चतुर्थीति, 'इहलोए सुचिन्ने'त्यादि चतुर्भङ्गी तीर्थकरदानदातृ १ सुसाधु २ तीर्थकर ३ देवभवस्थतीर्थकरादीना ४ मिव भावनीयेति ॥ उक्तो वाग्विशेषोऽधुना पुरुषजातप्रधानतया कायविशेषमाह—

तहेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—किसे णाममेगे किसे किसे णाममेगे दढे दढे णाममेगे किसे दढे णाममेगे दढे, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—किसे णाममेगे किससरीरे किसे णाममेगे दढसरीरे दढे णाममेगे किससरीरे दढे णाममेगे दढसरीरे ४ ॥ चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—किससरीरस्स नाममेगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जति णो दढसरीरस्स दढसरीरस्स णाम एगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जति णो किससरीरस्स एगस्स किससरीरस्सवि णाणदंसणे समुप्पज्जति दढसरीरस्सवि एगस्स नो किससरीरस्स णाणदंसणे समुप्पज्जति णो दढसरीरस्स (सू० २८३) चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अतिसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामेवि न समुप्पज्जेज्जा, तं०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—अभिक्खणं अभिक्खणमित्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं कहेत्ता भवति १, विवेगेण विउस्सग्गेणं णो सम्ममप्पाणं भाविता भवति २ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरितं जागरतिता भवति ३, फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसिता भवति ४, इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव नो समुप्पज्जेज्जा । चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे समुप्पज्जेज्जा, तं०—इत्थीकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं नो कहेत्ता भवति, विवेगेण विउसग्गेणं सम्ममप्पाणं भावेता भवति, पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरतिता भवति, फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स सम्मं गवेसिया भवति, इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव समुप्पज्जेज्जा (सू० २८४)

**'चत्तारि पुरिसे'**त्यादि कण्ठ्यं, नवरं कृशः—तनुशरीरः पूर्वं पश्चादपि कृश एव अथवा कृशो भावेन हीनसत्त्वादित्वात् पुनः कृशः शरीरादिभिरेवं दृढोऽपि विपर्ययादिति, पूर्वसूत्रार्थविशेषाश्रितमेव द्वितीयं सूत्रं, तत्र कृशो भावतः, शेषं सुगमं । कृशस्यैव चतुर्भङ्ग्या ज्ञानोत्पादमाह—**'चत्तारी'**त्यादि व्यक्तं, किन्तु कृशशरीरस्य विचित्रतपसा भावितस्य शुभपरिणामसम्भवेन तदावरणक्षयोपशमादिभावात् ज्ञानञ्च दर्शनञ्च ज्ञानदर्शनं ज्ञानेन वा सह दर्शनं ज्ञानदर्शनं छाद्मस्थिकं कैवलिकं वा तत्समुत्पद्यते, न दृढशरीरस्य, तस्य हि उपचितत्वेन बहुमोहतया तथाविधशुभपरिणामाभावेन क्षयोपशमाद्यभावादित्येकः, तथाऽमन्दसंहननस्याल्पमोहस्य दृढशरीरस्यैव ज्ञानदर्शनमुत्पद्यते, स्वस्थशरीरतया मनःस्वास्थ्येन शुभपरिणामभावतः क्षयोपशमादिभावात् न कृशशरीरस्यास्वास्थ्यादिति द्वितीयः, तथा कृशस्य दृढस्य वा तदु-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

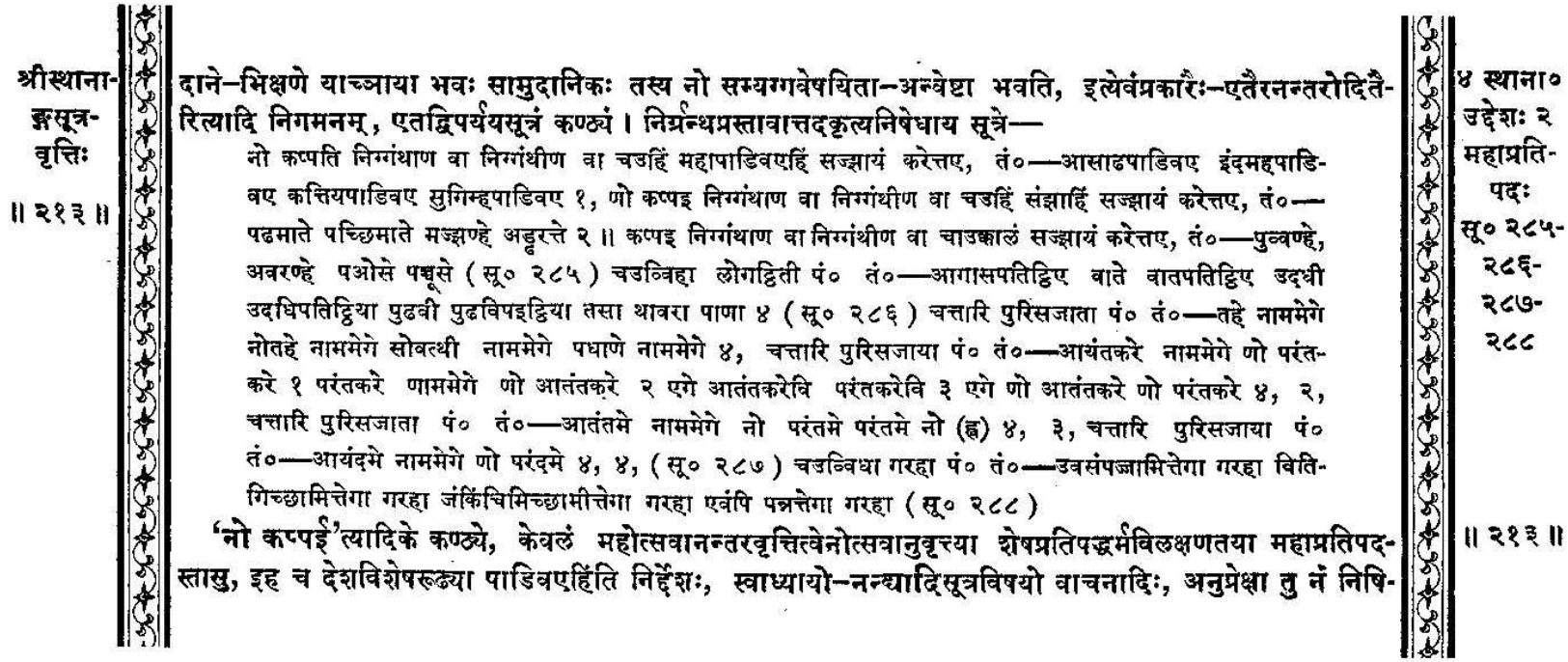
त्यद्यते विशिष्टसंहननस्याल्पमोहस्योभयथापि शुभपरिणामभावात् कृशत्वदृढत्वे नापेक्षत इति तृतीयः, चतुर्थः सुज्ञानः। ज्ञानदर्शनयोरुत्सादः उक्तोऽधुना तद्व्याघात उच्यते, तत्र—'चउही'त्यादि सूत्रं स्फुटं, परं निर्ग्रन्थीग्रहणात् स्त्रिया अपि केवलमुत्पद्यत इत्याह, 'अस्मिन्नि'ति अस्मिन् प्रत्यक्ष इवानन्तरप्रत्यासन्ने समये 'अहसेसे'त्ति शेषाणि—मत्यादिचक्षुर्दर्शनादीनि अतिक्रान्तं सर्वावबोधादिगुणैर्यत्तदतिशेषमतिशयवत्केवलमित्यर्थः समुत्पत्तुकाममपीतीहैवार्थो द्रष्टव्यः, ज्ञानादेरभिलाषाभावात्, कथयितेति शीलार्थिकस्तृन् तेन द्वितीया न विरुद्धेति, 'विवेकेने'ति अशुद्धादित्यागेन 'विउस्सग्गेणं'ति कायव्युत्सर्गेण पूर्वरात्रश्च—रात्रेः पूर्वो भागो अपररात्रश्च—रात्रेरपरो भागः तावेव कालः स एव समयः—अवसरो जागरिकायाः पूर्वरात्रापररात्रकालसमयस्तस्मिन् कुटुम्बजागरिकाव्यवच्छेदेन धर्मप्रधाना जागरिका—निद्राक्षयेण बोधो धर्मजागरिका, भावप्रत्युपेक्षेत्यर्थो, यथा—"किं[1] कय किं वा सेसं किं करणिज्जं तवं च न करेमि। पुव्वावरत्तकाले जागरओ भावपडिलेहा ॥ १ ॥" इति, अथवा—"को[2] मम कालो? किमेयस्स उचियं? असारा विसया नियमगामिणो विरसावसाणा भीसणो मच्चू ॥१॥" इत्यादिरूपा विभक्तिपरिणामात् तया जागरिता—जागरको भवति, अथवा धर्मजागरिकां जागरिता—कर्त्तेति द्रष्टव्यमिति, तथा प्रगता असवः—उच्छ्वासादयः प्राणा यस्मात् स प्रासुको—निर्जीवस्तस्य एष्यते—गवेष्यते उद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः—कल्प्यस्तस्य उञ्छ्यते—अल्पाल्पतया गृह्यत इत्युञ्छो—भक्तपानादिस्तस्य समु-

१ किं कृतं किं वा शेषं किं करणीयं च तपश्च न करोमि पूर्वापररात्रकाले जाग्रतो भावप्रतिलेखना ॥ १ ॥ २ को वा मम कालः? किमेतस्योचितं? असारा विषया नियमगामिनो विरसावसानाः भीषणो मृत्युः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२८४]

दीप अनुक्रम [३०३]





दाने–भिक्षणे याच्ञाया भवः सामुदानिकः तस्य नो सम्यग्गवेषयिता–अन्वेष्टा भवति, इत्येवंप्रकारैः–एतैरनन्तरोदितैरित्यादि निगमनम्, एतद्विपर्ययसूत्रं कण्ठ्यं । निर्ग्रन्थप्रस्तावात्तदकृत्यनिषेधाय सूत्रे—

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करेत्तए, तं०—आसाढपाडिवए इंदमहपाडिवए कत्तियपाडिवए सुगिम्हपाडिवए १, णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं०—पढमाते पच्छिमाते मज्झण्हे अड्ढरत्ते २ ॥ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं०—पुव्वण्हे, अवरण्हे पओसे पच्चूसे (सू० २८५) चउव्विहा लोगट्ठिती पं० तं०—आगासपतिट्ठिए वाते वातपतिट्ठिए उदधी उदधिपतिट्ठिया पुढवी पुढविपइट्ठिया तसा थावरा पाणा ४ (सू० २८६) चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—तहे नाममेगे नोतहे नाममेगे सोवत्थी नाममेगे पधाणे नाममेगे ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—आयंतकरे नाममेगे णो परंतकरे १ परंतकरे णाममेगे णो आतंतकरे २ एगे आतंतकरेवि परंतकरेवि ३ एगे णो आतंतकरे णो परंतकरे ४, २, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—आतंतमे नाममेगे नो परंतमे परंतमे नो (ह्व) ४, ३, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—आयंदमे नाममेगे णो परंदमे ४, ४, (सू० २८७) चउव्विधा गरहा पं० तं०—उवसंपज्जामित्तेगा गरहा वितिगिच्छामित्तेगा गरहा जंकिंचिमिच्छामीत्तेगा गरहा एवंपि पन्नत्तेगा गरहा (सू० २८८)

'नो कप्पई'त्यादिके कण्ठ्ये, केवलं महोत्सवानन्तरवृत्तित्वेनोत्सवानुवृत्त्या शेषप्रतिपद्धर्मविलक्षणतया महाप्रतिपदस्तासु, इह च देशविशेषरूढ्या पाडिवएहिंति निर्देशः, स्वाध्यायो–नन्द्यादिसूत्रविषयो वाचनादिः, अनुप्रेक्षा तु नं निषि-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अस्वाध्याय'-दिवस सम्बन्धी कथनं

ध्यते, आषाढस्य पौर्णमास्या अनन्तरा प्रतिपदाषाढप्रतिपदेवमन्यत्रापि, नवरमिन्द्रमहः–अश्वयुक्पौर्णमासी, सुग्रीष्मः–चैत्रपौर्णमासीति, इह च यत्र विषये यतो दिवसान्महामहाः प्रवर्त्तन्ते तत्र तद्दिवसात् स्वाध्यायो न विधीयते महसमासिदिनं यावत्, तच्च पौर्णमास्येव, प्रतिपदस्तु क्षणानुवृत्तिसम्भवेन वर्ज्यन्त इति, उक्तं च—"आसाढी इंदमहो कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धव्वो। एए महामहा खलु सव्वेसिं जाव पाडिवया ॥ १ ॥" इति, अकालस्वाध्याये चामी दोषाः —"सुयणाणंमि अभत्ती लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य। विज्जासाहणवेगुन्नधम्मया एव मा कुणसु ॥ १ ॥" इति, विद्यासाधनवैगुण्यसाधर्म्येणैवेत्यर्थः, प्रथमा सन्ध्या अनुदिते सूर्ये पश्चिमा–अस्तमयसमये। उक्तविपर्ययसूत्रं कण्ठ्यं, किन्तु 'पुव्वण्हे अवरण्हे'त्ति दिनस्याद्यचरमप्रहरयोः 'पओसे पच्चूसे'त्ति रात्रेरिति। स्वाध्यायप्रवृत्तस्य च लोकस्थितिपरिज्ञानं भवतीति तामेव प्रतिपादयन्नाह—'चउव्विहे'त्यादि, लोकस्य–क्षेत्रलक्षणस्य स्थितिः–व्यवस्था लोकस्थितिः, आकाशप्रतिष्ठितो वातो–घनवाततनुवातलक्षणः, उदधिः–घनोदधिः, पृथिवी–रत्नप्रभादिका, त्रसा–द्वीन्द्रियादयस्ते पुनर्ये रत्नप्रभादिपृथ्वीष्वप्रतिष्ठितास्तेऽपि विमानपर्वतादिपृथिवीप्रतिष्ठितत्वात् पृथिवीप्रतिष्ठिता एव, विमानपृथिवीनां चाकाशादिप्रतिष्ठितत्वं यथासम्भवमवसेयम्, अविवक्षा वेह विमानादिगतदेवादित्रसानामिति, स्थावरास्त्विह बादरवनस्पत्यादयो ग्राह्याः, सूक्ष्माणां सकललोकप्रतिष्ठितत्वात्, शेषं सुगममिति। अनन्तरं त्रसाः प्राणा उक्ताः, अधुना त्रसप्रा-

१ आषाढी इन्द्रमहः कार्त्तिकः सुग्रीष्मे बोद्धव्याः एते महामहाः खलु सर्वेषां यावत्प्रतिपदः ॥ १ ॥ २ श्रुतज्ञानेऽभक्तिः लोकविरुद्धता प्रमत्तछलना च विद्यासाधनवैगुण्यधर्मता इति मा कुरु ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अस्वाध्याय'-दिवस सम्बन्धी कथनं

णविशेषस्य 'चत्तारी'त्यादिभिश्चतुर्भिश्चतुर्भङ्गीसूत्रैः स्वरूपं दर्शयति, कण्ठ्यानि चैतानि, केवलं 'तह'त्ति सेवकः सन् यथैवादिश्यते तथैव यः प्रवर्त्तते स तथा, अन्यस्तु नो तथैवान्यथापीत्यर्थ इति नोतथः, तथा स्वस्तीत्याह चरति वा सौवस्तिकः प्राकृतत्वात् ककारलोपे दीर्घत्वे च सोवत्थी-माङ्गलिकाभिधायी मागधादिरन्यः, एतेषामेवाराध्यतया प्रधानः-प्रभुरन्य इति । 'आयंतकरे'त्ति आत्मनोऽन्तम्-अवसानं भवस्य करोतीत्यात्मान्तकरः, नो परस्य भवान्तकरो, धर्म्मदेशनानासेवकः प्रत्येकबुद्धादिः १, तथा परस्य भवान्तं करोति मार्गप्रवर्त्तनेन परान्तकरो नात्मान्तकरोऽचरमशरीर आचार्यादिः २, तृतीयस्तु तीर्थकरोऽन्यो वा३, चतुर्थो दुष्षमाचार्यादिः४, अथवाऽऽत्मनोऽन्तं-मरणं करोतीति आत्मान्तकरः, एवं परान्तकरोऽपि, इह प्रथम आत्मवधको द्वितीयः परवधकः तृतीय उभयहन्ता चतुर्थस्त्ववधक इति, अथवाऽऽत्मतन्त्रः सन् कार्याणि करोतीत्यात्मतन्त्रकरः, एवं परतन्त्रकरोऽपि, इह तु प्रथमो जिनो, द्वितीयो भिक्षुः, तृतीय आचार्यादिः, चतुर्थः कार्यविशेषापेक्षया शठ इति, अथवा आत्मतन्त्रं-आत्मायत्तं धनगच्छादि करोतीत्यात्मतन्त्रकर एवमितरापि भङ्गयोजना स्वयमूह्येति । तथा आत्मानं तमयति-खेदयतीत्यात्मतमः-आचार्यादिः, परं-शिष्यादिकं तमयतीति परतमः, सर्वत्र प्राकृतत्वादनुस्वारः, अथवा आत्मनि तमः-अज्ञानं क्रोधो वा यस्य स आत्मतमाः, एवमितरेऽपि, तथा आत्मानं दमयति-शमवन्तं करोति शिक्षयति वेत्यात्मदमः आचार्योऽश्वदमकादिर्वा, एवमितरेऽपि, नवरं परः-शिष्योऽश्वादिर्वा ॥ दमश्च गर्ह्यगर्हातः स्यादिति गर्हासूत्रं, तत्र गुरुसाक्षिका आत्मनो निन्दा गर्हा, तत्र उपसंपद्ये-आश्रयामि गुरुं स्वदोषनिवेदनार्थं अभ्युपगच्छामि वोचितं प्रायश्चित्तं इतीत्येवंप्रकारः परिणाम एका गर्हेति, गर्हात्वं



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सम्पादन-कार्ये अथवा 'प्रूफ-रिडींग' अवसरे किंचित स्खलना जाता: (यहाँ प्रत में शीर्षक स्थाने जो महाप्रतिपदः लिखा है वो गलतीसे रह गया दीखता है, क्योंकि वो विषय पिछले पृष्ठ पर पूर्ण हो गया है.) अत्र आत्मनोकरः एवं परान्तकरः विषय वर्तते.

चास्योक्तपरिणामस्य गर्हायाः कारणत्वेन कारणे कार्योपचाराद् गर्हासमानफलत्वाच्च द्रष्टव्यमिति, अभिधीयते हि भगवत्याम्—"निग्गंथे णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए [ पिण्डलाभप्रतिज्ञयेत्यर्थः >, पविट्ठेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तस्स णं एवं भवइ–इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि पडिक्कमामि निंदामि जाव पडिवज्जामि, तओ पच्छा थेराणं अंतियं आलोइस्सामि० से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणा य पुव्वमेव कालं करेज्जा से णं भंते! किं आराहए विराहए?, गोयमा! आराहए नो विराहए"त्ति, तथा 'वितिगिच्छामि'त्ति वीति–विशेषेण विविधप्रकारैर्वा चिकित्सामि–प्रतिकरोमि निराकरोमि गर्हणीयान् दोषान् इतीत्येवंविकल्पात्मिका एकाऽन्या गर्हा, तत एवेति, तथा 'जंकिंचिमिच्छामीति'त्ति यत्किञ्चनानुचितं तन्मिथ्या–विपरीतं दुष्ठु मे–मम इत्येवंवासनागर्भवचनरूपा एकाऽन्या गर्हा, एवंस्वरूपत्वादेव गर्हायाः, तथा 'एवमपी'ति अनेनापि–स्वदोषगर्हणप्रकारेणापि प्रज्ञप्ता–अभिहिता जिनैर्दोषशुद्धिरिति प्रतिपत्तिरेका गर्हा, एवंविधप्रतिपत्तेर्गर्हाकारणत्वादिति, 'एवंपि पन्नत्तेगा गरहे'ति पाठे व्याख्यानमिदम्, 'एवंपि पन्नत्ते एगा' इति पाठे त्विदं–यत्किञ्चनावद्यं तन्मिथ्येत्येवं प्रतिपत्तव्यमित्येवमपि प्रज्ञप्ते–प्ररूपिते सत्येका गर्हा भवति, एवंविधप्ररूपणायाः प्रज्ञापनीयस्य गर्हाकारणत्वात्, अथवा उपसंपद्ये–प्रतिषेधाम्यहमतिचारानित्येवं स्वदोषप्रतिपत्तिरेका

१ निर्ग्रन्थो गृहपतिकुलं पिण्डादानप्रतिज्ञया प्रविष्टोऽन्यतरत् अकृत्यस्थानं प्रतिषेवितं, तस्यैवं भवति–इहैव तावदहमेतस्य स्थानस्यालोचयामि प्रतिक्रामामि निन्दामि यावत्प्रतिपद्ये ततः पश्चात्स्थविराणामन्तिके आलोचयिष्यामि, स च संप्रस्थितोऽसंप्राप्त आत्मना च पूर्वमेव कालं कुर्यात् स भदन्त! किमाराधको विराधकः?, गौतम! आराधको न विराधकः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गर्हा, तथा विचिकित्सामि–शङ्के अशङ्कनीयानपि जिनभाषितभावान् गुर्वादीन् वा दोषवत्तयेत्येवंप्रकारा अपि गर्हा स्वदोषप्रतिपत्तिरूपत्वादेवेति, तथा यत्किञ्चन साधूनामनुचितं तदिच्छामि–साक्षादकरणेऽपि मनसाऽभिलषामि, इह मकार आगमिकः प्राकृतत्वादिति, अथवा यत्किञ्चन साधुकृत्यमाश्रित्य मिथ्या–विपर्यस्तोऽस्मि–भवामि मिथ्याकरोमि वा मिथ्ययामीति, 'मिच्छामि'म्लेच्छवदाचरामि वा म्लेच्छामीति मिच्छामि, शेषं पूर्ववत्, तथा असदनुष्ठानप्रवृत्तः सन् प्रेरितः सन् केनापि स्वकीयचित्तसमाधानार्थं वा स्वकीयासदनुष्ठानसमर्थनाय क्लिष्टचित्ततयैवं प्ररूपयामि भावयामि वा, यदुत–एवमपि प्रज्ञप्तिः–प्ररूपणाऽस्ति जिनागमे, पाठान्तरे त्वेवमपि प्रज्ञप्तोऽयं भाव इत्यस्थानाभिनिवेशी उत्सूत्रप्ररूपको वाऽहमित्येका गर्हा, एवं स्वदोषप्रतिपत्तिरूपा गर्हा सर्वत्रेति ॥ गर्हा च दोषवर्जकस्यैव सम्यग् भवति नेतरस्येति दोषवर्जकजीवस्वरूपनिरूपणाय सप्तदश चतुर्भङ्गी सूत्राणि—

चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अप्पणो नाममेगे अलमंथू भवति णो परस्स परस्स नाममेगे अलमंथू भवति णो अप्पणो एगे अप्पणोवि अलमंथू भवति परस्सवि एगे नो अप्पणो अलमंथू भवति णो परस्स १ । चत्तारि मग्गा पं० तं०—उज्जू नाममेगे उज्जू उज्जू नाममेगे वंके वंके नाममेगे उज्जू वंके नाममेगे वंके २ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उज्जू नाममेगे उज्जू ४, ३ । चत्तारि मग्गा पं० तं०—खेमे नाममेगे खेमे खेमे णाममेगे अखेमे ह्व (४), ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—खेमे णाममेगे खेमे, ह्व (४), ५ । चत्तारि मग्गा पं० तं०—खेमे णाममेगे खेमरूवे, खेमे णाममेगे अखेमरूवे ४, ६ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—खेमे नाममेगे खे-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मरूवे ४, ७। चत्तारि संवुक्का पं० तं०—वामे नाममेगे वामावत्ते वामे नाममेगे दाहिणावत्ते दाहिणे नाममेगे वामावत्ते दाहिणे नाममेगे दाहिणावत्ते ८। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—वामे नाममेगे वामावत्ते, ह्र (४) ९। चत्तारि धूमसिहाओ पं० तं०—वामा नाममेगा वामावत्ता ४, १०। एवामेव चत्तारित्थीओ पं० तं०—वामा णाममेगा वामावत्ता ४, ११। चत्तारि अग्गिसिहाओ पं० तं०—वामा णाममेगा वामावत्ता, (ह्र) ४, १२। एवामेव चत्तारित्थीओ पं० तं०—वामा णा० (ह्र) ४, १३। चत्तारि वायमंडलिया पं० तं०—वामा णाममेगा वामावत्ता ४, १४, एवामेव चत्तारित्थीओ पं० तं०—वामा णाममेगा वामावत्ता ४, १५। चत्तारि वणसंडा पं० तं०—वामे नाममेगे वामावत्ते ४, १६, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—वामे णाममेगे वामावत्ते, ४, १७। (सू० २८९)

व्यक्तानि, केवलं अलमस्तु–निषेधो भवतु य एवमाह सोऽलमस्त्विवत्युच्यते, निषेधक इत्यर्थः, स चात्मनो दुर्णयेषु प्रवर्त्तमानस्यैको निषेधकः, अथवा 'अलमंथु'त्ति समयभाषया समर्थोऽभिधीयते, ततः आत्मनो निग्रहे समर्थः कश्चिदिति, एको मार्ग ऋजुरादावन्तेऽपि ऋजुः अथवा ऋजुः प्रतिभाति तत्त्वतोऽपि ऋजुरेवेति, पुरुषस्तु ऋजुः पूर्वापरकालापेक्षया, अन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वापेक्षया वेति, क्वचित्तु 'उज्जूनामं एगे उज्जूमणे'त्ति पाठः, सोऽपि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वापेक्षया व्याख्येयः, क्षेमो नामैको मार्ग आदौ निरुपद्रवतया पुनः क्षेमोऽन्ते तथैव, प्रसिद्धितत्त्वाभ्यां वा, एवं पुरुषोऽपि क्रोधाद्युपद्रवरहिततया क्षेम इति, क्षेमो भावतोऽनुपद्रवत्वेन क्षेमरूप आकारेण मार्गः, पुरुषस्तु प्रथमो भावद्रव्यलिङ्गयुक्तः साधुः, द्वितीयः कारणिको द्रव्यलिङ्गवर्जितः साधुरेव, तृतीयो निह्नवः, चतुर्थोऽन्यतीर्थिको गृहस्थो वेति, ७,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शम्बूकाः—शङ्खाः वामो वामपार्श्वव्यवस्थितत्वात् प्रतिकूलगुणत्वाद्वा, वामावर्त्तः प्रतीतः, एवं दक्षिणावर्त्तोऽपि, दक्षिणो दक्षिणपार्श्वनियुक्तत्वादनुकूलगुणत्वाद्वेति, पुरुषस्तु वामः प्रतिकूलस्वभावतया वाम एवावर्त्तते—प्रवर्त्तत इति वामावर्त्तो विपरीतप्रवृत्तेरेकः अन्यो वाम एव स्वरूपेण कारणवशाद् दक्षिणावर्त्तः—अनुकूलवृत्तिः, अन्यस्तु दक्षिणोऽनुकूलस्वभावतया कारणवशात् वामावर्त्तः—अननुकूलवृत्तिरित्येवं चतुर्थोऽपीति, धूमशिखा वामा वामपार्श्ववर्त्तितया अननुकूलस्वभावतया वा वामत एवावर्त्तते या तथावलनात् सा वामावर्त्ता, स्त्री पुरुषवद् व्याख्येया, कम्बुदृष्टान्ते सत्यपि धूमशिखादिदृष्टान्तानां स्त्रीदार्ष्टान्तिके शब्दसाधर्म्येणोपपन्नतरत्वाद् भेदेनोपादानमिति ११, एवमग्निशिखापि १३, वातमण्डलिका—मण्डलेनोर्द्ध्वप्रवृत्तो वायुरिति, इह च स्त्रियो मालिन्योपतापचापल्यस्वभावा भवन्तीत्यभिप्रायेण तासु धूमशिखादिदृष्टान्तत्रयोपन्यास इति, उक्तञ्च—"[1]चवला मइलणसीला सिणेहपरिपूरियावि तावेइ। दीवयसिहव्व महिला लद्धप्पसरा भयं देइ ॥ १ ॥" इति, १५, वनखण्डस्तु शिखावत्, नवरं वामावर्त्तो वामवलनेन जातत्वाद् वायुना वा तथा धूयमानत्वादिति १६, पुरुषस्तु पूर्ववदिति १७ ॥ अनुकूलस्वभावोऽनुकूलप्रवृत्तिश्चानन्तरं पुरुष उक्तः, एवंभूतश्च निर्ग्रन्थः सामान्येनानुचितप्रवृत्तावपि न स्वाचारमतिक्रामतीति दर्शयन्नाह—

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलवमाणे वा णातिक्कमति तं०—पंथं पुच्छमाणे वा १ पंथं देसमाणे वा २ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दलेमाणे वा ३ दलावेमाणे वा ३ (सू० २९०) तमुक्कायस्स णं चत्तारि

१ चपला मलिनताकरणशीला स्नेहपरिपूरितापि तापयति दीपकशिखेव महिला लब्धप्रसरा भयं ददाति ॥ १ ॥






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नामधेज्जा पं० तं०—तमिति वा तमुक्कातेति वा अंधकारेति वा महंधकारेति वा। तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पं० तं०—लोगंधगारेति वा लोगतमसेति वा देवंधगारेति वा देवतमसेति वा। तमुक्कायस्स णं चत्तारि नामधेज्जा पं० तं०—वातफलिहेति वा वातफलिहखोभेति वा देवरन्नेति वा देववूढेति वा। तमुक्काते णं चत्तारि कप्पे आवरित्ता चिट्ठति तं०—सोधम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदं (सू० २९१)

'चउही'त्यादि, स्फुटं, किन्त्वालपन्—ईषत्प्रथमतया वा जल्पन् संलपन् मिथो भाषणेन नातिक्रामति—न लङ्घयति निर्ग्रन्थाचारं, "एगो एगित्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे"[1] विशेषतः साध्व्या इत्येवंरूपं, मार्गप्रश्नादीनां पुष्टालम्बनत्वादिति, तत्र मार्गं पृच्छन्, प्रश्नीयसाधर्म्मिकगृहस्थपुरुषादीनामभावे—हे आर्ये! कोऽस्माकमितो गच्छतां मार्ग इत्यादिना क्रमेण मार्गं वा तस्या देशयन्—धर्म्मशीले! अयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण, अशनादि वा ददद्—धर्म्मशीले! गृहाणेदमशनादीत्येवं, तथा अशनादि दापयन्, आर्ये! दापयाम्येतत्तुभ्यं आगच्छेह गृहादावित्यादिविधिनेति। तथा तमस्कायं तम इत्यादिभिः शब्दैः व्याहरन्नातिक्रमति भाषाचारं यथार्थत्वादिति तानाह—'तमुक्काये'त्यादि सूत्रत्रयं सुगमं, नवरं तमसः—अप्कायपरिणामरूपस्यान्धकारस्य कायः—प्रचयस्तमस्कायो, यो ह्यसङ्ख्याततमस्यारुणवराभिधानद्वीपस्य बाह्यवेदिकान्तादरुणोदाख्यं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्योपरितनाज्जलान्तादेकप्रदेशिकया श्रेण्या समुत्थितः सप्तदशैकविंशत्यधिकानि योजनशतानि ऊर्द्ध्वमुत्पत्य ततः तिर्यक् प्रविस्तृणन् सौधर्म्मादींश्चतुरो देवलोकानावृत्त्योर्द्ध्वमपि

१ एकाकी एकाकिन्या स्त्रिया सार्धं नैव तिष्ठेत् नैव संलपेत्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च ब्रह्मलोकस्य रिष्टं विमानप्रस्तटं सम्प्राप्तः, तस्य नामान्येव नामधेयानि, 'तम' इति तमोरूपत्वादितिरुपप्रदर्शने वा विकल्पे तमोमात्ररूपताभिधायकान्याद्यानि चत्वारि नामधेयानि, तथाऽपराणि चत्वार्येवात्यन्तिकतमोरूपताभिधायकानीति, लोके अयमेवान्धकारो नान्योऽस्तीदृश इति लोकान्धकारः, देवानामप्यन्धकारोऽसौ, तच्छरीरप्रभाया अपि तत्राप्रभवनादिति देवान्धकारः, अत एव ते बलवतो भयेन तत्र नश्यन्तीति श्रुतिरिति, तथाऽन्यानि चत्वारि कार्याश्रयाणि वातस्य परिहननात् परिघः–अर्गला, परिघ इव परिघः, वातस्य परिघो वातपरिघः, तथा वातं परिघवत् क्षोभयति हतमार्गं करोतीति–वातपरिघक्षोभः, वात एव वा परिघस्तं क्षोभयति यः स तथा, पाठान्तरेण वातपरिक्षोभ इति, क्वचिद्देवपरिघो देवपरिक्षोभ इति चाद्यपदद्वयस्थाने पठ्यते, देवानामरण्यमिव बलवद्भयेन नाशनस्थानत्वाद् यः स देवारण्यमिति, देवानां व्यूहः सागरादिसाङ्गामिकव्यूह इव यो दुरधिगम्यत्वात् स देवव्यूह इति, तमस्कायस्वरूपप्रतिपादनायैव 'तमुक्काये ण'मित्यादि सूत्रं गतार्थम्, किन्तु सौधर्मादीनावृणोत्यसौ कुक्कुटपञ्जरसंस्थानसंस्थितस्य तस्य प्रतिपादनाद्, उक्तं च–"तमुक्काए णं भंते! किंसंठिए पन्नत्ते?, गोयमा! अहे मल्लगमूलसंठिए उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठिए पन्नत्ते" त्ति ॥ अनन्तरं तमस्कायो वचनपर्यायैरुक्तोऽधुना अर्थपर्यायैः पुरुषं निरूपयता पञ्चसूत्री गदिता

चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—संपागडपडिसेवी णाममेगे पच्छन्नपडिसेवी णाममेगे पडुप्पन्ननंदी नाममेगे णिस्सरणणंदी णाममेगे १ । चत्तारि सेणाओ पं० तं०—जतित्ता णाममेगे णो पराजिणित्ता पराजिणित्ता णाममेगे णो जतित्ता

१ तमस्कायो भदन्त! किंसंस्थितः प्रज्ञप्तो, गौतम! अधो मल्लकमूलसंस्थितः उपरि कुक्कुटपंजरसंस्थितः ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एगा जतित्तावि पराजिणित्तावि एगा नो जतित्ता नो पराजिणित्ता २। एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—जतित्ता नाममेगे नो पराजिणित्ता ४, ३। चत्तारि सेणाओ पं० तं०—जतित्ता णामं एगा जयई जइत्ता णाममेगा पराजिणति पराजिणित्ता णाममेगा जयति पराजिणित्ता नाममेगा पराजिणति ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—जइत्ता नाममेगे जयति ४, ५। (सू० २९२)

सुगमा च, नवरं कश्चित्साधुर्गच्छवासी सम्प्रकटमेव–अगीतार्थप्रत्यक्षमेव प्रतिसेवते मूलगुणानुत्तरगुणान् वा दर्प्पतः कल्पेन वेति सम्प्रकटप्रतिसेवीत्येकः, एवमन्यः प्रच्छन्नं प्रतिसेवत इति प्रच्छन्नप्रतिसेवी, अन्यस्तु प्रत्युत्पन्नेन–लब्धेन वस्त्रशिष्यादिना प्रत्युत्पन्नो वा–जातः सन् शिष्याचार्यादिरूपेण नन्दति यः स प्रत्युत्पन्ननन्दी, अथवा नन्दनं नन्दिः–आनन्दः, प्रत्युत्पन्नेन नन्दिर्यस्य स प्रत्युत्पन्ननन्दिः, तथा प्राघूर्णकशिष्यादीनामात्मनो वा निःसरणेन–गच्छादेर्निर्गमेन नन्दति यो नन्दिर्वा यस्य स तथा, पाठान्तरे तु प्रत्युत्पन्नं–यथालब्धं सेवते–भजते नानुचितं विवेचयतीति प्रत्युत्पन्नसेवीति। 'जइत्त'त्ति जेत्री जयति रिपुबलमेका न पराजेत्री–न पराजयते–रिपुबलान्न भज्यते द्वितीया तु पराजेत्री–परेभ्यो भङ्गभाक्, अत एव नो जेत्रीति, तृतीया कारणवशादुभयस्वभावेति, चतुर्थी त्वविजिगीषुत्वादनुभयरूपेति, पुरुषः–साधुः स जेता परीषहाणां न तेभ्यः पराजेता–उद्विजते इत्यर्थो महावीरवदित्येको, द्वितीयः कण्डरीकवत्, तृतीयस्तु कदाचिज्जेता कदाचित्कर्मवशात् पराजेता शैलकराजर्षिवत्, चतुर्थस्त्वनुत्पन्नपरीषहः। जित्वा एकदा रिपुबलं पुनरपि जयतीत्येका अन्या जित्वा पराजयते–भज्यते अन्या पराजित्य–परिभज्य पुनर्जयति चतुर्थी तु पराजित्य–परिभज्यैकदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनः पराजयते, पुरुषस्तु परीषहादिष्वेवं चिन्तनीय इति ॥ जेतव्याश्चेह तत्त्वतः कषाया एवेति तत्स्वरूपं दर्शयितुकामः क्रोधस्योत्तरत्रोपदर्शयिष्यमाणत्वान्मायादिकषायत्रयप्रकरणमाह—

चत्तारि केतणा पं० तं०—वंसीमूलकेतणते मेंढविसाणकेतणते गोमुत्तिकेतणते अवलेहणितकेतणते, एवामेव चउविधा-माया पं० तं०—वंसीमूलकेतणासमाणा जाव अवलेहणितासमाणा, वंसीमूलकेतणासमाणं मायं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेति णेरइएसु उववज्जति, मेंढविसाणकेतणासमाणं मायमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेति तिरिक्खजोणितेसु उववज्जति, गोमुत्ति० जाव कालं करेति मणुस्सेसु उववज्जति, अवलेहणिता जाव देवेसु उववज्जति । चत्तारि थंभा पं० तं०—सेलथंभे अट्ठिथंभे दारुथंभे तिणिसलताथंभे, एवामेव चउव्विधे माणे पं० तं०—सेलथंभसमाणे जाव तिणिसलताथंभसमाणे, सेलथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेति नेरतिएसु उववज्जति, एवं जाव तिणिसलताथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेति देवेसु उववज्जति । चत्तारि वत्था पं० तं०—किमिरागरत्ते कद्दमरागरत्ते खंजणरागरत्ते हलिद्दरागरत्ते, एवामेव चउव्विधे लोभे पं० तं०—किमिरागरत्तवत्थसमाणे कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे खंजणरागरत्तवत्थसमाणे हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणे, किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ नेरइएसु उववज्जइ, तहेव जाव हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जति (सू० २९३)

'चत्तारी'त्यादि प्रकटं, किन्तु केतनं—सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वंशादिदलकं, तच्च वक्रं भवति, केवलमिह सामान्येन वक्रं वस्तु केतनं गृह्यते, तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनमेवं





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वत्र, नवरं मेण्ढविषाणं–मेषशृङ्गं, गोमूत्रिका प्रतीता, 'अवलेहणिय'त्ति अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्या प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति, वंशीमूलकेतनकादिसमता तु मायायास्तद्वतामनार्जवभेदात्, तथाहि–यथा वंशीमूलमतिगुपिलवक्रमेवं कस्यचिन्मायाऽपीत्येवमल्पाल्पतरात्पतमानार्जवत्वेनान्याऽपि भावनीयेति, इयं चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनरूपा क्रमेण ज्ञेया, प्रत्येकमित्यन्ये, तेनैवानन्तानुबन्धिन्या उदयेऽपि देवत्वादि न विरुध्यते, एवं मानाद्योऽपि, वाचनान्तरे तु पूर्वं क्रोधमानसूत्राणि ततो मायासूत्राणि, तत्र क्रोधसूत्राणि 'चत्तारि राइओ पन्नत्ताओ, तं०–पव्वयराई पुढविराई रेणुराई जलराई, एवामेव चउव्विहे कोहे' इत्यादि मायासूत्राणीवाधीतानीति, फलसूत्रे अनुप्रविष्टः–तदुदयवर्त्तीति, शिलाविकारः शैलः स चासौ स्तम्भश्च–स्थाणुः शैलस्तम्भः, एवमन्येऽपि, नवरं, अस्थि दारु च प्रतीतं, तिनिशो–वृक्षविशेषस्तस्य लता–कम्बा तिनिशलता, सा चात्यन्तमृद्वीति, मानस्यापि शैलस्तम्भादिसमानता तद्वतो नमनाभावविशेषात् ज्ञेयेति, मानोऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिरूपः क्रमेण दृश्यः, तत्फलसूत्रं व्यक्तं, कृमिरागे वृद्धसम्प्रदायोऽयं–मनुष्यादीनां रुधिरं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते, ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणः छिद्रनिर्गता आसन्ना भ्रमन्तो निर्हारलाला मुञ्चन्ति ताः कृमिसूत्रं भण्यते, तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति, अन्ये भणन्ति–ये रुधिरे कृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे कञ्चिद् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति, स च रसः कृमिरागो भण्यते अनुत्तारीति, तत्र कृमीणां रागो–रञ्जकरसः कृमिरागस्तेन रक्तं कृमिरागरक्तम्, एवं सर्वत्र, नवरं कर्दमो–गोवाटादीनां खञ्जनं–दीपादीनां हरिद्रा प्रतीतैवेति, कृमिरागादिरक्तवस्त्रसमानता


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च लोभस्य अनन्तानुबन्ध्यादितद्भेदवतां जीवानां क्रमेण दृढहीनहीनतरहीनतमानुबन्धत्वात्, तथाहि–कृमिरागरक्तं वस्त्रं दग्धमपि न रागानुबन्धं मुञ्चति, तद्भस्मनोऽपि रक्तत्वाद्, एवं यो मृतोऽपि लोभानुबन्धं न मुञ्चति तस्याभिधीयते लोभः कृमिरागरक्तवस्त्रसमानोऽनन्तानुबन्धी चेति, एवं सर्वत्र भावना कार्येति, फलसूत्रं स्पष्टम्, इह कषायप्ररूपणागाथाः—"जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो । तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥ १ ॥ मायाऽवलेहिगोमुत्तिमेंढसिंगघणवंसिमूलसमा । लोभो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसारिच्छो ॥ २ ॥ पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुगामिणो कमसो । देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो भणिया ॥ ३ ॥" इति ॥ अनन्तरं कषायाः प्ररूपिताः, कषायैश्च संसारो भवतीति संसारस्वरूपमाह—

चउव्विहे संसारे पं० तं०—णेरतियसंसारे जाव देवसंसारे । चउव्विहे आउते पं० तं०—णेरतिआउते जाव देवाउते । चउव्विहे भवे पं० तं०—नेरतियभवे जाव देवभवे (सू० २९४) चउव्विहे आहारे पं० तं०—असणे पाणे खाइमे साइमे । चउव्विहे आहारे पं० तं०—उवक्खरसंपन्ने उवक्खडसंपन्ने सभावसंपन्ने परिजुसियसंपन्ने (सू० २९५)

'चउव्विहे' इत्यादि व्यक्तं, किन्तु संसरणं संसारः—मनुष्यादिपर्यायान्नारकादिपर्यायगमनमिति, नैरयिकप्रायोग्येष्वा-

१ जलरेणुपृथ्वीपर्वतराजीसदृशश्चतुर्विधः क्रोधः तिनिशलताकाष्ठास्थिकशैलस्तम्भोपमो मानः ॥ १ ॥ मायावलेखिकागोमूत्रैडकशृङ्गघनवंशमूलसमा लोभो हरिद्राखंजनकर्दमकृमिरागसदृशः ॥ २ ॥ पक्षचतुर्मासकसंवत्सरयावज्जीवानुगामिनः क्रमशः देवनरतिर्यङ्नारकगतिसाधनहेतवो भणिताः ॥ ३ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

युर्नामगोत्रादिषु कर्म्मसूदयगतेषु जीवो नैरयिक इति व्यपदिश्यते, उक्तं च—"नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ?, गोयमा!, नेरइए नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ" इति, ततो नैरयिकस्य संसरणम्—उत्पत्तिदेशगमनमपरापरावस्थागमनं वा नैरयिकसंसारः, अथवा संसरन्ति जीवा यस्मिन्नसौ संसारो—गतिचतुष्टयं, तत्र नैरयिकस्यानुभूयमानगतिलक्षणः परम्परया चतुर्गतिको वा संसारो नैरयिकसंसारः, एवमन्येऽपि ॥ उक्तरूपश्च संसार आयुषि सति भवतीति आयुःसूत्रं, तत्र एति च याति चेत्यायुः—कर्म्मविशेष इति, तत्र येन निरयभवे प्राणी ध्रियते तन्निरयायुरेवमन्यान्यपि, उक्तरूपं चायुर्भवे स्थितिं कारयतीति भवसूत्रं, कण्ठ्यं, केवलं भवनं भवः—उत्पत्तिर्निरये भवो निरयभवो मनुष्येषु मनुष्याणां वा भवो मनुष्यभवः, एवमन्यावपि। भवेषु च सर्वेष्वाहारका जीवाः इत्याहारसूत्रे, तत्राह्रियत इत्याहारः अश्यत इत्यशनम्—ओदनादि पीयत इति पानं—सौवीरादि खाद्यः प्रयोजनमस्येति खादिमं—फलवर्गादि स्वाद्यः प्रयोजनमस्येति स्वादिमं—ताम्बूलादि, उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करो—हिङ्ग्वादिस्तेन सम्पन्नो—युक्त उपस्करसम्पन्नः, तथा उपस्करणमुपस्कृतं—पाक इत्यर्थस्तेन सम्पन्न ओदनमण्डकादिः उपस्कृतसम्पन्नः पाठान्तरेण नो उपस्करसम्पन्नो—हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृत ओदनादिः, स्वभावेन—पाकं विना सम्पन्नः—सिद्धः द्राक्षादिः स्वभावसम्पन्नः, 'परिजुसिय'त्ति पर्युषितं—रात्रिपरिवसनं तेन सम्पन्नः पर्युषितसम्पन्न इडुरिकादिः, यतस्ताः पर्युषितकलनीकृताः अम्ल-

१ नैरयिको भदन्त! नैरयिकेषूत्पद्यते अनैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते?, गौतम! नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते न अनैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रसा भवन्ति, आरनालस्थिताम्लफलादिर्वेति ॥ अनन्तरोदिताः संसारादयो भावाः कर्म्मवतां भवन्तीति 'चउव्विहे बंधे' इत्यादि कर्म्मप्रकरणमारादेककसूत्रात्

चउव्विहे बंधे पं० तं०—पगतिबंधे ठितीबंधे अणुभावबंधे पदेसबंधे । चउव्विहे उवक्कमे पं० तं०—बंधणोवक्कमे उदीरणोवक्कमे उवसमणोवक्कमे विप्परिणामणोवक्कमे । बंधणोवक्कमे चउव्विहे पं० तं०—पगतिबंधणोवक्कमे ठितिबंधणोवक्कमे अणुभावबंधणोवक्कमे पदेसबंधणोवक्कमे । उदीरणोवक्कमे चउव्विहे पं० तं०—पगतीउदीरणोवक्कमे ठितीउदीरणोवक्कमे अणुभावउदीरणोवक्कमे पदेसउदीरणोवक्कमे । उवसमणोवक्कमे चउव्विहे पं० तं०—पगतिउवसामणोवक्कमे ठिति० अणु० पतेसुवसामणोवक्कमे । विप्परिणामणोवक्कमे चउव्विहे पं० तं०—पगति० ठिती० अणु० पतेसविप्प० । चउव्विहे अप्पाबहुए पं० तं०—पगतिअप्पाबहुए ठिति० अणु० पतेसप्पाबहुते । चउव्विहे संकमे पं० तं०—पगतिसंकमे ठिती० अणु० पएससंकमे । चउव्विहे णिधत्ते पं० तं०—पगतिणिधत्ते ठिती० अणु० पएसणिधत्ते । चउव्विहे णिकायिते पं० तं०—पगतिणिकायिते ठिति० अणु० पएसणिकायिते ( सू० २९६ )

प्रकटं चैतत्, नवरं सकषायत्वात् जीवस्य कर्म्मणो योग्यानां पुद्गलानां बन्धनम्–आदानं बन्धः, तत्र कर्म्मणः प्रकृतयः–अंशा भेदा ज्ञानावरणीयादयोऽष्टौ तासां प्रकृतेर्वा–अविशेषितस्य कर्म्मणो बन्धः प्रकृतिबन्धः, तथा स्थितिः–तासामेवावस्थानं जघन्यादिभेदभिन्नं तस्या बन्धो–निर्वर्त्तनं स्थितिबन्धः, तथा अनुभावो–विपाकः तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थस्तस्य बन्धोऽनुभावबन्धः, तथा जीवप्रदेशेषु कर्म्मप्रदेशानामनन्तानन्तानां प्रतिप्रकृति प्रतिनियतपरिमाणानां






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'बन्ध' शब्दस्य अर्थ एवं भेदा:

बन्धः—सम्बन्धनं प्रदेशबन्धः, परिमितपरिमाणगुडादिमोदकबन्धवदिति, एवञ्च मोदकदृष्टान्तं वर्णयन्ति वृद्धाः—यथा किल मोदकः कणिकागुडघृतकटुभाण्डादिद्रव्यबद्धः सन् कोऽपि वातहरः कोऽपि पित्तहरः कोऽपि कफहरः कोऽपि मारकः कोऽपि बुद्धिकरः कोऽपि व्यामोहकरः, एवं कर्म्मप्रकृतिः काचिज्ज्ञानमावृणोति काचिद्दर्शनं काचित् सुखदुःखादिवेदनमुत्पादयतीति, तथा तस्यैव मोदकस्य यथाऽविनाशभावेन कालनियमरूपा स्थितिर्भवति, एवञ्च कर्म्मणोऽपि तद्भावेन नियतकालावस्थानं स्थितिबन्धः, तथा तस्यैव मोदकस्य यथा स्निग्धमधुरादिरेकगुणद्विगुणादिभावेन रसो भवति, एवं कर्म्मणोऽपि देशसर्वघातिशुभाशुभतीव्रमन्दादिरनुभागबन्धः, तथा तस्यैव मोदकस्य यथा कणिकादिद्रव्याणां परिमाणवत्त्वं एवं कर्म्मणोऽपि पुद्गलानां प्रतिनियतप्रमाणता प्रदेशबन्ध इति । उपक्रम्यते—क्रियतेऽनेनेत्युपक्रमः—कर्मणो बद्धत्वोदीरितत्वादिना परिणमनहेतुर्जीवस्य शक्तिविशेषो योऽन्यत्र करणमिति रूढः, उपक्रमणं वोपक्रमो—बन्धनादीनामारम्भः, 'स्यादारम्भ उपक्रम' इति वचनादिति, तत्र बन्धनं—कर्म्मपुद्गलानां जीवप्रदेशानां च परस्परं सम्बन्धनं, इदं च सूत्रमात्रबद्धलोहशलाकासम्बन्धोपममवगन्तव्यं तस्योपक्रमः—उक्तार्थो बन्धनोपक्रमः, आत्मकलितावस्थस्य वा कर्म्मणो बद्धावस्थीकरणं बन्धनं तदेवोपक्रमो—वस्तुपरिकर्म्मरूपो बन्धनोपक्रमो, वस्तुपरिकर्म्मवस्तुविनाशरूपस्याप्युपक्रमस्याभिहितत्वादिति, एवमन्यत्रापि, नवरमप्राप्तकालफलानां कर्म्मणामुदये प्रवेशनमुदीरणा, उक्तं च—"जं करणेणोकड्डिय उदए दिज्जइ उदीरणा एसा । पगईठिइअणुभागप्पएसमूलुत्तरविभागा ॥ १ ॥" तथा उदयोदीरणानिधत्तनि-

१ यत्करणेनाकृष्योदये दीयत एषोदीरणा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशमूलोत्तरविभागाः ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'बन्ध' शब्दस्य अर्थ एवं भेदा:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२९६]

दीप अनुक्रम [३१५]



काचनाकरणानामयोग्यत्वेन कर्म्मणोऽवस्थापनमुपशमनेति, उक्तं च—"ओवट्टणउव्वट्टण संकमणाइं च तिन्नि करणाइं" इति, उपशमनायां सन्तीति प्रक्रमः, तथा विविधैः प्रकारैः कर्म्मणां सत्तोदयक्षयक्षयोपशमोद्वर्त्तनापवर्त्तनादिभिरेतद्रूपतयेत्यर्थः, गिरिसरिदुपलन्यायेन द्रव्यक्षेत्रादिभिर्वा करणविशेषेण वाऽवस्थान्तरापादनं विपरिणामना, इह च विपरिणामना बन्धनादिषु तदन्येष्वप्युदयादिष्वस्तीति सामान्यरूपत्वाद् भेदेनोक्तेति । बन्धनोपक्रमो—बन्धनकरणं चतुर्द्धा, तत्र प्रकृतिबन्धनस्योपक्रमो जीवपरिणामो योगरूपः, तस्य प्रकृतिबन्धहेतुत्वादिति, स्थितिबन्धनस्यापि स एव, नवरं, कषायरूपः, स्थितेः कषायहेतुकत्वादिति, अनुभागबन्धनोपक्रमोऽपि परिणाम एव, नवरं कषायरूपः, प्रदेशबन्धनोपक्रमस्तु स एव योगरूप इति, यत उक्तम्—"जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति, प्रकृत्यादिबन्धनानामारम्भा वा उपक्रमा इति, एवमन्यत्रापि । यन्मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा दलिकं वीर्यविशेषेणाकृष्योदये दीयते सा प्रकृत्युदीरणेति, वीर्यादेव चाप्राप्तोदयया स्थित्या सहाप्राप्तोदया स्थितिरनुभूयते सा स्थित्युदीरणेति, तथैव प्राप्तोदयेन रसेन सहाप्राप्तोदयो रसो यो वेद्यते साऽनुभागोदीरणेति, तथा प्राप्तोदयैर्नियतपरिमाणकर्म्मप्रदेशैः सहाप्राप्तोदयानां नियतपरिमाणानां कर्म्मप्रदेशानां यद्वेदनं सा प्रदेशोदीरणेति, इहापि कषाययोगरूपः परिणाम आरम्भो वोपक्रमार्थः, प्रकृत्युपशमनोपक्रमादयश्चत्वारोऽपि सामान्योपशमनोपक्रमानुसारेणावगन्तव्याः, प्रकृतिविपरिणामनोपक्रमादयोऽपि सामान्यविपरिणामनोपक्रमलक्षणानुसारेणावबोद्धव्याः, उपक्रमस्तु प्रकृत्यादित्वेन पुद्गलानां परिणमनसमर्थं जी-

१ उद्वर्त्तनापवर्त्तनसंक्रमणरूपाणि च त्रीणि करणानि ( देशोपशमनायां ). २ येनात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थिलनुभावौ कषायतः करोति ।



॥ २२१ ॥

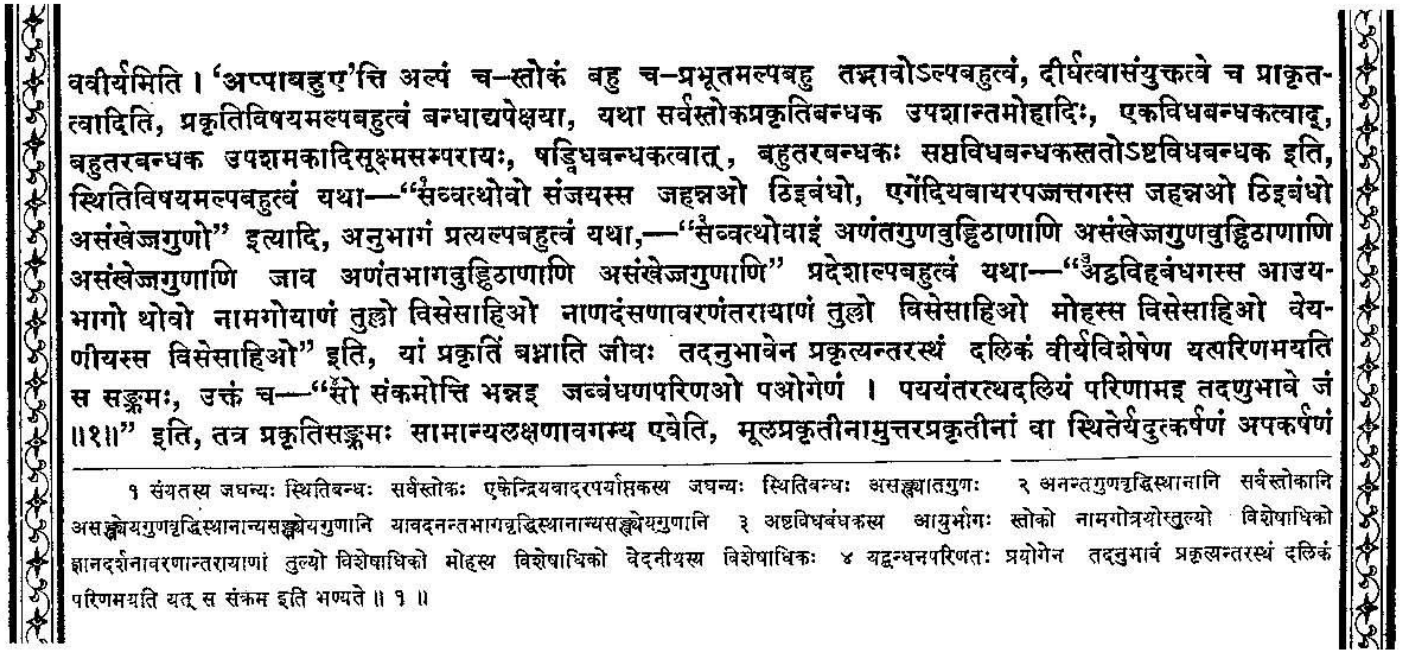
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध, उदय, उदिरणा, उपशमन, उद्वर्तन, प्रकृति-स्थिति आदि विषयस्य व्याख्या

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२९६]

दीप अनुक्रम [३१५]



ववीर्यमिति । 'अप्पाबहुए'त्ति अल्पं च-स्तोकं बहु च-प्रभूतमल्पबहु तद्भावोऽल्पबहुत्वं, दीर्घत्वासंयुक्तत्वे च प्राकृतत्वादिति, प्रकृतिविषयमल्पबहुत्वं बन्धाद्यपेक्षया, यथा सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धक उपशान्तमोहादिः, एकविधबन्धकत्वाद्, बहुतरबन्धक उपशमकादिसूक्ष्मसम्परायः, षड्विधबन्धकत्वात्, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकस्ततोऽष्टविधबन्धक इति, स्थितिविषयमल्पबहुत्वं यथा—"सव्वत्थोवो संजयस्स जहन्नओ ठिइबंधो, एगेंदियबायरपज्जत्तगस्स जहन्नओ ठिइबंधो असंखेज्जगुणो" इत्यादि, अनुभागं प्रत्यल्पबहुत्वं यथा,—"सव्वत्थोवाइं अणंतगुणवुड्ढिठाणाणि असंखेज्जगुणवुड्ढिठाणाणि असंखेज्जगुणाणि जाव अणंतभागवुड्ढिठाणाणि असंखेज्जगुणाणि" प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा—"अट्ठविहबंधगस्स आउयभागो थोवो नामगोयाणं तुल्लो विसेसाहिओ नाणदंसणावरणंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहिओ वेयणीयस्स विसेसाहिओ" इति, यां प्रकृतिं बध्नाति जीवः तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं वीर्यविशेषेण यत्परिणमयति स सङ्क्रमः, उक्तं च—"सो संकमोत्ति भन्नइ जब्बंधणपरिणओ पओगेणं । पययंतरत्थदलियं परिणामइ तदणुभावे जं ॥१॥" इति, तत्र प्रकृतिसङ्क्रमः सामान्यलक्षणावगम्य एवेति, मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा स्थितेर्यदुत्कर्षणं अपकर्षणं

१ संयतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वस्तोकः एकेन्द्रियबादरपर्याप्तकस्य जघन्यः स्थितिबन्धः असङ्ख्यातगुणः २ अनन्तगुणवृद्धिस्थानानि सर्वस्तोकानि असङ्ख्येयगुणवृद्धिस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि यावदनन्तभागवृद्धिस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि ३ अष्टविधबंधकस्य आयुर्भागः स्तोको नामगोत्रयोस्तुल्यो विशेषाधिको ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां तुल्यो विशेषाधिको मोहस्य विशेषाधिको वेदनीयस्य विशेषाधिकः ४ यद्बन्धनपरिणतः प्रयोगेन तदनुभावं प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति यत् स संक्रम इति भण्यते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध, उदय, उदिरणा, उपशमन, उद्वर्तन, प्रकृति-स्थिति आदि विषयस्य व्याख्या

वा प्रकृत्यन्तरस्थितौ वा नयनं स स्थितिसङ्क्रम इति, उक्तं च—"ठिईसंकमोत्ति वुच्चइ मूलुत्तरपगईओ उ जा हि ठिई । उव्वट्टिया व ओवट्टिया व पगई णिया वऽन्नं ॥ १ ॥" इति, अनुभागसंक्रमोऽप्येवमेव, यदाह—"[2]तत्थट्ठपयं उव्वट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा । अणुभागसंकमो एस अन्नपगइं णिया वावि ॥ १ ॥" इति, अट्ठपयंति—अनुभागसङ्क्रमस्वरूपनिर्द्धारणं, 'अविभाग'त्ति अनुभागाः 'निय'त्ति नीता इति । यत्कर्म्मद्रव्यमन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणाम्यते स प्रदेशसङ्क्रमः, उक्तञ्च—"[3]जं दलियमन्नपगइं णिज्जइ सो संकमो पएसस्स"इति, निधानं निहितं वा निधत्तं, भावे कर्म्मणि वा क्तप्रत्यये निपातनात्, उद्वर्त्तनापवर्त्तनावर्जितानां शेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्म्मणोऽवस्थापनमुच्यते, नितरां काचनं—बन्धनं निकाचितं—कर्म्मणः सर्वकरणानामयोग्यत्वेनावस्थापनं, उक्तञ्चोभयसंवादि—"[4]संकमणंपि निहत्तीएँ णत्थि सेसाणि वत्ति इयरस्स" इति, निकाचनाकरणस्येति, अथवा पूर्वबद्धस्य कर्म्मणस्तप्तसंमीलितलोहशलाकासम्बन्धसमानं निधत्तं, तप्तमिलितसंकुट्टितलोहशलाकासम्बन्धसमानं निकाचितमिति, प्रकृत्यादिविशेषस्तूभयत्रापि सामान्यलक्षणानुसारेण नेय इति, विशेषतो बन्धादिस्वरूपजिज्ञासुना कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहणिरनुसरणीयेति ॥ इहानन्तरमल्पबहुत्वमुक्तं, तत्रात्यन्तमल्पमेकं शेषं त्वपेक्षया बहु इत्यल्पबहुत्वाभिधायिन एककतिसर्वशब्दान् चतुःस्थानकेऽवतारयन् 'चत्तारी'त्यादि सूत्रत्रयमाह,

१ मूलोत्तरप्रकृतीनां या स्थितिस्तस्या उत्कर्षणमपकर्षणं प्रकृत्यन्तरस्थितावयनं वा स्थितिसंक्रम इत्युच्यते ॥ १ ॥ २ तत्रार्थपदं (स्वरूपं) उद्वर्त्तिता वा अपवर्त्तिता वा अविभागाः । अनुभागसंक्रम एषः अन्यप्रकृतिं नीता वाऽपि ॥ १ ॥ ३ यद्दलिकमन्यप्रकृतौ नीयते स प्रदेशस्य ४ निधत्तत्वे संक्रमणमपि नास्ति निकाचनस्य शेषाण्यपि ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध, उदय, उदिरणा, उपशमन, उद्वर्तन, प्रकृति-स्थिति आदि विषयस्य व्याख्या

चत्तारि एक्का पं० तं०—दविए एक्कते माउ उक्कते पज्जते इक्कते संगहे इक्कते (सू० २९७) चत्तारि कती पं० तं०—दवितकती माउयकती पज्जवकती संगहकती (सू० २९८) चत्तारि सव्वा पं० तं०—नामसव्वए ठवणसव्वए आएससव्वते निरवसेससव्वते (सू० २९९)

एकसङ्ख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि, तत्र द्रव्यमेवैककं द्रव्यैककं सचित्तादिभेदात् त्रिविधमिति, 'माउपएक्कए'त्ति मातृकापदैककम्—एकं मातृकापदं, तद्यथा—उप्पन्ने इ वेत्यादि, इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति, तद्यथा—उप्पन्ने इ वा विगए इ वा धुवे इ वत्ति, अमूनि च मातृकापदानीव अ आ इत्येवमादीनि सकलशब्दशास्त्रार्थव्यापारव्यापकत्वान्मातृकापदानीति, पर्यायैककः—एकः पर्यायः, पर्यायो विशेषो धर्म्म इत्यनर्थान्तरं, स चानादिष्टो वर्णादिरादिष्टः कृष्णादिरिति, सङ्ग्रहैककः शालिरिति, अयमर्थः—सङ्ग्रहः—समुदायस्तमाश्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तिः, तथा चैकोऽपि शालिः शालिरित्युच्यते, बहवोऽपि शालयः शालिरिति, लोके तथादर्शनादिति, क्वचित्पाठः 'दविए एक्कए' इत्यादि, तत्र द्रव्ये विषयभूते एकक इत्यादि व्याख्येयमिति। कतीति प्रश्नगर्भापरिच्छेदवत्सङ्ख्यावचनो बहुवचनान्तः, तत्र द्रव्याणि च तानि कति च द्रव्यकति कति द्रव्याणीत्यर्थः, द्रव्यविषयो वा कतिशब्दो द्रव्यकतिः, एवं मातृकापदादिष्वपि, नवरं सङ्ग्रहाः शालियवगोधूमा इत्यादि। नाम च तत्सर्वं च नामसर्वं सचेतनादेर्वा वस्तुनो यस्य सर्व्वमिति नाम तन्नामसर्वं नाम्ना सर्व्वं सर्वं इति वा नाम यस्येति विग्रहाद्—नामशब्दस्य च पूर्वनिपातः, तथा स्थापनया—सर्वमेतदितिकल्पनया अक्षादि द्रव्यं सर्वं स्थापनासर्वं स्थापनैव वा अक्षादिद्रव्यरूपा सर्व्वं स्थापना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्व्वं, आदेशनमादेशः—उपचारो व्यवहारः स च बहुतरे प्रधाने वा आदिश्यते देशेऽपि यथा विवक्षितं घृतमभिसमीक्ष्य बहुतरे भुक्ते स्तोके च शेषे उपचारः क्रियते—सर्व्वं घृतं भुक्तं, प्रधानेऽप्युपचारः यथा ग्रामप्रधानेषु गतेषु पुरुषेषु सर्व्वो ग्रामो गत इति व्यपदिश्यते इति, अत आदेशतः सर्वमादेशसर्व्वं उपचारसर्व्वमित्यर्थः, तथा निरवशेषतया—अपरिशेषव्यक्तिसमाश्रयेण सर्व्वं निरवशेषसर्व्वं, यथा—अनिमिषाः सर्व्वे देवाः, न हि देवव्यक्तिरनिमिषत्वं काचिद् व्यभिचरतीत्यर्थः, सर्वत्र ककारः स्वार्थिको द्रष्टव्यः । अनन्तरं सर्वं प्ररूपितं तत्प्रस्तावात् सर्वमनुष्यक्षेत्रपर्यन्तवर्त्तिनि पर्व्वते सर्वासु तिर्यग्दिक्षु कूटानि प्ररूपयन्नाह—

माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स चउदिसिं चत्तारि कूडा पं० तं०—रयणे रतणुच्चते सव्वरयणे रतणसंचये (सू० ३००) जंबुद्दीवे २ भरहेरवतेसु वासेसु तीताते उस्सप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो हुत्था जंबूद्दीवे २ भरहेरवते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए समाए जहण्णपए णं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो हुत्था, जंबुद्दीवे २ भरहेरवएसु वासेसु आगमेस्साते उस्सप्पिणीते सुसमसुसमाते समाए चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो भविस्सइ (सू० ३०१) जंबूद्दीवे २ देवकुरुउत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मभूमीओ पं० तं०—हेमवते हेरन्नवते हरिवस्से रम्मगवासे, चत्तारि वट्टवेयड्ढपव्वता पं० तं०—सद्दावई वियडावई गंधावई मालवंतपरियाते, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढितीया जाव पलिओवमट्ठितीता परिवसंति, तं०—साती पभासे अरुणे पउमे, जंबूद्दीवे २ महाविदेहे वासे चउव्विहे पं० तं०—पुव्वविदेहे अवरविदेहे देवकुरा उत्तरकुरा, सव्वेऽवि णं णिसढणीलवंतवासहरपव्वता चत्तारि जोयणसयाइं उड्ढं



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उच्चत्तेणं चत्तारि गाउयसयाइं उव्वेहेणं पं०, जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं सीताए महानदीए उत्तरे कूले चत्तारि वक्खारपव्वया पं० तं०—चित्तकूडे पम्हकूडे णलिणकूडे एगसेले, जंबू० मंदर० पुर० सीताए महानदीए दाहिणकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पं० तं०—तिकूडे वेसमणकूडे अंजणे मातंजणे, जंबू० मंदर० पच्चत्थिमेणं सीओदाए महानतीए दाहिणकूले चत्तारि वक्खारपव्वता पं० तं०—अंकावती पम्हावती आसीविसे सुहावहे, जंबू० मंदर० पच्च० सीओदाए महाणतीते उत्तरकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पं० तं०—चंदपव्वते सूरपव्वते देवपव्वते णागपव्वते, जंबू० मंदरस्स पव्वयस्स चउसु विदिसासु चत्तारि वक्खारपव्वया पं० तं०—सोमणसे विज्जुप्पभे गंधमायणे मालवंते, जंबूदीवे २ महाविदेहे वासे जहन्नपते चत्तारि अरहंता चत्तारि चक्कवट्टी चत्तारि बलदेवा चत्तारि वासुदेवा उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा, जंबूदीवे २ मंदरपव्वते चत्तारि वणा पं० तं०—भद्दसालवणे नंदणवणे सोमणसवणे पंडगवणे, जंबू० मन्दरे पव्वए पंडगवणे चत्तारि अभिसेगसिलाओ पं० तं०—पंडुकंबलसिला अइपंडुकंबलसिला रत्तकंबलसिला अतिरत्तकंबलसिला, मंदरचूलिया णं उवरिं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं पन्नत्ता, एवं धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धेवि कालं आदिं करेत्ता जाव मंदरचूलियत्ति, एवं जाव पुक्खरवरदीवपच्चत्थिमद्धे जाव मंदरचूलियत्ति—जंबूदीवगआवस्सगं तु कालाओ चूलिया जाव । धायइसंडे पुक्खरवरे य पुव्वावरे पासे ॥ १ ॥ (सू० ३०२)

**'माणुसुत्तरस्से'त्यादि स्फुटं, किन्तु 'चउदिसि'न्ति चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक् तस्मिंश्चतुर्दिशि, अनुस्वारः प्राकृतत्वादिति, कूटानि–शिखराणि, इह च दिग्ग्रहणेऽपि विदिक्ष्विति द्रष्टव्यं, तत्र दक्षिणपूर्वस्यां दिशि रत्नकूटं, गरु-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३०२]

दीप अनुक्रम [३२२]



डस्य वेणुदेवस्य निवासभूतं, तथा दक्षिणापरस्यां दिशि रत्नोच्चयकूटं वेलम्बसुखदमित्यपरनामकं वेलम्बस्य वायुकुमारेन्द्रस्य सम्बन्धि, तथा पूर्वोत्तरस्यां दिशि सर्वरत्नकूटं वेणुदालिसुपर्णकुमारेन्द्रस्य, तथा अपरोत्तरस्यां रत्नसञ्चयकूटं प्रभञ्जनापरनामकं प्रभञ्जनवायुकुमारेन्द्रस्येति, एवं चैतद् व्याख्यायते द्वीपसागरप्रज्ञप्तिसङ्ग्रहण्यनुसारेण, यतस्तत्रोक्तम्—"[1]दक्खिणपुव्वेण रयणकूडं गरुलस्स वेणुदेवस्स । सव्वरयणं च पुव्वुत्तरेण तं वेणुदालिस्स ॥ १ ॥ रयणस्स अवरपासे तिन्निवि समइच्छिऊण कूडाइं । कूडं वेलंबस्स उ विलंबसुहयं सया होइ ॥ २ ॥ सव्वरयणस्स अवरेण तिन्नि समइच्छिऊण कूडाइं । कूडं पभंजणस्स उ पभंजणं आढियं होइ ॥ ३ ॥" इति, इह चतुःस्थानकानुरोधेन चत्वार्युक्तानि, अन्यथा अन्यान्यपि द्वादश सन्ति, पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु त्रीणि त्रीणि, द्वादशापि चैकैकदेवाधिष्ठितानीति, उक्तं च—"[2]पुव्वेण तिन्नि कूडा दाहिणओ तिण्णि तिण्णि अवरेणं । उत्तरओ तिन्नि भवे चउद्दिसिं माणुसनगस्स ॥ १ ॥" इति । अनन्तरं मानुषोत्तरे कूटद्रव्याणि प्ररूपितानि, अधुना तेनावृतक्षेत्रद्रव्याणां चतुःस्थानकावतारं 'जंबूदीवेत्यादिना चत्तारि मंदरचूलियाओ' एतदन्तेन ग्रन्थेनाह—व्यक्तश्चायं, नवरं, चित्रकूटादीनां वक्षारपर्वतानां षोडशानामिदं स्वरूपम्—"[3]पंचसए बाणउए सोलस य सहस्स दो कलाओ य । विजया १ वक्खारं २ तरनईण ३ तह वणमुहायामो ४ ॥ १ ॥"

१ दक्षिणपूर्वस्यां रत्नकूटं गरुडस्य वेणुदेवस्य सर्वरत्नं च पूर्वोत्तरस्यां तद्वेणुदालिनः ॥ १ ॥ रत्नस्यापरपार्श्वे त्रीण्यपि समतिक्रम्य कूटानि कूटं वेलंबस्य तु विलंबसुखदं सदा भवति ॥ २ ॥ सर्वरत्नस्यापरस्यां त्रीणि कूटानि समतिक्रम्य प्रभंजनस्य प्रभंजनं कूटं आढ्यं भवति ॥ ३ ॥ २ पूर्वस्यां त्रीणि कूटानि दक्षिणस्यां त्रीणि अपरस्यां त्रीणि उत्तरस्यां त्रीणि भवेयुश्चतसृषु दिक्षु मानुषनगस्य ॥ १ ॥ ३ द्विनवत्यधिकपंचशतानि षोडश सहस्राणि द्वे च कले विजया वक्षस्कारा अन्तर्नैद्यः तथा वनमुखानि आयामेन ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति, तथा—"[1]जत्तो वासहरगिरी तत्तो जोयणसयं समवगाढा । चत्तारि जोयणसए उव्विद्धा सव्वरयणमया ॥ १ ॥ जत्तो पुण सलिलाओ तत्तो पंचसयगाउउव्वेहो । पंचेव जोयणसए उव्विद्धा आसखंधणिभा ॥ २ ॥" इति, विष्कम्भश्चैषामेवम्—"विजयाणं विक्खंभो बावीससयाइं तेरसहियाइं । पंचसए वक्खारा पणुवीससयं च सलिलाओ ॥ १ ॥" इति ॥ पद्यते—गम्यते इति पदं—सङ्ख्यास्थानं तच्चानेकधेति जघन्यं—सर्व्वहीनं पदं जघन्यपदं तत्र विचार्ये सत्यवश्यंभावेन चत्वारोऽर्हदादय इति ॥ भूम्यां भद्रशालवनं मेखलायुगले च नन्दनसौमनसे शिखरे पण्डकवनमिति, अत्र गाथाः—"[2]बावीससहस्साइं पुव्वावरमेरुभद्दसालवणं । अड्ढाइज्जसया उण दाहिणपासे य उत्तरओ ॥ १ ॥ पंचेव जोयणसए उड्ढं गंतूण पंचसयपिहुलं । नंदणवणं सुमेरुं परिक्खिवित्ता ठियं रम्मं ॥ २ ॥ बासट्ठिसहस्साइं पंचेव सयाइं नंदणवणाओ । उड्ढं गंतूण वणं सोमणसं नंदणसरिच्छं ॥ ३ ॥ सोमणसाओ तीसं छच्च सहस्से विलग्गिऊण गिरिं । विमलजलकुंडगहणं हवइ वणं पंडगं सिहरे ॥ ४ ॥ चत्तारि जोयणसया चउणउया चक्कवालओ रुंदं । इगतीस जोयणसया बावट्ठी परिरओ तस्स ॥ ५ ॥" इति, तीर्थकराणामभिषेकार्थाः शिला अभिषेकशिलाः चूलिकायाः पूर्वदक्षिणा-

१ यतो वर्षधरगिरिस्ततो योजनशतं समवगाढाः चतुर्योजनशतान्युद्विद्धाः सर्वरत्नमयाः ॥ १ ॥ यतः पुनः सलिलाः ततः पंचशतगव्यूतान्युद्वेधः पंचैव योजनशतान्युद्विद्धा अश्वस्कन्धनिभाः ॥ २ ॥ २ विजयानां विष्कम्भो त्रयोदशाधिकानि द्वात्रिंशतिशतानि वक्षस्काराणां पंचशतानि सलिलानां पंचविंशत्यधिकं शतं ॥ १ ॥ ३ मेरोः पूर्वापरयोर्द्वात्रिंशतिः सहस्राणि भद्रशालवनं दक्षिणोत्तरपार्श्वयोरर्द्धतृतीयशतानि पुनः ॥ १ ॥ पंचैव योजनशतान्यूर्ध्वं गत्वा पंचयोजनशतपृथुलं नंदनं सुमेरुं परिक्षिप्य स्थितं रम्यं ॥ २ ॥ नन्दनवनादूर्ध्वं द्वाषष्टिशतिः सहस्राणि पंचैव शतानि गत्वा नन्दनवनसदृशं सौमनसं वनं ॥ ३ ॥ सौमनसात्षट्त्रिंशत्सहस्राणि गत्वा गिरौ विमलजलकुंडगहनं पाण्डकं वनं भवति शिखरे ॥ ४ ॥ चतुर्नवत्यधिकचतुःशतानि चक्रवालतया विस्तीर्णं द्विषष्ट्यधिकैकत्रिंशच्छतानि तस्य परिरयः ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३०२]

दीप अनुक्रम [३२२]



परोत्तरासु दिक्षु क्रमेणावगम्या इति, 'उवरिं'ति अग्रे 'विक्खंभेणं'ति विस्तरेणेति यथा 'जंबूदीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु' इत्यादिभिः सूत्रैः कालादयश्चूलिकान्ता अभिहिताः एवं धातकीखण्डस्य पूर्वार्द्धे पश्चिमार्द्धे पुष्करार्द्धस्यापि पूर्वार्द्धे पश्चिमार्द्धे च वाच्याः, एकमेरुसम्बद्धवक्तव्यतायाः चतुर्ष्वप्यन्येषु समानत्वाद्, एतदेवाह—'एव'मित्यादि, अमुमेवातिदेशं सङ्ग्रहगाथया आह—'जंबूदीवे'त्यादि, जंबुद्वीपस्येदं जम्बूद्वीपकं तं वा गच्छतीति जम्बूद्वीपगं, जम्बूद्वीपे यदिति क्वचित्पाठः, अवश्यंभावित्वाद् वाच्यत्वाद्वाऽऽवश्यकं जम्बूद्वीपकावश्यकं जम्बूद्वीपगावश्यकं वा वस्तुजातं, तुः पूरणे, किमादि किमन्तं चेत्याह—कालात् सुषमसुषमालक्षणादारभ्य चूलिकां—मंदरचूलिकां यावत् यत्तदिति गम्यते धातकीखण्डे पुष्करवरे च द्वीपे यौ पूर्वापरौ पार्श्वौ प्रत्येकं पूर्वार्द्धमपरार्द्धं च तयोः पूर्वापरेषु वर्षेषु वा—क्षेत्रेष्वन्यूनाधिकं द्रष्टव्यमिति शेष इति ॥

जंबूदीवस्स णं दीवस्स चत्तारि दारा पं० तं०—विजये वेजयंते जयंते अपराजिते, ते णं दारा चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं तावतितं चेव पवेसेणं पं०, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीता परिवसंति विजते वेजयंते जयंते अपराजिते (सू० ३०३) जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं तिन्नि २ जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—एगूरुयदीवे आभासियदीवे वेसाणितदीवे णंगोलियदीवे, तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति, तं०—एगूरुता आभासिता वेसाणिता णंगोलिया, तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं चत्तारि २ जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—हयकन्नदीवे गयकन्नदीवे गोकन्नदीवे संकुलिकन्नदीवे, तेसु णं दीवेसु चउव्विधा मणुस्सा परिवसंति तं०—हयकन्ना गयकन्ना गोकन्ना संकुलिकन्ना, तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं पंच २ जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—आयंसमुहदीवे मेंढमुहदीवे अओमुहदीवे गोमुहदीवे, तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा भाणियव्वा, तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं छ छ जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—आसमुहदीवे हत्थिमुहदीवे सीहमुहदीवे वग्घमुहदीवे, तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा, तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं सत्त सत्त जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—आसकन्नदीवे हत्थिकन्नदीवे अकन्नदीवे कन्नपाउरणदीवे, तेसु णं दीवेसु मणुया भाणियव्वा, तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं अट्ठट्ठ जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—उक्कामुहदीवे मेहमुहदीवे विज्जुमुहदीवे विज्जुदंतदीवे, तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा, तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं णव णव जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—घणदंतदीवे लट्ठदंतदीवे गूढदंतदीवे, सुद्धदंतदीवे, तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति, तं०—घणदंता लट्ठदंता गूढदंता सुद्धदंता, जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं तिन्नि २ जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पं० तं०—एगूरुयदीवे सेसं तदेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव सुद्धदंता (सू० ३०४) जंबूदीवस्स णं दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेतितंताओ चउदिसिं लवणसमुद्दं पंचाणउइ जोयणसहस्साइं ओगाहेत्ता एत्थ णं महतिमहालता महालंजरसंठाणसंठिता चत्तारि महापायाला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३०५]

दीप अनुक्रम [३२५]



पं० तं०—वलतामुहे केउते जूवए ईसरे, एत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीता परिवसंति, तं०—काले महाकाले वेलंबे पभंजणे, जंबूदीवस्स णं दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेतितंताओ चउद्दिसिं लवणसमुद्दं बायालीसं २ जोयणसहस्साइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चउण्हं वेलंधरनागराईणं चत्तारि आवासपव्वता पं० तं०—गोथूभे उदयभासे संखे दगसीमे, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीता परिवसंति तं०—गोथूभे सिवए संखे मणोसिलाते, जंबूदीवस्स णं दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं बायालीसं २ जोयणसहस्साइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चउण्हं अणुवेलंधरणागरातीणं चत्तारि आवासपव्वता पं० तं०—ककोडए विज्जुप्पभे केलासे अरुणप्पभे, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीता परिवसंति, तं०—ककोडए कद्दमए केलासे अरुणप्पभे, लवणे णं समुद्दे णं चत्तारि चंदा पभासिंसु वा पभासंति वा पभासिस्संति वा, चत्तारि सूरिता तविंसु वा तवंति वा तविस्संति वा, चत्तारि कत्तियाओ जाव चत्तारि भरणीओ, चत्तारि अग्गी जाव चत्तारि जमा, चत्तारि अंगारा जाव चत्तारि भावकेऊ, लवणस्स णं समुद्दस्स चत्तारि दारा पं० तं०—विजए विजयंते जयंते अपराजिते, ते णं दारा णं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं तावतितं चेव पवेसेणं पं०, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति—विजये वेजयंते जयंते अपराजिए (सू० ३०५) धायइसंडे दीवे चत्तारि जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पं०, जंबूदीवस्स णं दीवस्स बहिया चत्तारि भरहाइं चत्तारि एरवयाइं, एवं जहा सदुद्देसते तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव चत्तारि मंदरा चत्तारि मन्दरचूलिआओ (सू० ३०६)



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विजयादीनि क्रमेण पूर्वादिदिक्षु विष्कम्भो–द्वारशाखयोरन्तरं प्रवेशः–कुड्यस्थूलत्वमष्ट योजनान्युच्चमिति, उक्तं च—"[1]चउजोयणविच्छिन्ना अट्ठेव य जोयणाणि उव्विद्धा। उभओवि कोसकोसं कुड्डा बाहल्लओ तेसिं ॥ १ ॥" इति, क्रोशं शाखाबाहल्यमित्यर्थः, "पलिओवमट्ठिईया सुरगणपरिवारिया सदेवीया। एएसु दारनामा वसंति देवा महिड्ढीया ॥२॥" इति, 'चुल्लहिमवंतस्स'त्ति महाहिमवदपेक्षया लघोर्हिमवतः, तस्य हि प्राग्भागापरभागयोः प्रत्येकं शाखाद्वयमस्तीत्युच्यते 'चउसु विदिसासु' विदिक्षु पूर्वोत्तराद्यासु लवणसमुद्रं त्रीणि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य–उल्लङ्घ्य ये शाखाविभागा वर्त्तन्ते 'एत्थ'त्ति एतेषु शाखाविभागेषु अन्तरे–मध्ये समुद्रस्य द्वीपाः, अथवा अन्तरं–परस्परविभागस्तत्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः, तत्र पूर्वोत्तरायामेकोरु[च]काभिधानो योजनशतत्रयायामविष्कम्भो द्वीपः, एवमाभाषिकवैषाणिकलाङ्गूलिकद्वीपा अपि क्रमेणाग्नेयीनैऋतीवायव्यास्विति, चतुर्विधा इति समुदायापेक्षया न त्वेकैकस्मिन्निति, अतः क्रमेणैते योज्याः, द्वीपनामतः पुरुषाणां नामान्येव, ते तु सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरा दर्शने मनोरमाः स्वरूपतो, नैकोरुचकादय एवेति, तथा एतेभ्य एव चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य प्रतिविदिक् चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा द्वितीयाश्चत्वार एव, एवं येषां यावदन्तरं तेषां तावदेवायामविष्कम्भप्रमाणं यावत्सप्तमानां नवशतान्यन्तरं तावदेव च तत्प्रमाणमिति, सर्वेऽप्यष्टाविंशतिरेते, एतन्मनुष्यास्तु युग्मप्रसवाः पल्योपमासङ्ख्येयभागायुषोऽष्टधनुःशतोच्चाः, तथैरावतक्षेत्रविभाग-

१ योजनचतुष्कं विस्तीर्णा अष्टयोजनोद्वेधा उभयतोऽपि क्रोशकोशं कुड्या बाहल्यतस्तयोः ॥ १ ॥ पल्योपमस्थितिकाः सुरगणपरिवृताः सदेवीकाः एतेषु द्वारनामानो वसन्ति देवा महर्द्धिकाः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारिणः शिखरिणोऽप्येवमेव पूर्वोत्तरादिविदिक्षु क्रमेणैतन्नामिकैवान्तरद्वीपानामष्टाविंशतिरिति, अन्तरद्वीपप्रकरणार्थसङ्ग्रहगाथाः—"[1]चुल्लहिमवंत पुव्वावरेण विदिसासु सागरं तिसए । गंतूणंतरदीवा तिन्नि सए होंति विच्छिन्ना ॥ १ ॥ अउणावन्ननवसए किंचूणे परिहि तेसिमे नामा । एगूरुगआभासिय वेसाणी चेव नंगूली ॥ २ ॥ एएसिं दीवाणं परओ चत्तारि जोयणसयाइं । ओगाहिऊण लवणं सपडिदिसिं चउसयपमाणा ॥ ३ ॥ चत्तारंतरदीवा हयगयगोकन्नसंकुलीकण्णा । एवं पंचसयाइं छसत्तअट्ठेव नव चेव ॥ ४ ॥ ओगाहिऊण लवणं विक्खंभोगाहसरिसया भणिया । चउरो चउरो दीवा इमेहिं णामेहिं णेयव्वा ॥ ५ ॥ आयंसगमेंढमुहा अओमुहा गोमुहा य चउरेते । अस्समुहा हत्थिमुहा सीहमुहा चेव वग्घमुहा ॥ ६ ॥ तत्तो अ अस्सकन्ना हत्थियकन्ना अकन्नपाउरणा । उक्कामुहमेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥ घणदंत लट्ठदंता निगूढदंता य सुद्धदंता य । वासहरे सिहरंमिवि एवं चिय अट्ठवीसावि ॥ ८ ॥ अंतरदीवेसु नरा धणुसयअट्ठूसिया सया मुइया । पालेंति मिहुणधम्मं पल्लस्स असंखभागाऊ ॥ ९ ॥ चउसट्ठि पिट्ठिकरंडयाणि

[1] क्षुल्लहिमवत्पूर्वापरयोर्विदिक्षु त्रिशतीं सागरं गत्वा द्वीपास्त्रिशतविस्तीर्णा भवन्ति ॥ १ ॥ एकोनपंचाशदधिकं नवशतं किंचिदूनं परिधिः तेषामिमानि नामानि एकोरुक आभाषिको वैषाणी लांगुली चैव ॥ २ ॥ एतेषां द्वीपानां परतश्चत्वारि योजनशतानि अवगाह्य लवणं सप्रतिदिशि चतुःशतप्रमाणाः ॥ ३ ॥ चत्वारोऽन्तर्द्वीपा हयगजगोकर्णशष्कुलीकर्णाः एते पंचशतानि षट्सप्ताष्ट नव चैव ॥ ४ ॥ लवणमवगाह्य विष्कम्भावगाहसदृशाः भणिताः चत्वारश्चत्वारो द्वीपा इमैर्नामभिर्ज्ञातव्याः ॥ ५ ॥ आदर्शकमेंढमुखायोमुखा गोमुखश्च चत्वार एते अश्वमुखो हस्तिमुखः सिंहमुखश्चैव व्याघ्रमुखः ॥ ६ ॥ ततश्चाश्वकर्णः हस्तिकर्णीकर्णकर्णप्रावरणाः उल्कामुखः मेघमुखः विद्युन्मुखो विद्युद्दन्तश्च ॥ ७ ॥ घनदंतो लष्टदन्तः निगूढदन्तश्च शुद्धदन्तश्च शिखरिण्यपि वर्षधरे एवमेव अष्टाविंशतिरपि ॥ ८ ॥ अन्तर्द्वीपेषु नराः धनुःशताष्टोच्छ्रिताः सदा मुदिताः पालयन्ति मिथुनकधर्मं पल्यासङ्ख्यभागायुषः ॥ ९ ॥ चतुःषष्टिः पृष्ठकरण्डकानि





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मणुयाणऽवच्चपालणया । अउणासीइं तु दिणा चउत्थभत्तेण आहारो ॥ १० ॥" इति ॥ 'एत्थ णं'ति मध्यमेषु दशसु योजनसहस्रेषु महामहान्त इति वक्तव्ये समयभाषया 'महइमहालया' इत्युक्तम्, महच्च तदरञ्जरं च अरंजरं–उदकुम्भ इत्यर्थः महारञ्जरं तस्य संस्थानेन संस्थिता ये ते तथा, तदाकारा इत्यर्थः, महान्तस्तदन्यक्षुल्लकव्यवच्छेदेन पातालमिवागाधत्वात् गम्भीरत्वात्पातालाः पातालव्यवस्थितत्वाद्वा पातालाः महान्तश्च ते पातालाश्चेति महापातालाः, वडवामुखः केतुको यूपक ईश्वरश्चेति, क्रमेण पूर्वादिदिक्ष्वितति, एते च मुखे मूले च दश सहस्राणि योजनानां, मध्ये उच्चैस्त्वेन च लक्षमिति, एषामुपरितनभागे जलमेव मध्ये वायुजले मूले वायुरेवेति, एतन्निवासिनो देवाः वायुकुमाराः कालादय इति, इह गाथाः—"[१]वेणनउइ सहस्साइं ओगाहित्ताण चउद्दिसिं लवणं । चउरोऽलंजरसंठाणसंठिया होंति पायाला ॥ १ ॥ वलयामुह केऊए जूयग तह ईस्सरे य बोद्धव्वे । सव्ववइरामयाणं कुड्डा एएसिं दससइया ॥ २ ॥ जोयणसहस्सदसगं मूले उवरिं च होंति विच्छिन्ना । मज्झे य सयसहस्सं तत्तियमेत्तं च ओगाढा ॥ ३ ॥ पलिओवमठिईया एएसिं अहिवई सुरा इणमो । काले य महाकाले वेलंब पभंजणे चेव ॥ ४ ॥ अन्नेवि य पाताला खुड्डालंजरगसंठिया

---

१ मनुष्याः एकोनाशीतिं यावदपत्यपालनादिनानि आहारश्चतुर्थभक्तेन ॥ १० ॥ २ चतुर्दिशि लवणं पंचनवतिसहस्राण्यवगाह्य चत्वारोऽलंजरसंस्थानसंस्थिताः पाताला भवन्ति ॥ १ ॥ वलयमुखः केतुकः यूपकस्तथा ईश्वरश्च बोद्धव्याः सर्वे वज्रमयाः कुड्या एषां दशशतानि ॥ २ ॥ दशसहस्रयोजनानि मूले उपरि च विस्तीर्णा भवन्ति मध्ये शतसहस्रं तावन्मात्रं चावगाढाः ॥ ३ ॥ पल्योपमस्थितिका एतेषामधिपतिसुरा एते कालश्च महाकालः वेलंबः प्रभंजनश्चैव ॥ ४ ॥ अन्येऽपि च क्षुल्लकालंजरसंस्थिता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३०६]

दीप अनुक्रम [३२६]

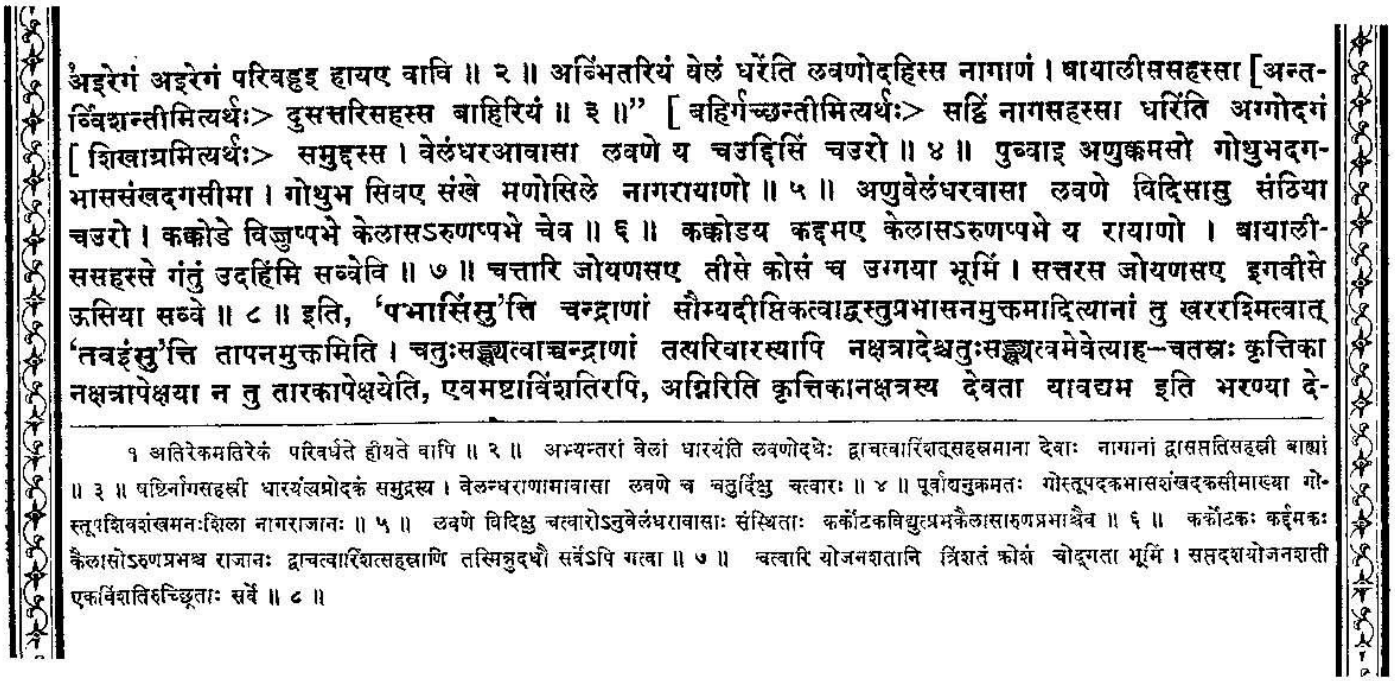


लवणे । अट्ठसया चुलसीया सत्त सहस्सा य सव्वेवि ॥ ५ ॥ जोयणसयविच्छिन्ना मूलुवरिं दस सयाणि मज्झंमि । ओगाढा य सहस्सं दस जोयणिया य-सिं कुड्डा ॥ ६ ॥ पायालाण विभागा सव्वाणवि तिन्नि तिन्नि बोद्धव्वा । हेट्ठिमभागे वाऊ मज्झे वाऊ य उदयं च ॥ ७ ॥ उवरिं उदगं भणियं पढमगबीएसु वाउसंखुभिओ । वामे[वमतीत्यर्थः>, उदगं तेण य परिवड्ढइ जलनिही खुहिओ ॥ ८ ॥ परिसंठियंमि पवणे पुणरवि उदगं तमेव संठाणं। वच्चेइ तेण उदही परिहायइणुक्कमेणेवं ॥ ९ ॥" इति, वेलां–लवणसमुद्रशिखामन्तर्विशन्तीं बहिर्वाऽऽयान्तीमग्रशिखां च धारयन्तीति संज्ञात्वाद्वेलंधरास्ते च ते नागराजाश्च–नागकुमारवराः वेलंधरनागराजास्तेषामावासपर्वताः पूर्वादिदिक्षु क्रमेण गोस्तूपादयः, विदिक्षु–पूर्वोत्तरादिषु वेलंधराणां पश्चाद्वक्तव्येन नागराजा अनुवेलंधरनागराजाः, वेलंधरवक्तव्यतागाथाः—"दसजोयणसहस्सा लवणसिहा चक्कवालओ रुंदा । सोलससहस्सउच्चा सहस्समेगं तु ओगाढा ॥ १ ॥ [समाद् भूभागादिति भावः> देसूणमद्धजोयण लवणसिहोवरि दगं तु कालदुगे । [दिवा रात्रौ चेत्यर्थः]>,

१ लवणे पातालाः सन्ति ते सर्वेऽपि सप्तसहस्राष्टशतचतुरशीतिमिताः ॥ ५ ॥ योजनशतविस्तीर्णा मूले उपरि च दश शतानि मध्ये अवगाढाश्च सहस्रं दश योजनानि (योजनमाना)भित्तिः ॥ ६ ॥ सर्वेषामपि पातालानां त्रयस्त्रयो भागा बोद्धव्याः अधस्तनभागे वायुर्मध्ये वायुरुदकं च ॥ ७ ॥ उपरि उदकं भणितं प्रथमद्वितीययोः संक्षुभितो वायुरुदकं वमति तेन क्षुभितो जलनिधिः परिवर्द्धते ॥ ८ ॥ पवने परिसंस्थिते पुनरप्युदकं तत्संस्थानमेव गच्छति तेनोदधिः परिहीयतेऽनुक्रमेणैवं ॥ ९ ॥ २ लवणशिखा दशयोजनसहस्रमाना चक्रवालतो विस्तीर्णा षोडशसहस्रोच्चा एकं सहस्रं त्ववगाढा ॥ १ ॥ दिवा रात्रौ च देशोनमर्द्धयोजनं लवणशिखोपरि



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



अइरेगं अइरेगं परिवड्ढइ हायए वावि ॥ २ ॥ अब्भितरियं वेलं धरेंति लवणोदहिस्स नागाणं । बायालीससहस्सा [अन्तर्विंशन्तीमित्यर्थः> दुसत्तरिसहस्स बाहिरियं ॥ ३ ॥" [ बहिर्गच्छन्तीमित्यर्थः> सट्ठिं नागसहस्सा धरिंति अग्गोदगं [ शिखाग्रमित्यर्थः> समुद्दस्स । वेलंधरआवासा लवणे य चउद्दिसिं चउरो ॥ ४ ॥ पुव्वाइ अणुक्कमसो गोथुभदगभाससंखदगसीमा । गोथुभ सिवए संखे मणोसिले नागरायाणो ॥ ५ ॥ अणुवेलंधरवासा लवणे विदिसासु संठिया चउरो । कक्कोडे विज्जुप्पभे केलासऽरुणप्पभे चेव ॥ ६ ॥ कक्कोडय कद्दमए केलासऽरुणप्पभे य रायाणो । बायालीससहस्से गंतुं उदहिंमि सव्वेवि ॥ ७ ॥ चत्तारि जोयणसए तीसे कोसं च उग्गया भूमिं । सत्तरस जोयणसए इगवीसे ऊसिया सव्वे ॥ ८ ॥ इति, 'पभासिंसु'त्ति चन्द्राणां सौम्यदीप्तिकत्वाद्वस्तुप्रभासनमुक्तमादित्यानां तु खररश्मित्वात् 'तवइंसु'त्ति तापनमुक्तमिति । चतुःसङ्ख्यत्वाच्चन्द्राणां तत्परिवारस्यापि नक्षत्रादेश्चतुःसङ्ख्यत्वमेवेत्याह–चतस्रः कृत्तिका नक्षत्रापेक्षया न तु तारकापेक्षयेति, एवमष्टाविंशतिरपि, अग्निरिति कृत्तिकानक्षत्रस्य देवता यावद्यम इति भरण्या दे-

१ अतिरेकमतिरेकं परिवर्धते हीयते वापि ॥ २ ॥ अभ्यन्तरां वेलां धारयंति लवणोदधेः द्वाचत्वारिंशत्सहस्रमाना देवाः नागानां द्वासप्ततिसहस्री बाह्यां ॥ ३ ॥ षष्टिर्नागसहस्री धारयंत्यग्रोदकं समुद्रस्य । वेलन्धराणामावासा लवणे च चतुर्दिक्षु चत्वारः ॥ ४ ॥ पूर्वायनुक्रमतः गोस्तूपदकभाससंखदकसीमाख्या गोस्तूपशिवशंखमनःशिला नागराजानः ॥ ५ ॥ लवणे विदिक्षु चत्वारोऽनुवेलंधरावासाः संस्थिताः कर्कोटकविद्युत्प्रभकैलासारुणप्रभाश्चैव ॥ ६ ॥ कर्कोटकः कर्दमकः कैलासोऽरुणप्रभश्च राजानः द्वाचत्वारिंशत्सहस्राणि तस्मिन्नुदधौ सर्वेऽपि गत्वा ॥ ७ ॥ चत्वारि योजनशतानि त्रिंशतं क्रोशं चोद्गता भूमिं । सप्तदशयोजनशती एकविंशतिरुच्छ्रिताः सर्वे ॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३०६]

दीप अनुक्रम [३२६]



वता, अङ्गारक आद्यो ग्रहः भावकेतुरित्यष्टाशीतितम इति, शेषं यथा द्विस्थानके, समुद्रद्वारादि जम्बूद्वीपद्वारादिवदिति, चक्रवालस्य–वलयस्य विष्कम्भो–विस्तरः जम्बूद्वीपाद्बहिर्धातकीखण्डपुष्करार्द्धयोरित्यर्थः, शब्दोपलक्षित उद्देशकः शब्दोद्देशको द्विस्थानकस्य तृतीय इत्यर्थः, केवलं तत्र द्विस्थानानुरोधेन 'दो भरहाइं' इत्याद्युक्तमिह तु 'चत्तारी'त्यादि, उक्तं मनुष्यक्षेत्रवस्तूनां चतुःस्थानकमधुना क्षेत्रसाधर्म्यान्नन्दीश्वरद्वीपवस्तूनामासत्यसूत्राच्चतुःस्थानकं 'नंदीसरस्से'त्यादिना ग्रन्थेनाह–

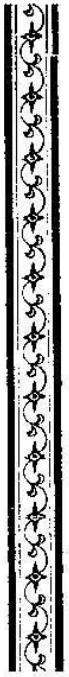
[ अथ नन्दीश्वरविचारः ] णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खंभस्स बहुमज्झदेसभागे चउद्दिसिं चत्तारि अंजणगपव्वता पं० तं०—पुरत्थिमिल्ले अंजणगपव्वते दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वते उत्तरिल्ले अंजणगपव्वते ४, ते णं अंजणगपव्वता चउरासीति जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं तदणंतरं च णं मायाए २ परिहातेमाणा २ उवरिमेगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं पण्णत्ता मूले इक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं उपरिं तिन्नि २ जोयणसहस्साइं एगं च छावट्ठं जोयणसतं परिक्खेवेणं, मूले विच्छिन्ना मज्झे संखेत्ता, उप्पिंतणुया० गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वअंजणमया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं अंजणगपव्वयाणं उवरिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागा पं०, तेसि णं बहुसमरमणिज्जभूमिभागाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि सिद्धाययणा पण्णत्ता, ते णं सिद्धाययणा एगं जोयणसयं आयामेणं पण्णत्ता पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं बाव-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



त्तरि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, तेसिं सिद्धाययणाणं चउदिसिं चत्तारि दारा पं० तं०—देवदारे असुरदारे णागदारे सुवन्नदारे, तेसु णं दारेसु चउव्विहा देवा परिवसंति, तं०—देवा असुरा नागा सुवण्णा, तेसि णं दाराणं पुरतो चत्तारि मुहमंडवा पं०, तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ चत्तारि पेच्छाघरमंडवा पं०, तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि वइरामया अक्खाडगा पं०, तेसि णं वइराभयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि मणिपेढियातो पं०, तासि णं मणिपेढिताणं उवरिं चत्तारि सीहासणा पन्नत्ता, तेसि णं सीहासणाणं उवरिं चत्तारि विजयदूसा पन्नत्ता, तेसि णं विजयदूसगाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि वइरामता अंकुसा पं०, तेसु णं वतिरामतेसु अंकुसेसु चत्तारि कुंभिका मुत्तादामा पं०, ते णं कुंभिका मुत्तादामा पत्तेयं २ अन्नेहिं तदद्धउच्चत्तपमाणमित्तेहिं चउहिं अद्धकुंभिकेहिं मुत्तादामेहिं, सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढिताओ पण्णत्ताओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि २ चेतितथूभा पण्णत्ता, तासि णं चेतितथूभाणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियातो पं०, तासि णं मणिपेढिताणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामईतो संपलियंकणिसन्नाओ थूभाभिमुहाओ चिट्ठंति, तं०—रिसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा, तेसि णं चेतितथूभाणं पुरतो चत्तारि मणिपेढिताओ पं०, तासि णं मणिपेढिताणं उवरिं चत्तारि चेतितरुक्खा पं०, तेसि णं चेतितरुक्खाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढियाओ पं०, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि महिंदज्झया पं०, तेसि णं महिंदज्झताणं पुरओ चत्तारि णंदातो पुक्खरणीओ पं०, तासि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं २ चउदिसिं चत्तारि वणसंडा पं० तं०—पुरच्छिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं—पुव्वेणं असोगवणं दाहि-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णओ होइ सत्तवण्णवणं । अवरेणं चंपगवणं चूतवणं उत्तरे पासे ॥ १ ॥ तत्थ णं जे से पुरच्छिमिल्ले अंजणगपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीतो पं० तं०— णंदुत्तरा णंदा आणंदा नंदिवद्धणा, ताओ णंदाओ पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयसहस्सं आयामेणं पन्नासं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं दस जोयणसताइं उव्वेहेणं, तासि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो चत्तारि तोरणा पं०, तं०—पुरच्छिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं, तासि णं पुक्खरणीणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा पं०, तं०—पुरतो दाहिण० पच्च० उत्तरेणं, पुव्वेणं असोगवणं जाव चूयवणं उत्तरे पासे, तासि णं पुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि दधिमुहगपव्वया पं०, ते णं दधिमुहगपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सव्वत्थ समा पल्लगसंठाणसंठिता दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, सव्वरयणामता अच्छा जाव पडिरूवा, तेसि णं दधिमुहगपव्वताणं उवरिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पं०, सेसं जहेव अंजणगपव्वताणं तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, जाव चूतवणं उत्तरे पासे, तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले अंजणगपव्वते तस्स णं चउदिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ, तं०—भद्दा विसाला कुमुदा पोंडरिगिणी, तातो णंदातो पुक्खरणीतो एगं जोयणसयसहस्सं सेसं तं चेव जाव दधिमुहगपव्वता जाव वणसंडा, तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पं०, तं०—णंदिसेणा अमोहा गोथूभा सुदंसणा, सेसं तं चेव, तहेव दधिमुहगपव्वता तहेव सिद्धाययणा जाव वणसंडा, तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले अंज-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णगपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पं०, तं०—विजया वेजयंती जयंती अपराजिता, तातो णं पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयसहस्सं तं चेव पमाणं तहेव दधिमुहगपव्वता तहेव सिद्धाययणा जाव वणसंडा, णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खंभस्स बहुमज्झदेसभागे चउसु विदिसासु चत्तारि रतिकरगपव्वता पं०, तं०—उत्तरपुरच्छिमिल्ले रतिकरगपव्वते दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरगपव्वए दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वए, ते णं रतिकरगपव्वता दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दस गाउतसताइं उव्वेहेणं सव्वत्थ समा झल्लरिसंठाणसंठिता दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, सव्वरयणामता, अच्छा जाव पडिरूवा, तत्थ णं जे से उत्तरपुरच्छिमिल्ले रतिकरगपव्वते तस्स णं चउदिसिं ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूद्दीवपमाणाओ चत्तारि रायहाणीओ पं० तं०—णंदुत्तरा णंदा उत्तरकुरा देवकुरा, कण्हाते कण्हरातीते रामाए रामरक्खियाते, तत्थ णं जे से दाहिणपुरच्छिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूद्दीवपमाणातो चत्तारि रायहाणीओ पं०, तं०—समणा सोमणसा अच्चिमाली मणोरमा पउमाते सिवाते सतीते अंजूए, तत्थ णं जे से दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते तत्थ णं चउद्दिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूद्दीवपमाणमेत्तातो चत्तारि रायहाणीओ पं०, तं०—भूता भूतवडेंसा गोथूभा सुदंसणा, अमलाते अच्छराते णवमिताते रोहिणीते, तत्थ णं जे से उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते तत्थ णं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३०७]

दीप अनुक्रम [३२७--३२९]



चउदिसिमिसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूदीवप्पमाणमित्तातो चत्तारि रायहाणीओ पं०, तं०—
रयणा रतणुच्चता सव्वरतणा रतणसंचया, वसूते वसुगुत्ताते वसुमित्ताते वसुंधराए (सू० ३०७)

सूत्रसिद्धश्चायं, केवलं–जम्बू १ लवणे धायइ २ कालोए पुक्खराइ ३ जुयलाइं। वारुणि ४ खीर ५ घय ६ इक्खू ७ नंदीसर ८ अरुण ९ दीवुदही ॥ १ ॥ ति गणनयाऽष्टमो नन्दीश्वरः स एव वरः २, अमनुष्यद्वीपापेक्षया बहुतरजिनभवनादिसद्भावेन तस्य वरत्वादिति, तस्य चक्रवालविष्कम्भस्य प्रमाणं १६३८४०००००, उक्तं च—"तेवट्ठं कोडिसयं चउरासीइं च सयसहस्साइं। नंदीसरवरदीवे विक्खंभो चक्कवालेणं ॥ १ ॥" इति, मध्यश्चासौ देशभागश्च–देशावयवो मध्यदेशभागः, स च नात्यन्तिक इति बहुमध्यदेशभागो न प्रदेशादिपरिगणनया निष्टङ्कितः, अपि तु प्राय इति, अथवा अत्यन्तं मध्यदेशभागो बहुमध्यदेशभाग इति, तत्र इहाञ्जनकाः मूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेणेत्युक्तम्, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिसङ्ग्रहिण्यां तूक्तम्—"[1]चुलसीति सहस्साइं उव्विद्धा ओगया सहस्समहे। धरणितले विच्छिन्ना य ऊणगा ते दससहस्सा ॥ १ ॥ नव चेव सहस्साइं पंचेव य होंति जोयणसयाइं। अंजणगपव्वयाणं मूलंमि उ होइ विक्खंभो ॥ २ ॥" कंदस्येत्यर्थः, "[3]नव चेव सहस्साइं चत्तारि य होंति

१ त्रिषष्टिः कोटिशतं चतुरशीतिश्च शतसहस्राणि नन्दीश्वरवरद्वीपे चक्रवालतो विष्कम्भः ॥ १ ॥ २ चतुरशीतिः सहस्राणि उद्विद्धाः अधः सहस्रं गताः किंचिन्यूनदशसहस्राणि धरणीतले विस्तीर्णाः ॥ १ ॥ नव चैव सहस्राणि पंचैव भवन्ति योजनशतानि अंजनकपर्वतानां मूले भवति तु विष्कंभः ॥ २ ॥ ३ नव चैव सहस्राणि चत्वारि च भवंति शतानि



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नन्दीश्वरद्वीपस्य स्थान आदि अधिकार:

जोयणसयाइं । अंजणगपव्वयाणं धरणियले होइ विक्खंभो ॥ १ ॥" इति, तदिदं मतान्तरमित्यवसेयमेवमन्यत्रापि, मतान्तरबीजानि तु केवलिगम्यानीति, 'गोपुच्छसंठाण'त्ति गोपुच्छो ह्यादौ स्थूलोऽन्ते सूक्ष्मस्तद्वत्तेऽपीति, 'सव्वंजणमय'त्ति अञ्जनं–कृष्णरत्नविशेषः तन्मयाः सर्व एवानन्यमयत्वेन सर्वथैवाञ्जनमयाः सर्वाञ्जनमयाः, परमकृष्णा इति भावः, उक्तं च—"भिंगंगेरुइलकज्जलअंजणधाउसरिसा विरायंति । गगणतलमणुलिहंता अंजणगा पव्वया रम्मा ॥१॥" इति, अच्छाः आकाशस्फटिकवत्, सण्हा–श्लक्ष्णपरमाणुस्कन्धनिष्पन्नाः, श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्, लण्हा–श्लक्ष्णा मसृणा इत्यर्थः, घुण्टितपटवत्, तथा घृष्टा इव घृष्टाः, खरशानया पाषाणप्रतिमावत्, मृष्टा इव मृष्टाः सुकुमारशानया पाषाणप्रतिमेव शोधिता वा प्रमार्जनिकयेव अत एव नीरजसः रजोरहितत्वात् निर्म्मलाः कठिनमलाभावात् धौतवस्त्रवद्वा निष्पङ्का आर्द्रमलाभावात् अकलङ्कत्वाद्वा 'निक्कंकडच्छाया' निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणेत्यर्थः छाया–शोभा येषां ते तथा अकलङ्कशोभा वा सप्रभा देवानन्दकत्वादिप्रभावयुक्ताः अथवा स्वेन आत्मना प्रभान्ति न परत इति स्वप्रभाः यतः 'समिरीया' सह मरीचिभिः–किरणैर्ये ते तथा, अत एव 'सउज्जोया' सहोद्योतेन–वस्तुप्रभासनेन वर्त्तन्ते ये ते तथा 'पासाईय'त्ति प्रासादीयाः–मनःप्रसादकराः दर्शनीयास्तांश्चक्षुषा पश्यन्नपि न श्रमं गच्छतीत्यर्थः अभिरूपाः–कमनीयाः प्रतिरूपाः द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति रमणीया इति यावत्शब्दसङ्ग्रहः, बहुसमाः–अत्यन्तसमा रमणीयाश्च ये ते

१ योजनानामंजनकपर्वतानां धरणीतले भवति विष्कम्भः ॥ १ ॥ २ शृंगाङ्गगवलकरुचिरकज्जलांजनधातुसदृशा विराजन्ते गगनतलमनुलिखंत इवांजनकाः पर्वता रम्याः ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


नन्दीश्वरद्वीपस्य स्थान आदि अधिकार:

प्रत सूत्रांक [३०७]

दीप अनुक्रम [३२७--३२९]



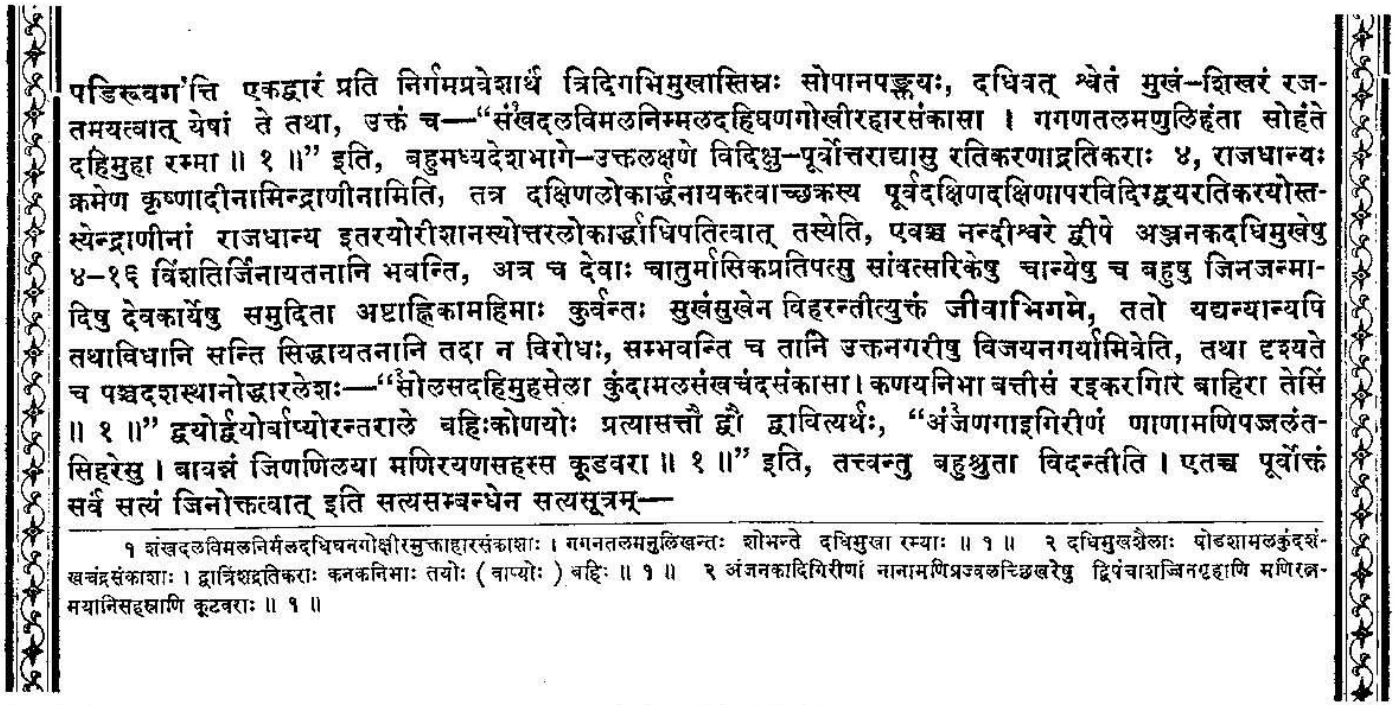
तथा सिद्धानि–शाश्वतानि सिद्धानां वा–शाश्वतीनामर्हत्प्रतिमानामायतनानि–स्थानानि सिद्धायतनानि, उक्तं च—"अंजणगपव्वयाणं सिहरतलेसुं हवंति पत्तेयं। अरहंतायययणाइं सीहणिसायाइं तुंगाइं ॥ १॥" मुखे–अग्रद्वारे आयतनस्य मण्डपा मुखमण्डपाः पट्टशालारूपाः प्रेक्षा–प्रेक्षणकं तदर्थं गृहरूपाः मण्डपाः प्रेक्षागृहमण्डपाः प्रसिद्धस्वरूपाः, वैरं–वज्रं रत्नविशेषस्तन्मयाः आखाटकाः–प्रेक्षाकारिजनासनभूताः प्रतीता एव विजयदूष्याणि–वितानकरूपाणि वस्त्राणि तन्मध्यभाग एवाङ्कुशाः अवलम्बननिमित्तं, कुम्भो मुक्ताफलानां परिमाणतया विद्यते येषु तानि कुम्भिकानि मुक्तादामानि–मुक्ताफलमालाः, कुम्भप्रमाणञ्च—"दो असतीओ पसती दो पसतीओ सेतिया चत्तारि सेतियाओ कुडवो चत्तारि कुडवा पत्थो चत्तारि पत्था आढयं चत्तारि आढया दोणो सट्ठी आढयाइं जहन्नो कुंभो असीइ मज्झिमो सयमुक्कोसो" इति, 'तदर्द्धे'ति तेषामेव मुक्तादाम्नामर्द्धमुच्चत्वस्य प्रमाणं येषां तानि तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणानि तान्येव तन्मात्राणि तैः 'अर्द्धकुम्भिकैर्हि'ति मुक्ताफलार्द्धकुम्भवद्भिः सर्वतः–सर्वासु दिक्षु, किमुक्तं भवति?–समन्तादिति, चैत्यस्य सिद्धायतनस्य प्रत्यासन्नाः स्तूपाः–प्रतीताश्चैत्यस्तूपाश्चित्ताल्हादकत्वाद्वा चैत्याः स्तूपाः चैत्यस्तूपाः संपर्यङ्कनिषण्णाः–पद्मासननिषण्णाः, एवं चैत्यवृक्षा अपि, महेन्द्रा इति–अतिमहान्तः समयभाषया ते च ते ध्वजाश्चेति, अथवा महेन्द्रस्येव–शक्रादेर्ध्वजा महेन्द्रध्वजाः। शाश्वतपुष्करिण्यः सर्वा अपि सामान्येन नन्दा इत्युच्यन्ते, 'सस्सपन्नवणं'ति सस्यच्छदवनमिति, 'तिसोवाण-

१ अंजनकपर्वतानां शिखरतलेषु भवंति प्रत्येकं। अर्हदायतनानि सिंहनिषद्यानि तुंगानि ॥ १ ॥ २ द्वे असती पसतिः द्वे पसती सेतिका चतस्रः सेतिकाः कुडवः चत्वारः कुडवाः प्रस्थकः चत्वारः प्रस्थकाः आढकः चत्वार आढकाः द्रोणः आढकषष्ट्या जघन्यः कुंभोऽशीत्या मध्यमः शतेनोत्कृष्टः



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नन्दीश्वरद्वीपस्य स्थान आदि अधिकार:



पडिरूवग'त्ति एकद्वारं प्रति निर्गमप्रवेशार्थं त्रिदिगभिमुखास्तिस्रः सोपानपङ्क्तयः, दधिवत् श्वेतं मुखं-शिखरं रजतमयत्वात् येषां ते तथा, उक्तं च—"संखदलविमलनिम्मलदहिघणगोखीरहारसंकासा । गगणतलमणुलिहंता सोहंते दहिमुहा रम्मा ॥ १ ॥" इति, बहुमध्यदेशभागे-उक्तलक्षणे विदिक्षु-पूर्वोत्तराद्यासु रतिकरणाद्रतिकराः ४, राजधान्यः क्रमेण कृष्णादीनामिन्द्राणीनामिति, तत्र दक्षिणलोकार्द्धनायकत्वाच्चक्रस्य पूर्वदक्षिणदक्षिणापरविदिग्द्वयरतिकरयोस्तस्येन्द्राणीनां राजधान्य इतरयोरीशानस्योत्तरलोकार्द्धाधिपतित्वात् तस्येति, एवञ्च नन्दीश्वरे द्वीपे अञ्जनकदधिमुखेषु ४-१६ विंशतिर्जिनायतनानि भवन्ति, अत्र च देवाः चातुर्मासिकप्रतिपत्सु सांवत्सरिकेषु चान्येषु च बहुषु जिनजन्मादिषु देवकार्येषु समुदिता अष्टाह्निकामहिमाः कुर्वन्तः सुखंसुखेन विहरन्तीत्युक्तं जीवाभिगमे, ततो यद्यन्यान्यपि तथाविधानि सन्ति सिद्धायतनानि तदा न विरोधः, सम्भवन्ति च तानि उक्तनगरीषु विजयनगर्यामिवेति, तथा दृश्यते च पञ्चदशस्थानोद्धारलेशः—"सोलसदहिमुहसेला कुंदामलसंखचंदसंकासा। कणयनिभा बत्तीसं रइकरगिरे बाहिरा तेसिं ॥ १ ॥" द्वयोर्द्वयोर्बाह्योरन्तराले बहिःकोणयोः प्रत्यासत्तौ द्वौ द्वावित्यर्थः, "अंजणगाइगिरीणं णाणामणिपज्जलंतसिहरेसु । बावन्नं जिणणिलया मणिरयणसहस्स कूडवरा ॥ १ ॥" इति, तत्त्वन्तु बहुश्रुता विदन्तीति । एतच्च पूर्वोक्तं सर्वं सत्यं जिनोक्तत्वात् इति सत्यसम्बन्धेन सत्यसूत्रम्—

१ शंखदलविमलनिर्मलदधिघनगोक्षीरमुक्ताहारसंकाशाः । गगनतलमनुलिखन्तः शोभन्ते दधिमुखा रम्याः ॥ १ ॥ २ दधिमुखशैलाः षोडशामलकुंदशंखचंद्रसंकाशाः । द्वात्रिंशद्रतिकराः कनकनिभाः तयोः (वाप्योः) बहिः ॥ १ ॥ ३ अंजनकादिगिरीणां नानामणिप्रज्वलच्छिखरेषु द्विपंचाशज्जिनगृहाणि मणिरत्नमयानिसहस्राणि कूटवराः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | नन्दीश्वरद्वीपस्य स्थान आदि अधिकार: |

प्रत सूत्रांक [३०८]

दीप अनुक्रम [३३०]



चउव्विहे सच्चे पं० तं०—णामसच्चे ठवणसच्चे दव्वसच्चे भावसच्चे (सू० ३०८) आजीवियाणं चउव्विहे तवे पं० तं०—उग्गतवे घोरतवे रसणिज्जूहणता जिब्भिंदियपडिसंलीणता (सू० ३०९) चउव्विहे संजमे पं० तं०—मणसंजमे वतिसंजमे कायसंजमे उवगरणसंजमे। चउव्विधे चिताते पं० तं०—मणचिताये वतिचियाते कायचियाते उवकरणचियाते। चउव्विहा अकिंचणता पं० तं०—मणअकिंचणता वतिअकिंचणता कायअकिंचणता उवगरणअकिंचणता (सू० ३१०) ॥ इति द्वितीयोद्देशकः सम्पूर्णः ॥

नामस्थापनासत्ये सुज्ञाने, द्रव्यसत्यमनुपयुक्तस्य सत्यमपि भावसत्यं तु यत्स्वपरानुपरोधेनोपयुक्तस्येति ॥ सत्यं चारित्रविशेष इति चारित्रविशेषानुद्देशकान्तं यावदाह—'आजीविए'त्यादि, 'आजीविकानां' गोशालकशिष्याणां उग्रतपःअष्टमादि क्वचन 'उदार'मिति पाठः तत्र उदारं—शोभनं इहलोकाद्याशंसारहितत्वेनेति घोरं—आत्मनिरपेक्षं 'रसनिर्जूहणया' घृतादिरसपरित्यागः जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता—मनोज्ञामनोज्ञेष्वाहारेषु रागद्वेषपरिहार इति, आर्हतानां तु द्वादश धेति, मनोवाक्कायानामकुशलत्वेन निरोधाः कुशलत्वेन तूदीरणानि संयमाः, उपकरणसंयमो महामूल्यवस्त्रादिपरिहारः, पुस्तकवस्त्रतृणचर्म्मपञ्चकपरिहारो वा, तत्र—"[1]गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए तहा छिवाडीय। एयं पोत्थयपणगं पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥१॥ बाहल्लपुहत्तेहिं गंडी पोत्थो उ तुल्लओ दीहो। कच्छवि अंते तणुओ मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ॥२॥

१ गंडी कच्छपी मुष्टिः संपुटफलकस्तथा सपाटिका च एतत्पुस्तकपंचकं प्रज्ञप्तं वीतरागैः ॥ १ ॥ बाहल्यपृथक्त्वैर्गंडीपुस्तकं तु तुल्यं दीर्घं कच्छपी अंते तनुकः मध्ये पृथुलः ज्ञातव्यः ॥ २ ॥




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चउरंगुलदीहो वा वट्टागिति मुट्ठिपोत्थओ अहवा । चउरंगुलदीहोच्चिय चउरंसो होइ विन्नेओ ॥ ३ ॥ संपुडगो दुगमाइ फलगा वोच्छं छिवाडित्ताहे । तणुपत्तूसियरूवा होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥ ४ ॥ दीहो वा हस्सो वा जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो । तं मुणियसमयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ५ ॥" वस्त्रपञ्चकं द्विधा, अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितभेदात्, तत्र—"[3]अप्पडिलेहियदूसे तूलि उवहाणगं च नायव्वं । गंडुवहाणालिंगिणि मसूरए चेव पोत्तमए ॥१॥ पल्हवि कोयव पावार नवयए तह य दाढिगालीओ । दुप्पडिलेहियदूसे एयं बीयं भवे पणगं ॥ २ ॥ पल्हवि हत्थुत्थरणं तु कोयवो रूयपूरिओ पडओ । दढिगालि धोयपोत्ती सेस पसिद्धा भवे भेया ॥ ३ ॥ तणपणगं पुण भणियं जिणेहिं कम्मट्ठगंठिमहणेहिं । साली वीही कोद्दव रालग रन्ने तणाइं च ॥ ४ ॥" चर्म्मपञ्चकमिदम्—"[3]अयएलगावि महिसी मिगाण अजिणं तु पंचमं होइ । तलिया खलगवज्झो कोसग कत्ती य बीयं तु ॥ ५ ॥" इति, 'चियाए'त्ति त्यागो मनः-

१ चतुरंगुलदीर्घो वा वृत्ताकृतिर्मुष्टिपुस्तकमथवा । चतुरंगुलदीर्घ एव चतुरस्रो भवति ज्ञातव्यः ॥ ३ ॥ फलकद्वयादिः संपुटकोऽथ वक्ष्ये सृपाटिकां तनुपत्रोच्छ्रितरूपां भवति सृपाटिकां बुधा ब्रुवते ॥ ४ ॥ दीर्घो वा ह्रस्वो वा योऽल्पबाहल्यः पृथुर्भवति । तं ज्ञातसमयसारादिछवाडीपुस्तकं भणंतीह ॥ ५ ॥ २ अप्रतिलेखितदूष्येषु तूलिकोपधानं च ज्ञातव्यं गंडोपधानमालिंगिनी मसूरकश्चैव पोतमयः ॥ १ ॥ प्रह्लत्तिः कुतुपः प्रावारो नवत्वक् तथा च दंढ्रागालिः । दुष्प्रतिलेखितदूष्ये एतद्वितीयं भवेत् पञ्चकं ॥ २ ॥ प्रह्लत्तिर्हस्तास्तरणं कुतुपको रूतपूरितः पटः । दढगालिर्धौतपोतिका शेषाः प्रसिद्धा भेदा भवन्ति ॥ ३ ॥ तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैः अष्टकर्मग्रन्थिमथनैः । शाली व्रीहिः कोद्रवो रालकोऽरण्यतृणानि च ॥ ४ ॥ ३ अजैडकगोमहिषीणां मृगाणामजिनं तु पञ्चमं भवति । तलिका खलको वर्द्रः कोशकः कर्तरिका ( कृत्तिका ) च द्वितीयं तु ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभृतीनां प्रतीत एव, अथवा मनःप्रभृतिभिरशनादेः साधुभ्यो दानं त्यागः, एवमुपकरणेन पात्रादिना भक्तादेस्तस्य वा त्याग उपकरणत्यागः, न विद्यते किञ्चन–द्रव्यजातमस्येत्यकिञ्चनस्तद्भावो अकिञ्चनता निष्परिग्रहतेत्यर्थः, सा च मनःप्रभृतिभिरुपकरणापेक्षया च भवतीति यथोक्तेति ॥ चतुःस्थानकस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥

व्याख्यातो द्वितीयोद्देशकः, अथ तृतीय आरभ्यते, अस्य चायं पूर्वेण सहाभिसम्बन्धः, पूर्वत्र जीवक्षेत्रपर्याया उक्ताः, इह तु जीवपर्याया उच्यन्ते, इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदमादि सूत्रद्वयं

चत्तारि रातीओ पं० तं०—पव्वयराती पुढविराती वालुयराती उदगराती, एवामेव चउव्विहे कोहे पं० तं०—पव्वयरातिसमाणे पुढविरातिसमाणे वालुयरातिसमाणे उदगरातिसमाणे, पव्वयरातिसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति, पुढविरातिसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे तिरिक्खजोणिएसु उववज्जति, वालुयरातिसमाणं कोहं अणुपविट्ठे समाणे मणुस्सेसु उववज्जति, उदगरातिसमाणं कोहमणुपविट्ठे समाणे देवेसु उववज्जति १ । चत्तारि उदगा पं० तं०—कद्दमोदए खंजणोदए वालुओदए सेलोदए, एवामेव चउव्विहे भावे पं० तं०—कद्दमोदगसमाणे खंजणोदगसमाणे वालुओदगसमाणे सेलोदगसमाणे, कद्दमोदगसमाणं भावमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति, एवं जाव सेलोदगसमाणं भावमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ (सू० ३११) चत्तारि पक्खी पं० तं०—रुयसंपन्ने नाममेगे णो रूवसंपन्ने रूवसंपन्ने नाममेगे नो रुतसंपन्ने एगे रूवसंपन्नेवि रुतसंपन्नेवि नो रुतसंपन्ने णो रूवसंपन्ने,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ चतुर्थ-स्थानस्य द्वितीय-उद्देशक: परिसमाप्त:

**अथ चतुर्थ-स्थानस्य तृतीय-उद्देशक: आरभ्यते**

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—रूयसंपन्ने नाममेगे णो रूवसंपन्ने ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ पत्तियं करेमीतेगे अपत्तितं करेति अप्पत्तियं करेमीतेगे पत्तितं करेइ अप्पत्तियं करेमीतेगे अप्पत्तितं करेति, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अप्पणो णाममेगे पत्तितं करेति णो परस्स परस्स नाममेगे पत्तियं करेति णो अप्पणो (४) ह्व, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पत्तियं पवेसामीतेगे पत्तितं पवेसेइ पत्तियं पवेसामीतेगे अप्पत्तितं पवेसेति ४। चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—अप्पणो नाममेगे पत्तितं पवेसेइ णो परस्स परस्स ४ ह्व (सू० ३१२)

'चत्तारी'त्यादि, अस्य चायमभिसम्बन्धः–पूर्वं चारित्रमुक्तं, तत्प्रतिबन्धकश्च क्रोधादिभाव इति क्रोधस्वरूपप्ररूपणायेदमुच्यते, तदेवंसम्बन्धस्यास्य दृष्टान्तभूतादिसूत्रस्य व्याख्या—'राजी' रेखा, शेषं क्रोधव्याख्यानं मायादिवत्, मायादिप्रकरणाच्चान्यत्र क्रोधविचारो विचित्रत्वात् सूत्रगतेरिति, द्वितीयं सुगममेव ॥ अयं च क्रोधो भावविशेष एवेति भावप्ररूपणाय दृष्टान्तादिसूत्रद्वयमाह—'चत्तारी'त्यादि प्रसिद्धं, किन्तु कर्दमो यत्र प्रविष्टः पादादिर्नाकृष्टुं शक्यते कष्टेन वा शक्यते, खञ्जनं दीपादिखञ्जनतुल्यः पादादिलेपकारी कर्दमविशेष एव, वालुका प्रतीता सा तु लग्नापि जलशोषे पादादेरल्पेनैव प्रयत्नेनापैतीत्यल्पलेपकारिणी, शैलास्तु पाषाणाः श्लक्ष्णरूपास्ते पादादेः स्पर्शनेनैव किञ्चिद्दुःखमुत्पादयन्ति, न तु तथाविधं लेपमुपजनयन्ति, कर्दमादिप्रधानान्युदकानि कर्दमोदकादीन्युच्यन्ते, भावो–जीवस्य रागादिपरिणामः तस्य कर्दमोदकादिसाम्यं तत्स्वरूपानुसारेण कर्म्मलेपमङ्गीकृत्य मन्तव्यमिति। अनन्तरं भाव उक्तोऽधुना तद्वतः पुरुषान् सदृष्टान्तान् 'चत्तारि पक्खी'त्यादिना 'अत्थमियत्थमिये'त्येतदन्तेन ग्रन्थेनाह–व्यक्तश्चायं, नवरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुतं रूपं च सर्वेषामेव पक्षिणामस्त्यतस्ते विशिष्टे एवेह ग्राह्ये, ततो रुतं–मनोज्ञशब्दस्तेन सम्पन्नः एकः पक्षी न च रूपेण–मनोज्ञेनैव कोकिलवत्, रूपसम्पन्नो न रुतसम्पन्नः, प्राकृतशुकवत्, उभयसम्पन्नो मयूरवत्, अनुभयस्वभावः काकवदिति, पुरुषोऽत्र यथायोगं मनोज्ञशब्दः प्रशस्तरूपश्च प्रियवादित्वसद्वेषत्वाभ्यां साधुर्वा सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धशुद्धधर्म्मदेशनादिस्वाध्यायप्रबन्धवान् लोचविरलवालोत्तमाङ्गतातपस्तनुतनुत्वमलमलिनदेहताअल्पोपकरणतादिलक्षणसुविहितसाधुरूपधारी वा योज्य इति। 'पत्तियं'ति प्रीतिरेव प्रीतिकं स्वार्थिककप्रत्ययोपादानेऽपि रूढेर्नपुंसकतेति, तत्करोमि प्रत्ययं वा करोमीति परिणतः प्रीतिकमेव प्रत्ययमेव वा करोति, स्थिरपरिणामत्वात् उचितप्रतिपत्तिनिपुणत्वात् सौभाग्यवत्त्वाद्वेति, अन्यस्तु प्रीतिकरणे परिणतोऽप्रीतिं करोति उक्तवैपरीत्यादिति, अपरोऽप्रीतौ परिणतः प्रीतिमेव करोति, सञ्जातपूर्वभावनिवृत्तत्वात्, परस्य वा अप्रीतिहेतुतोऽपि प्रीत्युत्पत्तिस्वभावत्वादिति, चतुर्थः सुज्ञानः, आत्मन एकः कश्चित् प्रीतिकम्–आनन्दं भोजनाच्छादनादिभिः करोति–उत्पादयति आत्मार्थप्रधानत्वान्न परस्य, अन्यः परस्य परार्थप्रधानत्वान्नात्मनोऽपर उभयस्याप्युभयार्थप्रधानत्वादितरो नोभयस्याप्युभयार्थशून्यत्वादिति, आत्मनः प्रत्ययं–प्रतीतिं करोति न परस्येत्याद्यपि व्याख्येयमिति, 'पत्तियं पवेसेमि'त्ति प्रीतिकं प्रत्ययं वाऽयं करोतीत्येवं परस्य चित्ते विनिवेशयामीति परिणतस्तथैवैकः प्रवेशयतीत्येक इति, सूत्रशेषोऽनन्तरसूत्रं च पूर्ववत्।

चत्तारि रुक्खा पं० तं०—पत्तोवए पुप्फोवए फलोवए छायोवए, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पत्तोवारुक्खसमाणे पुप्फोवारुक्खसमाणे फलोवारुक्खसमाणे छातोवारुक्खसमाणे (सू० ३१३) भारण्णं वहमाणस्स चत्तारि




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसासा पन्नत्ता, तंजहा—जत्थ णं अंसातो अंसं साहरइ तत्थविय से एगे आसासे पण्णत्ते १, जत्थविय णं उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठावेति तत्थविय से एगे आसासे पण्णत्ते २, जत्थविय णं णागकुमारावासंसि वा सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवेति तत्थविय से एगे आसासे पन्नत्ते ३, जत्थविय णं आवकधाते चिट्ठति तत्थविय से एगे आसासे पन्नत्ते ४, एवामेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा पं० तं०—जत्थ णं सीलव्वतगुणव्वतवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेति तत्थविअ से एगे आसासे पण्णत्ते १, जत्थविय णं सामाइयं देसावगासियं सम्ममणुपालेइ तत्थविय से एगे आसासे पं० २, जत्थविय णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुन्नमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेइ तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते ३, जत्थवि य णं अपच्छिममारणंतितसंलेहणाजूसणाजूसिते भत्तपाणपडितातिक्खिते पाओवगते कालमणवकंखमाणे विहरति तत्थविय से एगे आसासे पन्नत्ते ४ (सू० ३१४)

पत्राणि—पर्णान्युपगच्छतीति पत्रोपगो बहलपत्र इत्यर्थः, एवं शेषा अपि, पत्रोपगादिवृक्षसमानता तु पुरुषाणां लोकोत्तराणां लौकिकानां चार्थिषु तथाविधोपकाराकरणेन स्वस्वभावलाभ एव पर्यवसितत्वात् १, सूत्रदानादिना उपकारकत्वात् २ अर्थदानादिना महोपकारकत्वात् ३ अनुवर्त्तनापायसंरक्षणादिना सततोपसेव्यत्वाच्च ४ क्रमेण द्रष्टव्येति। भारं—धान्यमुक्तोल्यादिकं वहमानस्य—देशादेशान्तरं नयतः पुरुषस्य आश्वासा—विश्रामाः, भेदश्च तेषामवसरभेदेनेति, यत्रावसरे अंसाद्—एकस्मात् स्कन्धादंसमिति—स्कन्धान्तरं संहरति—नयति भारमिति प्रक्रमः तत्रावसरे अपिचेति उत्तराश्वासापेक्षया समुच्चये 'से' तस्य वोढुरिति १, परिष्ठापयति—व्युत्सृजति २, नागकुमारावासादिकमुपलक्षणमतोऽन्यत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाऽऽयतने वासमुपैतीति–रात्रौ वसति ३ यावती–यत्परिमाणा कथा–मनुष्योऽयं देवदत्तादिर्वाऽयमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा तया यावज्जीवमित्यर्थः, तिष्ठति–वसति इत्ययं दृष्टान्तः ४, 'एवमेवे'त्यादि दार्ष्टान्तिकः, श्रमणान्–साधूनुपास्ते इति श्रमणोपासकः–श्रावकस्तस्य सावद्यव्यापारभाराक्रान्तस्य आश्वासाः–तद्विमोचनेन विश्रामाः चित्तस्याश्वासनानि–स्वास्थ्यानि इदं मे परलोकभीतस्य त्राणमित्येवंरूपाणीति, स हि जिनागमसङ्गभावदातबुद्धितया आरम्भपरिग्रहौ दुःखपरम्पराकारिसंसारकान्तारकारणभूततया परित्याज्यावित्याकलयन् करणभटवशतया तयोः प्रवर्त्तमानो महान्तं खेदसन्तापं भयं चोद्वहति, भावयति चैवं—"हिअएए जिणाण आणा चरियं मह एरिसं अउन्नस्स । एयं आलप्पालं अव्वो दूरं विसंवयइ ॥ १ ॥ हयमम्हाणं नाणं हयमम्हाणं मणुस्समाहप्पं । जे किल लद्धविवेया विचेट्ठिमो बालबालव्व ॥ २ ॥" त्ति, यत्रावसरे शीलानि–समाधानविशेषाः ब्रह्मचर्यविशेषा वा व्रतानि–स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि, अन्यत्र तु शीलानि–अणुव्रतानि व्रतानि–सप्त शिक्षाव्रतानि तदिह न व्याख्यातं, गुणव्रतादीनां साक्षादेवोपादानादिति, गुणव्रते–दिग्व्रतोपभोगपरिभोगव्रतलक्षणे विरमणानि–अनर्थदण्डविरतिप्रकारा रागादिविरतयो वा प्रत्याख्यानानि–नमस्कारसहितादीनि पोषधः–पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवसनम्–अभक्तार्थः पोषधोपवासः, एतेषां द्वन्द्वस्तान् प्रतिपद्यते–अभ्युपगच्छति तत्रापि च 'से' तस्यैक आश्वासः प्रज्ञप्तो १, यत्रापि च सामायिकं–सावद्ययोगपरिवर्जननिरव-

१ हृदये जिनानामाज्ञा ममापुण्यस्येदृशं चरित्रं एवं आलप्यालं, आश्चर्यं ?, दूरं विसंवदति ॥ १ ॥ हतमस्माकं ज्ञानं हतमस्माकं मानुष्यमाहात्म्यं । यत्किल लब्धविवेका अपि लघुबाला इव चेष्टामः ॥ २ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्ययोगप्रतिसेवनलक्षणं यद्व्यवस्थितः श्राद्धः श्रमणभूतो भवति, तथा देशे–दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागे अवकाशः–अवस्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावकाशिकं–दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं सङ्क्षेपकरणलक्षणं सर्वव्रतसङ्क्षेपकरणलक्षणं वा अनुपालयति–प्रतिपत्त्यनन्तरमखण्डमासेवत इति, तत्रापि च तस्यैक आश्वासः प्रज्ञप्त इति २, उद्दिष्टेत्यमावास्या परिपूर्णमिति–अहोरात्रं यावत् आहारशरीरसत्कारत्यागब्रह्मचर्याव्यापारलक्षणभेदोपेतमिति ३, यत्रापि च पश्चिमैवामङ्गलपरिहारार्थमपश्चिमा सा चासौ मरणमेवान्तो मरणान्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी सा चेत्यपश्चिममारणान्तिकी सा चासौ सङ्क्लिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति सङ्लेखना–तपोविशेषः सा चेति अपश्चिममारणान्तिकीसङ्लेखना तस्याः 'जूसण'त्ति जोषणा सेवनालक्षणो यो धर्म्मस्तया 'जूसिय'त्ति जुष्टः सेवितः अथवा क्षपितः–क्षपितदेहो यः स तथा, तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते येन स तथा, पादपवत् उपगतो–निश्चेष्टतया स्थितः पादपोपगतः, अनशनविशेषं प्रतिपन्न इत्यर्थः, कालं–मरणकालं अनवकाङ्क्षन् तत्रानुत्सुक इत्यर्थः, विहरति तिष्ठति ।

चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उदितोदिते णाममेगे उदितत्थमिते णाममेगे अत्थमितोदिते णाममेगे अत्थमियत्थमिते णाममेगे, भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी णं उदितोदिते, बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी उदिअत्थमिते, हरितेसबले णमणगारे णमत्थमिओदिते, काले णं सोयरिये अत्थमितत्थमिते (सू० ३१५) चत्तारि जुम्मा पं० तं०—कडजुम्मे तेयोए दावरजुम्मे कलिओए, नेरतिताणं चत्तारि जुम्मा पं० तं०—कडजुम्मे तेओए दावरजुम्मे कलितोए, एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं, एवं पुढविकाइयाणं आउ० तेउ० वाउ० वणस्सति० बेंदियाणं तेंदियाणं चउरिंदि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

याणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं वाणमंतरजोइसियाणं वेमाणियाणं सव्वेसिं जहा णेरइयाणं (सू० ३१६) चत्तारि सूरा पं० तं०—खंतिसूरे तवसूरे दाणसूरे जुद्धसूरे, खंतिसूरा अरहंता तवसूरा अणगारा दाणसूरे वेसमणे जुद्धसूरे वासुदेवे (सू० ३१७) चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उच्चे णाममेगे उच्चच्छंदे उच्चे णाममेगे णीतच्छंदे णीते णाममेगे उच्चच्छंदे णीए णाममेगे णीयच्छंदे (सू० ३१८) असुरकुमाराणं चत्तारि लेसातो पं० तं०—कण्हलेसा णीललेसा काउलेसा तेउलेसा, एवं जाव थणियकुमाराणं, एवं पुढविकाइयाणं आउवणस्सइकाइयाणं वाणमंतराणं सव्वेसिं जहा असुरकुमाराणं (सू० ३१९)

उदितश्चासौ उन्नतकुलबलसमृद्धिनिरवद्यकर्म्मभिरभ्युदयवान् उदितश्च परमसुखसंदोहोदयेनेत्युदितोदितो यथा भरतः, उदितोदितत्वं चास्य प्रसिद्धं १, तथा उदितश्चासौ तथैव अस्तमितश्च भास्कर इव सर्वसमृद्धिभ्रष्टत्वात् दुर्गतिगतत्वाच्चेत्युदितास्तमितो ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तीव, स हि पूर्व्वमुदित उन्नतकुलोत्पन्नत्वादिना स्वभुजोपार्जितसाम्राज्यत्वेन च पश्चादस्तमितः अतथाविधकारणकुपितब्राह्मणप्रयुक्तपशुपालधनुर्गोलिकाप्रक्षेपणोपायप्रस्फोटिताक्षिगोलकतया मरणानन्तरप्रतिष्ठानमहानरकमहावेदनाप्राप्ततया चेति २, तथा अस्तमितश्चासौ हीनकुलोत्पत्तिदुर्भगत्वदुर्गतत्वादिना उदितश्च समृद्धिकीर्त्तिसुगतिलाभादिनेति अस्तमितोदितो यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनगारः, स हि जन्मान्तरोपात्तनीचैर्गोत्रकर्म्मवशावाप्तहरिकेशाभिधानचाण्डालकुलतया दुर्भगतया दरिद्रतया च पूर्वमस्तमितादित्य इवानभ्युदयवत्त्वादस्तमित इति, पश्चात्तु प्रतिपन्नप्रव्रज्यो निष्प्रकम्पचरणगुणावर्जितदेवकृतसान्निध्यतया प्राप्तप्रसिद्धितया सुगतिगततया च उदित इति

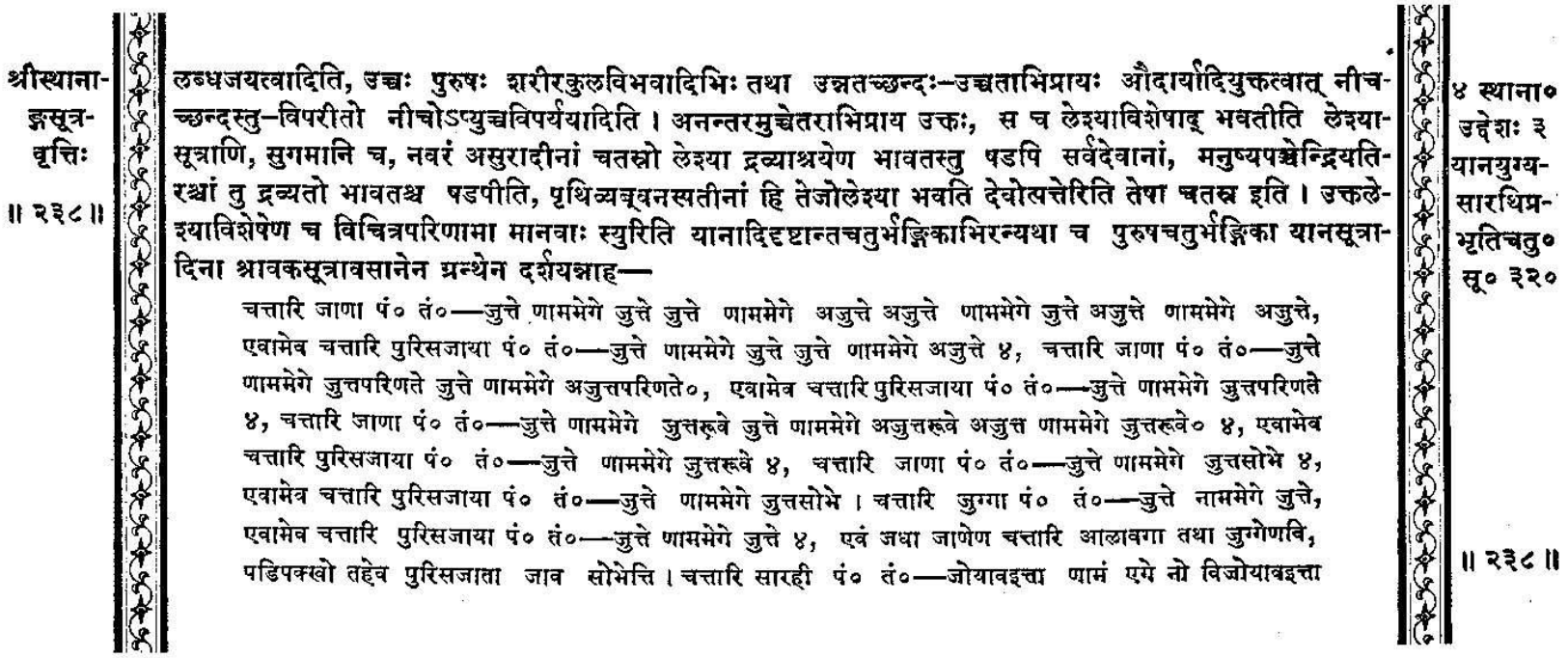


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३, तथा अस्तमितश्चासौ सूर्य इव दुष्कुलतया दुष्कर्म्मकारितया च कीर्त्तिसमृद्धिलक्षणतेजोवर्जितत्वादस्तमितश्च दुर्गतिगमनादित्यस्तमितास्तमितः, यथा कालाभिधानः सौकरिकः, स हि सूकरैश्चरति–मृगयां करोतीति यथार्थः सौकरिक एव दुष्कुलोत्पन्नः प्रतिदिनं महिषपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमितः पश्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति ४, भरहेत्यादि तु उदाहरणसूत्रं भावितार्थमेवेति । ये एवं विचित्रभावैश्चिन्त्यन्ते ते जीवाः सर्व एव चतुर्षु राशिष्ववतरन्तीति तान् दर्शयन्नाह—'चत्तारि जुम्मे'त्यादि, जुम्मत्ति–राशिविशेषः, यो हि राशिश्चतुष्कापहारेण अपहियमाणश्चतुःपर्यवसितो भवति स कृतयुग्म इत्युच्यते, यस्तु त्रिपर्यवसितः स त्र्योजः द्विपर्यवसितो द्वापरयुग्मः एकपर्यवसितः कल्योज इति, इह गणितपरिभाषायां समराशिर्युग्ममुच्यते विषमस्तु ओज इति, इयञ्च समयस्थितिः, लोके तु कृतयुगादीनि एवमुच्यन्ते–"द्वात्रिंशत्सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम् । वर्षाणां द्वापरादौ स्यादेतद् द्वित्रिचतुर्गुणम् ॥ १ ॥" इति, उक्तराशीन्नारकादिषु निरूपयन्नाह—'नेरइए'त्यादि सुगमं, नवरं नारकादयश्चतुर्द्धाऽपि स्युः, जन्ममरणाभ्यां हीनाधिकत्वसंभवादिति, पुनर्जीवानेव भावैर्निरूपयन्नाह—'चत्तारि सूरे'त्यादि सूत्रद्वयं कण्ठ्यं, किन्तु शूरा–वीराः, क्षान्तिशूरा अर्हन्तो महावीरवत्, तपःशूरा अनगाराः दृढप्रहारिवत्, दानशूरो वैश्रमण उत्तराशालोकपालस्तीर्थकरादिजन्मपारणकादिरत्नवृष्टिपातनादिनेति, उक्तञ्च—"वेसमणवयणसंचोइया उ ते तिरियजंभगा देवा । कोडिग्गसो हिरन्ना रयणाणि य तत्थ उवणेंति ॥ १ ॥" त्ति, युद्धशूरो वासुदेवः कृष्णवत् तस्य षष्ट्यधिकेषु त्रिषु सङ्ग्रामशतेषु

१ वैश्रमणवचनसंचोदितास्तु ते तिर्यग्जृंभका देवाः कोट्यग्रशो हिरण्यरत्नानि च तत्रोपनयन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २३८ ॥

लब्धजयत्वादिति, उच्चः पुरुषः शरीरकुलविभवादिभिः तथा उन्नतच्छन्दः—उच्चताभिप्रायः औदार्यादियुक्तत्वात् नीचच्छन्दस्तु—विपरीतो नीचोऽप्युच्चविपर्ययादिति । अनन्तरमुच्चेतराभिप्राय उक्तः, स च लेश्याविशेषाद् भवतीति लेश्यासूत्राणि, सुगमानि च, नवरं असुरादीनां चतस्रो लेश्या द्रव्याश्रयेण भावतस्तु षडपि सर्वदेवानां, मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चां तु द्रव्यतो भावतश्च षडपीति, पृथिव्यब्वनस्पतीनां हि तेजोलेश्या भवति देवोत्पत्तेरिति तेषा चतस्र इति । उक्तलेश्याविशेषेण च विचित्रपरिणामा मानवाः स्युरिति यानादिदृष्टान्तचतुर्भङ्गिकाभिरन्यथा च पुरुषचतुर्भङ्गिका यानसूत्रादिना श्रावकसूत्रावसानेन ग्रन्थेन दर्शयन्नाह—

चत्तारि जाणा पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्ते जुत्ते णाममेगे अजुत्ते अजुत्ते णाममेगे जुत्ते अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्ते जुत्ते णाममेगे अजुत्ते ४, चत्तारि जाणा पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणते जुत्ते णाममेगे अजुत्तपरिणते०, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणते ४, चत्तारि जाणा पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे जुत्ते णाममेगे अजुत्तरूवे अजुत्त णाममेगे जुत्तरूवे० ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे ४, चत्तारि जाणा पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे । चत्तारि जुग्गा पं० तं०—जुत्ते नाममेगे जुत्ते, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्ते ४, एवं जधा जाणेण चत्तारि आलावगा तथा जुग्गेणवि, पडिपक्खो तहेव पुरिसजाता जाव सोभेत्ति । चत्तारि सारही पं० तं०—जोयावइत्ता णामं एगे नो विजोयावइत्ता

४ स्थाना० उद्देशः ३ यानयुग्य-सारथिप्रभृतिचतु० सू० ३२०

॥ २३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विजोयावइत्ता नामं एगे नो जोयावइत्ता एगे जोयावइत्तावि विजोयावइत्तावि एगे नो जोयावइत्ता नो विजोयावइत्ता, एवामेव चत्तारि हया पं० तं०—जुत्ते णामं एगे जुत्ते जुत्ते णाममेगे अजुत्ते ४ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्ते, एवं जुत्तपरिणते जुत्तरूवे जुत्तसोभे सव्वेसिं पडिवक्खो पुरिसजाता। चत्तारि गया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्ते ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जुत्ते णाममेगे जुत्ते ४ एवं जहा हयाणं तहा गयाणवि भाणियव्वं, पडिवक्खो तहेव पुरिसजाया। चत्तारि जुग्गारिता पं० तं०—पंथजाती णाममेगे णो उप्पहजाती उप्पथजाती णाममेगे णो पंथजाती एगे पंथजातीवि उप्पहजातीवि, एगे णो पंथजाती णो उप्पहजाती, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया। चत्तारि पुप्फा पं० तं०—रूवसंपन्ने नाममेगे णो गंधसंपन्ने गंधसंपन्ने णाममेगे नो रूवसंपन्ने एगे रूवसंपन्नेवि गंधसंपन्नेवि एगे णो रूवसंपन्ने णो गंधसंपन्ने, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—रूवसंपन्ने णाममेगे णो सीलसंपन्ने ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे नो कुलसंपन्ने ४, १, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जातिसंपण्णे नामं एगे णो बलसंपन्ने बलसंपन्ने नामं एगे णो जातिसंपन्ने ४, २, एवं जातीते रूवेण ४ चत्तारि आलावगा ३, एवं जातीते सुएण ४, ४, एवं जातीते सीलेण ४, ५, एवं जातीते चरित्तेण ४, ६, एवं कुलेण बलेण ४, ७, एवं कुलेण रूवेण ४, ८, कुलेण सुतेण ४, ९, कुलेण सीलेण ४, १०, कुलेण चरित्तेण ४, ११, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—बलसंपण्णे नाममेगे णो रूवसंपन्ने ४, १२, एवं बलेण सुतेण ४, १३, एवं बलेण सीलेण ४, १४, एवं बलेण चरित्तेण ४, १५, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—रूवसंपन्ने नाममेगे णो सुयसंपण्णे ४,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६, एवं रूवेण सीलेण ४, १७, रूवेण चरित्तेण ४, १८, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—सुयसंपन्ने नाममेगे णो सीलसंपन्ने ४, १९, एवं सुतेण चरित्तेण य ४, २०, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—सीलसंपन्ने नाममेगे नो चरित्तसंपन्ने ४, २१, एते एकवीसं भंगा भाणितव्वा, चत्तारि फला पं० तं०—आमलगमहुरे मुद्दियामहुरे खीरमहुरे खंडमहुरे, एवामेव चत्तारि आयरिया पं० तं०—आमलगमहुरफलसमाणे जाव खंडमहुरफलसमाणे, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—आतवेतावच्चकरे नाममेगे नो परवेतावच्चकरे ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—करेति नाममेगे वेयावच्चं णो पडिच्छइ पडिच्छइ नाममेगे वेयावच्चं नो करेइ ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—अट्ठकरे णाममेगे णो माणकरे माणकरे णाममेगे णो अट्ठकरे एगे अट्ठकरेवि माणकरेवि एगे णो अट्ठकरे णो माणकरे, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—गणट्ठकरे णाममेगे णो माणकरे ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—गणसंग्गहकरे णाममेगे णो माणकरे ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—गणसोभकरे णामं एगे णो माणकरे ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—गणसोहिकरे णाममेगे नो माणकरे ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—रूवं नाममेगे जहति नो धम्मं धम्मं नाममेगे जहति नो रूवं एगे रूवंपि जहति धम्मंपि जहति एगे नो रूवं जहति नो धम्मं, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—धम्मं नाममेगे जहति नो गणसंठितिं ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पियधम्मे नाममेगे नो दढधम्मे दढधम्मे नाममेगे नो पियधम्मे एगे पियधम्मेवि दढधम्मेवि एगे नो पियधम्मे नो दढधम्मे, चत्तारि आयरिया पं० तं०—पव्वायणायरिते नाममेगे णो उवट्ठावणायरिते उवट्ठावणायरिए णाममेगे णो पव्वायणायरिए एगे पव्वाय-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णातरितेवि उवट्ठावणातरितेवि एगे नो पव्वायणातरिते नो उट्ठावणातरिते धम्मायरिए, चत्तारि आयरिया पं० तं०—उद्देसणायरिए णाममेगे णो वायणायरिए ४ धम्मायरिए, चत्तारि अंतेवासी पं० तं०—पव्वायणंतेवासी नामं एगे णो उवट्ठावणंतेवासी ४ धम्मंतेवासी, चत्तारि अंतेवासी पं० तं०—उद्देसणंतेवासी नामं एगे नो वायणंतेवासी १ [ वायणंतेवासी ] ४ धम्मंतेवासी, चत्तारि निग्गंथा पं० तं०—रातिणिये समणे निग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिते धम्मस्स अणाराधते भवति १ राइणिते समणे निग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिते आतावी समिए धम्मस्स आराहते भवति २ ओमरातिणिते समणे निग्गंथे महाकम्मे महाकिरिते अणातावी असमिते धम्मस्स अणाराहते भवति ३, ओमरातिणिते समणे निग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिते आतावी समिते धम्मस्स आराहते भवति ४, चत्तारि निग्गंथीओ पं० तं०—रातिणिया समणी निग्गंथी एवं चेव ४, चत्तारि समणोवासगा पं० तं०—रायणिते समणोवासए महाकम्मे तहेव ४, चत्तारि समणोवासियाओ पं० तं०—रायणिता समणोवासिता महाकम्मा तहेव चत्तारि गमा ( सू० ३२० )

'चत्तारी'त्यादि कण्ठ्यश्चायं, नवरं यानं—शकटादि, तद्युक्तं बलीवर्दादिभिः, पुनर्युक्तं—सङ्गतं समग्रसामग्रीकं वा पूर्वापरकालापेक्षया वा इत्येकं अन्यत् युक्तं तथैवायुक्तं तूक्तविपरीतत्वादिति, एवमितरौ, पुरुषस्तु युक्तो धनादिभिः पुनर्युक्त उचितानुष्ठानैः सद्भिर्वा, पूर्वकाले वा युक्तो धनधर्म्मानुष्ठानादिभिः पश्चादपि तथैवेति चतुर्भङ्गी, अथवा युक्तो द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन चेति प्रथमः साधुः, द्रव्यलिङ्गेन नेतरेणेति द्वितीयो निह्नवादिः, न द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन तु युक्त इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयः प्रत्येकबुद्धादिः, उभयवियुक्तश्चतुर्थो गृहस्थादिरिति, एवं सूत्रान्तराण्यपि, नवरं युक्तं गोभिः युक्तपरिणतं तु अयुक्तं सत्सामग्र्या युक्ततया परिणतमिति, पुरुषः पूर्ववत्, युक्तरूपं–सङ्गतस्वभावं प्रशस्तं वा युक्तं युक्तरूपमिति, पुरुषपक्षे युक्तो धनादिना ज्ञानादिगुणैर्वा युक्तरूपः–उचितवेषः सुविहितनेपथ्यो वेति, तथा युक्तं तथैव युक्तं शोभते युक्तस्य वा शोभा यस्य तद्युक्तशोभमिति, पुरुषस्तु युक्तो गुणैस्तथा युक्ता–उचिता शोभा यस्य स तथेति, युग्यं–वाहनमश्वादि, अथवा गोलविषये जंपानं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रं सवेदिकमुपशोभितं युग्यकमुच्यते तद्युक्तमारोहणसामर्थ्या पर्याणादिकया पुनर्युक्तं वेगादिभिरित्येवं यानवद् व्याख्येयम्, एतदेवाह—'एवं जहे'त्यादि, प्रतिपक्षो दार्ष्टान्तिकस्तथैव, कोऽसावित्याह—'पुरिसजाय'त्ति पुरुषजातानीत्येवं परिणतरूपशोभसूत्रचतुर्भङ्गिकाः सप्रतिपक्षा वाच्याः, यावच्छोभसूत्रचतुर्भङ्गी यथा अजुत्ते नामं एगे अजुत्तसोभे, एतदेवाह—'जाव सोभे'त्ति, सारथिः–शाकटिकः, योजयिता शकटे गवादीनां न वियोजयिता–मोक्ता, अन्यस्तु वियोजिता न तु योजयितेति, एवं शेषावपि, नवरं चतुर्थः खेटयत्येवेति, अथवा योक्रयन्तं प्रयुङ्क्ते यः स योक्रापयिता वियोक्रयतः प्रयोक्ता तु वियोक्रापयितेति, लोकोत्तरपुरुषविवक्षायां तु सारथिरिव सारथिर्योजयिता–संयमयोगेषु साधूनां प्रवर्त्तयिता, वियोजयिता तु–तेषामेवानुचितानां निवर्त्तयितेति, यानसूत्रवत् हयगजसूत्राणीति, 'जुग्गारिय'त्ति युग्यस्य चर्या–वहनं गमनमित्यर्थः, क्वचित्तु 'जुग्गायरिय'त्ति पाठः, तत्रापि युग्याचर्येति, पथयायि एकं युग्यं भवति नोत्पथयायीत्यादिश्चतुर्भङ्गी, इह च युग्यस्य चर्याद्वारेणैव निर्देशे चतुर्विधत्वेनोक्तत्वात् तच्चर्याया एवोद्देशेनोक्तं चातुर्विध्यमवसेयमिति, भावयुग्यपक्षे तु युग्यमिव युग्यं–संयमयोगभरवोढा साधुः, स





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३२०]

दीप अनुक्रम [३४२]

च पथियाव्यप्रमत्त उत्पथयायी लिङ्गावशेषः उभययायी प्रमत्तः चतुर्थः सिद्धः, क्रमेण सदसदुभयानुभयानुष्ठानरूपत्वात्, अथवा पथ्युत्पथयोः स्वपरसमयरूपत्वाद् यायित्वस्य च गत्यर्थत्वेन बोधपर्यायत्वात् स्वसमयपरसमयबोधापेक्षयेयं चतुर्भङ्गी नेयेति, एकं पुष्पं रूपसम्पन्नं न गन्धसम्पन्नमाकुलीपुष्पवत् द्वितीयश्च बकुलस्येव तृतीयं जातेरिव चतुर्थं बदर्या-देरिवेति, पुरुषो रूपसम्पन्नो–रूपवान् सुविहितरूपयुक्तो वेति ७ जाति ६ कुल ५ बल ४ रूप ३ श्रुत २ शील १ चारित्र-लक्षणेषु सप्तसु पदेषु एकविंशतौ द्विकसंयोगेषु एकविंशतिरेव चतुर्भङ्गिकाः कार्याः सुगमाश्चेति, आमलकमिव मधुरं यदन्यत् आमलकमेव वा मधुरमामलकमधुरं 'मुद्दिय'त्ति मृद्वीका–द्राक्षा तद्वत्सैव वा मधुरं मृद्वीकामधुरं क्षीरवत् खण्डवच्च मधुरमिति विग्रहः, यथैतानि क्रमेणैषद्बहुबहुतरबहुतममाधुर्यवन्ति तथा ये आचार्या ईषद्बहुबहुतरबहुतमो-पशमादिगुणलक्षणमाधुर्यवन्तस्ते तत्समानतया व्यपदिश्यन्त इति, आत्मवैयावृत्यकरोऽलसो विसम्भोगिको वा परवैयावृ-त्यकरः स्वार्थनिरपेक्षः स्वपरवैयावृत्यकरः स्थविरकल्पिकः कोऽपि उभयनिवृत्तोऽनशनविशेषप्रतिपन्नकादिरिति, करोत्येवैको वैयावृत्यं निःस्पृहत्वात् १ प्रतीच्छत्येवान्य आचार्यत्वग्लानत्वादिना २ अन्यः करोति प्रतीच्छति च स्थविरविशेषः ३ उभयनिवृत्तस्तु जिनकल्पिकादिरिति ४, 'अट्ठकरे'त्ति अर्थान्–हिताहितप्राप्तिपरिहारादीन् राजादीनां दिग्यात्रादौ तथोपदेशतः करोतीत्यर्थकरः–मन्त्री नैमित्तिको वा, स चार्थकरो नामैको न मानकरः, कथमहमनभ्यर्थितः कथयिष्या-मीत्यवलेपवर्जितः, एवमितरे त्रयः, अत्र च व्यवहारभाष्यगाथा—"पुट्ठापुट्ठो पढमो जत्ताइ हियाहियं परिकहेइ । तइओ

१ पृष्टोऽपृष्टो वा प्रथमो यात्रायां हिताहितं परिकथयति तृतीयः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुट्ठो सेसा उ णिप्फला एव. गच्छेवि ॥ १ ॥" इति, गणस्य–साधुसमुदायस्यार्थान्–प्रयोजनानि करोतीति गणार्थकरः–आहारादिभिरुपष्टम्भकः, न च मानकरोऽभ्यर्थनानपेक्षत्वात्, एवं त्रयोऽन्ये, उक्तं च—"[2]आहारउवहिसयणाइएहिं गच्छस्सुवग्गहं कुणइ । बीओ न जाइ माणं दोन्निवि तइओ न उ चउत्थो ॥ १ ॥" इति, अथवा 'नो माणकरो'त्ति गच्छार्थकरोऽहमिति न माद्यतीति। अनन्तरं गणस्यार्थ उक्तः, स च सङ्ग्रहोऽत आह—'गणसंगहकरे'त्ति गणस्याहारादिना ज्ञानादिना च सङ्ग्रहं करोतीति गणसङ्ग्रहकरः, शेषं तथैव, उक्तं च—"सो[3] पुण गच्छस्सऽट्ठो उ संगहो तत्थ संगहो दुविहो । दव्वे भावे नियमाउ होंति आहारणाणादी ॥ १ ॥" आहारोपधिशय्याज्ञानादीनीत्यर्थः, न माद्यति, गणस्यानवद्यसाधुसामाचारीप्रवर्त्तनेन वादिधर्मकथिनैमित्तिकविद्यासिद्धत्वादिना वा शोभाकरणशीलो गणशोभाकरो, नो मानकरोऽभ्यर्थनाऽनपेक्षितया मदाभावेन वा, गणस्य यथायोगं प्रायश्चित्तदानादिना शोधिं–शुद्धिं करोतीति गणशोधिकरः, अथवा शङ्किते भक्तादौ सति गृहिकुले गत्वाऽनभ्यर्थितो भक्तशुद्धिं करोति यः स प्रथमः, यस्तु मानान्न गच्छति स द्वितीयः, यस्त्वभ्यर्थितो गच्छति स तृतीयः, यस्तु नाभ्यर्थनापेक्षी नापि तत्र गन्ता स चतुर्थ इति, रूपं–साधुनेपथ्यं जहाति–त्यजति कारणवशात् न धर्मं–चारित्रलक्षणं बोटिकमध्यस्थितमुनिवत्, अन्यस्तु धर्म्मं न रूपं निह्नववत्, उभयमपि उज्झत्रजितवत्, नोभयं सुसाधुवत्, धर्म्मं त्यजत्येको जिनाज्ञारूपं न गणसंस्थितिं–स्वगच्छकृतां मर्यादां, इह

१ पृष्टः शेषौ तु निष्फलौ एवं गच्छेऽपि ॥ १ ॥ २ आहारोपधिशयनादिकैर्गच्छस्योपग्रहं करोति द्वितीयो न मानं याति तृतीयो द्वावपि न तु चतुर्थ इति ॥ १ ॥ ३ स गच्छस्यार्थः पुनः संग्रहस्तु तत्र संग्रहो द्विविधः द्रव्ये भावे नियमाद् भवन्ति आहारादयो ज्ञानादयश्च ॥ १ ॥

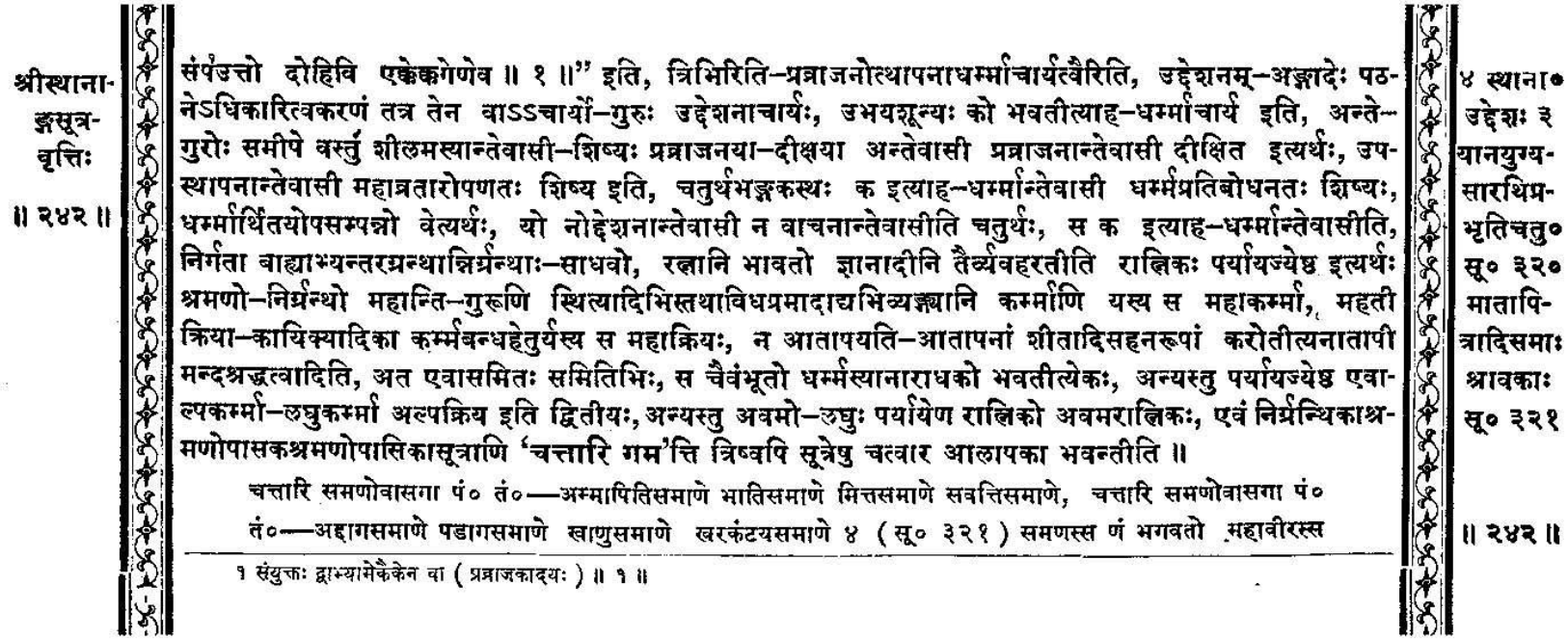


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कैश्चिदाचार्यैः तीर्थकरानुपदेशेन संस्थितिः कृता यथा–नास्माभिर्महाकल्पाद्यतिशयश्रुतमन्यगणसत्काय देयमिति, एवं च योऽन्यगणसत्काय न तद्दाविति स धर्म्मं त्यजति न गणस्थितिं, जिनाज्ञानुपालनात्, तीर्थकरोपदेशो ह्येवं–सर्वेभ्यो योग्येभ्यः श्रुतं दातव्यमिति प्रथमो, यस्तु ददाति स द्वितीयः, यस्त्वयोग्येभ्यः तद्ददाति स तृतीयः, यस्तु श्रुताव्यवच्छेदार्थं तदव्यवच्छेदसमर्थस्य परशिष्यस्य स्वकीयदिग्बन्धं कृत्वा श्रुतं ददाति तेन न धर्म्मो नापि गणसंस्थितिस्त्यक्तेति स चतुर्थ इति, उक्तं च—"[1]सयमेव दिसाबंधं काऊण पडिच्छगस्स जो देइ । उभयमवलंबमाणं कामं तु तयंपि पूएमो ॥ १ ॥" त्ति, प्रियो धर्म्मो यस्य तत्र प्रीतिभावेन सुखेन च प्रतिपत्तेः स प्रियधर्म्मा न च दृढो धर्म्मो यस्य, आपद्यपि तत्परिणामाविचलनात्, अक्षोभत्वादित्यर्थः स दृढधर्म्मेति, उक्तं च—"[2]दसविहवेयावच्चे अन्नतरे खिप्पमुज्जमं कुणति । अच्चंतमणेव्वाणिं धिइविरियकिसो पढमभंगो ॥ १ ॥" अन्यस्तु दृढधर्म्मा अङ्गीकृतापरित्यागात् न तु प्रियधर्म्मा कष्टेन धर्म्मप्रतिपत्तेः, इतरौ सुज्ञानौ, उक्तं च—"[3]दुक्खेण उगाहिज्जइ बीओ गहियं तु नेइ जा तीरं । उभयं तो कल्लाणो तइओ चरिमो उ पडिकुट्ठो ॥ १ ॥" इति, आचार्यसूत्रचतुर्थभङ्गे यो न प्रव्राजनया न चोत्थापनयाचार्यः स क इत्याह –धर्म्माचार्य इति, प्रतिबोधक इत्यर्थः, आह च—"[4]धम्मो जेणुवइट्ठो सो धम्मगुरू गिही व समणो वा । कोवि तिहिं

१ स्वयमेव दिग्बंधं कृत्वा प्रतीच्छकाय यो ददाति (श्रुतं) तमप्युभयमवलंबयंतं प्रकामं पूजयामः ॥ १ ॥ २ दशविधवैयावृत्त्येष्वन्यतरस्मिन् क्षिप्रमुद्यमं करोति अत्यन्तमविश्रान्तं धृतिवीर्यकृशः प्रथमभंगः ॥ १ ॥ ३ दुःखेनोद्ग्राह्यते द्वितीयो गृहीतं तु नयति पारं तृतीय उभयमतः कल्याणश्चरमस्तु प्रतिकुष्टः ॥ १ ॥ ४ येन धर्म उपदिष्टः स धर्मगुरुः गृही श्रमणो वा कोऽपि त्रिभिः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थाना-ङ्गसूत्र-वृत्तिः ॥ २४२ ॥

संपउत्तो दोहिवि एक्केकगेणेव ॥ १ ॥" इति, त्रिभिरिति–प्रव्राजनोत्थापनाधर्म्माचार्यत्वैरिति, उद्देशनम्–अङ्गादेः पठनेऽधिकारित्वकरणं तत्र तेन वाऽऽचार्यो–गुरुः उद्देशनाचार्यः, उभयशून्यः को भवतीत्याह–धर्म्माचार्य इति, अन्ते–गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्यान्तेवासी–शिष्यः प्रव्राजनया–दीक्षया अन्तेवासी प्रव्राजनान्तेवासी दीक्षित इत्यर्थः, उपस्थापनान्तेवासी महाव्रतारोपणतः शिष्य इति, चतुर्थभङ्गकस्थः क इत्याह–धर्म्मान्तेवासी धर्म्मप्रतिबोधनतः शिष्यः, धर्म्मार्थितयोपसम्पन्नो वेत्यर्थः, यो नोद्देशनान्तेवासी न वाचनान्तेवासीति चतुर्थः, स क इत्याह–धर्म्मान्तेवासीति, निर्गता बाह्याभ्यन्तरग्रन्थान्निर्ग्रन्थाः–साधवो, रत्नानि भावतो ज्ञानादीनि तैर्व्यवहरतीति रात्निकः पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थः श्रमणो–निर्ग्रन्थो महान्ति–गुरूणि स्थित्यादिभिस्तथाविधप्रमादाद्यभिव्यङ्ग्यानि कर्म्माणि यस्य स महाकर्म्मा, महती क्रिया–कायिक्यादिका कर्म्मबन्धहेतुर्यस्य स महाक्रियः, न आतापयति–आतापनां शीतादिसहनरूपां करोतीत्यनातापी मन्दश्रद्धत्वादिति, अत एवासमितः समितिभिः, स चैवंभूतो धर्म्मस्थानाराधको भवतीत्येकः, अन्यस्तु पर्यायज्येष्ठ एवाल्पकर्म्मा–लघुकर्म्मा अल्पक्रिय इति द्वितीयः, अन्यस्तु अवमो–लघुः पर्यायेण रात्निको अवमरात्निकः, एवं निर्ग्रन्थिकाश्रमणोपासकश्रमणोपासिकासूत्राणि 'चत्तारि गम'त्ति त्रिष्वपि सूत्रेषु चत्वार आलापका भवन्तीति ॥

चत्तारि समणोवासगा पं० तं०—अम्मापितिसमाणे भातिसमाणे मित्तसमाणे सवत्तिसमाणे, चत्तारि समणोवासगा पं० तं०—अदागसमाणे पडागसमाणे खाणुसमाणे खरकंटयसमाणे ४ (सू० ३२१) समणस्स णं भगवतो महावीरस्स

१ संयुक्तः द्वाभ्यामेकैकेन वा (प्रव्राजकादयः) ॥ १ ॥

४ स्थाना० उद्देशः ३ यानयुग्य-सारथिप्र-भृतिचतु० सू० ३२० मातापि-त्रादिसमाः श्रावकाः सू० ३२१ ॥ २४२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणोवासगाणं सोधम्मकप्पे अरुणाभे विमाणे चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पन्नत्ता (सू० ३२२) चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तते णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तते, तं०—अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने से णं माणुस्सए कामभोगे नो आढाइ नो परियाणाति णो अट्ठं बंधइ णो णिताणं पगरेति णो ठितिपगप्पं पगरेति १, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते ३ तस्स णं माणुस्सते पेमे वोच्छिन्ने दिव्वे संकंते भवति २, अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते ४ तस्स णं एवं भवति—इण्हिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छं, तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति, ३, अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिते ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पडिकूले पडिलोमे तावि भवति, उड्ढंपिय णं माणुस्सए गंधे जाव चत्तारि पंच जोयणसताइं हव्वमागच्छति ४, इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचातेति हव्वमागच्छित्तए। चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तते संचाएइ हव्वमागच्छित्तए तं०—अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिते जाव अणज्झोववन्ने, तस्स णं एवं भवति—अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरितेति वा उवज्झाएति वा पवत्तीति वा थेरेति वा गणीति वा गणधरेति वा गणावच्छेएति वा जेसिं पभावेणं मए इमा एतारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि जाव पज्जवासामि, १, अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवति—एस णं माणुस्सए भवे णाणीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा तवस्सीति वा अइदुक्कर२कारते, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि जाव पज्जुवासामि २, अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवति—अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मातीति वा जाव सुण्हाति वा, तं गच्छामि णं तेसिमंतितं पाउब्भवामि पासंतु ता मे इममेतारूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुत्तिं लद्धं पत्तं अभिसमन्नागतं ३, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवति—अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मित्तेति वा, सहीति वा सुहीति वा सहाएति वा संगएति वा, तेसिं च णं अम्हे अन्नमन्नस्स संगारे पडिसुते भवति, जो मे पुव्विं चयति से संबोहेतव्वे, इच्चेतेहिं जाव संचातेति हव्वमागच्छित्तते ४। (सू० ३२३)

'अम्मापिइसमाणे' मातापितृसमानः, उपचारं विना साधुषु एकान्तेनैव वत्सलत्वात्, भ्रातृसमानः अल्पतरप्रेमत्वात् तत्त्वविचारादौ निष्ठुरवचनादप्रीतेः तथाविधप्रयोजने त्वत्यन्तवत्सलत्वाच्चेति, मित्रसमानः सोपचारवचनादिना प्रीतिक्षतेः, तत्क्षतौ चापद्यप्युपेक्षकत्वादिति। समानः—साधारणः पतिरस्याः सपत्नी, यथा सा सपत्न्या ईर्ष्यावशादपराधान् वीक्षते एवं यः साधुषु दूषणदर्शनतत्परोऽनुपकारी च स सपत्नीसमानोऽभिधीयत इति, 'अदाग'त्ति आदर्शसमानो यो हि साधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुत्सर्गापवादादीनागमिकान् भावान् यथावत्प्रतिपद्यते सन्निहितार्थानादर्शकवत् स आदर्शसमानः, यस्यानवस्थितो बोधो विचित्रदेशनावायुना सर्वतोऽपह्रियमाणत्वात् पताकेव स पताकासमान इति, यस्तु कुतोऽपि कदाग्रहान्न गीतार्थदेशनया चाल्यते सोऽनभनस्वभावबोधत्वेनाप्रज्ञापनीयः स्थाणुसमान इति, यस्तु प्रज्ञाप्यमानो न केवलं स्वाग्रहान्न चलति अपि तु प्रज्ञापकं दुर्वचनकण्टकैर्विध्यति स खरकण्टकसमानः, खरा—



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रावकस्य चतुर्विध स्वरूपं

निरन्तरा निष्ठुरा वा कण्टाः–कण्टका यस्मिंस्तत् खरकण्टं–बुब्बूलादिडालं खरणमिति लोके यदुच्यते तच्च विलग्नं चीवरं न केवलमविनाशितं न मुञ्चत्यपि तु तद्विमोचकं पुरुषादिकं हस्तादिषु कण्टकैः विध्यतीति, अथवा खरण्टयति–लेपवन्तं करोति यत् तत्खरण्टम्–अशुच्यादि तत्समानो, यो हि कुबोधापनयनप्रवृत्तं संसर्गमात्रादेव दूषणवन्तं करोति, कुबोधकुशीलतादुष्प्रसिद्धिजनकत्वेनोत्सूत्रप्ररूपकोऽयमित्यसद्दूषणोद्भावकत्वेन वेति । श्रमणोपासकाधिकारादिदमाह—'समणस्से'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं, श्रमणोपासकानामानन्दादीनामुपासकदशाभिहितानामिति । देवाधिकारादेवेदमाह—'चउही'त्यादि, त्रिस्थानके तृतीयोद्देशके प्रायो व्याख्यातमेवेदं, तथापि किञ्चिदुच्यते, चउहिं ठाणेहिं नो संचाएइत्ति सम्बन्धः, तथा देवलोकेषु देवमध्ये इत्यर्थः, हव्वं–शीघ्रं, संचाएइत्ति–शक्नोति, कामभोगेषु–मनोज्ञशब्दादिषु मूर्च्छित इव मूर्च्छितो–मूढस्तत्स्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विवेकाक्षमत्वात् गृद्धः–तदाकाङ्क्षावान् अतृप्त इत्यर्थः ग्रथित एव ग्रथितस्तद्विषयस्नेहरज्जुभिस्संदर्भित इत्यर्थः, अध्युपपन्नः अत्यन्तं तन्मना इत्यर्थः, नाद्रियते–न तेष्वादरवान् भवति, न परिजानाति–एतेऽपि वस्तुभूता इत्येवं न मन्यते, तथा तेष्विति गम्यते नो अर्थं बध्नाति–एतैरिदं प्रयोजनमिति निश्चयं करोति, तथा नो तेषु निदानं प्रकरोति–एते मे भूयासुरित्येवमिति, तथा नो तेषु स्थितिप्रकल्पम्–अवस्थानविकल्पनमेतेष्वहं तिष्ठामि एते वा मम तिष्ठन्तु–स्थिरा भवन्त्वित्येवंरूपं स्थित्या वा–मर्यादया प्रकृष्टः कल्पः–आचारः स्थितिप्रकल्पस्तं प्रकरोति–कर्त्तुमारभते, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति, एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरेकं कारणं, तथा यतोऽसावधुनोत्पन्नो देवः कामेषु मूर्च्छितादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकमित्यादि इति दिव्यप्रेमसङ्क्रान्तिः द्वितीयं, तथाऽसौ देवो यतो भो-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


श्रावकस्य चतुर्विध स्वरूपं

गेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् 'तस्स ण'मित्यादि इति देवकार्यायत्ततया मनुष्यकार्यानायत्तत्वं तृतीयम्, तथा दिव्यभोगमूर्च्छितादिविशेषणात्तस्य मनुष्याणामयं मानुष्यः स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो–दिव्यगन्धविपरीतवृत्तिः प्रतिलोमश्चापि इन्द्रियमनसोरनाह्लादकत्वाद्, एकार्थौ वैतौ अत्यन्तामनोज्ञताप्रतिपादनायोक्ताविति, यावदिति परिमाणार्थः, 'चत्तारि पंचे'ति विकल्पदर्शनार्थं कदाचित् भरतादिष्वेकान्तसुषमादौ चत्वार्येवान्यदा तु पञ्चापि, मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चां बहुत्वेनौदारिकशरीराणां तदवयवतन्मलानां च बहुत्वेन दुरभिगन्धप्राचुर्यादिति, आगच्छति मनुष्यक्षेत्रादाजिगमिषुं देवं प्रतीति, इदं च मनुष्यक्षेत्रस्याशुभस्वरूपत्वमेवोक्तं, न च देवोऽन्यो वा नवभ्यो योजनेभ्यः परतः आगतं गन्धं जानातीति, अथवा अत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रियापेक्षयैव सम्भाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्रमाणेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुर्यदि परं प्रतिशब्दद्वारेणान्यथा वेति नरभवाशुभत्वं चतुर्थमनागमनकारणमिति, शेषं निगमनम्, आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत् तथापि किञ्चिदुच्यते, कामभोगेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य 'एव'मिति एवंभूतं मनो भवति यदुत अस्ति मे, किन्तदित्याह–आचार्य इति वा आचार्य एतद्वास्ति इतिः–उपप्रदर्शने वा विकल्प एवमुत्तरत्रापि क्वचिदितिशब्दो न दृश्यते तत्र तु सूत्रं सुगममेवेति, इह च आचार्यः–प्रतिबोधकप्रव्राजकादिरनुयोगाचार्यो वा उपाध्यायः–सूत्रदाता प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्त्यादिष्विति प्रवर्त्तीं, प्रवर्त्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोति स्थविरो, गणोऽस्यास्तीति गणी–गणाचार्यः गणधरो–जिनशिष्यविशेषः आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः, गणस्या-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वच्छेदो–देशोऽस्यास्तीति गणावच्छेदकः, यो हि तं गृहीत्वा गच्छावष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति, 'इम'त्ति इयं प्रत्यक्षासन्ना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरभाक् सा तथा, दिव्या–स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवर्द्धिः–विमानरत्नादिका द्युतिः शरीरादिसम्भवा युतिर्वा–युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणा लब्धा–उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्ता–इदानीमुपनता अभिसमन्वागता–भोग्यावस्थां गता, 'तं'ति तस्मात्तान् भगवतः पूज्यान् वन्दे स्तुतिभिः, नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि आदरकरणेन वस्त्रादिना वा सन्मानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमितिबुद्ध्या पर्युपासे–सेवामीत्येकम्, तथा ज्ञानी श्रुतज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयं, तथा 'भाया इ वा भज्जा इ वा भइणी इ वा पुत्ता इ वा धूया इ वे'ति यावच्छब्दाक्षेपः, स्नुषा–पुत्रभार्या 'तं' तस्मात्तेषामन्तिकं–समीपं प्रादुर्भवामि–प्रकटीभवामि 'ता' तावत् 'मे' मम 'इमे' इति पाठान्तर इति तृतीयं, तथा मित्रं–पश्चात्स्नेहवत् सखा–बालवयस्यः सुहृत्–सज्जनो हितैषी सहायः–सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा सङ्गतं विद्यते यस्यासौ साङ्गतिकः–परिचितस्तेषां, 'अम्हे'त्ति अस्माभिः 'अन्नमन्नस्स'त्ति अन्योऽन्यं 'संगारे'त्ति सङ्केतः प्रतिश्रुतः–अभ्युपगतो भवति स्मेति, 'जे मो'(मे)त्ति योऽस्माकं पूर्वं च्यवते देवलोकात् स सम्बोधयितव्य इति चतुर्थं, इदञ्च मनुष्यभवे कृतसङ्केतयोरेकस्य पूर्वलक्षादिजीविषु भवनपत्यादिषूत्पद्य च्युत्वा च नरतयोत्पन्नस्यान्यः पूर्वलक्षादि जीवित्वा सौधर्म्मादिषूत्पद्य सम्बोधनार्थं यदेहागच्छति तदाऽवसेयमिति, इत्येतैरित्यादि निगमनमिति। अनन्तरं देवागम उक्तस्तत्र तत्कृतोद्योतो भवतीति तद्विपक्षमन्धकारं लोके आह—

चउहिं ठाणेहिं लोगंधगारे सिया, तं०—अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं अरहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे पुव्वगते वोच्छि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जमाणे जायतेते वोच्छिज्जमाणे, चउहिं ठाणेहिं लोउज्जोते सिता, तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वतमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पयमहिमासु अरहंताणं परिनिव्वाणमहिमासु ४, एवं देवंधगारे देवुज्जोते देवसन्निवाते देवुक्कलिताते देवकहकहते, चउहिं ठाणेहिं देविंदा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छंति एवं जहा तिठाणे जाव लोगंतिता देवा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छेज्जा, तं०—अरहंतेहिं जायमाणेहिं जाव अरिहंताणं परिनिव्वाणमहिमासु (सू० ३२४)

'चउही'त्यादि व्यक्तं, किन्तु लोकेऽन्धकारं—तमिस्रं द्रव्यतो भावतश्च यत्र यद् स्यात्, सम्भाव्यते ह्यर्हदादिव्यवच्छेदे द्रव्यतोऽन्धकारं, उत्पातरूपत्वात् तस्य, छत्रभङ्गादौ रजउद्घातादिवदिति, वह्निव्यवच्छेदेऽन्धकारं द्रव्यत एव, तथास्वभावात् दीपादेरभावाद्वा, भावतोऽपि वा, एकान्तदुष्षमादावागमादेरभावादिति । पूर्वं देवागम उक्तः, अतो देवाधिकारवन्तमादुःखशय्यासूत्रात् सूत्रप्रपञ्चमाह—'चउही'त्यादि, सुगमश्चायं, नवरं लोकोद्योतश्चतुर्ष्वपि स्थानेषु देवागमात्, जन्मादित्रये तु स्वरूपेणापि, एवमिति यथा लोकान्धकारं तथा देवान्धकारमपि चतुर्भिः स्थानैः, देवस्थानेष्वपि ह्यर्हदादिव्यवच्छेदकाले वस्तुमाहात्म्यात् क्षणमन्धकारं भवतीति, एवं देवोद्योतोऽर्हतां जन्मादिष्विति, देवसन्निपातोः—देवसमवाय एवमेव देवोत्कलिका—देवलहरिः, एवमेव देवकहकहेत्ति—देवप्रमोदकलकलः, एवमेव देवेन्द्रा मनुष्यलोकमागच्छेयुः अर्हतां जन्मादिष्वेवेति यथा त्रिस्थानके प्रथमोद्देशके तथा देवेन्द्रागमनादीनि लोकान्तिकसूत्रावसानानि वाच्यानि, केवलमिह परिनिर्वाणमहिमास्विति चतुर्थमिति । पूर्वमर्हतां जन्मादिव्यतिकरेण देवागम उक्तः, अधुना अर्हतामेव प्रवचनार्थे दुःस्थितस्य साधोः दुःखशय्या इतरस्येतरा भवन्तीति सूत्रद्वयेनाह—





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३२५]

दीप अनुक्रम [३४७]

चत्तारि दुहसेज्जाओ पं० तं०—तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा तं०—से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं प-व्वतिते निग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते वितिगिच्छिते भेयसमावन्ने कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं णो सद्दहति णो प-त्तियति णो रोएइ, निग्गंथं पावयणं असद्दहमाणे अपत्तितमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावतं नियच्छति विणिघातमाव-ज्जति पढमा दुहसेज्जा १, अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा से णं मुंडे भवित्ता अगारातो जाव पव्वतिते सएणं लाभेणं णो तुस्सति परस्स लाभमासाएति पीहेति पत्थेति अभिलसति परस्स लाभमासाएमाणे जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ विणिघातमावज्जति दोच्चा दुहसेज्जा २, अहावरा तच्चा दुहसेज्जा—से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएइ जाव अभिलसति दिव्वमाणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे जाव अभिलसमाणे मणं उच्चा-वयं नियच्छति विणिघातमावज्जति तच्चा दुहसेज्जा ३, अहावरा चउत्था दुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वइए तस्स णमेवं भवति जया णं अहमगारवासमावसामि तदा णमहं संवाहणपरिमद्दणगातब्भंगगातुच्छोलणाइं लभामि जप्पभिइं च णं अहं मुंडे जाव पव्वतिते तप्पभिइं च णं अहं संवाहण जाव गातुच्छोलणाइं णो लभामि, से णं संबाहण जाव गातुच्छो-लणाइं आसाएति जाव अभिलसति से णं संबाहण जाव गातुच्छोलणाइं आसाएमाणे जाव मणं उच्चावतं नियच्छति विणिघायमावज्जति चउत्था दुहसेज्जा ४। चत्तारि सुहसेज्जाओ पं० तं०—तत्थ खलु इमा पढमा सुहसेज्जा, से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वतिए निग्गंथे पावयणे निस्संकिते णिक्कंखिते निव्वितिगिच्छिए नो भेदसमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वन्ने नो कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं सद्दहइ पत्तीयइ रोतेति निग्गंथं पावयणं सद्दहमाणे पत्तिमाणे रोएमाणे नो मणं उच्चावतं नियच्छति णो विणिघातमावज्जति पढमा सुहसेज्जा १, अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा, से णं मुंडे जाव पव्वतिते सतेणं लाभेणं तुस्सति परस्स लाभं णो आसाएति णो पीहेति णो पत्थेइ णो अभिलसति परस्स लाभमणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावतं णियच्छति णो विणिघातमावज्जति, दोच्चा सुहसेज्जा २, अहावरा तच्चा सुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वइए दिव्वमाणुस्सए कामभोगे णो आसाएति जाव नो अभिलसति दिव्वमाणुस्सए कामभोगे अणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावतं नियच्छति णो विणिघातमावज्जति तच्चा सुहसेज्जा ३, अहावरा चउत्था सुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वतिते तस्स णं एवं भवति—जइ ताव अरहंता भगवंतो हट्ठा आरोग्गा बलिया कलसरीरा अन्नयराइं ओरालाइं कल्लाणाइं विउलाइं पयताइं पग्गहिताइं महाणुभागाइं कम्मक्खयकारणाइं तवोकम्माइं पडिवज्जंति किमंग पुण अहं अब्भोवगमिओवक्कमियं वेयणं नो सम्मं सहामि खमामि तितिक्खेमि अहियासेमि ममं च णं अब्भोवगमिओवक्कमियं सम्ममसहमाणस्स अक्खममाणस्स अतितिक्खमाणस्स अणहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जति ?, एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जति, ममं च णं अब्भोवगमिओ जाव सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जति ?, एगंतसो मे निज्जरा कज्जति, चउत्था सुहसेज्जा ४ । (सू० ३२५) चत्तारि अवायणिज्जा, पं० तं०—अविणीए वीगईपडिबद्धे अविओसवितपाहुडे माई । चत्तारि वातणिज्जा पं० तं०—विणीते अविगतीपडिबद्धे वितोसवितपाहुडे अमाती (सू० ३२६)




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३२६]

दीप अनुक्रम [३४८]

'चत्तारी'त्यादि, चतस्रः–चतुःसङ्ख्या दुःखदाः शय्या दुःखशय्याः, ताश्च द्रव्यतोऽतथाविधखट्टादिरूपाः भावतस्तु दुःस्थचित्ततया दुःश्रमणतास्वभावाः प्रवचनाश्रद्धान १ परलाभप्रार्थन २ कामाशंसन ३ स्नानादिप्रार्थन ४ विशेषिताः प्रज्ञप्ताः, 'तत्रे'ति तासु मध्ये 'से' इति स कश्चित गुरुकर्म्मा अथार्थो वा अयं स च वाक्योपक्षेपे 'प्रवचने' शासने दीर्घत्वञ्च प्रकटादित्वादिति शङ्कितः–एकभावविषयसंशययुक्तः काङ्क्षितो–मलान्तरमपि साधितिबुद्धिः विचिकित्सितः–फलं प्रति शङ्कावान् भेदसमापन्नो–बुद्धिद्वैधीभावापन्न एवमिदं सर्वं जिनशासनोक्तमन्यथा वेति कलुषसमापन्नो–नैतदेवमिति विपर्यस्त इति, न श्रद्धते–सामान्येनैवमिदमिति नो प्रत्येति–प्रतिपद्यते प्रीतिद्वारेण नो रोचयति–अभिलाषातिरेकेणासेवनाभिमुखतयेति, मनः–चित्तमुच्चावचम्–असमञ्जसं निर्गच्छति–याति करोतीत्यर्थः, ततो विनिघातं–धर्मभ्रंशं संसारं वा आपद्यते, एवमसौ श्रामण्यशय्यायां दुःखमास्त इत्येका, तथा स्वकेन–स्वकीयेन लभ्यते लम्भनं वेति लाभः–अन्नादे रन्नादेर्वा तेन आशां करोतीत्याशयति स नूनं मे दास्यतीत्येवमिति आस्वादयति वा–लभते चेत् भुङ्क्त एव स्पृहयति–वाञ्छयति प्रार्थयति–याचते अभिलषति–लब्धेऽप्यधिकतरं वाञ्छतीत्यर्थः, शेषमुक्तार्थमेवमप्यसौ दुःखमास्त इति द्वितीया, तृतीया कण्ठ्या, अगारवासो–गृहवासस्तमावसामि–तत्र वस्तें सम्बाधनं–शरीरस्यास्थिसुखत्वादिना नैपुण्येन मर्दनविशेषः परिमर्दनं तु–पिष्टादेर्मलनमात्रं परिशब्दस्य धात्वर्थमात्रवृत्तित्वात् गात्राभ्यङ्गः–तैलादिनाऽभ्यक्षणं गात्रोत्क्षालनम्–अङ्गधावनमेतानि लभे न कश्चित् निषेधयतीति, शेषं कण्ठ्यमिति चतुर्थी ॥ दुःखशय्याविपरीताः सुखशय्याः प्रागिवावगम्याः, नवरं–'हट्ठ'त्ति–शोकाभावेन हृष्टा इव हृष्टा अरोगा–ज्वरादिवर्जिताः बलिकाः–प्राणवन्तः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कल्पशरीराः–पटुशरीरा अन्यतराणि–अनशनादीनां मध्ये एकतराणि उदाराणि–आशंसादोषरहिततयोदारचित्तयुक्तानि कल्याणानि मङ्गलस्वरूपत्वात् विपुलानि बहुदिनत्वात् प्रयतानि प्रकृष्टसंयमयुक्तत्वात् प्रगृहीतानि आदरप्रतिपन्नत्वात् महानुभागानि अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् (समृद्धाने) ऋद्धिविशेषकारणत्वात् कर्मक्षयकारणानि मोक्षसाधकत्वात् तपःकर्माणि–तपः–क्रियाः प्रतिपद्यन्ते–आश्रयन्ति, 'किमंग पुण'त्ति किं प्रश्ने अङ्गेत्यात्मामन्त्रणेऽलङ्कारे वा 'पुन'रिति पूर्वोक्तार्थवैलक्षण्यदर्शने शिरोलोचब्रह्मचर्यादीनामभ्युपगमे भवा आभ्युपगमिकी उपक्रम्यतेऽनेनायुरित्युपक्रमो–ज्वरातीसारादिस्तत्र भवा या सौपक्रमिकी सा चासौ सा चेति आभ्युपगमिकौपक्रमिकी तां वेदनां–दुःखं सहामि तदुत्पत्तावभिमुखतया, अस्ति च सहिरवैमुख्यार्थे यथाऽसौ भटस्तं भटं सहते, तस्मान्न भज्यत इति भावः, क्षमे आत्मनि परे वाऽविकोपतया तितिक्षामि अदैन्यतया अध्यासयामि सौष्ठवातिरेकेण तत्रैव वेदनायामवस्थानं करोमीत्यर्थः, एकार्थौ वैते शब्दाः, किं 'मन्ने'त्ति मन्ये निपातो वितर्कार्थः क्रियते–भवतीत्यर्थः, 'एगंतसो'त्ति एकान्तेन सर्वथेत्यर्थ इति ॥ एते च दुःखसुखशय्यावन्तो निर्गुणसगुणाः अतस्तद्विशेषाणामेव वाचनीयावाचनीयत्वदर्शनाय सूत्रद्वयं, कण्ठ्यं, नवरं 'वीयइ'त्ति विकृतिः–क्षीरादिका 'अव्यवशमितप्राभृत' इति प्राभृतम्–अधिकरणकारी कोप इति। अनन्तरं वाचनीयावाचनीयाः पुरुषा उक्ता इति पुरुषाधिकारात् तद्विशेषप्रतिपादनपरं चतुर्भङ्गिकाप्रतिबद्धं सूत्रप्रबन्धमाह—

चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—आतंभरे नाममेगे नो परंभरे परंभरे नाममेगे नो आतंभरे एगे आतंभरेवि परंभरेवि एगे नो आयंभरे नो परंभरे, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—दुग्गए नाममेगे दुग्गए दुग्गए नाममेगे सुग्गते सुग्गते



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नामगेमे दुग्गए सुग्गए नाममेगे सुग्गए, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—दुग्गते नाममेगे दुव्वए दुग्गए नाममेगे सुव्वए सुग्गए नाममेगे दुव्वते सुग्गए नाममेगे सुव्वए ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—दुग्गते नाममेगे दुप्पडिताणंदे दुग्गते नाममेगे सुप्पडिताणंदे ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—दुग्गते नाममेगे दुग्गतिगामी दुग्गए नाममेगे सुग्गतिगामी ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—दुग्गते नागमेंगे दुग्गतिं गते दुग्गते नाममेगे सुगतिं गते ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—तमे नाममेगे तमे तमे नाममेगे जोती जोती णाममेगे तमे जोती णाममेगे जोती ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—तमे नाममेगे तमबले तमे नाममेगे जोतिबले जोती नाममेगे तमबले जोती नाममेगे जोतीबले, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—तमे नाममेगे तमबलपलज्जणे तमे नाममेगे जोतीबलपलज्जणे ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—परिन्नायकम्मे नाममेगे नो परिन्नातसन्ने परिन्नातसन्ने णाममेगे णो परिन्नातकम्मे एगे परिन्नातकम्मेवि० ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—परिन्नायकम्मे णाममेगे नो परिन्नातगिहावासे परिन्नायगिहावासे णामं एगे णो परिन्नातकम्मे ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—परिण्णायसन्ने णाममेगे नो परिन्नातगिहावासे परिन्नातगिहावासे णामं एगे० ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—इहत्थे णाममेगे नो परत्थे परत्थे नाममेगे नो इहत्थे ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—एगेणं णाममेगे वड्ढति एगेणं हायति एगेणं णाममेगे वड्ढइ दोहिं हायति दोहिं णाममेगे वड्ढति एगेणं हातति एगे दोहिं नाममेगे वड्ढति दोहिं हायति, चत्तारि कंथका पं० तं०—आइन्ने नाममेगे आइन्ने आइन्ने नाममेगे खलुंके खलुंके नाममेगे आइन्ने खलुंके नाममेगे खलुंके ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—आइन्ने नाम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेगे आइन्ने चउभंगो, चत्तारि कंथगा पं० तं०—आतिन्ने नाममेगे आतिन्नताते विहरति आइन्ने नाममेगे खलुंकत्ताए विहरति ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—आइन्ने नाममेगे आइन्नताए विहरइ, चउभंगो चत्तारि पकंथगा पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे णो कुलसंपन्ने ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे चउभंगो, चत्तारि कंथगा पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे णो बलसंपन्ने ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे णो बलसंपण्णे ४, चत्तारि कंथगा पं० तं०—जातिसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने ४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—जातिसंपन्ने नाममेगे णो रूवसंपण्णे ४ चत्तारि कंथगा पं० तं०—जाइसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपण्णे ४ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—जातिसंपन्ने ४, एवं कुलसंपन्नेण य बलसंपण्णेण त ४, कुलसंपन्नेण य रूवसंपण्णेण त ४ कुलसंपण्णेण त जयसंपन्नेण त ४ एवं बलसंपन्नेण त रूवसंपन्नेण त ४ बलसंपन्नेण त जयसंपण्णेण त ४, सव्वत्थ पुरिसजाया पडिक्खो, चत्तारि कंथगा पं० तं०—रूवसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपन्ने ४ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—रूवसन्ने नाममेगे णो जयसंपन्ने ४ । चत्तारि पुरिसजाया पं० तंजहा—सीहत्ताते णाममेगे निक्खंते सीहत्ताते विहरइ सीहत्ताते नाममेगे निक्खंते सियालत्ताए विहरइ सीयालत्ताए नाममेगे निक्खंते सीहत्ताए विहरइ सीयालत्ताए नाममेगे निक्खंते सीयालत्ताए विहरइ ( सू० ३२७ )

**'चत्तारी'त्यादि, आत्मानं बिभर्त्ति–पुष्णातीत्यात्मम्भरिः प्राकृतत्वादायंभरे, तथा परं बिभर्त्तीति परम्भरिः, प्राकृतत्वात्परंभरे इति, तत्र प्रथमभंगे स्वार्थकारक एव, स च जिनकल्पिको, द्वितीयः परार्थकारक एव, स च भगवानर्हन्,**




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्य विवक्षया सकलस्वार्थसमाप्तेः वरप्रधानप्रयोजनप्रापणप्रवणप्राणितत्वात्, तृतीये स्वपरार्थकारी, स च स्थविरकल्पिकः विहितानुष्ठानतः स्वार्थकरत्वाद्विधिवत्सिद्धान्तदेशनातश्च परार्थसम्पादकत्वात्, चतुर्थे तूभयानुपकारी, स च मुग्धमतिः कश्चिद् यथाच्छन्दो वेति, एवं लौकिकपुरुषोऽपि योजनीयः । उभयानुपकारी च दुर्गत एव स्यादिति दुर्गतसूत्रं, दुर्गतो–दरिद्रः, पूर्वं धनविहीनत्वात् ज्ञानादिरत्नविहीनत्वाद्वा पश्चादपि तथैव दुर्गत एवेति, अथवा दुर्गतो द्रव्यतः पुनर्दुर्गतो भावत इति प्रथमः, एवमन्ये त्रयो, नवरं सुगतो द्रव्यतो धनी भावतो ज्ञानादिगुणवानिति । दुर्गतः कोऽपि व्रती स्यादिति दुर्व्रतसूत्रं, दुर्गतो–दरिद्रः दुर्व्रतः–असम्यग्व्रतोऽथवा दुर्व्ययः–आयनिरपेक्षव्ययः कुस्थानव्ययो वेत्येकः, अन्यो दुर्गतः सन् सुव्रतो–निरतिचारनियमः, सुव्ययो वौचित्यप्रवृत्तेरिति, इतरौ प्रतीतौ । दुर्गतस्तथैव दुष्प्रत्यानन्दः–उपकृतेन कृतमुपकारं यो नाभिमन्यते, यस्तु मन्यते तं स सुप्रत्यानन्द इति । दुर्गतो–दरिद्रः सन् दुर्गतिं गमिष्यतीति दुर्गतिगामीत्येवमन्येऽपि, नवरं सुगतिं गमिष्यतीति सुगतिगामी, सुगतः–ईश्वर इत्यर्थः । दुर्गतस्तथैव दुर्गतिं गतः यात्राजनकुपिततन्मारणप्रवृत्तद्रमकवत्, एवमन्ये त्रयः । तम इव तमः पूर्वमज्ञानरूपत्वादप्रकाशत्वाद्वा पश्चादपि तम एवेत्येकः, अन्यस्तु तमः पूर्वं पश्चाज्ज्योतिरिव ज्योतिरुपार्जितज्ञानत्वात् प्रसिद्धिप्राप्तत्वाद्वा, शेषौ सुज्ञानौ । तमः–कुकर्मकारितया मलिनस्वभावस्तमः–अज्ञातं बलं–सामर्थ्यं यस्य तमः– अन्धकारं वा तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा, असदाचारवानज्ञानी रात्रिचरो वा चौरादिरित्येकः, तथा तमस्तथैव ज्योतिः–ज्ञानं बलं यस्य आदित्यादिप्रकाशो वा ज्योतिस्तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा, अयं चासदाचारो ज्ञानवान् दिनचारी वा चौरादिरिति द्वितीयो,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिः–सत्कर्मकारितयोज्ज्वलस्वभावस्तमोबलस्तथैव, अयं च सदाचारवान् अज्ञानी कारणान्तराद्वा रात्रिचर इति तृतीयः, चतुर्थः सुज्ञानः, अयञ्च सदाचारवान् ज्ञानी दिनचरो वेति। तथा तमस्तथैव 'तमबलपलज्जणे'त्ति तमो–मिथ्याज्ञानं अन्धकारं वा तदेव बलं तत्र वा अथवा तमसि–उक्तरूपे बले च–सामर्थ्ये प्रज्यते–रतिं करोतीति तमोबलप्रज्ञनः एवं ज्योतिर्बलप्रज्ञनोऽपि, नवरं ज्योतिः–सम्यग्ज्ञानमादित्यादिप्रकाशो वेति, एवमितरावपि, इहापि त एव पूर्वसूत्रोक्ताः पुरुषविशेषाः प्रज्ञनविशेषिताः द्रष्टव्याः, अथवा तमस्तथैवाप्रसिद्धो वा तमोबलेन–अन्धकारबलेन सञ्चरन् प्रलज्जते इति तमोबलप्रलज्जनः–प्रकाशचारी, एवमितरेऽपि, नवरं द्वितीयोऽन्धकारचारी तृतीयः प्रकाशचारी चतुर्थः कुतोऽपि कारणादन्धकारचार्यवेति, 'पज्जलणे'त्ति क्वचित्पाठः तत्राज्ञानबलेनान्धकारबलेन वा ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा प्रज्वलति–दर्पितो भवत्यवष्टम्भं करोति यः स तथेति। परिज्ञातानि–ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽवगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृतानि कर्माणि–कृष्यादीनि येन स परिज्ञातकर्मा नो–न च परिज्ञाताः संज्ञा–आहारसंज्ञाद्या येन स परिज्ञातसंज्ञः, अभावितावस्थः प्रव्रजितः श्रावको वेत्येकः, परिज्ञातसंज्ञः सद्भावनाभावितत्वात् न परिज्ञातकर्म्मा कृष्याद्यनिवृत्तेः श्रावक इति द्वितीयः, तृतीयः साधुश्चतुर्थोऽसंयत इति । परिज्ञातकर्मा–सावद्यकरणकारणानुमतिनिवृत्तः कृष्यादिनिवृत्तो वा न परिज्ञातगृहावासोऽप्रव्रजित इत्येकः, अन्यस्तु परिज्ञातगृहावासो न त्यक्तारम्भो दुष्प्रव्रजित इति द्वितीयः तृतीयः साधुश्चतुर्थोऽसंयतः, त्यक्तसंज्ञो विशिष्टगुणस्थानकत्वादत्यक्तगृहावासो गृहस्थत्वादेकः अन्यस्तु परिहृतगृहवासो यतित्वादभावितत्वान्न परिहृतसंज्ञः अन्य उभयथा अन्यो नोभयथेति । इहैव जन्मन्यर्थः–प्रयोजनं



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगसुखादि आस्था वा–इदमेव साध्विति बुद्धिर्यस्य स इहार्थ इहास्थो वा भोगपुरुष इहलोकप्रतिबद्धो वा, परत्रैव जन्मान्तरे अर्थ आस्था वा यस्य स परार्थः परास्थो वा साधुर्बालतपस्वी वा इह परत्र च यस्यार्थ आस्था वा स सुश्रावक उभयप्रतिबद्धो वा उभयप्रतिषेधवान् कालशौकरिकादिर्मूढो वेति, अथवा इहैव विवक्षिते ग्रामादौ तिष्ठतीति इहस्थस्तत्प्रतिबन्धान्न परस्थो अन्यस्तु परत्र प्रतिबन्धात्परस्थः अन्यस्तूभयस्थः अन्यः सर्वाप्रतिबद्धत्वादनुभयस्थः साधुरिति । एकेनेति श्रुतेन एकः कश्चिद्वर्द्धते एकेनेति सम्यग्दर्शनेन हीयते, यथोक्तम्—"[1]जह जह बहुस्सुओ संमओ य सीसगणसंपरिवुडो य । अविणिच्छिओ य समए तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥ १ ॥" इत्येकः तथा एकेन श्रुतेनैवान्यो वर्द्धते द्वाभ्यां सम्यग्दर्शनविनयाभ्यां हीयते इति द्वितीयः, द्वाभ्यां श्रुतानुष्ठानाभ्यामन्यो वर्द्धते एकेन सम्यग्दर्शनेन हीयते इति तृतीयः, द्वाभ्यां श्रुतानुष्ठानाभ्यां अन्यो वर्द्धते द्वाभ्यां सम्यग्दर्शनविनयाभ्यां हीयत इति चतुर्थः, अथवा ज्ञानेन वर्द्धते रागेण हीयते इत्येकः, अन्यो ज्ञानेन वर्द्धते रागद्वेषाभ्यां हीयते इति द्वितीयः, अन्यो ज्ञानसंयमाभ्यां वर्द्धते रागेण हीयते इति तृतीयः, अन्यो ज्ञानसंयमाभ्यां वर्द्धते रागद्वेषाभ्यां हीयत इति चतुर्थः, अथवा क्रोधेन वर्द्धते मायया हीयते कोपेन वर्द्धते मायालोभाभ्यां हीयते क्रोधमानाभ्यां वर्द्धते मायया हीयते क्रोधमानाभ्यां वर्द्धते मायालोभाभ्यां हीयत इति । प्रकन्थकाः पाठान्तरतः कन्थका वा–अश्वविशेषाः, आकीर्णो–व्याप्तो जवादिगुणैः पूर्वं पश्चादपि तथैव, अन्यस्त्वाकीर्णः पूर्वं पश्चात्खलुङ्को–गलिरविनीत इति, अन्यः पूर्वं

१ यथा यथा बहुश्रुतः संमतश्च शिष्यगणसंपरिवृतश्च अविनिश्चितो यदि समये तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खलुङ्कः पश्चादाकीर्णो गुणवानिति चतुर्थः पूर्वं पश्चादपि खलुङ्क एवेति । आकीर्णो गुणवान् आकीर्णतया–गुणवत्तया विनयवेगादिभिरित्यर्थः, वहति–प्रवर्त्तते विहरतीति पाठान्तरं आकीर्णोऽन्य आरोहदोषेण खलुङ्कतया–गलितया वहति, अन्यस्तु खलुङ्कः आरोहकगुणात् आकीर्णगुणतया वहति, चतुर्थः प्रतीतः, सूत्रद्वयेऽपि पुरुषा दार्ष्टान्तिका योज्याः, सूत्रे तु क्वचिन्नोक्ताः, विचित्रत्वात् सूत्रगतेरिति, ५ जाति ४ कुल ३ बल २ रूप १ जयपदेषु दशभिर्द्विकसंयोगैर्दशैव प्रकन्थकदृष्टान्तचतुर्भङ्गीसूत्राणि, प्रत्येकं तान्येवानुसरन्ति सन्ति दश दार्ष्टान्तिकपुरुषसूत्राणि भवन्तीति, नवरं जयः–पराभिभव इति, सिंहतया–ऊर्जवृत्त्या निष्क्रान्तो गृहवासात् तथैव च विहरति उद्यतविहारेणेति, शृगालतया–दीनवृत्त्येति । पूर्वं पुरुषाणामश्वादिभिर्जात्यादिगुणेन समतोक्ताऽधुना अप्रतिष्ठानादीनां तामेव प्रमाणत आह—

चजारि लोगे समा पं० तं०—अपइट्ठाणे नरए १ जंबुद्दीवे दीवे २ पालते जाणविमाणे ३ सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे ४, चत्तारि लोगे समा सपक्खिं सपडिदिसिं पं० तं०—सीमंतए नरए समयक्खेत्ते उडुविमाणे ईसीपब्भारा पुढवी, (सू० ३२८) उडुलोगे णं चत्तारि बिसरीरा पं० तं०—पुढविकाइया आउ० वणस्सइ० उराला तसा पाणा, अहो लोगे णं चत्तारि बिसरीरा पं० तं०—एवं चेव, एवं तिरियलोएवि ४ (सू० ३२९)

'चत्तारी'त्यादि सूत्रद्वयं प्रायो व्याख्यातार्थं तथाप्युच्यते, अप्रतिष्ठानो नरकावासः सप्तम्यां नरकपृथिव्यां पञ्चानां कालादीनां नरकावासानां मध्यवर्त्ती, स च योजनलक्षं, पालकं पालकदेवनिर्मितं सौधर्मेन्द्रसम्बन्धि यानञ्च तद्विमानञ्च यानाय वा–गमनाय विमानं यानविमानं, नतु शाश्वतमिति, सर्वार्थसिद्धं पञ्चानामनुत्तरविमानानां मध्यममिति ।





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्वारो लोके समा भवन्ति, कथमित्याह—'सपक्खिं सपडिदिसं'ति समानाः पक्षाः—पार्श्वा दिशो यस्मिन् तत्सपक्षं इहेकारः प्राकृतत्वेन तथा समानाः प्रतिदिशो—विदिशो यस्मिंस्तत्सप्रतिदिक् तद् यथा भवत्येवं समा भवन्तीति, सदृशाः पक्षैरिति सपक्षमित्यव्ययीभावो वेति, पृथुसङ्कीर्णयोर्हि द्रव्ययोरधउपरिविभागेन स्थितयोस्तुल्यमानयोर्वा विषमताव्यवस्थितयोर्न समा दिशो विदिशश्च भवन्तीत्यत्यन्तसमताख्यापनार्थमिदं विशेषणद्वयमिति, सीमन्तकः प्रथमपृथिव्यां प्रथमप्रस्तटे पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाण इति, समयः—कालस्तदुपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रमित्यर्थः, उडुविमानं सौधर्मे प्रथमप्रस्तट एवेति, ईषद्—अल्पो रत्नप्रभाद्यपेक्षया प्राग्भारः—उच्छ्रयादिलक्षणो यस्यां सेषत्प्राग्भारा । ईषत्प्राग्भारा ऊर्ध्वलोके भवतीति ऊर्ध्वलोकप्रस्तावादिदमाह—'उड्ढे'त्यादि, द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीराः, एकं पृथिवीकायिकादिशरीरमेव द्वितीयं जन्मान्तरभावि मनुष्यशरीरं ततस्तृतीयं केषाञ्चिन्न भवत्यनन्तरमेव सिद्धिगमनात्, 'ओराला तस'त्ति उदाराः—स्थूला द्वीन्द्रियादयो न तु सूक्ष्मास्तेजोवायुलक्षणाः, तेषामनन्तरभवे मानुषत्वाप्राप्त्या सिद्धिर्न भवतीति शरीरान्तरसम्भवात्, तथोदारत्रसग्रहणेन द्वीन्द्रियादिप्रतिपादनेऽपीह द्विशरीरतया पञ्चेन्द्रिया एव ग्राह्याः, विकलेन्द्रियाणामनन्तरभवे सिद्धेरभावाद्, उक्तञ्च—"विगला लभेज्ज विरइं ण हु किंचि लभेज्ज सुहुमतसा" [विकला लभेरन् विरतिं नैव किञ्चिल्लभेरन् सूक्ष्मत्रसाः] इति । लोकसम्बन्धायाते अधोलोकतिर्यग्लोकयोरतिदेशसूत्रे, गतार्थे इति । तिर्यग्लोकाधिकारात् तदुद्भवं संयतादिपुरुषं भेदैराह—

चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—हिरिसत्ते हिरिमणसत्ते चलसत्ते थिरसत्ते (सू० ३३०) चत्तारि सिज्जपडिमाओ पं०,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्तारि वत्थपडिमाओ पं०, चत्तारि पायपडिमाओ पं०, चत्तारि ठाणपडिमाओ पं० (सू० ३३१) चत्तारि सरीरगा जीवफुडा पं० तं०—वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए, चत्तारि सरीरगा कम्मुम्मीसगा पं० तं०—ओरालिए वेउव्विए आहारते तेउते (सू० ३३२) चउहिं अत्थिकाएहिं लोगे फुडे पं० तं०—धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएणं पुग्गलत्थिकाएणं, चउहिं बादरकातेहिं उववज्जमाणेहिं लोगे फुडे पं० तं०—पुढविकाइएहिं आउ० वाउ० वणस्सइकाइएहिं (सू० ३३३) चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पं० तं०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए लोगागासे एगजीवे (सू० ३३४)

'चत्तारी'त्यादि, ह्रिया—लज्जया सत्त्वं—परीषहादिसहने रणाङ्गणे वा अवष्टम्भो यस्य स ह्रीसत्त्वः, तथा ह्रिया—हसिष्यन्ति मामुत्तमकुलजातं जना इति लज्जया मनस्येव न काये रोमहर्षकम्पादिभयलिङ्गोपदर्शनात् सत्त्वं यस्य स ह्रीमनःसत्त्वः, चलम्—अस्थिरं परीषहादिसम्पाते ध्वंसात् सत्त्वं यस्य स चलसत्त्वः, एतद्विपर्ययात् स्थिरसत्त्व इति। स्थिरसत्त्वोऽनन्तरमुक्तः, स चाभिग्रहान् प्रतिपद्य पालयतीति तद्दर्शनाय सूत्रचतुष्टयमिदं—'चत्तारि सिज्जे'त्यादि, सुगमं, नवरं शय्यते यस्यां सा शय्या—संस्तारकः तस्याः प्रतिमा—अभिग्रहाः शय्याप्रतिमाः, तत्रोद्दिष्टं फलकादीनामन्यतमत् ग्रहीष्यामि नेतरदित्येका, यदेव प्रागुद्दिष्टं तदेव यदि द्रक्ष्यामि तदा तदेव ग्रहीष्यामि नान्यदिति द्वितीया, तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो ग्रहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्य इति तृतीया, तदपि फलकादिकं यदि यथासंस्तृतमेवास्ते ततो ग्रहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी, आसु च प्रतिमास्वाद्ययोः प्रतिमयोर्गच्छनिर्गतानामग्रहः उत्तर-






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योरन्यतरस्यामभिग्रहः, गच्छान्तरगतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्त इति, वस्त्रप्रतिमा–वस्त्रग्रहणविषये प्रतिज्ञाः, कार्प्पासिकादीत्येवमुद्दिष्टं वस्त्रं याचिष्ये इति प्रथमा, तथा प्रेक्षितं वस्त्रं याचिष्ये नापरमिति द्वितीया, तथाऽऽन्तरपरिभोगेनोत्तरीयपरिभोगेन वा शय्यातरेण परिभुक्तप्रायं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति तृतीया, तथा तदेवोत्सृष्टधर्म्मकं ग्रहीष्यामीति चतुर्थी, पात्रप्रतिमा उद्दिष्टं दारुपात्रादि याचिष्ये १, तथा प्रेक्षितं २ तथा दातुः स्वाङ्गिकं परिभुक्तप्रायं द्वित्रेषु वा पात्रेषु पर्यायेण परिभुज्यमानं पात्रं याचिष्य इति तृतीया, उज्झितधर्म्मकमिति चतुर्थी, स्थानं–कायोत्सर्गाद्यर्थं आश्रयः तत्र प्रतिमाः स्थानप्रतिमाः, तत्र कस्यचिद् भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति यथा–अहमचित्तं स्थानमुपाश्रयिष्यामि तत्र चाकुञ्चनप्रसारणादिकां क्रियां करिष्ये, तथा किञ्चिदचित्तं कुड्यादिकमवलम्बयिष्ये, तथा तत्रैव स्तोकपादविहरणं समाश्रयिष्यामीति प्रथमा प्रतिमा, द्वितीया त्वाकुञ्चनप्रसारणादिक्रियामवलम्बनं च करिष्ये न पादविहरणमिति, तृतीया त्वाकुञ्चनप्रसारणमेव नावलम्बनपादविहरणे इति, चतुर्थी पुनर्यत्र त्रयमपि न विधत्ते । अनन्तरं शरीरचेष्टानिरोध उक्त इति शरीरप्रस्तावादिदं सूत्रद्वयं–'चत्तारी'त्यादि व्यक्तं, किन्तु जीवेन स्पृष्टानि–व्याप्तानि जीवस्पृष्टानि, जीवेन हि स्पृष्टान्येव वैक्रियादीनि भवन्ति, न तु यथा औदारिकं जीवमुक्तमपि भवति मृतावस्थायां तथैतानीति, 'कम्मुम्मीसग'त्ति कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रकाणि न केवलानि यथौदारिकादीनि त्रीणि वैक्रियादिभिरमिश्राण्यपि भवन्ति नैवं कार्म्मणेनेति भावः । शरीराणि कार्मणेनोन्मिश्राणीत्युक्तमुन्मिश्राणि च स्पृष्टान्येवेति स्पृष्टप्रस्तावात् सूत्रद्वयं–'चउही'त्यादि, गतार्थं, केवलं 'फुडे'त्ति स्पृष्टः–प्रतिप्रदेशं व्याप्तः, सूक्ष्माणां पञ्चानामपि सर्वलोकात् सर्वलोके उत्पादात् बादरतैजसानां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तु सर्वलोकादुद्धृत्य मनुष्यक्षेत्रे ऋजुगत्या वक्रगत्या चोत्पद्यमानानां द्वयोरूर्ध्वकपाटयोरेव बादरतेजस्त्वव्यपदेशस्येष्टत्वाच्च 'चउहिं बादरकाएहिं' इत्युक्तं, बादरा हि पृथिव्यम्बुवायुवनस्पतयः सर्वतो लोकादुद्धृत्य पृथिव्यादि घनोदध्यादि घनवातवलयादि घनोदध्यादिषु यथास्वमुत्पादस्थानेष्वन्यतरगत्योत्पद्यमाना अपर्याप्तकावस्थायामतिबहुत्वात् सर्वलोकं प्रत्येकं स्पृशन्ति, पर्याप्तास्त्वेते बादरतेजस्कायिकास्त्रसाश्च लोकासङ्ख्येयभागमेव स्पृशन्तीति, उक्तञ्च प्रज्ञापनायाम्—"एत्थ णं बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे," तथा "बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वलोए," एवमब्वायुवनस्पतीनां, तथा "बादरतेउक्काइयाणं पज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे" बादरतेउक्काइयाणं अपज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता, लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्ठे य" त्ति द्वयोरूर्ध्वकपाटयोरूर्ध्वकपाटस्थतिर्यग्लोके चेत्यर्थः, तिर्यग्लोकस्थालके चेत्यन्ये, तथा "[१]कहिन्नं भंते! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पन्नत्ता?, गोयमा! सुहुमपुढविकाइया जे पज्जत्तगा जे य अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसमणाणत्ता सव्वलोगपरियावन्नगा पन्नत्ता समणाउसो!" त्ति, एवमन्येऽपि,



१ अत्र बादरपृथ्वीकायिकानां पर्याप्तकानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि उपपातेन लोकस्यासंख्यातितमो भागः, बादरपृथ्वीकायिकानामपर्याप्तकानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि उपपातेन सर्वलोके, बादरतेजस्कायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि उपपातेन लोकस्यासंख्यातितमो भागः, बादरतेजस्कायिकानामपर्याप्तकानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि लोकस्य द्वयोरूर्ध्वकपाटयोस्तिर्यग्लोके च (स्थाले च) ॥ २ क्व भदन्त! सूक्ष्मपृथ्वीकायिकानामपर्याप्तकानां पर्याप्तकानां च स्थानानि प्रज्ञप्तानि ?, गौतम! सूक्ष्मपृथ्वीकायिका ये पर्याप्ता ये चापर्याप्तकास्ते सर्वे एकविधा अविशेषा अनानात्वाः सर्वलोकपर्यापन्नाः प्रज्ञप्ताः श्रमणायुष्मन्!


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"एवं बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागो"त्ति, [द्वीन्द्रियाणां पर्याप्ताकापर्याप्ताकानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि उपपातेन लोकस्यासङ्ख्याततमो भागः] एवं शेषाणामपीति । चतुर्भिर्लोकः स्पृष्ट इत्युक्तमिति लोकप्रस्तावात्तस्य धर्मास्तिकायादीनां चान्योऽन्यं प्रदेशतः समतामाह–'चत्तारी'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं प्रदेशाग्रेण–प्रदेशपरिमाणेनेति तुल्याः–समाः सर्वेषामेषामसङ्ख्यातप्रदेशत्वात्, 'लोयागासे'त्ति आकाशस्यानन्तप्रदेशत्वेन धर्मास्तिकायादिभिः सहातुल्यताप्रसक्तेर्लोकग्रहणं, 'एगजीवे'त्ति सर्वजीवानामनन्तप्रदेशत्वाद्विवक्षिततुल्यताऽभावप्रसङ्गादेकग्रहणमिति । पूर्वं पृथिव्यादिभिः स्पृष्टो लोक इत्युक्तमिति पृथिव्यादिप्रस्तावादिदमाह—

चउण्हमेगं सरीरं नो सुपस्सं भवइ, तं०—पुढविकाइयाणं आउ० तेउ० वणस्सइकाइयाणं (सू० ३३५) चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेंति, तं०—सोतिंदियत्थे घाणिंदियत्थे जिब्भिंदियत्थे फासिंदियत्थे (सू० ३३६) चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचातेंति बहिया लोगंता गमणताते, तं०—गतिअभावेणं णिरुवग्गहताते लुक्खताते लोगाणुभावेणं (सू० ३३७)

'चउण्ह'मित्यादि कण्ठ्यं, किन्तु 'नो पस्सं'ति चक्षुषा नो दृश्यमतिसूक्ष्मत्वात्, क्वचित् नो सुपस्संति पाठः, तत्र न सुखदृश्यं–न चक्षुषः प्रत्यक्षदृश्यमनुमानादिभिस्तु दृश्यमपीत्यर्थः, बादरवायूनां तथा सूक्ष्माणां पञ्चानामपि तदेकमनेकं वा अदृश्यमिति चतुर्णामित्युक्तं, वनस्पतय इह साधारणा एव ग्राह्याः, प्रत्येकशरीरस्यैकस्यापि दृश्यत्वादिति । पृथिव्यादीनां शरीरस्य चक्षुरिन्द्रियाविषयत्वमुक्तमितीन्द्रियविषयप्रस्तावादिदमाह–'चत्तारि इंदिये'त्यादि, स्पष्टं, किन्तु इन्द्रियै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

र्यन्ते–अधिगम्यन्त इतीन्द्रियार्थाः–शब्दादयः, 'पुट्ठ'त्ति स्पृष्टाः–इन्द्रियसम्बद्धा 'वेएंति'त्ति वेद्यन्ते–आत्मना ज्ञायन्ते, नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थपरिच्छेदस्वभावत्वादिति, उक्तं च—"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु। गंधं रसं च फासं च बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ १ ॥" इति [स्पृष्टं शृणोति शब्दं रूपं पुनः पश्यत्यस्पृष्टमेव गंधरसं च स्पर्शं च बद्धस्पृष्टं व्याकुर्यात्॥ १॥] अनन्तरं जीवपुद्गलयोरिन्द्रियद्वारेण ग्राहकग्राह्यभाव उक्तोऽधुना तयोर्गतिधर्म्मं चिन्तयन्नाह–'चउही'त्यादि, व्यक्तं, परमन्येषां गतिरेव नास्तीति 'जीवा य पुग्गला ये'त्युक्तम्, 'नो संचाएंति' न शक्नुवन्ति नालं 'बहिय'त्ति बहिस्तालोकान्तात् अलोके इत्यर्थः, गमनतायै–गमनाय गन्तुमित्यर्थः, गत्यभावेन–लोकान्तात् परतस्तेषां गतिलक्षणस्वभावाभावादधो दीपशिखावत्, तथा निरुपग्रहतया–धर्म्मास्तिकायाभावेन तज्जनितगत्युपष्टम्भाभावात् गन्त्र्यादिरहितपङ्गुवत्, तथा रूक्षतया सिकतामुष्टिवत्, लोकान्तेषु हि पुद्गला रूक्षतया तथा परिणमन्ति यथा परतो गमनाय नालं, कर्मपुद्गलानां तथाभावे जीवा अपि, सिद्धास्तु निरुपग्रहतयैवेति, लोकानुभावेन–लोकमर्यादया विषयक्षेत्रादन्यत्र मार्त्तण्डमण्डलवदिति। अनन्तरोक्ता अर्था उक्तवन्निदर्शनतः प्रायः प्राणिनां प्रतीतिपथपातिनो भवन्तीति निदर्शनभेदप्रतिपादनाय पञ्चसूत्री–

चउव्विहे णाते पं० तं०—आहरणे आहरणतद्देसे आहरणतद्दोसे उवन्नासोवणए १, आहरणे चउव्विहे पं० तं०—अवाते उवाते ठवणाकम्मे पडुप्पन्नविणासी २, आहरणतद्देसे चउव्विहे पं० तं०—अणुसिट्ठी उवालंभे पुच्छा निस्सावयणे ३, आहरणतद्दोसे चउव्विहे पं० तं०—अधम्मजुत्ते पडिलोमे अंतोवणीते दुरुवणीते ४, उवन्नासोवणए चउव्विहे पं०



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]

तं०—तव्वत्थुते तदन्नवत्थुते पडिनिभे हेतू हेऊ ५, चउव्विहे—पं० तं०—जावते थावते वंसते लूसते, अथवा हेऊ चउव्विहे पं० तं०—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे, अहवा हेऊ चउव्विहे पं० तं०—अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ १, अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ २, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ ३, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ ४ (सू० ३३८)

तत्र ज्ञायते अस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति अधिकरणे क्तप्रत्ययोपादानात् ज्ञातं—दृष्टान्तः, साधनसद्भावे साध्यस्यावश्यंभावः साध्याभावे वा साधनस्यावश्यमभाव इत्युपदर्शनलक्षणो, यदाह—"साध्येनानुगमो हेतोः, साध्याभावे च नास्तिता। ख्याप्यते यत्र दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा ॥ १ ॥" इति, तत्र साधर्म्यदृष्टान्तोऽग्निरत्र धूमाद्यथा महानस इति, वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु अग्न्यभावे धूमो न भवति यथा जलाशये इति, अथवा आख्यानकरूपं ज्ञातं, तच्च चरितकल्पितभेदात् द्विधा, तत्र चरितं यथा निदानं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्येव, कल्पितं यथा प्रमादवतामनित्यं यौवनादीति देशनीयं, यथा पाण्डुपत्रेण किशलयानां देशितं, तथाहि—"जह तुब्भे तह अम्हे तुब्भेऽविय होहिहा जहा अम्हे। अप्पाहेइ पडंतं पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥ १ ॥" [यथा यूयं तथा वयं यूयमपि भविष्यथ यथा वयं शिक्षयति पतत् पांडुपत्रं किशलयान् ॥ १ ॥] इति, अथवोपमानमात्रं ज्ञातं सुकुमारः करः किशलयमिवेत्यादिवत्, अथवा ज्ञातम्—उपपत्तिमात्रं ज्ञातहेतुत्वात्, कस्माद्यवाः क्रीयन्ते? यस्मान्मुधा न लभ्यन्ते इत्यादिवदिति, एवमनेकधा साध्यप्रत्यायनस्वरूपं ज्ञातमुपाधिभेदात् चतुर्विधं दर्शयति—तत्र आ—अभिविधिना ह्रियते—प्रतीतौ नीयते अप्रतीतोऽर्थोऽनेनेत्याहरणं, यत्र समुदित एव दार्ष्टान्तिकोऽर्थः उपनीयते यथा पापं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्येवेति, तथा तस्य—आहरणार्थस्य देश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

स्तदेशः स चासावुपचारादाहरणं चेति प्राकृतत्वादाहरणशब्दस्य पूर्वनिपातै आहरणतदेश इति, भावार्थश्चात्र–यत्र दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकार्थस्योपनयनं क्रियते तत्तदेशोदाहरणमिति, यथा चन्द्र इव मुखमस्या इति, इह हि चन्द्रे सौम्यत्वलक्षणेनैव देशेन मुखस्योपनयनं नानिष्टेन नयननासावर्जितत्वकलङ्कादिनेति, तथा तस्यैव–आहरणस्य सम्बन्धी साक्षात्प्रसङ्गसम्पन्नो वा दोषस्तद्दोषः स चासौ धर्म्मे धर्म्मिणः उपचारादाहरणं चेति प्राकृतत्वेन पूर्वनिपातादाहरणतद्दोष इति, अथवा तस्य–आहरणस्य दोषो यस्मिंस्तत्तथा, शेषं तथैव, अयमत्र भावार्थः–यत्साध्यविकलत्वादिदोषदुष्टं तद्दोषाहरणं, यथा नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात् घटवत्, इह साध्यसाधनवैकल्यं नाम दृष्टान्तदोषो, यच्चासभ्यादिवचनरूपं तदपि तद्दोषाहरणं, यथा सर्वथाऽहमसत्यं परिहरामि गुरुमस्तककर्त्तनवदिति, यद्वा साध्यसिद्धिं कुर्वदपि दोषान्तरमुपनयति तदपि तदेव, यथा सत्यं धर्म्ममिच्छन्ति लौकिकमुनयोऽपि—"वरं कूपशताद्वापी, वरं वापीशताक्रतुः। वरं क्रतुशतात्पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद्वरम् ॥ १ ॥" इति वचनवक्तृनारदवदिति, अनेन च श्रोतुः पुत्रक्रतुप्रभृतिषु प्रायः संसारकारणेषु धर्म्मप्रतीतिराहितेति आहरणतद्दोषतेति, यथा वा–बुद्धिमता केनापि कृतमिदं जगत् सन्निवेशविशेषवत्त्वात् घटवत् स चेश्वर इति, अनेन हि स बुद्धिमान् कुम्भकारतुल्योऽनीश्वरः सिध्यतीति, ईश्वरश्च स विवक्षित इति, तथा वादिना अभिमतार्थसाधनाय कृते वस्तूपन्यासे तद्विघटनाय यः प्रतिवादिना विरुद्धार्थोपनयः क्रियते पर्यनुयोगोपन्यासे वा य उत्तरोपनयः स उपन्यासोपनयः, उत्तररूपमुपपत्तिमात्रमपि ज्ञातभेदो ज्ञातहेतुत्वादिति, यथा अकर्त्ताऽऽत्मा अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्युक्ते अन्य आह–आकाशवदेवाभोक्तेत्यपि प्राप्तमनिष्टं चैतदिति, यथा वा मांसभक्षणमदुष्टं



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]


प्राण्यङ्गत्वादोदनादिवत्, अत्राहान्यः–ओदनादिवदेव स्वपुत्रादिमांसभक्षणमप्यदुष्टमिति, यथा वा त्यक्तसङ्गा वस्त्रपात्रादिसङ्गहं न कुर्वन्ति ऋषभादिवत्, अत्राह–कुण्डिकाद्यपि ते न गृह्णन्ति तद्वदेवेति, तथा कस्मात्कर्म कुरुषे यस्माद् धनार्थीति, इह प्रथमं ज्ञातं समग्रसाधर्म्यं द्वितीयं देशसाधर्म्यं तृतीयं सदोषं चतुर्थं प्रतिवाद्युत्तररूपमित्यय-मेषां स्वरूपविभाग इति, इह देशतः संवादगाथा—"चरियं च कप्पियं वा दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केकं । आहरणे तद्देसे तद्दोसे चेवुवन्नासा ॥ १ ॥" [चरितं च कल्पिकं वा द्विविधं ततश्चतुर्विधमेकैकं आहरणं तद्देशः तद्दोषश्चैव उपन्यासः ॥ १ ॥ ] इति, 'अवाये' अपायः–अनर्थः स यत्र द्रव्यादिष्वभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेष्वस्त्य-पायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषेष्विव, हेयता वाऽस्य यत्राभिधीयते तदाहरणमपाय इति, स च चतुर्धा द्रव्यादिभिः–तत्र द्रव्यात् द्रव्ये वाऽपायो द्रव्यमेव वा तत्कारणत्वादपायो द्रव्यापायः, एतद्धेयतासाधकं एतत्साधकं वाऽऽहरणमपि त-थोच्यते, तत्प्रयोगो–द्रव्यापायः परिहार्यस्तत्र वाऽपायो वर्त्तते देशान्तरगमनेनोपार्जितद्रविणयोस्तल्लोभात् परस्परमा-रणपरिणतयोः स्वग्रामाद् बहिः प्राप्तावनुतापात् हृदत्यक्तमत्स्यगिलिततद्वित्तयोर्मत्स्यबन्धकपार्श्वात् गृहीतस्य तस्य म-त्स्यस्य विदारणेऽवाप्ततद्द्रव्यलुब्धभगिन्या मत्स्यच्छेदकशस्त्राभिघातेन तदुद्दालनप्रवृत्तमारितमातृकायास्तथाविधव्यतिक-रदर्शनोत्पन्नसंवेगात् प्रतिपन्नप्रव्रज्ययोर्भ्रातृवणिजोरिव, तत्परिहारश्च प्रव्रज्यया तत्त्यागादिति, आहरणता चास्य देशे-नोपनयस्याविवक्षणादिति, तथा क्षेत्रात् क्षेत्रे वा क्षेत्रमेव वाऽपायः क्षेत्रापायः, शेषं तथैव, एवमुत्तरत्रापि, तत्प्रयोगः–अपायवत् क्षेत्रं वर्जयेत् जरासन्धाभिधानप्रतिवासुदेवात् सम्भावितापायां मथुरानगरीं यथा दशार्हचक्रं वर्जयामासेति,


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


आहरणस्य भेदा:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]



अथवा सम्भवत्यपायः सप्रत्यनीकक्षेत्रे ससर्प्पगृहवत्, कालापायो यथा–सापायकालवर्जने यतेत, द्वैपायनो द्वारकामावर्षद्वादशकाद्भक्ष्यतीति श्रुतनेमिनाथवचनो द्वादशवर्षलक्षणसापायकालपरिजिहीर्षयोत्तरापथप्रवृत्तो द्वैपायनो यथेति, अथवा सापायोऽपि भवति कालो रुद्रादिवदिति, तथा भावापायो यथा भावापायं परिहरेत् महानागवत् नागदत्तक्षुल्लकवद्वेति, तथाहि–किल कश्चित् क्षपकः प्रस्तुतपारणकः सक्षुल्लकः समारब्धभिक्षार्थभ्रमणकः कथञ्चिन्मारितमण्डूकिकः क्षुल्लकप्रेरितोऽप्रतिपन्नतद्वचनः पुनरावश्यककाले स्मारिततदर्थः समुत्पन्नकोपः क्षुल्लकोपघातायाभ्युत्थितो वेगादागच्छन् स्तम्भ आपतितो मृतो ज्योतिष्केषूत्पन्नोऽनन्तरं च्युतो जातिस्मरदृष्टिविषसर्प्पतयोत्पन्नः सर्प्पदष्टमृतपुत्रेण च सर्प्पेषु कुपितेन राज्ञाऽऽदिष्टजनमार्यमाणेषु नागेषु नागविनाशकनरेण केनाप्योषधिबलादाकृष्यमाणो दृष्टकोपविपाकतया च मद्दृष्टिविषेण मा घातकपुरुषविधातो भवत्विति भावनया पुच्छतो निर्गच्छन् यथानिर्गमं च खण्ड्यमानः कोपलक्षणभावापायं परिहृतवानिति, तथा स एवानन्तरं नागदत्ताभिधानराजसुततयोत्पन्नो बालत्व एव प्रतिपन्नप्रव्रज्योऽत्यन्तसंविग्नस्तिर्यग्भवाभ्यासाच्चात्यन्तक्षुधालुरादित्योदयादस्तमयं यावद् भोजनशीलोऽसाधारणगुणावर्जितदेवताभिवन्दितोऽत एव तद्गच्छगतमासादिक्षपकचतुष्टयस्येर्ष्याविष्यीभूतो विनयार्थं तेषामुपदर्शितस्वार्थानीतभोजनः तैश्च मत्सराद्भोजनमध्यनिष्ठ्यूतनिष्ठीवनोऽत्यन्तोपशान्तचित्तवृत्तितया यः सञ्जातकेवलः पुर्देवतावन्दितस्तेषामपि क्षपकाणां संवेगहेतुत्वेन केवलज्ञानदर्शनसमृद्धिसम्पादकः कोपरूपं भावापायं परिजहारेति, अथवा कोपादिलक्षणो भावोऽपायो भवति क्षपकस्येवेति, गाथे इह—"दव्वावाए दुन्नि उ वाणियगा भायरो धणनिमित्तं । वहपरिणयमेक्कमिक्कं दहंमि म-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

च्छेण निव्वेओ ॥ १ ॥ खित्तंमि अवक्कमणं दसारवग्गस्स होइ अवरेणं । दीवायणो य काले भावे मंडुक्कियाखमओ ॥ २ ॥" [ द्रव्यापाये द्वौ वणिग्भ्रातरौ धननिमित्तं । वधपरिणतौ एकैकस्मिन् ह्रदे मत्स्येन निर्वेदः ॥ १ ॥ क्षेत्रे अवक्रमणं दशार्हवर्गस्य भवत्यपरस्याम् । द्वीपायनश्च काले भावे मण्डूक्किकाक्षपकः ॥ २ ॥ ] इति, 'उवाए'त्ति उपायः– उपेयं प्रति पुरुषव्यापारादिका साधनसामग्री स यत्र द्रव्यादावुपेये अस्तीत्यभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेषु साधनीयेष्वस्त्युपायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषवत्, उपादेयता वाऽस्य यत्राभिधीयते तदाहरणमुपाय इति, सोऽपि द्रव्यादिभिश्चतुर्द्धैव, तत्र द्रव्यस्य सुवर्णादेः प्रासुकोदकादेर्वा द्रव्यमेव वा उपायो द्रव्योपायः, एतत्साधनमेतदुपादेयतासाधनं वाऽऽहरणमपि तथोच्यते, तत्प्रयोगश्चैवम्–अस्ति सुवर्णादिषूपायः उपायेनैव वा सुवर्णादौ प्रवर्त्तितव्यं, तथाविधधातुवादसिद्धादिवदिति, एवं क्षेत्रोपायः–क्षेत्रपरिकर्म्मणोपायो यथा अस्त्यस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रीकरणोपायो लाङ्गलादिस्तथाविधसाधुव्यापारो वा तेनैव वा प्रवर्त्तितव्यमत्र तथाविधान्यक्षेत्रवदिति, एवं कालोपायः–कालज्ञानोपायः, यथा अस्ति कालस्य ज्ञाने उपायः धान्यादेरिव, जानीहि वा कालं घटिकाच्छायादिनोपायेन तथाभूतगणितज्ञवदिति, एवं भावोपायो यथा भावज्ञाने उपायोऽस्ति भावं वोपायतो जानीहि, बृहत्कुमारिकाकथाकथनेन विज्ञातचौरादिभावाभयकुमारवदिति, तथाहि–किल राजगृहनगरस्वामिनः श्रेणिकराजस्य पुत्रोऽभयकुमाराभिधानो देवताप्रसादलब्धसर्वर्त्तुकफलादिसमृद्धारामस्याम्रफलानां अकालाम्रफलदोहदवद्भार्यादोहदपूरणार्थं चाण्डालचौरेणापहरणे कृते चौरपरिज्ञानार्थं नाव्यदर्शननिमित्तमिलितबहुजनमध्ये बृहत्कुमारिकाकथामचकथत्, तथाहि–काचिद् वृद्धकुमारिका


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


आहरणस्य भेदा:

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]



वाञ्छितवरलाभाय कामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता सद्भावकथने विवाहितया पत्या अपरिभुक्तया मत्पार्श्वे समागन्तव्यमित्यभ्युपगमं कारयित्वा मुक्ता ततः कदाचित् विवाहिता सती पतिमापृच्छ्य रात्रावारामपतिपार्श्वे गच्छन्ती चौरराक्षसाभ्यां गृहीता सद्भावकथने प्रतिनिवृत्तया भवत्पार्श्वे आगन्तव्यमितिकृताभ्युपगमा मुक्ता आरामे गता आरामिकेण सत्यप्रतिज्ञेत्यखण्डितशीला विसर्जिता इतराभ्यामपि तथैव विसर्जिता पतिसमीपमागतेति, ततो भो लोकाः पत्यादीनां मध्ये को दुष्करकारक इति चासौ पप्रच्छ, तत ईर्ष्यालुप्रभृतयः पत्यादीन् दुष्करकारित्वेनाभिदधुः, चौरचाण्डालस्तु चौरानिति, ततोऽसावनेनोपायेन भावमुपलक्ष्य चौर इतिकृत्वा तं बन्धयामासेति, अत्रापि गाथे—"एमेव चउविगप्पो होइ उवाओऽवि तत्थ दव्वम्मि । धाउव्वाओ पढमो णंगलकुलिएहिं खेत्तं तु ॥ १ ॥ कालोऽवि नालियाईहिं होइ भावम्मि पंडिओ अभओ । चोरस्स कए णट्टि य वद्धकुमारिं परिकहिंसु ॥ २ ॥" [ एवमेव चतुर्विकल्पो भवत्युपायोऽपि तत्र द्रव्ये धातुवादः प्रथमः लांगूलकुलिकैः क्षेत्रं तु ॥ १ ॥ कालोऽपि नालिकादिभिः भवति भावे पंडितोऽभयः चौरस्य कृते नृत्ये वृद्धकुमारीकथां परिचख्यौ ॥ २ ॥ ] इति । 'ठवणाकम्मे'त्ति स्थापनं प्रतिष्ठापनं स्थापना तस्याः कर्म्म–करणं स्थापनाकर्म्म येन ज्ञातेन परमतं दूषयित्वा स्वमतस्थापना क्रियते तत्स्थापनाकर्म्मेति भावः, तच्च द्वितीयाङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनं पुण्डरीकाख्यं, तत्र ह्युक्तमस्ति–काचित्पुष्करिणी कर्दमप्रचुरजला तन्मध्यदेशे महत्पुण्डरीकं तदुद्धरणार्थं चतसृभ्यो दिग्भ्यश्चत्वारः पुरुषाः सकर्दममार्गैः प्रवेष्टुमारब्धाः, ते चाकृततदुद्धरणा एवं पङ्के निमग्नाः, अन्यस्तु तटस्थोऽसंस्पृष्टकर्दम एवामोघवचनतया तदुद्धृतवानिति



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

ज्ञातम्, उपनयश्चायमत्र–कर्दमस्थानीया विषयाः पुण्डरीकं राजादिर्भव्यपुरुषः चत्वारः पुरुषाः परतीर्थिकाः पञ्चमः पुरुषः साधुः अमोघवचनं धर्म्मदेशना पुष्करिणी संसारः तदुद्धारो निर्वाणमिति, अनेन च ज्ञातेन विषयाभिष्वङ्गवतां तीर्थिकानां भव्यस्य संसारानुत्तारकत्वं साधोश्च तद्विपर्ययं वदता आचार्येण परमतदूषणेन स्वमतं स्थापितमतो भवतीदं ज्ञातं स्थापनाकर्म्मेति, अथवाऽऽपन्नं दूषणमपोह्य स्वाभिमतस्थापना कार्येत्येवंविधार्थप्रतिपत्तिर्यतो जायते तत्स्थापनाकर्म्म, किल मालाकारेण केनापि राजमार्गपुरीषोत्सर्गलक्षणापराधापोहाय तत्स्थाने पुष्पपुञ्जकरणेन किमिदमिति पृच्छतो लोकस्य हिंगुशिवो देवोऽयमिति वदता व्यन्तरायतनस्थापना कृतेति, एतस्मात्किलाख्यानकादुक्तार्थः प्रतीयत इतीदं स्थापनाकर्म्मेति, तथा नित्यानित्यं वस्त्वित्यसङ्गतं जिनमतं विरुद्धधर्माध्यासादिति दूषणमापन्नमेतदपोहायोच्यते-विरुद्धधर्माध्यासो न भेदनिबन्धनं विकल्पस्येव, विकल्पो हि क्रमभाविवर्णोल्लेखवान् विरुद्धधर्मोपेतो भवति, न च कथञ्चिदेको न भवति, खण्डशो विभक्तस्य तस्य स्वरूपलाभाभावात् प्रवृत्तिनिवृत्त्योरकारणता स्यादसमञ्जसं चैवमिति, एवञ्च विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिदभेदकत्वे सति न केवलं नित्यानित्यं न भवतीति दूषणमपोढमपि तु सर्वमनेकान्तात्मकमिति विकल्पज्ञानेन स्वमतं प्रसाधितम्, अतो विकल्पज्ञातं स्वमतस्थापनेन स्थापनाकर्म्मेति, अत्र निर्युक्तिगाथाः— "ठवणाकम्मं एक्कं [अभेदमित्यर्थः > दिट्ठंतो तत्थ पुंडरीयं तु। अहवाऽवि सन्नढक्कण हिंगुसिवकयं उदाहरणं ॥ १ ॥" इति, सव्यभिचारो हेतुर्यः सहसोपन्यस्तस्तस्य समर्थनार्थं यो दृष्टान्तः पुनरुपन्यस्यते स स्थापनाकर्मेति, उक्तं च—

१ स्थापना कर्म अभिन्नं दृष्टान्तस्तत्र पुंडरीकं तु अथवा पिसंज्ञाच्छादकहिंगुशिवदेवकृतमुदाहरणम् ॥ १ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


आहरणस्य भेदाः

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]



"सव्वभिचारं हेउं सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं । उववूहइ सप्पसरं सामत्थं चऽप्पणो णाउं ॥ १ ॥" ति, तद्यथा–अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, अथ वर्णात्मके शब्दे कृतकत्वं न विद्यते वर्णानां नित्यतयाऽभिहितत्वादिति व्यभिचारः, समर्थना पुनर्वर्णात्मा शब्दः कृतको निजकारणभेदेन भिद्यमानत्वात् घटपटादिवत्, घटादिदृष्टान्तेन हि वर्णानां कृतकत्वं स्थापितमिति भवत्ययं स्थापनाकर्म्मेति, 'पडुप्पन्नविणासि'त्ति प्रत्युत्पन्नस्य–तत्कालोत्पन्नवस्तुनो विनाशोऽभिधेयतया यत्रास्ति तत्प्रत्युत्पन्नविनाशीति, यथा केनापि वणिजा दुहित्रादिस्त्रीपरिवारशीलविनाशरक्षार्थं तदासक्तिनिमित्तस्वगृहासन्नराजगान्धर्विकगुणनिकायाः स्वगृहे कुलदेवतानिवेशनाद् गुणनिकाकाले तस्या देवताया अग्रतः आतोद्यनादव्याजेन राजापराधपरिहारेण विनाशः कृतः, एवं गुरुणा शिष्यान् क्वचिद् वस्तुन्यध्युपपद्यमानानुपलभ्य तस्य तदासक्तिनिमित्तत्वमुपहन्तव्यमित्येवं प्रत्युत्पन्नविनाशनीयताज्ञापकत्वात् प्रत्युत्पन्नविनाशिज्ञातता गन्धर्विकाख्यानकस्यावगन्तव्येति, उक्तञ्च —"[1]होति पडुप्पन्नविणासणंमि गंधव्विया उदाहरणं । सीसोऽवि कत्थइ जई अज्झोवज्जेज्ज तो गुरुणा ॥ १ ॥ वारेयव्वो उवाएणं" इति, अथवा अकर्त्ताऽऽत्मा अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्युत्पन्ने आत्मनोऽकर्तृत्वापत्तिलक्षणे दूषणे तद्विनाशायोच्यते–कर्त्तैवात्मा कथञ्चिन्मूर्त्तत्वाद्देवदत्तवदिति । व्याख्यातमाहरणं, आहरणता चैतद्भेदानां देशेन दोषवत्तया चोपनयनाभावादिति । अथाहरणतद्देशो व्याख्यायते–स च चतुर्द्धा, तत्र अनुशासनमनुशास्तिः–सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहणं

१ सव्यभिचारं हेतुं सहसोक्त्वा तमेवान्यैः उपबृंहयति सप्रसंगं सामर्थ्यं चात्मनो ज्ञात्वा ॥ १ ॥ २ भवति प्रत्युत्पन्नविनाशने गांधर्विकोदाहरणं शिष्योऽपि कुत्रापि यदि अध्युपपद्येत तदा गुरुणोपायेन वारयितव्यः ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

सा विधेयेति यत्रोपदिश्यते साऽनुशास्तिः, यथा गुणवन्तोऽनुशासनीया भवन्ति, यथा साधुलोचनपतितरजःकणापनयनेन लोकसम्भावितशीलकलङ्का तत्क्षालनायाराधितदेवताकृतप्रातिहार्या चालनीव्यवस्थापितोदकाच्छोटनोद्घाटितचंपागोपुरत्रया सुभद्रा अहो शीलवतीति महाजनेनानुशासितेति, उक्तं च—"आहरणं तद्देसे चउहा अणुसट्ठि तह उवालंभो। पुच्छा निस्सावयणं होइ सुभद्दाऽणुसट्ठीए ॥ १ ॥ साहुक्कारपुरोयं जह सा अणुसासिया पुरजणेणं। वेयावच्चाईसुवि एव जयंतेवबूहेज्जा ॥ २ ॥" इति, इह च तथाविधवैयावृत्त्यकरणादिनाप्युपनयः सम्भवति तत्त्यागेन च महाजनानुशास्तिमात्रेणोपनयः कृत इत्याहरणतद्देशतेति, एवमनभिमतांशत्यागादभिमतांशोपनयनमुत्तरेष्वपि भावनीयमिति, तथा उपालम्भनं उपालम्भो—भर्त्सनान्तरेणानुशासनमेव स यत्राभिधीयते स उपालंभो यथा क्वचिदपराधवृत्तयो विनेया उपालम्भनीयाः यथा महावीरसमवसरणे सविमानागतचन्द्रादित्योद्योतेन कालविभागमजानती मृगावतीनाम्नी साध्वी स्थिता ततस्तद्गमनेऽतिकालोऽयमिति सम्भ्रान्ता सह साध्वीभिरार्यचन्दनासमीपं गता तया चोपालब्धा—अयुक्तमिदं भवादृशीनामुत्तमकुलजातानामिति, तथा पृच्छा—प्रश्नः किं कथं केन कृतमित्यादि सा यत्र विधेयतयोपदिश्यते सा पृच्छा, यथा प्रच्छनीया ज्ञानिनो निर्णयार्थिभिर्यथा भगवान् कोणिकेन पृष्टः, तथाहि—किल कोणिकः श्रेणिकराजपुत्रः श्रमणं भगवन्तं महावीरं पप्रच्छ, तद्यथा—भदन्त! चक्रवर्त्तिनोऽपरित्यक्तकामा मृताः क्वोत्पद्यन्ते?, भगवताऽभिहितं—

१ आहरणं तद्देशे चतुर्धा अनुशास्तिस्तथोपालंभः पृच्छा निश्रावचनं भवति सुभद्रानुशास्तौ ॥ १ ॥ साधुकारपूर्वकं यथा साऽनुशिष्टा पौरजनेन वैयावृत्त्यादिष्वपि एवं यतमानानप्युपबृंहयेत् ॥ २ ॥


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


आहरणस्य भेदा:

सप्तमनरकपृथिव्यां, ततोऽसौ बभाण–अहं कोत्पत्स्ये?, स्वामिनोक्तं–षष्ठ्यां, स उवाच–अहं किं न सप्तम्यां?, स्वामिना जगदे–सप्तम्यां चक्रवर्त्तिनो यान्ति, ततोऽसावभिदधौ–किमहं न चक्रवर्त्ती?, यतो ममापि हस्त्यादिकं तत्समानमस्ति, स्वामिना प्रत्यूचे–तव रत्ननिधयो न सन्ति, ततोऽसौ कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधनप्रवृत्तः कृतमालिकयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः षष्ठीं गत इति । तथा 'निस्सावयणे'त्ति निश्रया वचनं निश्रावचनम्, अयमर्थः–कमपि सुशिष्यमालम्ब्य यदन्यप्रबोधार्थं वचनं तन्निश्रावचनं तच्चत्र विधेयतयोच्यते तदाहरणं निश्रावचनं, यथा असहनान् विनेयान् मार्दवसम्पन्नमन्यमालम्ब्य किञ्चिद् ब्रूयात्, गौतममाश्रित्य भगवानिवेति, तथाहि–किल गौतमं तापसादिप्रव्रजितानां केवलोत्पत्तावनुत्पन्नकेवलत्वेनाधृतिमन्तं चिरसंश्लिष्टोऽसि गौतम! चिरपरिचितोऽसि गौतम! मा त्वमधृतिं कार्षीरित्यादिना वचनसन्दोहेनानुशासयता अन्येऽप्यनुशासिताः, तदनुशासनार्थं द्रुमपत्रकाध्ययनं च प्रणिन्ये इति, उक्तं च—"पुच्छाए कोणिए खलु निस्सावयणंमि गोयमस्सामि" [पृच्छायां कोणिकः खलु निश्रावचने गौतमस्वामी] इति॥ व्याख्यातं तद्देशोदाहरणम्, तद्दोषोदाहरणमथ व्याख्यायते, तच्च चतुर्द्धा, तत्र 'अहम्मजुत्ते'त्ति यदुदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादीयते केवलं पापाभिधानस्वरूपं येन चोक्तेन प्रतिपाद्यस्याधर्म्मबुद्धिरुपजन्यते तदधर्म्मयुक्तं, तद्यथा–उपायेन कार्याणि कुर्यात् कोलिकनलदामवत्, तथाहि–पुत्रखादकमस्कोटकमार्गेणोपलब्धबिलवासानामशेषमत्कोटकानां तप्तजलस्य त्रिले प्रक्षेपणतो मारणदर्शनेन रञ्जितचित्तचाणक्यावस्थापितेन चौरग्राहनलदामाभिधानकुविन्देन चौर्यसहकारितालक्षणोपायेन विश्वासिता मिलिताश्चौरा विषमिश्रभोजनदानतः सर्वे व्यापादिता इति, आहरणतद्दोषता चास्याधर्म्मयुक्तत्वात् तथा-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

विधश्रोतुरधर्म्मबुद्धिजनकत्वाच्चेति, अत एव नैवंविधमुदाहर्त्तव्यं यतिनेति, 'पडिलोमे'त्ति प्रतिकूलं यत्र प्रातिकूल्यमुपदिश्यते यथा शठं प्रति शठत्वं कुर्यात्, यथा चण्डप्रद्योते तदपहरणार्थं तदपहृताभयकुमारश्चकारेति, तद्दोषता चास्य श्रोतुः परापकारकरणनिपुणबुद्धिजनकत्वात्, अथवा धृष्टप्रतिवादिना द्वावेव राशी जीवश्चाजीवश्चेत्युक्ते तत्प्रतिघातार्थं कश्चिदाह–तृतीयोऽप्यस्ति नोजीवाख्यो गृहकोलिकादिच्छिन्नपुच्छवदिति, अस्यापि तद्दोषताऽपसिद्धान्ताभिधानादिति, 'अत्तोवणीए'त्ति आत्मैवोपनीतः–तथा निवेदितो नियोजितो यस्मिंस्तत्तथा, येन ज्ञातेन परमतदूषणायोपात्तेनात्ममतमेव दुष्टतयापनीयते यथा पिङ्गलेनात्मा तदात्मोपनीतं, तथाहि–कथमिदं तडागमभेदं भविष्यतीति राज्ञा पृष्टः पिङ्गलाभिधानः स्थपतिरवोचत्–भेदस्थाने कपिलादिगुणे पुरुषे निखाते सतीति, अमात्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वान्निखात इति तेनात्मैव नियुक्तः, स्ववचनदोषात्, तदेवंविधमात्मोपनीतमिति, अत्रोदाहरणं यथा सर्व्वे सत्त्वा न हन्तव्या इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय कश्चिदाह–अन्यधर्म्मस्थिता हन्तव्या विष्णुनेव दानवा इत्येवंवादिना आत्मा हन्तव्यतयोपनीतो धर्म्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति, तद्दोषता तु प्रतीतैवास्येति, 'दुरुवणीए'त्ति दुष्टमुपनीतं–निगमितं योजितमस्मिन्निति दुरुपनीतं परिव्राजकवाक्यवद्, यथा ह किल कश्चित् परिव्राजको जालव्यग्रकरो मत्स्यबन्धाय चलितः, केनचिद् धूर्त्तेन किञ्चिदुक्तस्तेन च तस्योत्तरमसङ्गतं दत्तम्, अत्र च वृत्तं—"कन्थाऽऽचार्योऽघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यांस्तेभे मद्योपदंशान् पिबसि ननु! युतो वेश्यया यासि वेश्याम्?। दत्त्वाऽरीणां गलेऽद्रिं क्व नु तव रिपवो? येषु सन्धिं छिनद्मि, चौरस्त्वं? द्यूतहेतोः कितव इति कथं? येन दासीसुतोऽस्मि ॥ १ ॥" इत्येवं प्रकृतसाध्यानुपयोगे स्वमतदूषणावहं वा


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


आहरणस्य भेदा:

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]



यत्तद्दार्ष्टान्तिकेन सह साधर्म्याभावाद् दुरुपनीतमिति, यथा नित्यः शब्दो घटवद्, इह घटे नित्यत्वं नास्त्येवेति कुतस्तत्साधर्म्याच्छब्दस्य नित्यत्वमस्तु?, अपि त्वनित्यत्वात् घटस्य तत्साधर्म्याच्छब्दस्यानित्यत्वमेवानभिमतं सिध्यतीति साध्यानुपयोगीदमुदाहरणम्, तथा सन्तानोच्छेदो मोक्षो दीपस्येवेत्यभ्युपगमे दीपदृष्टान्तादनादिमतोऽपि सन्तानस्यावस्तुता प्रतीयते, तथाहि–दीपस्यात्मनश्च सन्तानोच्छेद उत्तरक्षणाजनकत्वात्, तत्त्वे चार्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वाभावादन्त्यक्षणस्यावस्तुत्वम् अवस्तुत्वजनकत्वात् पूर्वक्षणस्यापि तत एव पूर्वतरस्यापीत्येवं समस्तस्यापि सन्तानस्यावस्तुत्वम्, अथ क्षणान्तरानारम्भेऽपि स्वगोचरज्ञानजननलक्षणार्थक्रियाकारित्वादन्त्यक्षणो वस्तु भविष्यति, नैवम्, एवं हि भूतभाविपर्यायपरम्परापि योगिज्ञानं स्वविषयमुत्पादयतीति वस्तुत्वं स्वीकुर्यात्, तन्न क्षणान्तरानारम्भे वस्तुत्वमित्यतो भवति दीपज्ञातं स्वमतदूषणावहमिति, अथवा अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति वक्तव्ये सम्भ्रमादनित्यो घटः कृतकत्वाच्छब्दवदिति वदतो दुरुपनीतं विपर्ययोपनयनादिति, अत्र गाथाः—"[1]पढमं अहम्मजुत्तं पडिलोमं अत्तणो उवन्नासो। दुरुवणियं च चउत्थं अहम्मजुत्तंमि नलदामो ॥ १ ॥ पडिलोमे जह अभओ पज्जोयं हरइ अवहिओ संतो" इति "अत्तउवन्नासंमि य तलायभेयंमि पिंगलो थवई। अणिमिसगेण्हणभिच्छुग दुरुवणीए उदाहरणं ॥ १ ॥" इति, उक्त आहरणतद्दोषोऽधुनोपन्यासोपनय उच्यते, स च चतुर्द्धा, तत्र 'तव्वत्थुए'त्ति तदेव–परोपन्यस्तसाधनं वस्त्विति–उक्त-

१ प्रथममधर्मयुक्तं प्रतिलोम आत्मन उपन्यासः दुरुपनीतं च चतुर्थमधर्मयुक्ते नलदामः ॥ १ ॥ प्रतिलोमे यथाऽभयः प्रद्योतं हरति अपहृतः सन् ॥ आत्मोपन्यासे च तडागभेदे पिंगलः स्थपतिः अनिमेषग्राहकभिक्षुर्दुरुपनीते उदाहरणं ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहरणस्य भेदा:

प्रत सूत्रांक [३३८]

दीप अनुक्रम [३६०]

रभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तद्वस्तुकोऽथवा तदेव–परोपन्यस्तं वस्तु तद्वस्तु तदेव तद्वस्तुकं तद्युक्त उपन्यासोपनयोऽपि तद्वस्तुक इत्युच्यते एवमुत्तरत्रापि, यथा कश्चिदाह–समुद्रतटे महान् वृक्षोऽस्ति, तच्छाखा जलस्थलयोरुपरि स्थिताः, तत्पत्राणि च यानि जले निपतन्ति तानि जलचरा जीवा भवन्ति यानि च स्थले निपतन्ति तानि स्थलचरा इति, अन्यस्तदुपन्यस्तमेव तरुपत्रपतनवस्तु गृहीत्वा तदुक्तं विघटयति, यदुत–यानि पुनर्मध्ये तेषां का वार्त्तेत्येतदुपपत्तिमात्रमुत्तरभूतं तद्वस्तुक उपन्यासोपनयो, ज्ञातत्वं चास्य ज्ञातनिमित्तत्वात्, अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेतत्, तथा हि एवं प्रयोगोऽस्य–जलस्थलपतितपत्राणि न जलचरादिसत्त्वाः सम्भवन्ति, जलस्थलमध्यपतितपत्रवत्, तन्मध्यपतितपत्राणां हि जलस्थलपतितपत्रजलचरत्वादिप्राप्तिवदुभयरूपप्रसङ्गो, न चोभयरूपाः सत्त्वा अभ्युपगता इति, अथवा नित्यो जीवः अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्युक्ते आह–अनित्य एवास्तु अमूर्त्तत्वात् कर्म्मवदिति । तथा 'तयन्नवत्थुए'त्ति तस्मात्–परोपन्यस्ताद् वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुको यथा जले पतितानि जलचरा इत्युक्ते एतद्विघटनाय पतनादन्यदुत्तरमाह–यानि पुनः पातयित्वा खादति नयति वा तानि किं भवन्ति?, न किञ्चिदित्यर्थोऽयमपि ज्ञापकतया ज्ञातमुक्तः, अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेषः, तथाहि–न जलस्थलपतितानि पत्राणि जलचरादिसत्त्वाः सम्भवन्ति, मनुष्याद्याश्रितानीव, अयमभिप्रायो यथा–जलाद्याश्रितत्वात् जलचरादितया तानि सम्पद्यन्ते तथा मनुष्याद्याश्रिततया मनुष्यादिभवयूकादितयाऽपि सम्पद्यन्ताम्, आश्रितत्वस्याविशेषात्, न च तानि तथाऽभ्युपगम्यन्त इति जलादिगतानामपि जलचरत्वाद्यसम्भव इति, तथा 'पडिनिभे'त्ति यत्रोपन्यासोपनये वादिनोपन्यस्तव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

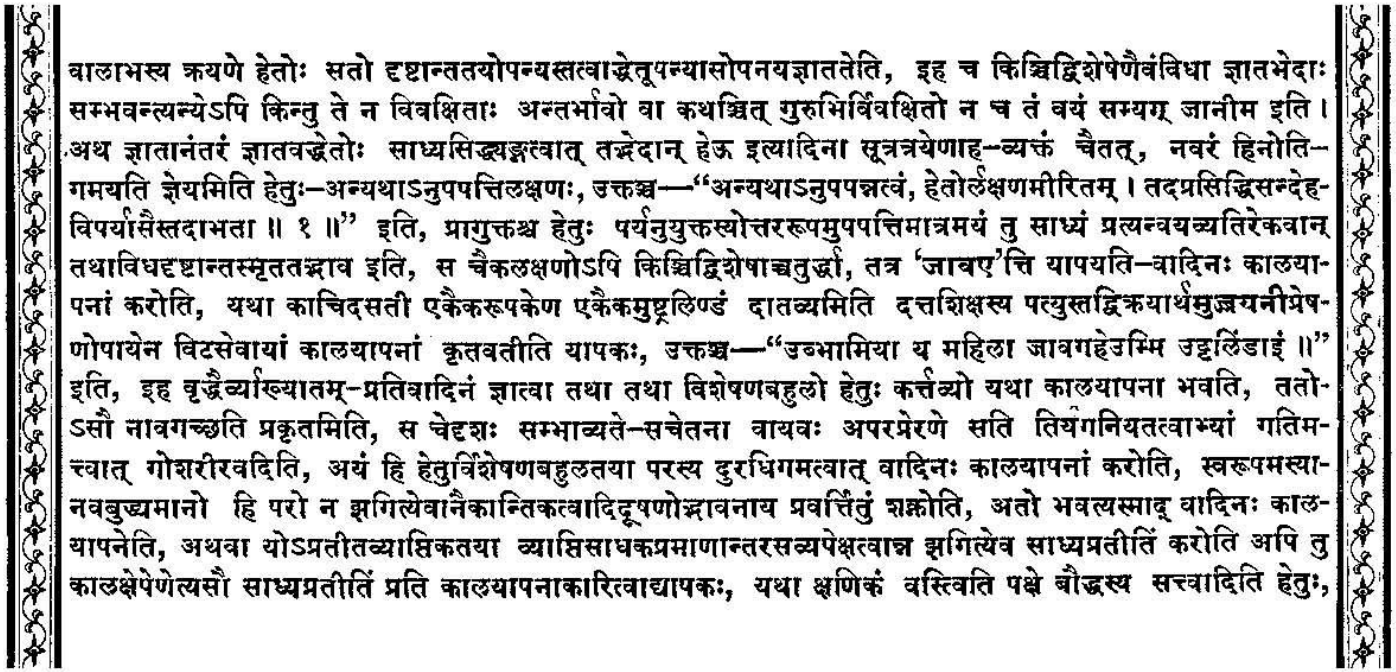
'आहरण' तद्दोषा

स्तुनः सदृशं वस्तूत्तरदानायोपनीयते स प्रतिनिभो यथा कोऽपि प्रतिजानीने यदुत–यो मामपूर्वं श्रावयति तस्मै लक्षमूल्यमिदं कटोरकं ददामीति, स च श्रावितोऽपि तन्नापूर्वमिति प्रतिपद्यते, तत एकेन सिद्धपुत्रेणोक्तम्—"तुज्झ पिया मज्झ पिउणो, धारेइ अणूणयं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ अह न सुयं खीरयं देहि ॥ १ ॥" इति, प्रतिनिभता चास्य सर्वस्मिन्नप्युक्ते श्रुतपूर्वमेवेदं ममेत्येवमसत्यं वचो ब्रुवाणस्य परस्य निग्रहाय तव पिता मम पितुर्द्धारयति लक्षमित्येवंविधस्य द्विपाशरज्जुकल्पस्यासत्यस्यैव वचस उपन्यस्तत्वादिति, अस्य चोपपत्तिमात्ररूपस्याप्यर्थज्ञापकतया ज्ञातत्वमुक्तमिति, अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेषः, तथाहि अत्रायं प्रयोगः–नास्त्यश्रुतपूर्वं किञ्चित् श्लोकादि ममेत्येवमभिमानधनं ब्रूमो वयम्–अस्ति तवाश्रुतपूर्वं वचनं तव पिता मम पितुर्द्धारयत्यनूनं शतसहस्रमिते यथेते । तथा 'हेउ'त्ति यत्रोपन्यासोपनये पर्यनुयोगस्य हेतुरुत्तरतयाऽभिधीयते स हेतुरिते, यथा केनापि कश्चित् पर्यनुयुक्तः–अहो किं यवाः क्रीयन्ते त्वया?, स त्वाह–येन मुधैव न लभ्यन्ते इति, तथा कस्मात् ब्रह्मचर्यादिकष्टमनुष्ठीयते?, यस्मादकृततपसां नरकादौ गुरुतरा वेदना भवतीति, इदमपि उपपत्तिमात्रमेव ज्ञातत्वेनोक्तमर्थज्ञापकत्वादिते, अथवाऽयमपि यथारूढं ज्ञातमेव, तथाह्यस्यैवं प्रयोगः–कस्मात् त्वया प्रव्रज्या क्रियत इति पृष्टः सन् केनापि साधुराह–यतस्तां विना मोक्षो न भवति, एतत्समर्थनायैव साधुस्तमाह–भो यवग्राहिन्! किमिते त्वया यवाः क्रीयन्ते?, स त्वाह–येन मुधा न लभ्यन्ते, साधोश्चायमभिप्रायो यथा–मुधालाभाभावात् तान् क्रीणासि त्वमेवमहं तां विना तदभावात्तां करोमीति, इह च मुधा य-

१ तव पिता मम पितुर्धारयत्यनूनं शतसहस्रं यदि श्रुतपूर्वं ददातु अथ न श्रुतं क्षीरकं देहि ॥ १ ॥



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



बालाभस्य क्रयणे हेतोः सतो दृष्टान्ततयोपन्यस्तत्वाद्धेतूपन्यासोपनयज्ञाततेति, इह च किञ्चिद्विशेषेणैवंविधा ज्ञातभेदाः सम्भवन्त्यन्येऽपि किन्तु ते न विवक्षिताः अन्तर्भावो वा कथञ्चित् गुरुभिर्विवक्षितो न च तं वयं सम्यग् जानीम इति। अथ ज्ञातानंतरं ज्ञातवद्धेतोः साध्यसिद्ध्यङ्गत्वात् तद्भेदान् हेऊ इत्यादिना सूत्रत्रयेणाह--व्यक्तं चैतत्, नवरं हिनोति--गमयति ज्ञेयमिति हेतुः--अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणः, उक्तञ्च--"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, हेतोर्लक्षणमीरितम्। तदप्रसिद्धिसन्देह-विपर्यासैस्तदाभता ॥ १ ॥" इति, प्रागुक्तश्च हेतुः पर्यनुयुक्तस्योत्तररूपमुपपत्तिमात्रमयं तु साध्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकवान् तथाविधदृष्टान्तस्मृततद्भाव इति, स चैकलक्षणोऽपि किञ्चिद्विशेषाच्चतुर्धा, तत्र 'जावए'त्ति यापयति--वादिनः कालया-पनां करोति, यथा काचिदसती एकैकरूपकेण एकैकमुष्ट्रलिण्डं दातव्यमिति दत्तशिक्षस्य पत्युस्तद्विक्रयार्थमुज्जयनीप्रेष-णोपायेन विटसेवायां कालयापनां कृतवतीति यापकः, उक्तञ्च--"उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उट्टलिंडाइं ॥" इति, इह वृद्धैर्व्याख्यातम्--प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति, ततो-ऽसौ नावगच्छति प्रकृतमिति, स चेदृशः सम्भाव्यते--सचेतना वायवः अपरप्रेरणे सति तिर्यगनियतत्वाभ्यां गतिम-त्त्वात् गोशरीरवदिति, अयं हि हेतुर्विशेषणबहुलतया परस्य दुरधिगमत्वात् वादिनः कालयापनां करोति, स्वरूपमस्या-नवबुध्यमानो हि परो न झगित्येवानैकान्तिकत्वादिदूषणोद्भावनाय प्रवर्त्तितुं शक्नोति, अतो भवत्यस्माद् वादिनः काल-यापनेति, अथवा योऽप्रतीतव्याप्तिकतया व्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न झगित्येव साध्यप्रतीतिं करोति अपि तु कालक्षेपेणेत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वाद्यापकः, यथा क्षणिकं वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्त्वादिति हेतुः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहि सत्त्वश्रवणादेव क्षणिकत्वं प्रत्येति पर इत्यतो बौद्धः सत्त्वं क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति प्रसाधयितुमुपक्रमते, तथाहि–सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा वन्ध्यासुतस्यापि सत्त्वप्रसङ्गः, अर्थक्रिया तु नित्यस्यैकरूपत्वान्न क्रमेण नापि यौगपद्येन क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसङ्गादित्यतोऽर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिकान्निवर्त्तमानं क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येवं क्षेपेण साध्यसाधने कालयापनाकारित्वाद् यापकः सत्त्वलक्षणो हेतुरिति । तथा स्थापयति पक्षमक्षेपेण प्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् समर्थयति, यथा परिव्राजकधूर्त्ते लोकमध्यभागे दत्तं बहुफलं भवति तज्ज्ञाहमेव जानामीति मायया प्रतिग्राममन्यान्यं लोकमध्यं प्ररूपयति सति तन्निग्रहाय कश्चित् श्रावको लोकमध्यस्यैकत्वात् कथं बहुषु ग्रामादिषु तत्सम्भव इत्येवंविधोपपत्त्या त्वदृष्टितो भो लोकमध्यभागो न भवतीति पक्षं स्थापितवानिति स्थापको हेतुः, उक्तञ्च—"लोगस्स मज्झजाणण थावगहेऊ उदाहरणं" इति, स चायं–अग्निरत्र धूमात्, तथा नित्यानित्यं वस्तु द्रव्यपर्यायतस्तथैव प्रतीयमानत्वादिति, अनयोश्च प्रतीतव्याप्तिकतया अकालक्षेपेण साध्यस्थापनात् स्थापकत्वमिति । तथा व्यंसयति–परं व्यामोहयति शकटतित्तिरीग्राहकधूर्त्तवद् यः स व्यंसक इति, तथाहि–कश्चिदन्तराललब्धमृततित्तिरीयुक्तेन शकटेन नगरं प्रविष्टः उक्तो धूर्त्तेन यथा–शकटतित्तिरी कथं लभ्यते?, स च किलायं शकटस्य सत्कां तित्तिरीं याचत इत्यभिप्रायादवोचत्–तर्प्पणालोडिकयेति, सक्त्वालोडनेन जलाद्यालोडितसक्तुभिरित्यर्थः, ततो धूर्त्तः साक्षिण आहूय सतित्तिरीकं शकट जग्राह, उक्तवांश्च मदीयमेतद्, अनेनैव शकटतित्तिरीति दत्तत्वात्, मया तु शकटसहिता तित्तिरी शकटतित्तिरीति गृहीतत्वादिति, ततो विषण्णः शाकटिक इति, अत्रोक्तम्–"सा सगडतित्तिरी वंसगंमि हेउंमि होइ णायव्वा ॥" इति, स चैवं






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

–अस्ति जीवोऽस्ति घट इत्यभ्युपगमे जीवघटयोरस्तित्वमविशेषेण वर्त्तते ततस्तयोरेकत्वं प्राप्तमभिन्नशब्दविषयत्वादिति व्यंसको हेतुः, घटशब्दविषयघटस्वरूपवत्, अथास्तित्वं जीवादौ न वर्त्तते ततो जीवाद्यभावः स्यादस्तित्वाभावादिति व्यंसकः प्रतिवादिनो व्यामोहकत्वादिति, तथा 'लूसए'त्ति लूषयति–मुष्णाति व्यंसकापादितमनिष्टमिति लूषको हेतुः, स एव शाकटिको, यथा–धूर्त्तान्तरशिक्षितेन हि शाकटिकेन तेन याचितोऽसौ धूर्त्त तर्हि देहि मे तर्पणालोडिकामिति, ततो धूर्त्तेनोक्ता स्वभार्या–देह्यस्मै सत्कूनालोड्येति, ताञ्च तथा कुर्वन्तीं तद्भार्यां गृहीत्वाऽसौ प्रस्थितोऽवादीच्च धूर्त्त-मभि–मदीयेयं तर्पणमिति सत्कूनालोडयतीति तर्पणालोडिकेति भवतैव दत्तत्वादिति, स चायं यदि जीवघटयोरस्ति-त्ववृत्त्या एकत्वं सम्भावयसि तदा सर्वभावानामेकत्वं स्यात्, सर्वेष्वप्यस्तित्ववृत्तेरविशेषात्, न चैवमिति, इहास्तित्व-वृत्तेरविशेषादित्ययं लूषको जीवघटयोरेकत्वापादनलक्षणस्याभावापत्तिलक्षणस्य वाऽनिष्टस्य परापादितस्यानेन लूषितत्वा-दिति, अथवेति हेतोः प्रकारान्तरताद्योतको विकल्पार्थो हिनोति–गमयति प्रमेयमर्थं स वा हीयते–अधिगम्यते अने-नेति हेतुः–प्रमेयस्य प्रमितौ कारणं प्रमाणमित्यर्थः, स चतुर्विधः स्वरूपादिभेदात्, तत्र 'पच्चक्खे'त्ति अश्नाति अश्नुते–व्याप्नोत्यर्थानित्यक्षः–आत्मा तं प्रति यद्वर्त्तते ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं निश्चयतोऽवधिमनःपर्यायकेवलानि, अक्षाणि वेन्द्रियाणि प्रति यत्तत्प्रत्यक्षं व्यवहारतस्तच्चक्षुरादिप्रभवमिति, लक्षणमिदमस्य—"अपरोक्षतयाऽर्थस्य, ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् । प्रत्य-क्षमितरत् ज्ञेयं, परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ १ ॥" ग्रहणापेक्षयेति भावः, अन्विति–लिङ्गदर्शनसम्बन्धानुस्मरणयोः पश्चान्मानं –ज्ञानमनुमानम्, एतल्लक्षणमिदम्—"साध्याविनाभुवो लिङ्गात्, साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं, प्रमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णत्वात् समक्षवद् ॥ १ ॥" इति, एतच्च साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाप्युपचाराद्धेतुरिति, तथा उपमानमुपमा सैवोपम्यं अनेन गवयेन सदृशोऽसौ गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूपं, उक्तञ्च—"गां दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा । भूयोऽवयवसामान्यभाजं वर्त्तुलकण्ठकम् ॥ १ ॥ तस्यामेव त्ववस्थायां, यद्विज्ञानं प्रवर्त्तते । पशुनैतेन तुल्योऽसौ, गोपिण्ड इति सोपमा ॥ २ ॥" इति, अथवा श्रुतातिदेशवाक्यस्य समानार्थोपलम्भने संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानमुच्यत इति, आगम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः—आप्तवचनसम्पाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः, उक्तञ्च—"दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः । तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं, मानं शाब्दं प्रकीर्त्तितम् ॥ १ ॥ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ १ ॥" इति । इहान्यथाऽनुपपन्नत्वलक्षणहेतुजन्यत्वादनुमानमेव कार्ये कारणोपचाराद्धेतुः, स च चतुर्विधः, चतुर्भङ्गीरूपत्वात्, तत्र अस्ति—विद्यते तदिति—लिङ्गभूतं धूमादिवस्तु इतिकृत्वा अस्ति सः—अग्न्यादिकः साध्योऽर्थ इत्येव हेतुरिति अनुमानं, तथा अस्ति तदग्न्यादिकं वस्त्वतो नास्त्यसौ तद्विरुद्धः शीतादिरर्थ इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति, तथा नास्ति तदग्न्यादिकमतः शीतकालेऽस्ति स शीतादिरर्थ इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति, तथा नास्ति तद्वृक्षत्वादिकमिति नास्ति शिंशपात्वादिकोऽर्थ इत्यपि हेतुरनुमानमिति, इह च शब्दे कृतकत्वस्यास्तित्वादस्त्यनित्यत्वं घटवत्तथा धूमस्यास्तित्वादिहास्त्यग्निर्महानस इत्यादिकं स्वभावानुमानं कार्यानुमानञ्च प्रथमभङ्गकेन सूचितम् १, तथा अग्नेरस्तित्वाद्धूमास्तित्वाद्वा नास्ति शीतस्पर्श इत्यादि विरुद्धोपलम्भानुमानं विरुद्धकार्योपलम्भानुमानञ्च, तथाऽग्नेर्धूमस्य वाऽस्तित्वान्नास्ति शीतस्पर्शजनितदन्तवीणारोमहर्षादिः पुरुषविकारो महानसवदित्यादि कारणवि-






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुद्धोपलम्भानुमानम् कारणविरुद्धकार्योपलम्भानुमानं च द्वितीयभङ्गकेनाभिहितं २ तथा छत्रादेरन्येर्वा नास्तित्वादस्ति क्वचित्कालादिविशेषे आतपः शीतस्पर्शो वा पूर्वोपलब्धप्रदेश इवेत्यादिकं विरुद्धकारणानुपलम्भानुमानं विरुद्धानुपलम्भानुमानञ्च तृतीयभङ्गकेनोपात्तं ३ तथा दर्शनसामर्थ्यां सत्यां घटोपलम्भस्य नास्तित्वान्नास्तीह घटो विवक्षितप्रदेशवदित्यादि स्वभावानुपलब्ध्यनुमानं तथा धूमस्य नास्तित्वान्नास्त्यविकलो धूमकारणकलापः प्रदेशान्तरवदित्यादि कार्यानुपलब्ध्यनुमानम्, तथा वृक्षनास्तित्वात् शिंशपा नास्तीत्यादि व्यापकानुपलम्भानुमानं तथाऽग्नेर्नास्तित्वाद्धूमो नास्तीत्यादि कारणानुपलम्भानुमानञ्च चतुर्थभङ्गकेनावरुद्धमिति, न च वाच्यं न जैनप्रक्रियेयं, सर्वत्र जैनाभिमतान्यथानुपपन्नत्वरूपस्य हेतुलक्षणस्य विद्यमानत्वादिति ४ । अनन्तरं हेतुशब्देन ज्ञानविशेष उक्तस्तदधिकाराद् ज्ञानविशेषनिरूपणायाह—

चउव्विहे संखाणे पं० तं०—पडिकम्मं १ ववहारे २ रज्जू ३ रासी ४ । अहोलोगे णं चत्तारि अंधगारं करेंति, तं० —नरगा णेरइया पावाइं कम्माइं असुभा पोग्गला १, तिरियलोगे णं चत्तारि उज्जोतं करेंति, तं०—चंदा सूरा मणि जोती २, उड्ढलोगे णं चत्तारि उज्जोतं करेंति, तं०—देवा १ देवीओ २ विमाणा ३ आभरणा ४, ३ (सू० ३३८) ॥ चउट्ठाणस्स ततिओ उद्देसतो समत्तो ॥

'चउव्विहे'इत्यादि, सङ्ख्यायते—गण्यते अनेनेति सङ्ख्यानं गणितमित्यर्थः, तत्र परिकर्म सङ्कलनादिकं पाटीप्रसिद्धं, एवं व्यवहारोऽपि मिश्रकव्यवहारादिरनेकधा, रज्जुरिति रज्जुगणितं क्षेत्रगणितमित्यर्थः, राशिरिति त्रैराशिकपञ्चराशिकादीति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र मुद्रण-दोष दृश्यते:- मूल-संपादने (सू० ३३८) लिखितम्, तत् पुनः लिखितम् ( मूल संपादनमें सू० ३३८ दूसरी बार छप गया है )

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३] अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३३८R]

दीप अनुक्रम [३६१]



रज्जुरिति क्षेत्रगणितमुक्तमिति क्षेत्रसम्बन्धाल्लोकलक्षणक्षेत्रस्य त्रिधा विभक्तस्यान्धकारोद्योतावाश्रित्य सूत्रत्रयेण प्ररूपणामाह–'अहे' इत्यादि सुगमं, किन्तु अधोलोके–उक्तलक्षणे चत्वारि वस्तूनीति गम्यते नरका–नरकावासा नैरयिका–नारकाएते कृष्णस्वरूपत्वात् अन्धकारं कुर्वन्ति, पापानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि मिथ्यात्वाज्ञानलक्षणभावान्धकारकारित्वादन्धकारं कुर्वन्तीत्युच्यते, अथवा अन्धकारस्वरूपे अधोलोके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां कर्म्मणामन्धकारकर्तृत्वमिति, तथा अशुभाः पुद्गलाः–तमिश्रभावेन परिणता इति। 'मणि'त्ति मणयः–चन्द्रकान्ताद्याः, 'जोइ'त्ति ज्योतिरग्निरिति ॥ चतुःस्थानकस्य तृतीयोद्देशको विवरणतः समाप्त इति ॥

---

व्याख्यातस्तृतीयोद्देशकः, तदनन्तरं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके विविधा भावाश्चतुःस्थानकतयोक्ता इहापि त एव तथैवोच्यन्त इत्येवंसम्बन्धस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रं—

चत्तारि पसप्पगा पं० तं०—अणुप्पन्नाणं भोगाणं उप्पाएत्ता एगे पसप्पए पुव्वुप्पन्नाणं भोगाणं अविप्पओगेणं एगे पसप्पते अणुप्पन्नाणं सोक्खाणं उप्पाइत्ता एगे पसप्पए पुव्वुप्पन्नाणं सोक्खाणं अविप्पओगेणं एगे पसप्पए। (सू० ३३९) णेरतिताणं चउव्विहे आहारे पं० तं०—इंगालोवमे मुम्मरोवमे सीतले हिमसीतले, तिरिक्खजोणियाणं चउव्विहे आहारे पं० तं०—कंकोवमे बिलोवमे पाणमंसोवमे पुत्तमंसोवमे, मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पं० तं०—असणे जाव सातिमे, देवाणं चउव्विहे आहारे पं० तं०—वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते। (सू० ३४०) चत्तारि जातिआसीविसा पं०



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

*R- सूत्रांक पुनःमुद्रितं (यह सूत्रांक दुबारा छप गया है)

अत्र चतुर्थ-स्थानस्य तृतीय-उद्देशकः परिसमाप्तः

**अथ चतुर्थ-स्थानस्य चतुर्थः उद्देशकः आरब्धः**

तं०—विच्छुतजातीयासीविसे मंडुक्कजातीयासीविसे उरगजातीयासीविसे मणुस्सजातिआसीविसे, विच्छुयजातिआसीविसस्स णं भंते! केवइए विसए पन्नत्ते?, पभू णं विच्छुयजातिआसीविसे अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिणयं विसट्टमाणिं करित्तए विसए से विसट्ठताए नो चेव णं संपत्तीए करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा, मंडुक्कजातिआसीविसस्स पुच्छा, पभू णं मंडुक्कजातिआसीविसे भरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं ( विसप० ) विसट्टमाणिं, सेसं तं चेव जाव करेस्संति वा, उरगजाति पुच्छा, पभू णं उरगजातिआसीविसे जंबूदीवपमाणमेत्तं बोंदिं विसेण सेसं तं चेव जाव करेस्संति वा, मणुस्सजातिपुच्छा, पभू णं मणुस्सजातिआसीविसे समतखेत्तपमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिणतं विसट्टमाणिं करेत्तए, विसते से विसट्ठताते नो चेव णं जाव करिस्संति वा ( सू० ३४१ )

**'चत्तारि पसप्पगे'त्यादि, अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः—अनन्तरसूत्रे देवा देव्यश्च निर्दिष्टाः, ते च भोगवन्तः सुखिताश्च भवन्तीति भोगान् सुखानि चाश्रित्य प्रसर्पकभेदाभिधानायेदमुच्यते, इत्येवंसम्बन्धस्यास्य व्याख्या—प्रकर्षेण सर्पन्ति—गच्छन्ति भोगाद्यर्थं देशानुदेशं सञ्चरन्ति आरम्भपरिग्रहतो वा विस्तारं यान्तीति प्रसर्पकाः, 'अणुप्पन्नाणं'ति द्वितीयार्थे षष्ठीति अनुत्पन्नान्—असम्पन्नान् भोगान्—शब्दादीन् तत्कारणद्रविणाङ्गनादीन् वा 'उप्पाइत्त'त्ति उत्पादयितुं सम्पादनाय अथवाऽनुत्पन्नानां भोगानामुत्पादयिता—उत्पादकः सन् एकः कोऽपि प्रसर्पति—प्रगच्छति, प्रसर्पको वा प्रगन्ता भवतीति गम्यते, प्रसर्पन्ति च भोगाद्यर्थिनो देहिनः, उक्तञ्च—"धावेइ रोहणं तरइ सागरं भमइ गिरिनिगुंजेसु।**

१ धावति रोहणं तरति सागरं भ्राम्यति गिरिनिकुंजेषु।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मारेइ बंधवंपिहु पुरिसो जो होज्ज (इ) धणलुद्धो ॥ १ ॥ अडइ वहुं वहइ भरं सहइ छुहं पावमायरइ धिट्ठो । कुलसीलजातिपच्चयट्ठिइं च लोभहुओ चयइ ॥ २ ॥" इति, तथा पूर्वोत्पन्नानां पाठान्तरेण प्रत्युत्पन्नानां वा 'अविप्पओगेणं'ति अविप्रयोगाय रक्षणार्थमिति 'सौख्याना'मिति भोगसम्पाद्यानन्दविशेषाणां, शेषं सुगमं । भोगसौख्यार्थञ्च प्रसर्प्पन्तः कर्म बद्ध्वा नारकत्वेनोत्पद्यन्त इति नारकानाहारतो निरूपयन्नाह—'नेरइयाण'मित्यादि व्यक्तं, केवलं अङ्गारोपमः अल्पकालदाहत्वात् मुर्मुरोपमः स्थिरतरदाहत्वात् शीतलः शीतवेदनोत्पादकत्वात् हिमशीतलोऽत्यन्तशीतवेदनाजनकत्वात्, अधोऽध इति क्रम इति । आहाराधिकारात् तिर्यग्मनुष्यदेवानामाहारनिरूपणाय सूत्रत्रयं—'तिरिक्खजोणियाण'मित्यादि व्यक्तं, नवरं कङ्कः—पक्षिविशेषः तस्याहारेणोपमा यत्र स मध्यपदलोपात् कङ्कोपमः, अयमर्थो—यथा हि कङ्कस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यः सुखपरिणामश्च भवति एवं यस्तिरश्चा सुभक्षः सुखपरिणामश्च स कङ्कोपम इति, तथा बिले प्रविशद्द्रव्यं बिलमेव तेनोपमा यत्र स तथा, बिले हि अलब्धरसास्वादं झगिति यथा किल किञ्चित् प्रविशति एवं यस्तेषां गलबिले प्रविशति स तथोच्यते, पाणो—मातङ्गस्तन्मांसमस्पृश्यत्वेन जुगुप्सया दुःखाद्यं स्यादेवं यस्तेषां दुःखाद्यः स पाणमांसोपमः, पुत्रमांसं तु स्नेहपरतया दुःखाद्यतरं स्यादेवं यो दुःखाद्यतरः स पुत्रमांसोपमः, क्रमेण चैते शुभसमाशुभाशुभतरा वेदितव्याः, वर्णवानित्यादौ प्रशंसायामतिशायने वा मतुबिति । आहारो हि भक्षणीय

१ मारयति बांधवमपि पुरुषो यो भवेद्धनलुब्धः ॥ १ ॥ अटति बहुं वहति भारं सहते क्षुधां पापमाचरति धृष्टः । कुलशीलजातिप्रत्ययस्थितिं च लोभोपहृतस्त्यजति ॥ १ ॥





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति भक्षणाधिकारादाशीविषसूत्रं, सुगमञ्चेदं, नवरं 'आसीविस'त्ति आश्यो–दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः, ते च कर्मतो जातितश्च, तत्र कर्मतस्तिर्यञ्चमनुष्याः कुतोऽपि गुणादाशीविषाः स्युः, देवाश्चासहस्रारात्शापादिना परव्यापादनादिति, उक्तञ्च—"आसी दाढा तग्गयमहाविसाऽऽसीविसा दुविह भेया । ते कम्मजाइभेएण णेगहा चउव्विहविग्गप्पा ॥१॥" [आशी द्रंष्ट्रा तद्गतमहाविषा आशीविषा द्विविधभेदाः ते कर्मजातिभेदेन नैकधा चतुर्विधविकल्पाः ॥१॥ (वृश्चिकमंडुकोरगनराः)] इति, जातित आशीविषा जात्याशीविषाः–वृश्चिकादयः, 'केवइय'त्ति कियान् विषयो–गोचरो विषस्येति गम्यते, प्रभुः–समर्थः, अर्द्धभरतस्य यत्प्रमाणं–सातिरेकत्रिषष्ट्यधिकयोजनशतद्वयलक्षणं तदेव मात्रा–प्रमाणं यस्याः साऽर्द्धभरतप्रमाणमात्रा तां बोन्दिं–शरीरं विषेण–स्वकीयाशीप्रभवेण करणभूतेन विषपरिणतां–विषरूपापन्नां विषपरिगतामिति क्वचित्पाठे तव्याप्तामित्यर्थः, 'विसट्टमाणिं' विकसन्तीं विदलन्तीं 'कर्तुं' विधातुं विषयः सः–गोचरोऽसौ अथवा 'से' तस्य वृश्चिकस्य, विषमेवार्थो विषार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्या विषार्थतायाः–विषत्वस्य तस्यां वा 'नो चेव'त्ति नैवेत्यर्थः 'सम्पत्त्या' एवंविधबोन्दिसम्प्राप्तिद्वारेण 'कारिंसु'त्ति अकार्षुर्वृश्चिका इति गम्यते, इह चैकवचनप्रक्रमेऽपि बहुवचननिर्देशो वृश्चिकाशीविषाणां बहुत्वज्ञापनार्थं, एवं कुर्वन्ति करिष्यन्ति, त्रिकालनिर्देशश्चामीषां त्रैकालिकत्वज्ञापनार्थः, समयक्षेत्रं–मनुष्यक्षेत्रं । विषपरिणामो हि व्याधिरिति तदधिकाराद् व्याधिभेदानाह—

चउव्विहे वाही पं० तं०—वातिते पित्तिते सिंभिते सन्निवातिते, चउव्विहा तिगिच्छा पं० तं०—विज्जो ओसधाइं आउरे परिचारते १ (सू० ३४३) चत्तारि तिगिच्छगा पं० तं०—आततिगिच्छते नाममेगे णो परतिमिच्छते १ परतिगि-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


अत्र मुद्रण-दोष दृश्यते:- मूल-संपादने (सू० ३४३) लिखितम्, ( मूल संपादनमें सू० ३४३ छपा है, यहां सूत्रांक ३४२ आता है, मगर ३४३ छापा है, उसका कारण यह है की इसके पहले सूत्रांक ३३८ दो बार छप गया था, इसलिए शायद बादमे यह गलती सुधारली गई है)

च्छए नाममेगे ४, २, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—वणकरे णाममेगे नो वणपरिमासी वणपरिमासी नाममेगे णो वणकरे एगे वणकरेवि वणपरिमासीवि एगे णो वणकरे णो वणपरिमासीवि १, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—वणकरे नाममेगे णो वणसारक्खी ४, २, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—वणकरे नामं एगे णो वणसंरोही ४, ३, चत्तारि वणा पं० तं०—अंतोसल्ले नाममेगे णो बाहिंसल्ले ४, १, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अंतोसल्ले णाममेगे णो बाहिंसल्ले ४, २, चत्तारि वणा पं० तं०—अंतो दुट्ठे नामं एगे णो बाहिं दुट्ठे बाहिं दुट्ठे नामं एगे नो अंतो ४, ३, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अंतो दुट्ठे नाममेगे नो बाहिं दुट्ठे ४, ४, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—सेतंसे णाममेगे सेयंसे सेयंसे नामगेगे पावंसे पावंसे णामं एगे सेयंसे पावंसे णाममेगे पावंसे, १, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—सेतंसे णाममेगे सेतंसेत्ति सालिसए सेतंसे णाममेगे पावंसेत्ति सालिसते ४, २, चत्तारि पुरिसा पं० तं०—सेतंसेत्ति णाममेगे सेतंसेत्ति मण्णति सेतंसेत्ति णाममेगे पावंसेत्ति मण्णति ४, ३, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—सेयंसे णाममेगे सेयंसेत्ति सालिसते मन्नति सेतंसे णाममेगे पावंसेत्ति सालिसते मन्नति ४, ४, चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—आघवतित्ता णाममेगे णो परिभावतित्ता परिभावइत्ता णाममेगे णो आघवतित्ता ४, ५, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—आघवतित्ता णाममेगे नो उंछजीविसंपन्ने उंछजीविसंपन्ने णाममेगे णो आघवइत्ता ४, ६, चउव्विहा रुक्खविगुव्वणा पं० तं०—पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए (सू० ३४४)

'चउव्विहे' इत्यादि कण्ठ्यं, केवलं वातो निदानमस्येति वातिकः एवं सर्वत्र नवरं सन्निपातः—संयोगो द्वयोस्त्रयाणां वेति,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वातादिस्वरूपं चैतत्—"तत्र रूक्षो १ लघुः २ शीतः ३ खरः ४ सूक्ष्म ५ श्चलो ६ऽनिलः। पित्तं सस्नेह १ तीक्ष्णो २ष्णं ३ लघु ४ विश्रं ५ सरं ६ द्रवम् ७ ॥१॥ कफो गुरु १ हिंमः २ स्निग्धः ३ प्रक्लेदी ४ स्थिर ५ पिच्छिलः ६। सन्निपातस्तु सङ्कीर्ण-लक्षणो द्यादिमीलकः ॥ २ ॥" वातादीनां कार्याणि पुनरिमानि—"पारुष्यसङ्कोचनतोदशूलश्यामत्वमङ्गव्यथचेष्टभङ्गाः। सुप्तत्वशीतत्वखरत्वशोषाः, कर्म्माणि वायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १ ॥ परिस्रवस्वेदविदाहरागा, वैगन्ध्यसङ्क्लेदविपाक-कोपाः। प्रलापमूर्च्छाभ्रमिपीतभावाः, पित्तस्य कर्म्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ २ ॥ श्वेतत्वशीतत्वगुरुत्वकण्डूस्नेहोपदेहस्ति-मितत्वलेपाः। उत्सेधसम्पातचिरक्रियाश्च, कफस्य कर्म्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ३ ॥" इति। अनन्तरं व्याधिरुक्तः, अ-धुना तस्यैव चिकित्सां चिकित्सकांश्च सूत्रद्वयेनाह–'चउव्विहे'त्यादि, कण्ठ्यं, नवरं चिकित्सा–रोगप्रतीकारस्तस्याश्चातु-र्विध्यं कारणभेदादिति, एतत्सूत्रसंवादकमुक्तमपरैरपि—"भिषग् १ द्रव्याण्यु २ पस्थाता ३, रोगी ४ पादचतुष्टयम्। चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥ १ ॥ दक्षो १ विज्ञातशास्त्रार्थो २, दृष्टकर्म्मा ३ शुचि ४ र्भिषक्। बहुकल्पं १ बहुगुणं २, सम्पन्नं ३ योग्यमौषधम् ४ ॥ २ ॥ अनुरक्तः १ शुचि २ र्दक्षो ३, बुद्धिमान् ४ परिचारकः। आढ्यो १ रोगी भिषग्वश्यो २, ज्ञापकः ३ सत्त्ववानपि ४ ॥ ३ ॥" इति, इयं द्रव्यरोगचिकित्सा मोहभावरोगचिकित्सा त्वेवं,— 'निव्विगइ निव्बलोमे तवउद्धट्ठाणमेव उब्भामे। वेयावच्चाहिंडण मंडलि कप्पट्टियाहरणं ॥ १ ॥" इति [ निर्ब्बल–वल्लादि, अवमम्–ऊनं उद्भ्रामो–भिक्षाभ्रमणम् आहिंडणं देशेषु मण्डली–सूत्रार्थयोः 'कप्पट्टिया' श्रेष्ठिवधूरिति> [निर्विकृतिकं वल्लादि न्यूनं आचामाम्लादि कायोत्सर्गः विहारःवैयावृत्त्यं भिक्षाभ्रमः मंडली (मोहचिकित्सैषा) कुलपुत्रि-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'वात" आदिनाम् स्वरूपं एवं कार्याणि, व्याधि चिकित्सा

प्रत सूत्रांक [३४४]

दीप अनुक्रम [३६६]



कोदाहरणात् ] चिकित्सका द्रव्यतो ज्वरादिरोगान् प्रति भावतो रागादीन् प्रतीति, तत्रात्मनो ज्वरादेः कामादेर्वा चिकित्सकः–प्रतिकर्त्तेत्यात्मचिकित्सक इति । अथात्मचिकित्सकान् भेदतः सूत्रत्रयेणाह—'चत्तारी'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं व्रणं –देहे क्षतं स्वयं करोति रुधिरादिनिर्गालनार्थमिति व्रणकरो नो–नैव व्रणं परिमृशतीत्येवंशीलो व्रणपरिमर्शीत्येकः, अन्यस्त्वन्यकृतं व्रणं परिमृशति न च तत् करोतीति, एवं भावव्रणं–अतिचारलक्षणं करोति कायेन न च तदेव परिमृशति-पुनः पुनः संस्मरणेन स्पृशति, अन्यस्तु तत्परिमृश्यत्यभिलाषान्न च करोति कायतः संसारभयादिभिरिति, व्रणं करोति न च तत्तद्बन्धादिना संरक्षति, अन्यस्तु कृतं संरक्षति न च करोति, भावव्रणं त्वाश्रित्यातिचारं करोति न च तं सानुबन्धं भवन्तं कुशीलादिसंसर्गतन्निदानपरिहारतो रक्षत्येकोऽन्यस्तु पूर्वकृतातिचारं निदानपरिहारतो रक्षति नवं च न करोति, 'नो' नैव व्रणं संरोहयत्यौषधदानादिनेति व्रणसंरोही, भावव्रणापेक्षया तु नो व्रणसंरोही प्रायश्चित्तप्रतिपत्तेः, व्रणसंरोही पूर्वकृतातिचारप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या, नो व्रणकरोऽपूर्वातिचाराकारित्वादिति । उक्ता आत्मचिकित्सकाः, अथ चिकित्स्यं व्रणं दृष्टान्तीकृत्य पुरुषभेदानाह–'चत्तारी'त्यादि चतुःसूत्री, सुगमा, नवरं, अन्तः–मध्ये शल्यं यस्य अदृश्यमानमित्यर्थः तत्तथा, 'बाहिं सल्ले'त्ति यच्छल्यं व्रणस्यान्तरल्पं बहिस्तु बहु तद्बहिरिव बहिरित्युच्यते, अन्तो बहिः शल्यं यस्य तत्तथा, यदि पुनः सर्वथैव तत्ततो बहिः स्यात् तदा शल्यतैव न स्याद्, उद्धृतत्वे वा भूतभावितया स्यादपीति २, यत्र पुनरन्तर्बहु बहिरप्युपलभ्यते तदुभयशल्यं ३ चतुर्थः शून्य इति ४, गुरुसमक्षमनालोचितत्वेनान्तः शल्यम्–अतिचाररूपं यस्य स तथा, बहिः शल्यं आलोचिततया यस्य तत्तथा, अन्तर्बहिश्च शल्यमालोचितानालोचितत्वेन यस्य स

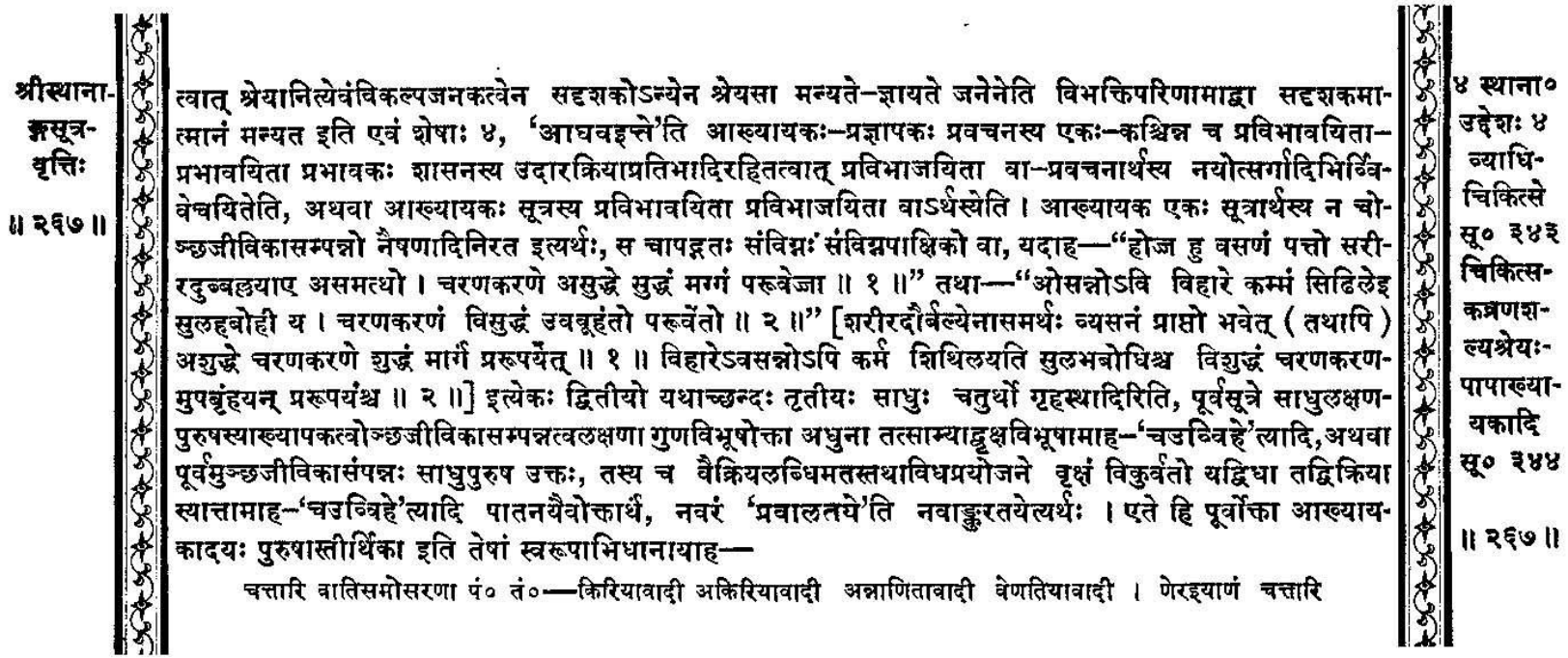


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याधि चिकित्सा,

तथा, चतुर्थः शून्यः । अन्तर्दुष्टं व्रणं लूतादिदोषतः, न बही रागाद्यभावेन सौम्यत्वात् ४, पुरुषस्तु अन्तर्दुष्टः शठतया संवृताकारत्वान्न बहिरित्येकः, अन्यस्तु कारणेनोपदर्शितवाक्पारुष्यादित्वाद्बहिरेवेति । पुरुषाधिकारात् तद्भेदप्रतिपादनाय षट्सूत्री कण्ठ्या च, किन्तु अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयानेकः प्रशस्यभावः सद्बोधत्वात् पुनः श्रेयान् प्रशस्तानुष्ठानत्वात् साधुवदित्येकः १ अन्यस्तु श्रेयांस्तथैव अतिशयेन पापः पापीयान्, स चाविरतत्वेन दुरनुष्ठायित्वादिति २ अन्यस्तु पापीयान् भावतो मिथ्यात्वादिभिरुपहतत्वात् कारणवशात् सदनुष्ठायित्वाच्च श्रेयान् उदायिनृपमारकवत् ३ चतुर्थः स एव कृतपाप इति ४, अथवा श्रेयान् गृहस्थत्वे निष्क्रमणकाले वा पुनः श्रेयान् प्रव्रज्यायां विहारकाले वेत्येवमन्येऽपि । श्रेयानेको भावतो द्रव्यतस्तु श्रेयान् प्रशस्यतर इत्येवंबुद्धिजनकत्वेन सदृशकः–अन्येन श्रेयसा तुल्यो न तु सर्वथा श्रेयानेवेत्येकः १, अन्यस्तु भावतः श्रेयानपि द्रव्यतः पापीयानित्येवंबुद्धिजनकत्वेन सदृशकः–अन्येन पापीयसा समानो न तु पापीयानेवेति द्वितीयः २, भावतः पापीयानप्यन्यः संवृताकारतया श्रेयानित्येवंबुद्धिजनकतया सदृशकोऽन्येन श्रेयसेति तृतीयः, चतुर्थः सुज्ञानः । श्रेयानेकः सद्वृत्तत्वात् श्रेयानित्येवमात्मानं मन्यते यथावद्बोधात् लोकेन वा मन्यते विशदसदनुष्ठानाद्, इह च मन्निज्ञइत्ति वक्तव्ये प्राकृतत्वेन मन्नईत्युक्तम्, श्रेयानप्यन्य आत्मन्यरुचिपरायणत्वात् पापीयानित्यात्मानं मन्यते, स एव वा पूर्वोपलब्धदोषेण जनेन मन्यते दृढप्रहारिवत् १ पापीयानप्यपरो मिथ्यात्वाद्युपहततया श्रेयानित्यात्मानं मन्यते, कुतीर्थिकवत्, तद्भक्तेन वेति २, पापीयानन्योऽविरतिकत्वात् पापीयानित्यात्मानं मन्यते, सद्बोधत्वात्, असंयतो वा मन्यते, संयतलोकेनेति ३, श्रेयानेको भावतो द्रव्यतस्तु किञ्चित्सदनुष्ठायि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २६७ ॥

त्वात् श्रेयानित्येवंविकल्पजनकत्वेन सदृशकोऽन्येन श्रेयसा मन्यते–ज्ञायते जनेनेति विभक्तिपरिणामाद्वा सदृशकमात्मानं मन्यत इति एवं शेषाः ४, 'आघवइत्ते'ति आख्यायकः–प्रज्ञापकः प्रवचनस्य एकः–कश्चिन्न च प्रविभावयिता–प्रभावयिता प्रभावकः शासनस्य उदारक्रियाप्रतिभादिरहितत्वात् प्रविभाजयिता वा–प्रवचनार्थस्य नयोत्सर्गादिभिर्विवेचयितेति, अथवा आख्यायकः सूत्रस्य प्रविभावयिता प्रविभाजयिता वाऽर्थस्येति । आख्यायक एकः सूत्रार्थस्य न चोञ्छजीविकासम्पन्नो नैषणादिनिरत इत्यर्थः, स चापङ्गतः संविग्नः संविग्नपाक्षिको वा, यदाह—"होज्ज हु वसणं पत्तो सरीरदुब्बलयाए असमत्थो । चरणकरणे असुद्धे सुद्धं मग्गं परूवेज्जा ॥ १ ॥" तथा—"ओसन्नोऽवि विहारे कम्मं सिढिलेइ सुलहबोही य । चरणकरणं विसुद्धं उवबूहंतो परूवेंतो ॥ २ ॥" [शरीरदौर्बल्येनासमर्थः व्यसनं प्राप्तो भवेत् ( तथापि ) अशुद्धे चरणकरणे शुद्धं मार्गं प्ररूपयेत् ॥ १ ॥ विहारेऽवसन्नोऽपि कर्म शिथिलयति सुलभबोधिश्च विशुद्धं चरणकरणमुपबृंहयन् प्ररूपयंश्च ॥ २ ॥] इत्येकः द्वितीयो यथाच्छन्दः तृतीयः साधुः चतुर्थो गृहस्थादिरिति, पूर्वसूत्रे साधुलक्षणपुरुषस्याख्यापकत्वोञ्छजीविकासम्पन्नत्वलक्षणा गुणविभूषोक्ता अधुना तत्साम्याद्वृक्षविभूषामाह–'चउव्विहे'त्यादि,अथवा पूर्वमुञ्छजीविकासंपन्नः साधुपुरुष उक्तः, तस्य च वैक्रियलब्धिमतस्तथाविधप्रयोजने वृक्षं विकुर्वतो यद्विधा तद्विक्रिया स्यात्तामाह–'चउव्विहे'त्यादि पातनयैवोक्तार्थं, नवरं 'प्रवालतये'ति नवाङ्कुरतयेत्यर्थः । एते हि पूर्वोक्ता आख्यायकादयः पुरुषास्तीर्थिका इति तेषां स्वरूपाभिधानायाह—

चत्तारि वातिसमोसरणा पं० तं०—किरियावादी अकिरियावादी अन्नाणितावादी वेणतियावादी । णेरइयाणं चत्तारि

४ स्थाना० उद्देशः ४ व्याधिचिकित्से सू० ३४३ चिकित्सकव्रणशल्यश्रेयःपापाख्यायकादि सू० ३४४ ॥ २६७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वादिसमोसरणा पं० तं०—किरियावादी जाव वेणतितवादी, एवमसुरकुमाराणवि जाव थणियकुमाराणं एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं । ( सू० ३४५ )

वादिनः—तीर्थिकाः समवसरन्ति—अवतरन्त्येष्विति समवसरणानि—विविधमतमीलकास्तेषां समवसरणानि वादिसमवसरणानि, क्रियां—जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवंरूपां वदन्तीति क्रियावादिन आस्तिका इत्यर्थः तेषां यत्समवसरणं तत्त एवोच्यन्ते अभेदादिति, तन्निषेधादक्रियावादिनो—नास्तिका इत्यर्थः, अज्ञानमभ्युपगमद्वारेण येषामस्ति ते अज्ञानिकाः त एव वादिनोऽज्ञानिकवादिनः, अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंप्रतिज्ञा इत्यर्थः, विनय एव वैनयिकं तदेव निःश्रेयसायेत्येवंवादिनो वैनयिकवादिन इति, एतद्भेदसङ्ख्या चेयं—"असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई । अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा ॥ १ ॥" [क्रियावादिनां अशीत्यधिकं शतं अक्रियावादिनां चतुरशीतिरज्ञानिनां सप्तषष्टिः वैनयिकानां द्वात्रिंशत् ॥ १ ॥] इति, तत्राशीत्यधिकं शतं क्रियावादिनां भवति, इदं चामुनोपायेनावगन्तव्यम्—जीवाजीवाश्रवसंवरबन्धनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ तयोरधो नित्यानित्यभेदौ तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः, पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः, विकल्पार्थश्चायं—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण न परापेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव नित्यश्च कालवादिनः, उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरकारणिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं ग्नि'मित्यादिप्रतिपत्तुरिति, चतुर्थो नियतिवादिनः, नियतिश्च—पदार्थानामवश्यन्तया य-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


| | |
|---|---|
| | वादिः, तस्य समवसरणानि, क्रियावादि, अक्रियावादि |

यथाभवने प्रयोजककर्त्रीति पञ्चमः स्वभाववादिनः, एवं स्वत इत्यजहता लब्धाः पञ्च विकल्पाः, परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते, तत्र परत इत्यस्यायमर्थः–इह सर्वपदार्थानां पररूपापेक्षः स्वरूपपरिच्छेदो यथा ह्रस्वत्वाद्यपेक्षो दीर्घत्वादिपरिच्छेदः, एवमेव चात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते हि वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्त्तत इत्यतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते न स्वत इति, नित्यत्वापरित्यागेन चैते दश विकल्पाः, एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एवं विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विंकल्पानामतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति, एते च विकल्पा एकैकशो न लभ्यन्ते शीलाङ्कवदिति । तथा अक्रियावादिनां तु चतुरशीतिर्द्रष्टव्या, एवञ्चेयं–पुण्यापुण्यविवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव जीवस्याधः स्वपररूपविकल्पद्वयोपन्यासः, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यभेदौ न स्तः, कालादीनां तु पञ्चानां षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, इयं चानभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिरिति, पश्चाद्विकल्पाभिलापः–नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः सर्वे षड्विकल्पाः, तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति षडेव विकल्पा इत्येकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रत्येकं द्वादश विकल्पाः, एवञ्च द्वादश सप्तगुणाश्चतुरशीतिविकल्पाः नास्तिकानामिति । अज्ञानिकानां तु सप्तषष्टिर्भवति, इयं चामुनोपायेन द्रष्टव्या–तत्र जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् पूर्ववत् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदादय उपन्यसनीयाः, सत्त्व १ मसत्त्वं २ सदसत्त्वं ३ मवाच्यत्वं ४ सदवाच्यत्वं ५ असदवाच्यत्वं ६ सदसदवाच्यत्व ७ मिति, तत एते नव सप्तकाः त्रिषष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विकल्पाः, तद्यथा–सत्त्व १ मसत्त्वं सदसत्त्व ३ मवाच्यत्वं ४ चेति, त्रिषष्टिमध्ये क्षिप्ताः सप्तषष्टि-






Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


| | |
|---|---|
| | वादिः, तस्य समवसरणानि, क्रियावादि, अक्रियावादि, अज्ञानिक, |

भवन्ति, विकल्पाभिलापश्चैवं–को जानाति जीवः सन्निति किं वा तेन ज्ञातेनेत्येको विकल्पः, एवमसदादयोऽपि वाच्याः, तथा सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति किं वाऽनया ज्ञातया? एवमसती सदसती अवक्तव्या चेति, सत्त्वादिसप्तभङ्ग्याश्रायमर्थः–स्वरूपमात्रापेक्षया वस्तुनः सत्त्वं १ पररूपमात्रापेक्षया त्वसत्त्वं २ तथा एकस्य घटादिद्रव्यदेशस्य ग्रीवादेः सद्भावपर्यायेण ग्रीवात्वादिनाऽऽदिष्टस्य सत्त्वात् तथा घटादिद्रव्यदेशस्यैवापरस्य बुध्नादेरसद्भावपर्यायेण वृत्तत्वादिना परगतपर्यायेणैवादिष्टस्यासत्त्वाद् वस्तुनः सदसत्त्वम् ३ तथा सकलस्यैवाखण्डितस्य घटादिवस्तुनोऽर्थान्तरभूतैः पटादिपर्यायैर्निर्जैश्चोर्द्ध्वकुण्डलौष्ठायतवृत्तग्रीवादिभिर्युगपद्विवक्षितस्य सत्त्वेनासत्त्वेन वा वक्तुमशक्यत्वात् तस्य घटादेर्द्रव्यस्यावक्तव्यत्वम् ४, तथा घटादिद्रव्यस्यैकदेशस्य सद्भावपर्यायैरादिष्टस्य सत्त्वादपरस्य स्वपरपर्यायैर्युगपदादिष्टतया सत्त्वेनासत्त्वेन वा वक्तुमशक्यत्वात् घटादिद्रव्यस्य सदवक्तव्यत्वमिति ५, तथा तस्यैव घटादिद्रव्यस्यैकदेशस्य परपर्यायैरादिष्टस्यासत्त्वादपरदेशस्य स्वपरपर्यायैर्युगपदादिष्टत्वेन तथैव वक्तुमशक्यत्वात् तस्य घटादेरसदवक्तव्यत्वम् ६, तथा घटादिद्रव्यस्यैकदेशस्य स्वपर्यायैरादिष्टत्वेन सत्त्वादपरस्य परपर्यायैरादिष्टतया असत्त्वादन्यस्य स्वपरपर्यायैर्युगपदादिष्टस्य तथैव वक्तुमशक्यत्वेनावक्तव्यत्वात् तस्य घटादिद्रव्यस्य सदसदवक्तव्यत्वमिति ७, इह च प्रथमद्वितीयचतुर्था अखण्डवस्त्वाश्रिताः शेषाश्चत्वारो वस्तुदेशाश्रिता दर्शिताः, तथाऽन्यैस्तृतीयोऽपि विकल्पोऽखण्डवस्त्वाश्रित एवोक्तः, तथाहि–अखण्डस्य वस्तुनः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च विवक्षितस्य सदसत्त्वमिति, अत एवाभिहितमाचारटीकायाम्— "इह चोत्पत्तिमङ्गीकृत्योत्तरविकल्पत्रयं न सम्भवति, पदार्थावयवापेक्षत्वात् तस्योत्पत्तेश्चावयवाभावा"दिति, एवम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३४५]

दीप अनुक्रम [३६७]



ज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्भवतीति । वैनयिकानां च द्वात्रिंशत्, सा चैवमवसेया–सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य इत्येते चत्वारो भेदाः सुरादिष्वष्टासु स्थानेषु भवन्ति, ते चैकत्र मीलिता द्वात्रिंशदिति, सर्वसङ्ख्या पुनरेतेषां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानीति, उक्तञ्च पूज्यैः—"आस्तिकमतमात्माद्या ९ नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः । कालनियतिस्वभावेश्वरात्मकृतकाः स्वपरसंस्थाः ॥ १ ॥ कालयदृच्छानियतीश्वरस्वभावात्मनश्चतुरशीतिः । नास्तिकवादिगणमतं न सन्ति सप्त स्वपरसंस्थाः ॥ २ ॥ अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् । भावोत्पत्तिं सदसद्द्वैधाऽवाच्याञ्च को वेत्ति? ॥ ३ ॥ वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः । सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥ १ ॥" इति, एतान्येव समवसरणानि चतुर्विंशतिदण्डके निरूपयन्नाह—'नेरइयाण'मित्यादि सुगमं, नवरं नारकादिपञ्चेन्द्रियाणां समनस्कत्वाच्चत्वार्यप्येतानि सम्भवन्ति, 'विगलेंदियवज्जं'ति एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणाममनस्कत्वान्न सम्भवन्ति तानीति । पुरुषाधिकारात् पुरुषविशेषप्रतिपादनाय प्रायः सदृष्टान्तसूत्राणि पुरुषसूत्राणि त्रिचत्वारिंशतं 'चत्तारि मेहे'त्यादीत्याह,

चत्तारि मेहा पं० तं०—गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता वासित्ता णाममेगे णो गज्जित्ता एगे गज्जित्तावि वासित्तावि एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता १, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता ४, २, चत्तारि मेहा पं० तं०—गज्जित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता विज्जुयाइत्ता णाममेगे ४, ३, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—गज्जित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता ४, ४, चत्तारि मेहा पं० तं०—वासित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता ४, ५,



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वादि:, तस्य समवसरणानि, अज्ञानिक, वैनयिक

एवामेव चत्तारि पुरिस० वासित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता ४, ६, चत्तारि मेहा पं० तं०—कालवासी ४, ७, णाममेगे णो अकालवासी एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—कालवासी णाममेगे नो अकालवासी ४, ८, चत्तारि मेहा पं० तं०—खेत्तवासी णाममेगे णो अखित्तवासी ४, ९, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—खेत्तवासी णागमेगे णो अखेत्तवासी ४, १०, चत्तारि मेहा पं० तं०—जणतित्ता णाममेगे णो णिम्मवइत्ता णिम्मवइत्ता णाममेगे णो जणतित्ता ४, ११, एवामेव चत्तारि अम्मापियरो पं० तं०—जणइत्ता णाममेगे णो णिम्मवइत्ता ४, १२, चत्तारि मेहा पं० तं०—देसवासी णाममेगे णो सव्ववासी ४, १३, एवामेव चत्तारि रायाणो पं० तं०—देसाधिवती णाममेगे णो सव्वाधिवती ४, १४ (सू० ३४६)

सुगमानि च, नवरं मेघाः—पयोदाः गर्जिता—गर्जितकृत् नो वर्षिता—न प्रवर्षणकारीति १, एवं कश्चित्पुरुषो गर्जितेव, गर्जिता दानज्ञानव्याख्यानानुष्ठानशत्रुनिग्रहादिविषये उच्चैः प्रतिज्ञावान् नो—नैव वर्षितेव वर्षिता—वर्षकोऽभ्युपगतसम्पादक इत्यर्थः, अन्यस्तु कार्यकर्त्ता न चोच्चैः प्रतिज्ञावानिति, एवमितरावपि नेयाविति २। 'विज्जुयाइत्त'त्ति विद्युत्कर्त्ता ३, एवं पुरुषोऽपि कश्चिदुच्चैः प्रतिज्ञाता न च विद्युत्कारतुल्यस्य दानादिप्रतिज्ञातार्थारम्भाडम्बरस्य कर्त्ताऽन्यस्तु आरम्भाडम्बरस्य कर्त्ता न प्रतिज्ञातेति, एवमन्यावपीति ४, वर्षिता कश्चिद् दानादिभिर्न तु तदारम्भाडम्बरकर्त्ता, अन्यस्तु विपरीतोऽन्य उभयथाऽन्यो न किञ्चिदिति ५-६, कालवर्षी—अवसरवर्षीति एवमन्येऽपि, ७, पुरुषस्तु कालवर्षीव कालवर्षी—अवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवृत्तिक एकः अन्यस्त्वन्यथेति, एवं शेषौ ८, क्षेत्रं धान्याद्युत्पत्तिस्थानम् ९, पुरुषस्तु क्षेत्रवर्षीव क्षेत्रवर्षी—पात्रे दानश्रुतादीनां निक्षेपकः, अन्यो विपरीतोऽन्यस्तथा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेघः एवं तस्य भेदाः

विधविवेकविकलतया महौदार्यात् प्रवचनप्रभावनादिकारणतो वा उभयस्वरूपोऽन्यस्तु दानादावप्रवृत्तिक इति १०, जनयिता मेघो यो वृष्ट्या धान्यमुद्गमयति, निर्म्मापयिता तु यो वृष्ट्यैव सफलता नयतीति ११, एवं मातापितरावपीति प्रसिद्धं, एवमाचार्योऽपि शिष्यं प्रत्युपनेतव्य इति १२, विवक्षितभरतादिक्षेत्रस्य प्रावृडादिकालस्य वा देशे आत्मनो वा देशेन वर्षतीति देशवर्षी १ यस्तु तयोः सर्वयोः सर्वात्मना वा वर्षति स सर्ववर्षी, अन्यस्तु क्षेत्रतो देशे कालतः सर्वत्रात्मनो वा सर्व्वः २, अथवा कालतो देशे क्षेत्रतः सर्वत्र ३ आत्मनो वा सर्वतः ४, अथवा आत्मनो देशेन क्षेत्रतः ५, कालतो वा सर्वत्र ६, अथवा क्षेत्रकालतो देशेन आत्मनः सर्वतः ७, अथवा क्षेत्रतो देशे, आत्मनो देशेन कालतः सर्वत्र ८, अथवा कालतो देशे आत्मनो देशेन क्षेत्रतो न सर्वत्र ९ त्येवं नवभिर्विकल्पैर्वर्षति स देशवर्षी सर्ववर्षी चेति, चतुर्थः सुज्ञान इति १३, राजा तु यो विवक्षितक्षेत्रस्य मेघवदेश एव योगक्षेमकारितया प्रभवति स देशाधिपतिर्न सर्वाधिपतिः स च पल्लीपत्यादिः, यस्तु न पल्यादौ देशेऽन्यत्र तु सर्वत्र प्रभवति स सर्वाधिपतिर्न देशाधिपतिर्यस्तूभयत्र स उभयाधिपतिरथवा देशाधिपतिर्भूत्वा सर्वाधिपतिर्यो भवति वासुदेवादिवत् स देशाधिपतिश्च सर्वाधिपतिश्चेति, चतुर्थो राज्यभ्रष्ट इति १४,

चत्तारि मेहा पं० तं०—पुक्खलसंवट्टते पज्जुन्ने जीमूते जिम्हे, पुक्खलवट्टए णं महामेहे एगेणं वासेणं दसवाससहस्साइं भावेति, पज्जुन्ने णं महामेहे एगेणं वासेणं दस वाससयाइं भावेति, जीमूते णं महामेहे एगेणं वासेणं दसवासाइं भावेति, जिम्हे णं महामेहे बहूहिं वासेहिं एगं वासं भावेति वा ण वा भावेइ १५, (सू० ३४७) चत्तारि करंडगा पं०



॥ २७० ॥

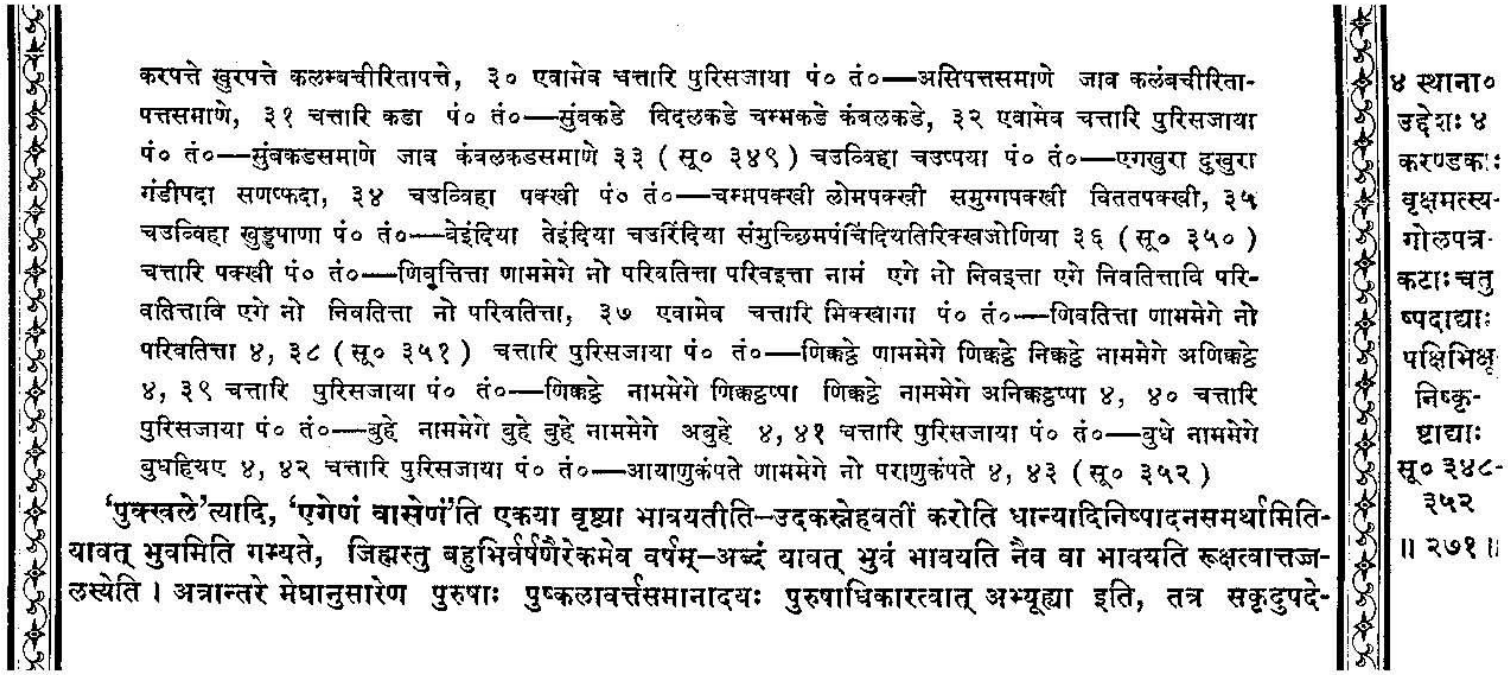

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तं०—सोवागकरंडते वेसियाकरंडते गाहावतिकरंडते रायकरंडते १६, एवामेव चत्तारि आयरिया पं० तं०—सोवागकरंडमसमाणे वेसियाकरंडगसमाणे गाहावइककरंडगसमाणे रायकरंडगसमाणे १७ (सू० ३४८) चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता तं०—साले नाममेगे सालपरियाते साले नाममेगे एरंडपरियाए एरंडे० ४, १८ एवामेव चत्तारि आयरिया पं० तं०—साले णाममेगे सालपरियाते साले णाममेगे एरंडपरियाते एरंडे णाममेगे० ४, १९ चत्तारि रुक्खा पं० तं०—साले णाममेगे सालपरिवारे० ४, २० एवामेव चत्तारि आयरिया पं० तं०—साले नाममेगे सालपरिवारे० ४, २१ सालदु ममज्झयारे जह साले णाम होइ दुमराया। इय सुंदरआयरिए सुंदरसीसे मुणेयव्वे ॥ १ ॥ एरंडमज्झयारे जह साले णाम होइ दुमराया। इय सुंदरआयरिए मंगुलसीसे मुणेयव्वे ॥ २ ॥ सालदुममज्झयारे एरंडे णाम होति दुमराया। इय मंगुलआयरिए सुंदरसीसे मुणेयव्वे ॥ ३ ॥ एरंडमज्झयारे एरंडे णाम होइ दुमराया। इय मंगुलआयरिए मंगुलसीसे मुणेयव्वे ॥ ४ ॥ चत्तारि मच्छा पं० तं०—अणुसोयचारी पडिसोयचारी अंतचारी मज्झचारी, २२ एवामेव चत्तारि भिक्खागा पं० तं०—अणुसोयचारी पडिसोयचारी अंतचारी मज्झचारी, २३ चत्तारि गोला पं० तं०—मधुसित्थगोले जउगोले दारुगोले मट्टियागोले, २४ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—मधुसित्थगोलसमाणे ४, २५ चत्तारि गोला पं० तं०—अयगोले तउगोले तंबगोले सीसगोले, २६ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—अयगोलसमाणे जाव सीसगोलसमाणे, २७ चत्तारि गोला पं० तं०—हिरण्णगोले सुवन्नगोले रयणगोले वयरगोले, २८ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—हिरण्णगोलसमाणे जाव वइरगोलसमाणे, २९ चत्तारि पत्ता पं० तं०—असिपत्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित....आगमसूत्र - [०३], अंग सूत्र - [०३] "स्थान" मूलं एवं अभयदेवसूरि-रचित वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३४९] गाथा ॥१-५॥ दीप अनुक्रम [३७१-३७६]



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २७१ ॥

करपत्ते खुरपत्ते कलम्बचीरितापत्ते, ३० एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—असिपत्तसमाणे जाव कलंबचीरितापत्तसमाणे, ३१ चत्तारि कडा पं० तं०—सुंबकडे विदलकडे चम्मकडे कंबलकडे, ३२ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—सुंबकडसमाणे जाव कंबलकडसमाणे ३३ ( सू० ३४९ ) चउव्विहा चउप्पया पं० तं०—एगखुरा दुखुरा गंडीपदा सणप्फदा, ३४ चउव्विहा पक्खी पं० तं०—चम्मपक्खी लोमपक्खी समुग्गपक्खी विततपक्खी, ३५ चउव्विहा खुड्डपाणा पं० तं०—वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ३६ ( सू० ३५० ) चत्तारि पक्खी पं० तं०—णिवुत्तित्ता णाममेगे नो परिवतित्ता परिवइत्ता नामं एगे नो निवइत्ता एगे निवतित्तावि परिवतित्तावि एगे नो निवतित्ता नो परिवतित्ता, ३७ एवामेव चत्तारि भिक्खागा पं० तं०—णिवतित्ता णाममेगे नो परिवतित्ता ४, ३८ ( सू० ३५१ ) चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—णिक्कट्ठे णाममेगे णिक्कट्ठे निक्कट्ठे नाममेगे अणिक्कट्ठे ४, ३९ चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—णिक्कट्ठे नाममेगे णिक्कट्ठप्पा णिक्कट्ठे नाममेगे अनिक्कट्ठप्पा ४, ४० चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—बुद्दे नाममेगे बुद्दे बुद्दे नाममेगे अबुद्दे ४, ४१ चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—बुधे नाममेगे बुधहियए ४, ४२ चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—आयाणुकंपते णाममेगे नो पराणुकंपते ४, ४३ ( सू० ३५२ )

'पुक्खले'त्यादि, 'एगेणं वासेणं'ति एकया वृष्ट्या भावयतीति—उदकस्नेहवतीं करोति धान्यादिनिष्पादनसमर्थामितियावत् भुवमिति गम्यते, जिह्मस्तु बहुभिर्वर्षणैरेकमेव वर्षम्—अब्दं यावत् भुवं भावयति नैव वा भावयति रूक्षत्वात्तज्जलस्येति । अत्रान्तरे मेघानुसारेण पुरुषाः पुष्कलावर्त्तसमानादयः पुरुषाधिकारत्वात् अभ्यूह्या इति, तत्र सकृदुपदे-

४ स्थाना० उद्देशः ४ करण्डकाः वृक्षमत्स्य-गोलपत्र-कटाः चतुष्पदाद्याः पक्षिभिक्षु निष्कुटाद्याः सू० ३४८-३५२ ॥ २७१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेघः एवं तस्य भेदाः

प्रत सूत्रांक [३५२]

दीप अनुक्रम [३७९]


शेन दानेन वा प्रभूतकालं यावच्छुभस्वभावमीश्वरं वा देहिनं यः करोत्यसावाद्यमेघसमानः, एवं स्तोकतरस्तोकतमकालापेक्षया द्वितीयतृतीयमेघसमानौ असकृदुपदेशादिना देहिनमल्पकालं यावदुपकुर्व्वन्ननुपकुर्वन् वा चतुर्थमेघसमान इति १५। करण्डको–वस्त्राभरणादिस्थानं जनप्रतीतः, श्वपाककरण्डकः–चाण्डालकरण्डकः, स च प्रायश्चर्म्मपरिकर्म्मोपकरणवर्ध्रादिचर्मांशस्थानतया अत्यन्तमसारो भवति, वेश्याकरण्डकस्तु जतुपूरितस्वर्णाभरणादिस्थानत्वात् किञ्चित्ततः सारोऽपि वक्ष्यमाणकरण्डकापेक्षया त्वसार एवेति, गृहपतिकरण्डकः–श्रीमत्कौटुम्बिककरण्डकः, स च विशिष्टमणिसुवर्णाभरणादियुक्तत्वात् सारतरः, राजकरण्डकस्तु अमूल्यरत्नादिभाजनत्वात्सारतम इति १६, एवमाचार्यो यः षट्प्रज्ञकगाथादिरूपसूत्रार्थधारी विशिष्टक्रियाविकलश्च स प्रथमः अत्यन्तासारत्वात्, यस्तु दुरधीतश्रुतलवोऽपि वागाडम्बरेण मुग्धजनमावर्जयति स द्वितीयः परीक्षाऽक्षमतया असारत्वादेव, यस्तु स्वसमयपरसमयज्ञः क्रियादिगुणयुक्तश्च स तृतीयः सारतरत्वात्, यस्तु समस्ताचार्यगुणयुक्ततया तीर्थकरकल्पः स चतुर्थः सारतमत्वात् सुधर्मादिवदिति १७, सालो नामैकः सालाभिधानवृक्षजातियुक्तत्वात् सालस्यैव पर्याया–धर्म्मा बहलच्छायत्वासेव्यत्वादयो यस्य सः शालपर्याय इत्येकः, शालो नामैक इति तथैव एरण्डस्येव पर्याया धर्मा अबहलच्छायत्वाऽऽसेव्यत्वादयो यस्य स एरण्डपर्याय इति द्वितीयः, एरण्डो नामैक एरण्डाभिधानवृक्षजातीयत्वात् सालपर्यायो बहलच्छायत्वादिधर्म्मयुक्तत्वादिति तृतीयः, एरण्डो नामैकस्तथैव एरण्डपर्यायः अबहलच्छायत्वाद्येरण्डधर्म्मयुक्तत्वादिति चतुर्थः १८, आचार्यस्तु साल इव सालो यथा हि सालो जातिमानेवमाचार्योऽपि यः सत्कुलः सद्गुरुकुलश्च स साल एवोच्यते तथा सालपर्यायः–सालधर्म्मा


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यथा हि सालः सच्छायत्वादिधर्म्मयुक्त एवं यो ज्ञानक्रियाप्रभवयशःप्रभृतिगुणयुक्तो भवति स तथोच्यते इत्येकः, तथा सालो नामैक इति तथैव एरण्डपर्यायस्तूक्तविपर्ययादिति द्वितीयः, एवमितरावपीति १९, तथा सालस्तथैव साल एव परिवारः–परिकरो यस्य स सालपरिवारः, एवं शेषत्रयमिति २०, आचार्यस्तु साल इव सालो गुरुकुलश्रुतादिभिरुत्तमत्वात् सालपरिवारः सालकल्पमहानुभावसाधुपरिकरत्वात्, तथा एरण्डपरिवारः एरण्डकल्पनिर्गुणसाधुपरिकरत्वात् एवमेरण्डोऽपि श्रुतादिभिर्हीनत्वादिति, चतुर्थः सुज्ञानः, उक्तचतुर्भङ्ग्या एव भावनार्थं 'सालदुमे'त्यादि गाथाचतुष्कं, व्यक्तं नवरं मङ्गुलम्–असुन्दरं २१, अनुश्रोतसा चरतीत्यनुश्रोतश्चारी–नद्यादिप्रवाहगामी एवमन्ये त्रयः २२, एवं भिक्षाकः–साधुः, यो ह्यभिग्रहविशेषादुपाश्रयसमीपात् क्रमेण कुलेषु भिक्षते सोऽनुश्रोतश्चारिमत्स्यवदनुश्रोतश्चारी प्रथमो, यस्तूक्रमेण गृहेषु भिक्षमाण उपाश्रयमायाति स द्वितीयो, यस्तु क्षेत्रान्तेषु भिक्षते स तृतीयः, क्षेत्रमध्ये चतुर्थः २३, मधुसित्थु–मदनं तस्य गोलो–वृत्तपिण्डो मधुसित्थगोल एवमन्येऽपि, नवरं जतु–लाक्षा दारुमृत्तिके प्रसिद्धे इति २४, यथैते गोला मृदुकठिनकठिनतरकठिनतमाः क्रमेण भवन्त्येवं ये पुरुषाः परीषहादिषु मृदुदृढदृढतरदृढतमसत्त्वा भवन्ति ते मधुसित्थगोलसमाना इत्यादिभिर्व्यपदेशैर्व्यपदिश्यन्त इति २५, अयोगोलादयः प्रतीताः २६, एतैश्चायोगोलकादिभिः क्रमेण गुरुगुरुतरगुरुतमात्यन्तगुरुभिः आरम्भादिविचित्रप्रवृत्त्युपार्जितकर्म्मभारा ये पुरुषा भवन्ति तेऽयोगोलसमाना इत्यादिव्यपदेशवन्तो भवन्ति पितृमातृपुत्रकलत्रगतस्नेहभारतो वेति २७, हिरण्यादिगोलेषु क्रमेणाल्पगुणगुणाधिकगुणाधिकतरगुणाधिकतमेषु पुरुषाः समृद्धितो ज्ञानादिगुणतो वा समानतया योज्याः २८, पत्राणि–पर्णानि तद्वत्प्रतनुतया



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यानि अस्यादीनि तानि पत्राणीति, असिः–खड्गः स एव पत्रमसिपत्रं करपत्रं–क्रकचं येन दारु छिद्यते क्षुरः–छुरः स एव पत्रं क्षुरपत्रं, कदम्बचीरिकेति शस्त्रविशेष इति २९, तत्र द्राक् छेदकत्वादसेर्यः पुरुषो द्रागेव स्नेहपाशं छिनत्ति सोऽसिपत्रसमानः, अवधारितदेववचनसनत्कुमारचक्रवर्त्तिवत्, यस्तु पुनः पुनरुच्यमानो भावनाभ्यासात् स्नेहतरुं छिनत्ति स करपत्रसमानः, तथाविधश्रावकवत्, करपत्रस्य हि गमनागमनाभ्यां कालक्षेपेण छेदकत्वादिति, यस्तु श्रुतधर्ममार्गोऽपि सर्वथा स्नेहच्छेदासमर्थो देशविरतिमात्रमेव प्रतिपद्यते स क्षुरपत्रसमानः, क्षुरो हि केशादिकमल्पमेव छिनत्तीति, यस्तु स्नेहच्छेदं मनोरथमात्रेणैव करोति स चतुर्थः अविरतसम्यग्दृष्टिरिति, अथवा यो गुर्वादिषु शीघ्रमन्दमन्दतरमन्दतमतया स्नेहं छिनत्ति स एवमपदिश्यते ३१, कम्बादिभिरातानवितानभावेन निष्पाद्यते यः स कटः कट इव कट इत्युपचारात् तन्त्वादिमयोऽपि कट एवेति, तत्र 'सुंबकडे'त्ति तृणविशेषनिष्पन्नः 'विदलकडे'त्ति वंशशकलकृतः 'चम्मकडे'त्ति चर्द्धव्यूतमञ्चकादिः 'कंबलकडे'त्ति कम्बलमेवेति ३२, एतेषु चाल्पबहुबहुतरबहुतमावयवप्रतिबन्धेषु पुरुषा योजनीयाः, तथाहि–यस्य गुर्वादिष्वल्पः प्रतिबन्धः स्वल्पव्यलीकादिनापि विगमात् स सुम्बकटसमान इत्येवं सर्वत्र भावनीयमिति ३३, चतुष्पदाः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः एकः खुरः पादे पादे येषां ते एकखुराः–अश्वादयः, एवं द्वौ खुरौ येषां ते तथा ते च गवादयः, गण्डी–सुवर्णकारादीनामधिकरणी गण्डिका तद्वत्पदानि येषां ते तथा ते हस्त्यादयः, 'सणप्फय'त्ति सनखपदाः नाखराः–सिंहादयः, इहोत्तरसूत्रद्वये च जीवानां पुरुषशब्दवाच्यत्वात् पुरुषाधिकारतेति ३४, चर्ममयपक्षाः पक्षिणश्चर्मपक्षिणो–वल्गुलीप्रभृतयः एवं लोमपक्षिणो–हंसादयः समुद्गकवत् पक्षौ येषां ते समु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रकपक्षिणः, समासान्त इन्, ते च बहिर्द्वीपसमुद्रेषु, एवं विततपक्षिणोऽपीति ३५, क्षुद्रा–अधमा अनन्तरभवे सिद्ध्यभावात् प्राणा–उच्छ्वासादिमन्तः क्षुद्रप्राणाः संमूर्च्छेन निर्वृत्ताः सम्मूर्च्छिमाः, तिरश्चां सत्का योनिर्येषां ते तथा ततः पदत्रयस्य कर्मधारये सति सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका इति भवति ३६, निपतिता–नीडादवतरीता–अवतरीतुं शक्तो नामैकः पक्षी धृष्टत्वादज्ञत्वाद्वा न तु परिव्रजिता–न परिव्रजितुं शक्तो बालत्वादित्येकः, एवमन्यः परिव्रजितुं शक्तः पुष्टत्वान्न तु निपतितुं भीरुत्वादन्यस्तूभयथा चतुर्थस्तूभयप्रतिषेधवानतिबालत्वादिति ३७, निपतिता–भिक्षाचर्यायामवतरीता भोजनाद्यर्थित्वान्न तु परिव्रजिता–परिभ्रमको ग्लानत्वादलसत्वाल्लज्जालुत्वाद्वेत्येकः अन्यः परिव्रजिता–परिभ्रमणशील आश्रयान्निर्गतः सन् न तु निपतिता–भिक्षार्थमवतरीतुमशक्तः सूत्रार्थासक्तत्वादिना, शेषौ स्पष्टौ ३८, निष्कृष्टः–निष्कर्षितः तपसा कृशदेह इत्यर्थः पुनर्निकृष्टो भावतः कृशीकृतकषायत्वादेवमन्ये त्रय इति ३९, एतद्भावनार्थमेवानन्तरं सूत्रं–निःकृष्टः कृशशरीरतया तथा निःकृष्टः आत्मा कषायादिनिर्मथनेन यस्य स तथेत्येवमन्ये त्रय इति, अथवा निःकृष्टस्तपसा कृशीकृतः पूर्वं पश्चादपि तथैवेत्येवमाद्यसूत्रं व्याख्येयं, द्वितीयं तु यथोक्तमेवेति ४०, बुधो बुधत्वकार्यभूतसत्क्रियायोगात्, उक्तञ्च—"पठकः पाठकश्चैव, ये चान्ये तत्त्वचिन्तकाः । सर्वे[ते]व्यसनिनो राजन्!, यः क्रियावान् स पण्डितः ॥ १ ॥" इति, पुनर्बुधः सविवेकमनस्त्वादित्येकः, अन्यो बुधस्तथैव अबुधस्त्वविविक्तमनस्त्वात्, अपरस्त्वबुधोऽसत्क्रियत्वात् बुधो विवेकवच्चित्तत्वाच्चतुर्थ उभयनिषेधादिति ४१, अनन्तरसूत्रेणैतदेव व्यक्तीक्रियते–बुधः सत्क्रियत्वात्, बुधं हृदयं–मनो यस्य स बुधहृदयो विवेचकमनस्त्वात्, अथवा बुधः शास्त्रज्ञत्वात् बुध-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हृदयस्तु कार्येष्वमूढलक्षत्वादित्येकः, एवमन्ये त्रय ऊह्याः ४२, आत्मानुकम्पकः–आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो वा निर्घृणः, परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थकरः आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्यवत्, उभयानुकम्पकः स्थविरकल्पिक उभयानुकम्पकः पापात्मा कालशौकरिकादिरिति ४३ । अनन्तरं पुरुषभेदा उक्ताः, अधुना तद्व्यापारविशेषं तद्वेदसम्पाद्यमभिधित्सुः सूत्रसप्तकमाह–'चउव्विहे संवासे' इत्यादि

चउव्विहे संवासे पं० तं०—दिव्वे आसुरे रक्खसे माणुसे १, चउव्विधे संवासे पं० तं०—देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति देवे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छति असुरे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छति २, चउव्विधे संवासे पं० तं०—देवे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति देवे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति ४, ३, चउव्विधे संवासे पं० तं०—देवे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति देवे नाममेगे मणुस्सीहिं सद्धिं संवासं गच्छति मणुस्से नाममेगे देवीहिं सद्धिं संवासं गच्छति मणुस्से नाममेगे मणुस्सीइ सद्धिं संवासं गच्छति ४, चउव्विधे संवासे पं० तं०—असुरे णाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छति असुरे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति ४, ५, चउव्विधे संवासे पं० तं०—असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छति असुरे णाममेगे मणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छति ४, ६, चउव्विधे संवासे पं० तं०—रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति रक्खसे नाममेगे माणुसीए सद्धिं संवासं गच्छति ४, ७, (सू० ३५३) चउविहे अवद्धंसे पं० तं०—आसुरे आभिओगे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संमोहे देवकिब्बिसे चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताते कम्मं पगरेंति, तं०—कोवसीलताते पाहुडसील याते संसत्ततवोकम्मेणं निमित्ताजीवयाते, चउहिं ठाणेहिं जीवा आभिओगत्ताते कम्मं पगरेंति तं०—अत्तुक्कोसेणं परपरिवातेणं भूतिकम्मेणं कोउयकरणेणं, चउहिं ठाणेहिं जीवा सम्मोहत्ताते कम्मं पगरेंति, तं०—उम्मग्गदेसणाए मग्गंतराएणं कामासंसपओगेणं भिज्जानियाणकरणेणं, चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिब्बिसियत्ताते कम्मं पगरेंति तं०—अरहंताणं अवन्नं वयमाणे अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वयमाणे आयरियउवज्झायाणमवन्नं वदमाणे चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वदमाणे( सू० ३५४ )

कण्ठ्यं, नवरं स्त्रिया सह संवसनं–शयनं संवासः, द्यौः–स्वर्गः तद्वासी देवोऽप्युपचाराद् द्यौस्तत्र भवो दिव्यो वैमानिकसम्बन्धीत्यर्थः, असुरस्य–भवनपतिविशेषस्यायमासुर एवमितरौ, नवरं राक्षसो–व्यन्तरविशेषः, चतुर्भङ्गिका-

| देव ३ | असुर २ | राक्षस १ | मनुष्य |
|---|---|---|---|
| देवी | असुरी | राक्षसी | नारी |

सूत्राणि देवासुरेत्येवमादिसंयोगतः षड् भवन्ति । पुरुषक्रियाधिकारादेवापध्वंससूत्रं तत्रापध्वंसनमपध्वंसः–चारित्रस्य तत्फलस्य वा असुरादिभावनाजनितो विनाशः, तत्रासुरभावनाजनित आसुरः, येषु वाऽनुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्वमर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभावना, एवं भावनान्तरमपि, अभियोगभावनाजनित आभियोगः, सम्मोहभावनाजनितः साम्मोहः, देवकिल्बिषभावनाजनितो दैवकिल्बिष इति, इह च कन्दर्प्पभावनाजनितः कान्दर्प्पोऽपध्वंसः पञ्चमोऽस्ति, स च सन्नपि नोक्तः, चतुःस्थानकानुरोधाद्, भावना हि पञ्चागमेऽभिहिताः, आह च—"कंदप्प १ देवकिब्बिस २ अभिओगा ३ आसुरा य ४ संमोहा ५ । एसा उ संकिलिट्ठा पंचविहा भावणा भणिया ॥ १ ॥" [कंदर्पी देवकिल्बिषाऽभियोग्या आसुरी च संमोहा । एतास्तु संक्लिष्टाः पंचविधा




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३५४]

दीप अनुक्रम [३८१]

भावना भणिता ॥ १ ॥] आसाञ्च मध्ये यो यस्यां भावनायां वर्त्तते स तद्विधेषु देवेषु गच्छति चारित्रलेशप्रभावाद्, उक्तञ्च—"जो संजओऽवि एयासु अप्पसत्थासु वट्टइ कहंचि । सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥ १ ॥" [यः संयतोऽप्येतासु अप्रशस्तासु वर्त्तते कथञ्चित् । स तद्विधेषु सुरेषु गच्छति भक्तश्चरणहीनः ॥ १ ॥] इति, आसुरादिरपध्वंस उक्तः, स चासुरत्वादिनिबन्धन इत्यसुरादिभावनास्वरूपभूतान्यसुरादित्वसाधनकर्म्मणां कारणानि सूत्रचतुष्टयेनाह–'चउहिं ठाणेहीं'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं असुरेषु भव आसुरः–असुरविशेषस्तद्भावः आसुरत्वं तस्मै आसुरत्वाय तदर्थमित्यर्थः, अथवा असुरतायै असुरतया वा कर्म्म–तदायुष्कादि प्रकुर्व्वन्ति–कर्तुमारभन्ते, तद्यथा–क्रोधनशीलतया–कोपस्वभावत्वेन प्राभृतशीलतया–कलहनसम्बन्धतया संसक्ततपःकर्म्मणा–आहारोपधिशय्यादिप्रतिबद्धभावतपश्चरणेन निमित्ताजीवनतया–त्रैकालिकलाभालाभादिविषयनिमित्तोपात्ताहाराद्युपजीवनेनेति, अयमर्थोऽन्यत्रैवमुक्तः—"अणुवद्धविग्गहोवि य संसत्ततवो निमित्तमाएसी । निक्किवणिराणुकंपो आसुरियं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" [अनुबद्धविग्रहः संसक्ततपा निमित्तादेशी निष्कृपः निरनुकंपः आसुरिकीं भावनां करोति ॥ १ ॥] इति, तथा अभियोगं–व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः–किङ्करदेवविशेषास्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति, आत्मोत्कर्षेण–आत्मगुणाभिमानेन परपरिवादेन–परदोषपरिकीर्त्तनेन भूतिकर्म्मणां–ज्वरितादीनां भूत्यादिभी रक्षादिकरणेन कौतुककरणेन–सौभाग्यादिनिमित्तं परस्नपनकादिकरणेनेति, इयमप्येवमन्यत्र—"कोउय भूईकम्मे पसिणा इयरे निमित्तमाजीवी । इड्ढिरससायगरुओ अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इति [ प्रश्नोऽङ्गुष्टप्रश्नादिरितरः स्वप्नविद्यादिरिति > [ कौतुकं भूतिकर्म प्रश्नः इतर ( स्वप्नादिः ) निमित्ताजीवी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऋद्धिरससातागौरवित आभियोग्यां भावनां करोति ॥ १ ॥ ] तथा सम्मुह्यतीति सम्मोहः–मूढात्मा देवविशेष एव तद्भावस्तत्ता तस्यै सम्मोहतायै सम्मोहत्वाय सम्मोहतया वेति, उन्मार्गदेशनया–सम्यग्दर्शनादिरूपभावमार्गातिक्रान्तधर्म्मप्रथनेन [ प्रकटनेन–प्रकथनेन > मार्गान्तरायेण–मोक्षाध्वप्रवृत्ततद्विघ्नकरणेन, कामाशंसाप्रयोगेण–शब्दादावभिलाषकरणेन, 'भिज्ज'त्ति लोभो गृद्धिस्तेन निदानकरणं एतस्मात्तपःप्रभृतेश्चक्रवर्त्त्यादित्वं मे भूयादिति निकाचनाकरणं तेनेति, इयमप्येवमन्यत्र—"उम्मग्गदेसओ मग्गनासओ मग्गविप्पडीवत्ती । मोहेण य मोहेत्ता संमोहं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इति, [उन्मार्गदेशको मार्गनाशको मार्गविप्रतिपत्तिकः मोहेन च मोहयित्वा संमोहीं भावनां करोति ॥ १ ॥ देवानां मध्ये किल्बिषः–पापोऽत एवास्पृश्यादिधर्म्मको देवश्चासौ किल्बिषश्चेति वा देवकिल्बिषः शेषं तथैव, अवर्णः–अश्लाघा असद्दोषोद्घट्टनमित्यर्थः, अयमर्थोऽन्यत्रैवमुच्यते—"नाणस्स केवलीणं धम्मायरिआण सव्वसाहूणं । मासं अवन्नमाई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इति, [ज्ञानस्य केवलिनां धर्माचार्याणां सर्वसाधूनाम् । मायमाणोऽवर्णादि किल्बिषिकीं भावनां करोति ॥ १ ॥ ] इह कन्दर्पभावना नोक्ता चतुःस्थानकत्वादिति, अवसरश्चायमस्या इति सा प्रदर्श्यते—"कंदप्पे कुक्कुइए दवसीले यावि हासणकरे य । विम्हावितो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इति, [कन्दर्पः कन्दर्पकथावान्, कुक्कुचितो भाण्डचेष्टः, द्रवशीलो दर्पात् द्रुतगमनभाषणादि, हासनकरो वेषवचनादिना स्वपरहासोत्पादकः विस्मापकः–इन्द्रजाली > [कंदर्पी कुक्कुचितः द्रुतगामी चापि हासनकरः परं विस्मापयन् ( विस्मापक इन्द्रजाली ) कंदर्पीं भावनां करोति ॥ १ ॥] अयञ्चापध्वंसः प्रव्रज्यान्वितस्येति प्रव्रज्यानिरूपणाय 'चउव्विहा पव्वज्जे'त्यादि सूत्राष्टकं—




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—इहलोगपडिबद्धा परलोगपडिबद्धा दुहतो लोगपडिबद्धा अप्पडिबद्धा १, चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—पुरओपडिबद्धा मग्गओपडिबद्धा दुहतो पडिबद्धा अपडिबद्धा २, चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—ओवायपव्वज्जा अक्खातपव्वज्जा संगारपव्वज्जा विहगगइपव्वज्जा ३, चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—तुयावइत्ता पुयावइत्ता मोयावइत्ता परिपूयावइत्ता ४, चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—नडखइया भडखइया सीहखइया सियालक्खइया ५, चउव्विहा किसी पं० तं०—वाविया परिवाविया णिंदिता परिणिंदिता ६, एवामेव चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—वाविता परिवाविता णिंदिता परिणिंदिता ७, चउव्विहा पव्वज्जा पं० तं०—धन्नपुंजितसमाणा धन्नविरलितसमाणा धन्नविक्खित्तसमाणा धन्नसङ्कट्टितसमाणा ८, (सू० ३५५)

कण्ठ्यं, किन्तु इहलोकप्रतिबद्धा निर्वाहादिमात्रार्थिनां परलोकप्रतिबद्धा जन्मान्तरकामाद्यर्थिनां द्विधालोकप्रतिबद्धोभयार्थिनां अप्रतिबद्धा विशिष्टसामायिकवतामिति । पुरतः—अग्रतः प्रव्रज्यापर्यायभाविषु शिष्याहारादिषु या प्रतिबद्धा सा तथोच्यते, एवं मार्गतः—पृष्ठतः स्वजनादिषु, द्विधाऽपि काचित्, अप्रतिबद्धा पूर्ववत् । 'ओवाय'त्ति अवपातः—सद्गुरूणां सेवा ततो या प्रव्रज्या साऽवपातप्रव्रज्या, आख्यातस्य—प्रव्रजेत्याद्युक्तस्य या स्यात् साऽऽख्यातप्रव्रज्या आर्यरक्षितभ्रातुः फल्गुरक्षितस्येवेति, 'संगार'त्ति सङ्केतस्तस्माद्या सा तथा मेतार्यादीनामिव यदिवा यदि त्वं प्रव्रजसि तदाऽहमपीत्येवं सङ्केततो या सा तथेति, 'विहगगइ'त्ति विहगगत्या—पक्षिन्यायेन परिवारादिवियोगेनैकाकिनो देशान्तरगमनेन च या सा विहगगतिप्रव्रज्या, क्वचिद् 'विहगपव्वज्जे'ति पाठस्तत्र विहगस्ये-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३५५]

दीप अनुक्रम [३८२]



वेति दृश्यमिति, विहतस्य वा–दारिद्र्यादिभिररिभिर्वेति। 'तुयावइत्त'त्ति तोदं कृत्वा तोदयित्वा–व्यथामुत्पाद्य या प्रव्रज्या दीयते, मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथोच्यते, 'उयावइत्त'त्ति क्वचित्पाठस्तत्र ओजो–बलं शारीरं विद्यादिसत्कं वा तत्कृत्वा–प्रदर्श्य या दीयते सा ओजयित्वेत्यभिधीयते, 'पुयावइत्त'त्ति 'प्लुङ् गता'विति वचनात् प्लावयित्वा–अन्यत्र नीत्वाऽऽर्यरक्षितवत्, पूतं वा दूषणव्यपोहेन कृत्वा या सा पूतयित्वेति, 'बुयावइत्त'त्ति सम्भाष्य गौतमेन कर्षकवत्, वचनं वा पूर्वपक्षरूपं कारयित्वा निगृह्य च प्रतिज्ञावचनं वा कारयित्वा या सा तथोक्ता, क्वचित् 'मोयावइत्त'त्ति पाठस्तत्र मोचयित्वा साधुना तैलार्थदासत्वप्राप्तभगिनीवदिति, 'परिवुयावइत्त'त्ति घृतादिभिः परिप्लुतभोजनः परिप्लुत एव तं कृत्वा परिप्लुतयित्वा सुहस्तिना रङ्कवत् या सा तथोच्यत इति। नटस्येव संवेगविकलधर्म्मकथाकरणोपार्जितभोजनादीनां 'खइय'त्ति खादितं भक्षणं यस्यां सा नटखादिता, नटस्येव वा 'खइव'त्ति संवेगशून्यधर्म्मकथनलक्षणो हेवाकः–स्वभावो यस्यां सा तथा, एवं भटादिष्वपि, नवरं भटः तथाविधबलोपदर्शनलब्धभोजनादेः खादिता आरभटवृत्तिलक्षणहेवाको वा सिंहः पुनः शौर्यातिरेकादवज्ञयोपात्तस्य यथारब्धभक्षणेन वा खादिता तथाविधप्रकृतिर्वा शृगालस्तु न्यग्वृत्त्योपात्तस्यान्यान्यस्थानभक्षणेन वा खादिता तत्स्वभावो वेति। कृषिः–धान्यार्थं क्षेत्रकर्षणम्, 'वाविय'त्ति सकृद्धान्यवपनवती 'परिवाविय'त्ति द्विस्त्रिर्वा उत्पाट्य स्थानान्तरारोपणतः परिवपनवती शालिकृषिवत्, 'निंदिय'त्ति एकदा विजातीयतृणाद्यपनयनेन शोधिता निदाता, 'परिनिंदिय'त्ति द्विस्त्रिर्वा तृणादिशोधनेनेति, प्रव्रज्या तु वाविया सामायिकारोपणेन परिवाविया महाव्रतारोपणेन निरतिचारस्य सातिचारस्य वा मूलप्रायश्चित्तदानतः, निन्दिया सकृदतिचा-





Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'प्रव्रज्या' एवं तस्य भेदा:

रालोचनेन परिणिंदिया पुनः पुनरिति 'धन्नपुंजियसमाण'त्ति खले लूनपूनविशुद्धपुञ्जीकृतधान्यसमाना सकलातिचार-कचवरविरहेण लब्धस्वस्वभावत्वात् एका, अन्या तु खलक एव यद्विरेलितं–विसारितं वायुना पूनमपुञ्जीकृतं धान्यं तत्समाना या हि लघुनापि यत्नेन स्वस्वभावं लप्स्यत इति, अन्या तु यद्विकीर्णं–गोखुरक्षुण्णतया विक्षिप्तं धान्यं तत्स-माना या हि सहजसमुत्पन्नातिचारकचवरयुक्तत्वात् सामग्र्यन्तरापेक्षितया कालक्षेपलभ्यस्वस्वभावा सा धान्यविकीर्णस-मानोच्यते, अन्या तु यत्सङ्कर्षितं–क्षेत्रादाकर्षितं खलमानीतं धान्यं तत्समाना या हि बहुतरातिचारोपेतत्वाद् बहुतर-कालप्राप्तव्यस्वस्वभावा सा धान्यसङ्कर्षितसमानेति, इह च पुञ्जितादेर्धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वादिति ॥ इयञ्च प्रव्रज्या एवं विचित्रा संज्ञावशाद्भवतीति संज्ञानिरूपणाय सूत्रपञ्चकं—

चत्तारि सन्नाओ पं० तं०—आहारसन्ना भयसन्ना मेहुणसन्ना परिग्गहसन्ना १, चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जति, तं०—ओमकोट्ठताते १ छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं २ मतीते ३ तदट्ठोवओगेणं ४, २, चउहिं ठाणेहिं भयसन्ना समु-प्पज्जति, तं०—हीणसत्तताते भयवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीते तदट्ठोवओगेणं ३, चउहिं ठाणेहिं मेहुणसन्ना समु-प्पज्जति, तं०—चितमंससोणियताए मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीते तदट्ठोवओगेणं ४, चउहिं ठाणेहिं परिग्गहसन्ना समुप्पज्जइ, तं०—अविमुत्तताए लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीते तदट्ठोवओगेणं ५ ( सू० ३५६ ) चउव्विहा कामा पं० तं०—सिंगारा कलुणा बीभत्सा रोद्दा, सिंगारा कामा देवाणं कलुणा कामा मणुयाणं बीभत्सा कामा तिरि-क्खजोणियाणं रोद्दा कामा णेरइयाणं ( सू० ३५७ )


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


संज्ञा एवं तस्य उत्पत्तिः

'चत्तारी'त्यादि व्यक्तं, केवलं संज्ञानं संज्ञा–चैतन्यं, तच्चासातवेदनीयमोहनीयकर्म्मोदयजन्यविकारयुक्तमाहारसंज्ञादित्वेन व्यपदिश्यत इति, तत्राहारसंज्ञा–आहाराभिलाषः भयसंज्ञा–भयमोहनीयसम्पाद्यो जीवपरिणामो मैथुनसंज्ञा–वेदोदयजनितो मैथुनाभिलाषः परिग्रहसंज्ञा–चारित्रमोहोदयजनितः परिग्रहाभिलाष इति, अवमकोष्ठतया–रिक्तोदरतया मत्या–आहारकथाश्रवणादिजनितया तदर्थोपयोगेन–सततमाहारचिन्तयेति । हीनसत्त्वतया–सत्त्वाभावेन मतिः–भयवार्त्ताश्रवणभीषणदर्शनादिजनिता बुद्धिस्तया तदर्थोपयोगेन–इहलोकादिभयलक्षणार्थपर्यालोचनेनेति । चिते–उपचिते मांसशोणिते यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया चितमांसशोणिततया मत्या–सुरतकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन–मैथुनलक्षणार्थानुचिन्तनेनेति । अविमुक्ततया–सपरिग्रहतया मत्या–सचेतनादिपरिग्रहदर्शनादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन–परिग्रहानुचिन्तनेनेति । संज्ञा हि कामगोचरा भवन्तीति कामनिरूपणसूत्रं व्यक्तञ्च, किन्तु कामाः–शब्दादयः, शृङ्गारा देवानां एकान्तिकात्यन्तिकमनोज्ञत्वेन प्रकृष्टरतिरसास्पदत्वादिति, रतिरूपो हि शृङ्गारो, यदाह—"व्यवहारः पुंनार्योरन्योऽन्यं रक्तयोरतिप्रकृतिः शृङ्गारः" इति, मनुष्याणां करुणा मनोज्ञत्वस्यातथाविधत्वात्सुच्छत्वेन क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशोणितादिप्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात्, करुणो हि रसः शोकस्वभावः "करुणः शोकप्रकृति"रिति वचनादिति, तिरश्चां बीभत्सा जुगुप्सास्पदत्वात्, बीभत्सरसो हि जुगुप्सात्मको, यदाह—"भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्सः' इति, नैरयिकाणां रौद्रा–दारुणा अत्यन्तमनिष्टत्वेन क्रोधोत्पादकत्वात्, रौद्ररसो हि क्रोधरूपो, यत आह—"रौद्रः क्रोधप्रकृति"रिति । एते च कामाः तुच्छगम्भीरयोर्बाधकेतरा इति तावभिधित्सुः सदृष्टान्तान्यष्टौ सूत्राण्याह—



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञा एवं तस्य उत्पत्तिः

चत्तारि उदगा पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदए उत्ताणे णाममेगे गंभीरोदए गंभीरे णाममेगे उत्ताणोदए गंभीरे णाममेगे गंभीरोदए १, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उत्ताणे नाममेगे उत्ताणहिदए उत्ताणे णाममेगे गंभीरहिदए ४, २, चत्तारि उदगा पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी ४, ३, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी ४, ४, चत्तारि उदही पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदही उत्ताणे णाममेगे गंभीरोदही ४, ५, एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणहियए ४, ६, चत्तारि उदही पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी ४, ७, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी ४, ८ (सू० ३५८)

'चत्तारी'त्यादीनि व्यक्तानि च, किन्तु उदकानि—जलानि प्रज्ञप्तानि तत्रोत्तानं नामैकं तुच्छत्वात् प्रतलमित्यर्थः पुनरुत्तानं स्वच्छतयोपलभ्यमध्यस्वरूपत्वादुदकं—जलम्, उत्ताणोदएत्ति व्यस्तोऽयं निर्देशः प्राकृतशैलीवशात् समस्त इवावभासते, न च मूलोपात्तेनोदकशब्देनायं गतार्थो भविष्यतीति वाच्यम्, तस्य बहुवचनान्तत्वेनेहासम्बध्यमानत्वात्, साक्षादुदकशब्दे च सति किं तस्य वचनपरिणामादनुकर्षणेनेत्येवमुदधिसूत्रेऽपि भावनीयमिति। तथोत्तानं तथैव गम्भीरमुदकं—गडुलत्वादनुपलभ्यमानस्वरूपं तथा गम्भीरम्—अगाधं प्रचुरत्वादुत्तानमुदकं स्वच्छतयोपलभ्यमध्यस्वरूपत्वात् तथा गम्भीरमगाधत्वात् पुनर्गम्भीरमुदकं गडुलत्वादिति, पुरुषस्तु उत्तानः अगम्भीरो बहिर्दर्शितमददैन्यादिजन्यविकृतकायवाक्चेष्टत्वादुत्तानहृदयस्तु दैन्यादियुक्तगुह्यधरणासमर्थचित्तत्वादित्येकः अन्य उत्तानः कारणवशाद्दर्शितविकृ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तच्चेष्टत्वात् गम्भीरहृदयस्तु स्वभावेनोत्तानहृदयविपरीतत्वात् तृतीयस्तु गम्भीरो दैन्यादिवत्त्वेऽपि कारणवशात् संवृताकारतया उत्तानहृदयस्तथैव चतुर्थः प्रथमविपर्ययादिति । तथा उत्तानं प्रतलत्वादुत्तानमवभासते स्थानविशेषात् तथोत्तानं तथैव गम्भीरम्–अगाधमवभासते सङ्कीर्णाश्रयत्वादिना तथा गम्भीरम्–अगाधमुत्तानावभासि तु विस्तीर्णस्थानाश्रयत्वादिना । तथा गम्भीरम्–अगाधं गम्भीरावभासि तथाविधस्थानाश्रितत्वादिनैवेति, पुरुषस्तूत्तानः–तुच्छ उत्तान एवावभासते प्रदर्शिततुच्छत्वविकारत्वाद् द्वितीयः संवृतत्वात् तृतीयः कारणतो दर्शितविकारत्वाच्चतुर्थः सुज्ञानः । तथा उदकसूत्रद्वयवदुदधिसूत्रद्वयमपि सदार्ष्टान्तिकमवसेयमिति, अथवा उत्तानः सगाधत्वादेक उदधिः–ह्रदधिदेशः पूर्वं पश्चादपि उत्तान एव वेलाया बहिःसमुद्रेष्वभावात् द्वितीयस्तूत्तानः पूर्वं पश्चाद् गम्भीरो वेलाऽऽगमेनागाधत्वात् तृतीयस्तु गम्भीरः पूर्वं पश्चात् वेलाविगमेनोत्तान उदधिः चतुर्थः सुज्ञानः ॥ समुद्रप्रस्तावात्तत्तरकान् सूत्रद्वयेनाह—

चत्तारि तरगा पं० तं०—समुद्दं तरामीतेगे समुद्दं तरइ समुद्दं तरामीतेगे गोप्पतं तरति गोप्पतं तरामीतेगे ४, १, चत्तारि तरगा पं० तं०—समुद्दं तरित्ता नाममेगे समुद्दे विसीतते समुद्दं तरेत्ता णाममेगे गोप्पते विसीतति गोपतितं ४, २ (सू० ३५९) चत्तारि कुंभा पं० तं०—पुन्ने नाममेगे पुन्ने पुन्ने नाममेगे तुच्छे तुच्छे णाममेगे पुन्ने तुच्छे णाममेगे तुच्छे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पुन्ने नाममेगे पुन्ने ४, चत्तारि कुंभा पं० तं०—पुन्ने नाममेगे पुन्नोभासी पुन्ने नाममेगे तुच्छोभासी तुच्छे नाममेगे पुन्नोभासी तुच्छे नाममेगे तुच्छोभासी, एवं चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पुन्ने णाममेगे पुन्नोभासी ४, चत्तारि कुंभा पं० तं०—पुन्ने नाममेगे पुन्नरूवे पुन्ने नाममेगे तुच्छरूवे ४, एवामेव चत्तारि

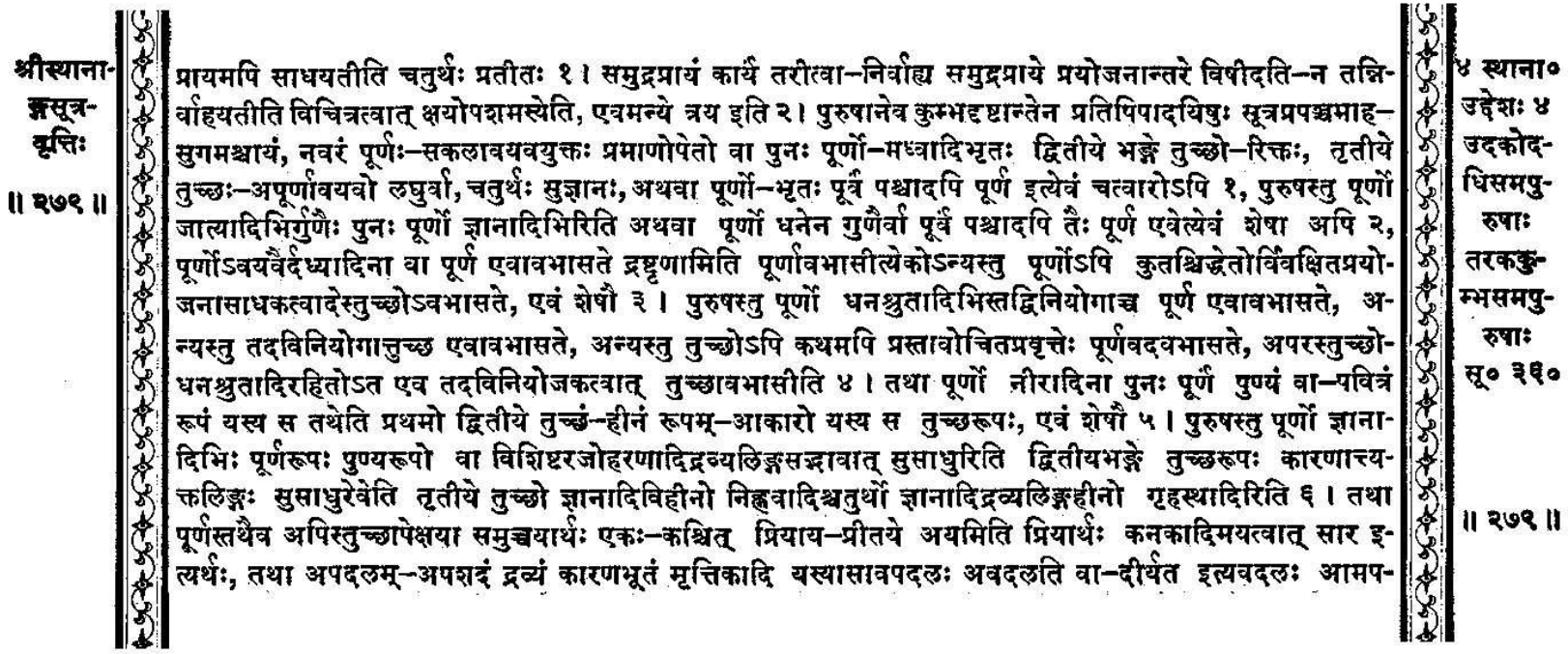


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिसजाया पं०, तं०—पुन्ने नाममेगे पुन्नरूवे ४, चत्तारि कुंभा पं० तं०—पुन्नेवि एगे पितट्ठे पुन्नेवि एगे अवदले तुच्छेवि एगे पियट्ठे तुच्छेवि एगे अवदले, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पुन्नेवि एगे पितट्ठे ४, तहेव चत्तारि कुंभा पं० तं०—पुन्नेवि एगे विस्संदति पुन्नेवि एगे णो विस्संदति तुच्छेवि एगे विस्संदति तुच्छेवि एगे न विस्संदइ, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—पुन्नेवि एगे विस्संदति ४, तहेव चत्तारि कुंभा पं० तं०—भिन्ने जज्जरिए परिस्साई अपरिस्साइ, एवामेव चउव्विहे चरित्ते पं० तं०—भिन्ने जाव अपरिस्साई, चत्तारि कुंभा पं० तं०—महुकुंभे नामं एगे महुप्पिहाणे महुकुंभे णामं एगे विसपिहाणे विसकुंभे नामं एगे महुपिहाणे विसकुंभे णाममेगे विसपिहाणे, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—महुकुंभे नाम एगे मधुपिहाणे ४—'हिययमपावमकलुसं जीहाऽवि य मद्दुरभासिणी निच्चं । जंमि पुरिसंमि विज्जति से मधुकुंभे मधुपिहाणे ॥ १ ॥ हिययमपावमकलुसं जीहाऽवि य कडुयभासिणी निच्चं । जंमि पुरिसंमि विज्जति से मधुकुंभे विसपिहाणे ॥ २ ॥ जं हिययं कलुसमयं जीहाऽवि य मधुरभासिणी निच्चं । जंमि पुरिसंमि विज्जति से विसकुंभे महुपिहाणे ॥ ३ ॥ जं हिययं कलुसमयं जीहाऽवि य कडुयभासिणी निच्चं । जंमि पुरिसंमि विज्जति से विसकुंभे विसपिहाणे ॥ ४ ॥ ( सू० ३६० )

**'चत्तारि तरगे'त्यादि व्यक्तं, नवरं तरन्तीति तराः त एव तरकाः, समुद्रं—समुद्रवद्दुस्तरं सर्वविरत्यादिकं कार्यं तरामि—करोमीत्येवमभ्युपगम्य तत्र समर्थत्वादेकः समुद्रं तरति—तदेव समर्थयतीत्येकः, अन्यस्तु तदभ्युपगम्यासमर्थत्वात् गोष्पदं—तत्कल्पं देशविरत्यादिकमल्पतमं तरति—निर्वाहयतीति, अन्यस्तु गोष्पदप्रायमभ्युपगम्य वीर्यातिरेकात् समुद्र-**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

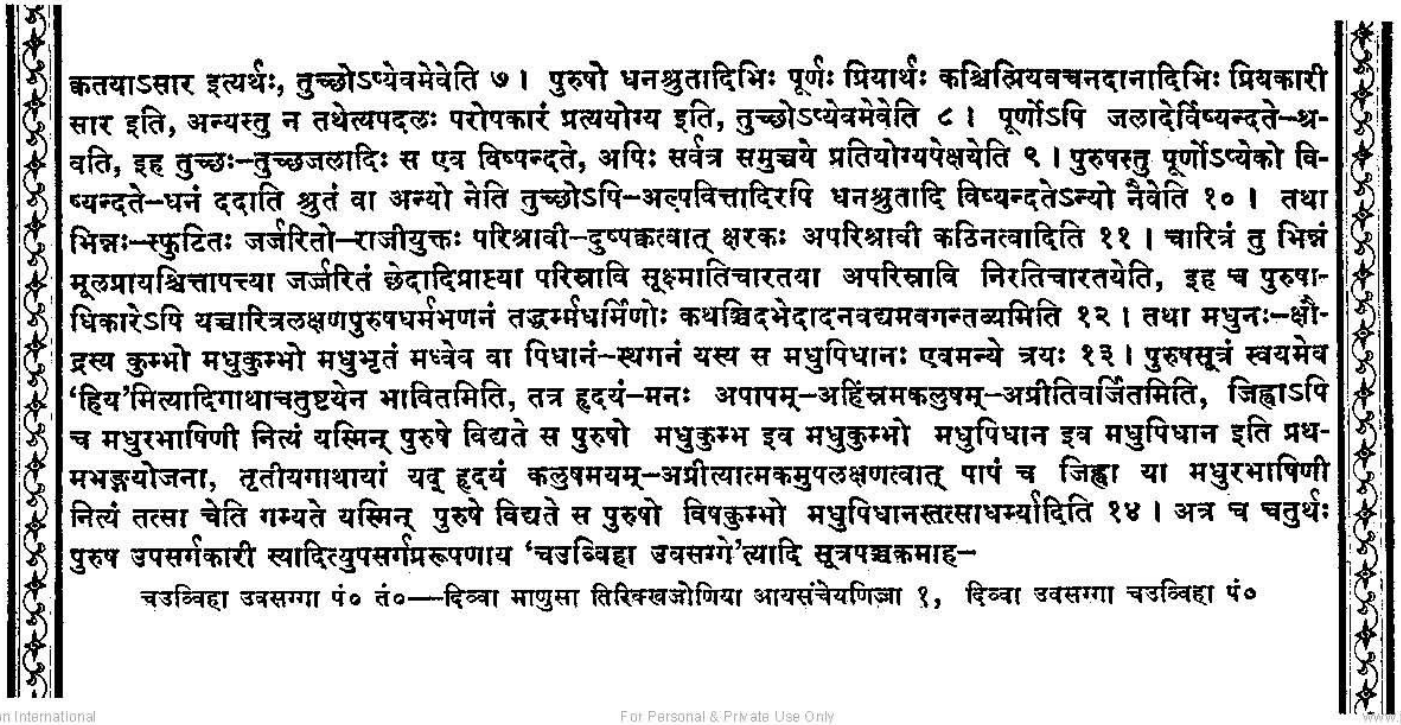




प्रायमपि साधयतीति चतुर्थः प्रतीतः १। समुद्रप्रायं कार्यं तरीत्वा–निर्वाह्य समुद्रप्राये प्रयोजनान्तरे विषीदति–न तन्निर्वाहयतीति विचित्रत्वात् क्षयोपशमस्येति, एवमन्ये त्रय इति २। पुरुषानेव कुम्भदृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषुः सूत्रप्रपञ्चमाह–सुगमश्चायं, नवरं पूर्णः–सकलावयवयुक्तः प्रमाणोपेतो वा पुनः पूर्णो–मध्वादिभृतः द्वितीये भङ्गे तुच्छो–रिक्तः, तृतीये तुच्छः–अपूर्णावयवो लघुर्वा, चतुर्थः सुज्ञानः, अथवा पूर्णो–भृतः पूर्वं पश्चादपि पूर्ण इत्येवं चत्वारोऽपि १, पुरुषस्तु पूर्णो जात्यादिभिर्गुणैः पुनः पूर्णो ज्ञानादिभिरिति अथवा पूर्णो धनेन गुणैर्वा पूर्वं पश्चादपि तैः पूर्ण एवेत्येवं शेषा अपि २, पूर्णोऽवयवैर्दध्यादिना वा पूर्ण एवावभासते द्रष्टृणामिति पूर्णावभासीत्येकोऽन्यस्तु पूर्णोऽपि कुतश्चिद्धेतोर्विवक्षितप्रयोजनासाधकत्वादेस्तुच्छोऽवभासते, एवं शेषौ ३। पुरुषस्तु पूर्णो धनश्रुतादिभिस्तद्विनियोगाच्च पूर्ण एवावभासते, अन्यस्तु तदविनियोगात्तुच्छ एवावभासते, अन्यस्तु तुच्छोऽपि कथमपि प्रस्तावोचितप्रवृत्तेः पूर्णवदवभासते, अपरस्तुच्छोधनश्रुतादिरहितोऽत एव तदविनियोजकत्वात् तुच्छावभासीति ४। तथा पूर्णो नीरादिना पुनः पूर्णं पुण्यं वा–पवित्रं रूपं यस्य स तथेति प्रथमो द्वितीये तुच्छं–हीनं रूपम्–आकारो यस्य स तुच्छरूपः, एवं शेषौ ५। पुरुषस्तु पूर्णो ज्ञानादिभिः पूर्णरूपः पुण्यरूपो वा विशिष्टरजोहरणादिद्रव्यलिङ्गसद्भावात् सुसाधुरिति द्वितीयभङ्गे तुच्छरूपः कारणान्त्यक्तलिङ्गः सुसाधुरेवेति तृतीये तुच्छो ज्ञानादिविहीनो निह्नवादिश्चतुर्थो ज्ञानादिद्रव्यलिङ्गहीनो गृहस्थादिरिति ६। तथा पूर्णस्तथैव अपिस्तुच्छापेक्षया समुच्चयार्थः एकः–कश्चित् प्रियाय–प्रीतये अयमिति प्रियार्थः कनकादिमयत्वात् सार इत्यर्थः, तथा अपदलम्–अपशब्दं द्रव्यं कारणभूतं मृत्तिकादि यस्यासावपदलः अवदलति वा–दीर्यत इत्यवदलः आमप-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



कतयाऽसार इत्यर्थः, तुच्छोऽप्येवमेवेति ७। पुरुषो धनश्रुतादिभिः पूर्णः प्रियार्थः कश्चित्प्रियवचनदानादिभिः प्रियकारी सार इति, अन्यस्तु न तथेत्यपदलः परोपकारं प्रत्ययोग्य इति, तुच्छोऽप्येवमेवेति ८। पूर्णोऽपि जलादेर्विष्यन्दते–श्रवति, इह तुच्छः–तुच्छजलादिः स एव विष्पन्दते, अपिः सर्वत्र समुच्चये प्रतियोग्यपेक्षयेति ९। पुरुषस्तु पूर्णोऽप्येको विष्यन्दते–धनं ददाति श्रुतं वा अन्यो नेति तुच्छोऽपि–अल्पवित्तादिरपि धनश्रुतादि विष्यन्दतेऽन्यो नैवेति १०। तथा भिन्नः–स्फुटितः जर्जरितो–राजीयुक्तः परिश्रावी–दुष्पक्वत्वात् क्षरकः अपरिश्रावी कठिनत्वादिति ११। चारित्रं तु भिन्नं मूलप्रायश्चित्तापत्त्या जर्जरितं छेदादिप्राप्त्या परिस्रावि सूक्ष्मातिचारतया अपरिस्रावि निरतिचारतयेति, इह च पुरुषाधिकारेऽपि यच्चारित्रलक्षणपुरुषधर्मभणनं तद्धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदादनवद्यमवगन्तव्यमिति १२। तथा मधुनः–क्षौद्रस्य कुम्भो मधुकुम्भो मधुभृतं मध्वेव वा पिधानं–स्थगनं यस्य स मधुपिधानः एवमन्ये त्रयः १३। पुरुषसूत्रं स्वयमेव 'हिय'मित्यादिगाथाचतुष्टयेन भावितमिति, तत्र हृदयं–मनः अपापम्–अहिंस्रमकलुषम्–अप्रीतिवर्जितमिति, जिह्वाऽपि च मधुरभाषिणी नित्यं यस्मिन् पुरुषे विद्यते स पुरुषो मधुकुम्भ इव मधुकुम्भो मधुपिधान इव मधुपिधान इति प्रथमभङ्गयोजना, तृतीयगाथायां यद् हृदयं कलुषमयम्–अप्रीत्यात्मकमुपलक्षणत्वात् पापं च जिह्वा या मधुरभाषिणी नित्यं तत्सा चेति गम्यते यस्मिन् पुरुषे विद्यते स पुरुषो विषकुम्भो मधुपिधानस्तत्साधर्म्यादिति १४। अत्र च चतुर्थः पुरुष उपसर्गकारी स्यादित्युपसर्गप्ररूपणाय 'चउव्विहा उवसग्गे'त्यादि सूत्रपञ्चकमाह–

चउव्विहा उवसग्गा पं० तं०—दिव्वा माणुसा तिरिक्खजोणिया आयसंचेयणिज्जा १, दिव्वा उवसग्गा चउव्विहा पं०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| | उपसर्ग एवं तस्य भेदाः |

प्रत सूत्रांक [३६१] दीप अनुक्रम [३९२]



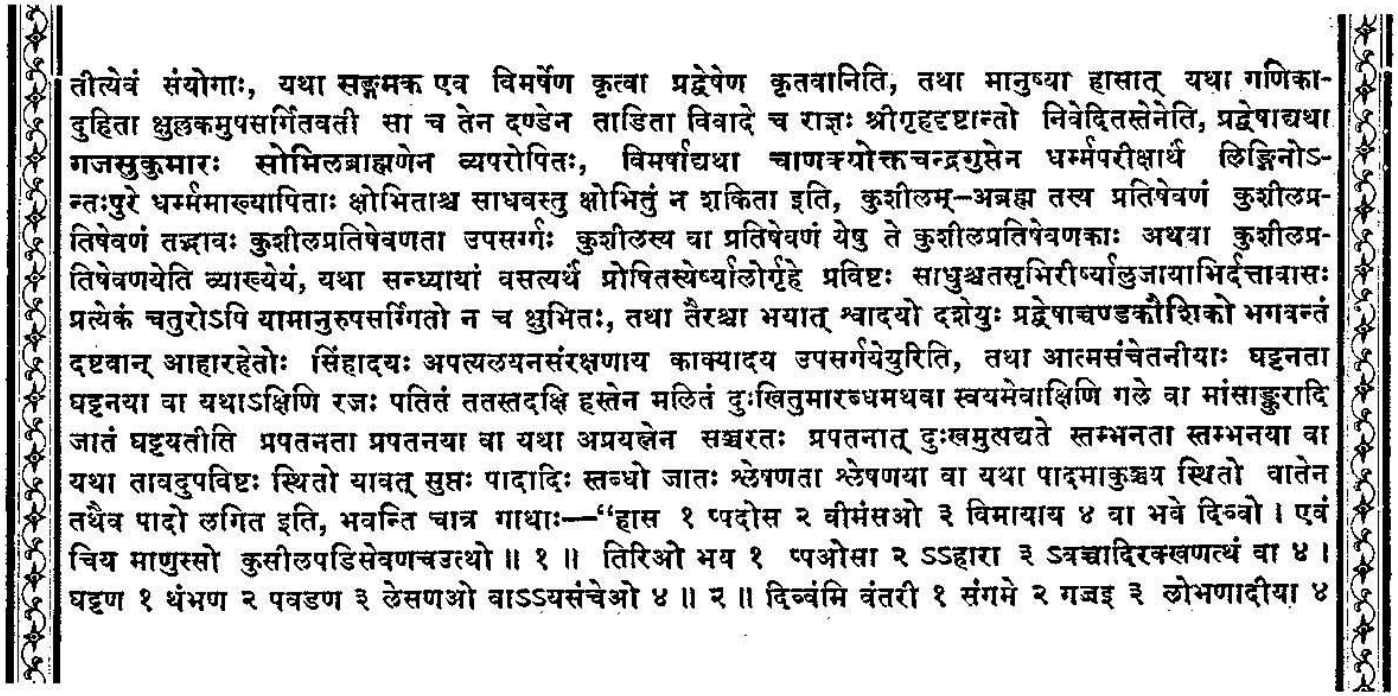
तं०—हासा पाओसा वीमंसा पुढोवेमाता २, माणुस्सा उवसग्गा चउव्विधा पं० तं०—हासा पाओसा वीमंसा कुसीलपडिसेवणया ३, तिरिक्खजोणिया उवसग्गा चउव्विहा पं० तं०—भता पदोसा आहारहेउं अवच्चलेणसारक्खणया ४, आतसंचेयणिज्जा उवसग्गा चउव्विहा पं० तं०—घट्टणता पवडणता थंभणता लेसणता ५ (सू० ३६१)

कण्ठ्यश्चेदं, नवरमुपसर्जनान्युपसृज्यते वा–धर्म्मात् प्रच्याव्यते जन्तुरेभिरुपसर्गा–बाधाविशेषाः, ते च कर्तृभेदाच्चतुर्विधाः, आह च—"उवसज्जणमुवसग्गो तेण तओ य उवसिज्जए जम्हा। सो दिव्वमणुयतेरिच्छआयसंवेयणाभेओ ॥१॥" इति, [उपसर्जनमुपसर्गः येन यतो वोपसृज्यते यस्मात् स दिव्यमानुजतैर्यगात्मसंवेदनाभेदः ॥ १ ॥] आत्मना संचेत्यन्ते–क्रियन्त इत्यात्मसंचेतनीयाः, तत्र दिव्या हासत्ति–हासाद्भवन्ति हाससम्भूतत्वाद्वा हासा उपसर्गा एवेत्येवमन्यत्रापि, यथा भिक्षार्थं ग्रामान्तरप्रस्थितक्षुल्लकैर्व्यन्तर्या उपयाचितं प्रतिपन्नं–यदीप्सितं लप्स्यामहे तदा तवोण्डेरकादि दास्याम इति, लब्धे च तत्र तवेदमिति भणित्वा तदुण्डेरकादि तैः स्वयमेव भक्षितं, देवतया च हासेन तद्रूपमावृत्य क्रीडितं अनागच्छत्सु च क्षुल्लकेषु व्याकुले गच्छे निवेदितमाचार्याणां देवतया क्षुल्लकवृत्तं, ततो वृषभैरुण्डेरकादि याचित्वा तस्यै दत्तं, तया तु ते दर्शिता इति, प्रद्वेषाद्यथा सङ्गमको महावीरस्योपसर्गानकरोत्, विमर्षात् यथा क्वचिद्देवकुलिकायां वर्षासूषित्वा साधुषु गतेषु तदीय एवान्यः पश्चादागतस्तत्रोषितः तं च देवता किंस्वरूपोऽयमिति विमर्षादुपसर्गितवतीति, पृथग्–भिन्ना विविधा मात्रा–हासादिवस्तुरूपा येषु ते पृथग्विमात्रा अथवा पृथग्–विविधा मात्रा विमात्रा तया इत्येतच्छुसतृतीयैकवचनं पदं द्रष्टव्यं, तथाहि–हासेन कृत्वा प्रद्वेषेण करो-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपसर्ग एवं तस्य भेदा:



तीत्येवं संयोगाः, यथा सङ्गमक एव विमर्षेण कृत्वा प्रद्वेषेण कृतवानिति, तथा मानुष्या हासात् यथा गणिका-दुहिता क्षुल्लकमुपसर्गितवती सा च तेन दण्डेन ताडिता विवादे च राज्ञः श्रीगृहदृष्टान्तो निवेदितस्तेनेति, प्रद्वेषाद्यथा गजसुकुमारः सोमिलब्राह्मणेन व्यपरोपितः, विमर्षाद्यथा चाणक्योक्तचन्द्रगुप्तेन धर्म्मपरीक्षार्थं लिङ्गिनोऽन्तःपुरे धर्म्ममाख्यापिताः क्षोभिताश्च साधवस्तु क्षोभितुं न शकिता इति, कुशीलम्-अब्रह्म तस्य प्रतिषेवणं कुशीलप्रतिषेवणं तद्भावः कुशीलप्रतिषेवणता उपसर्गः कुशीलस्य वा प्रतिषेवणं येषु ते कुशीलप्रतिषेवणकाः अथवा कुशीलप्रतिषेवणयेति व्याख्येयं, यथा सन्ध्यायां वसत्यर्थं प्रोषितस्येर्ष्यालोर्गृहे प्रविष्टः साधुश्चतसृभिरीर्ष्यालुजायाभिर्दत्तावासः प्रत्येकं चतुरोऽपि यामानुरुपसर्गितो न च क्षुभितः, तथा तैरश्चा भयात् श्वादयो दशेयुः प्रद्वेषाच्चण्डकौशिको भगवन्तं दष्टवान् आहारहेतोः सिंहादयः अपत्यलयनसंरक्षणाय काक्यादय उपसर्गयेयुरिति, तथा आत्मसंचेतनीयाः घट्टनता घट्टनया वा यथाऽक्षिणि रजः पतितं ततस्तदक्षि हस्तेन मलितं दुःखितुमारब्धमथवा स्वयमेवाक्षिणि गले वा मांसाङ्कुरादि जातं घट्टयतीति प्रपतनता प्रपतनया वा यथा अप्रयत्नेन सञ्चरतः प्रपतनात् दुःखमुत्पद्यते स्तम्भनता स्तम्भनया वा यथा तावदुपविष्टः स्थितो यावत् सुप्तः पादादिः स्तब्धो जातः श्लेषणता श्लेषणया वा यथा पादमाकुञ्च्य स्थितो वातेन तथैव पादो लगित इति, भवन्ति चात्र गाथाः—"हास १ प्पदोस २ वीमंसओ ३ विमायाय ४ वा भवे दिव्वो । एवं चिय माणुस्सो कुसीलपडिसेवणचउत्थो ॥ १ ॥ तिरिओ भय १ प्पओसा २ ऽऽहारा ३ ऽवच्चादिरक्खणत्थं वा ४ । घट्टण १ थंभण २ पवडण ३ लेसणओ वाऽऽयसंचेओ ४ ॥ २ ॥ दिव्वंमि वंतरी १ संगमे २ गज्जइ ३ लोभणादीया ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३६१] दीप अनुक्रम [३९२]



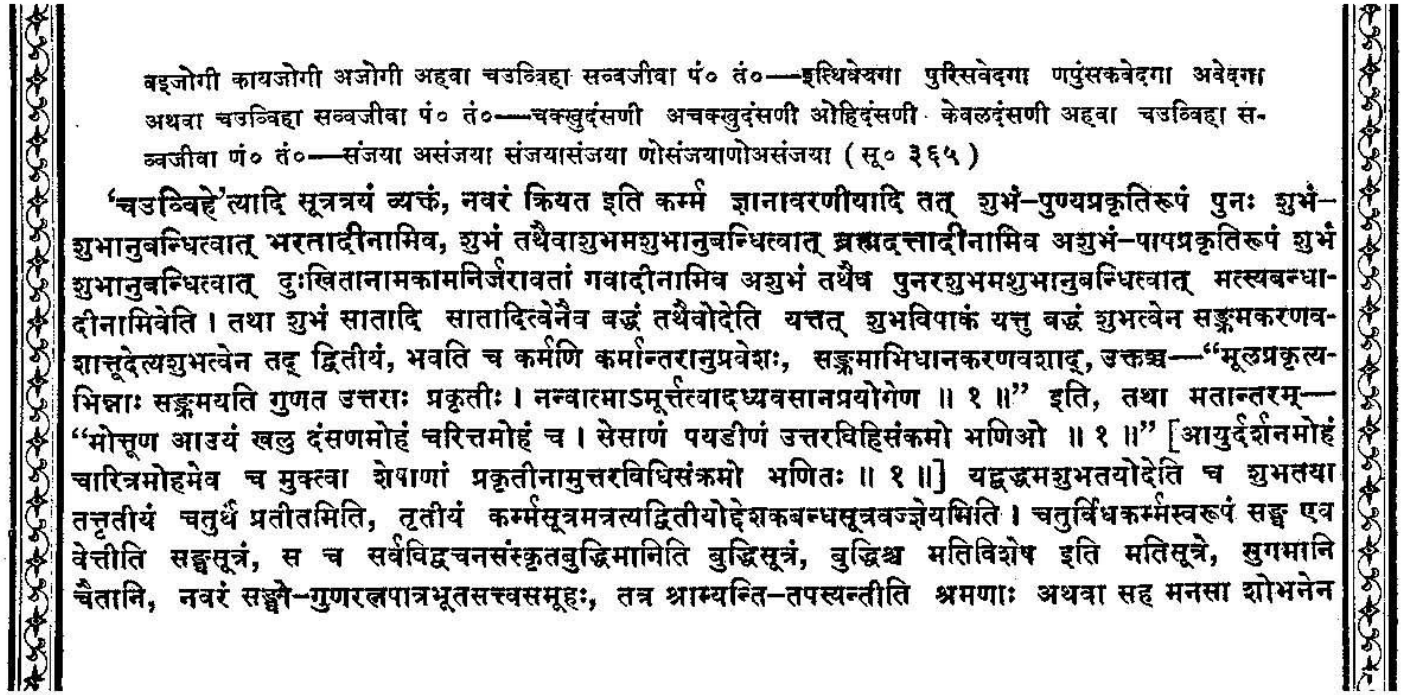
[इत्युत्तरार्द्ध>, गणिया १ सोमिल २ धम्मोवएसणे ३ साल्लुजोसियाईया ४ । तिरियंमि साण १ कोसिय २ सीहा अचिरसूवियगवाई ॥ ३ ॥ कणुग १ कुडणा २ भिपयणाइ ३ गत्तसंलेसणादओ ४ नेया । आओदाहरणा वाय १ वित्त २ कफ ३ सन्निवाया व"त्ति ॥ ४ ॥ [हास्यात्प्रद्वेषाद्विमर्शाद्विमात्रातो वा भवेद्दिव्यः । एवमेव मानुष्यः कुशीलप्रतिषेवनाच्चतुर्थः ॥ १ ॥ तैरश्चः भयात्प्रद्वेषादाहारादपत्यरक्षणार्थं वा । घट्टनस्तंभनप्रपतनसंश्लेषणतो वाऽऽत्मसंवेदः ॥ दिव्ये व्यन्तरी संगम एकयतिलोभन्यादिका (क्षोभणादिकाः) । मानुष्ये गणिकासोमिलधर्मोपदेशकेर्ष्यालुयोषिदादयः ॥ तैरश्चीने श्वकौशिकसिंहाचिरप्रसूतगवादिकाः । कणकुट्टनाभिपतनगर्तासंश्लेषणादयो ज्ञेयाः ॥ आत्मोदाहरणानि वातपित्तकफसन्निपाता वा] उपसर्गसहनात् कर्म्मक्षयो भवतीति कर्म्मस्वरूपप्रतिपादनायाह—

चउव्विहे कम्मे पं० तं०—सुभे नाममेगे सुभे सुभे नाममेगे असुभे असुभे नाम ४, १, चउव्विहे कम्मे पं० तं०—सुभे नाममेगे सुभविवागे सुभे णाममेगे असुभविवागे असुभे नाममेगे सुभविवागे असुभे नाममेगे असुभविवागे ४, २, चउव्विहे कम्मे पं० तं०—पगडीकम्मे ठितीकम्मे अणुभावकम्मे पदेसकम्मे ४, ३, (सू० ३६२) चउव्विहे संघे पं० तं०—समणा समणीओ सावगा साविआओ (सू० ३६३) चउव्विहा बुद्धी पं० तं०—उप्पत्तिता वेणतिता कम्मिया पारिणामिया, चउव्विधा मई पं० तं०—उग्गहमती ईहामती अवायमई धारणामती, अथवा चउव्विहा मती पं० तं०—अरंजरोदगसमाणा वियरोदयसमाणा सरोदगसमाणा सागरोदगसमाणा (सू० ३६४) चउव्विहा संसारसमावन्नगा जीवा पं० तं०—णेरइता तिरिक्खजोणीया मणुस्सा देवा, चउव्विहा सव्वजीवा पं० तं०—मणजोगी



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपसर्ग एवं तस्य भेदा:



बइजोगी कायजोगी अजोगी अहवा चउव्विहा सव्वजीवा पं० तं०—इत्थिवेदगा पुरिसवेदगा णपुंसकवेदगा अवेदगा अथवा चउव्विहा सव्वजीवा पं० तं०—चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओहिदंसणी केवलदंसणी अहवा चउव्विहा सव्वजीवा णं० तं०—संजया असंजया संजयासंजया णोसंजयाणोअसंजया (सू० ३६५)

'चउव्विहे'त्यादि सूत्रत्रयं व्यक्तं, नवरं क्रियत इति कर्म्म ज्ञानावरणीयादि तत् शुभं–पुण्यप्रकृतिरूपं पुनः शुभं–शुभानुबन्धित्वात् भरतादीनामिव, शुभं तथैवाशुभमशुभानुबन्धित्वात् ब्रह्मदत्तादीनामिव अशुभं–पापप्रकृतिरूपं शुभं शुभानुबन्धित्वात् दुःखितानामकामनिर्जरावतां गवादीनामिव अशुभं तथैव पुनरशुभमशुभानुबन्धित्वात् मत्स्यबन्धादीनामिवेति। तथा शुभं सातादि सातादित्वेनैव बद्धं तथैवोदेति यत्तत् शुभविपाकं यत्तु बद्धं शुभत्वेन सङ्क्रमकरणवशात्तूदेत्यशुभत्वेन तद् द्वितीयं, भवति च कर्मणि कर्मान्तरानुप्रवेशः, सङ्क्रमाभिधानकरणवशाद्, उक्तञ्च—"मूलप्रकृत्यभिन्नाः सङ्क्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः। नन्वात्माऽमूर्त्तत्वादध्यवसानप्रयोगेण ॥ १ ॥" इति, तथा मतान्तरम्—"मोत्तूण आउयं खलु दंसणमोहं चरित्तमोहं च। सेसाणं पयडीणं उत्तरविहिसंकमो भणिओ ॥ १ ॥" [आयुर्दर्शनमोहं चारित्रमोहमेव च मुक्त्वा शेषाणां प्रकृतीनामुत्तरविधिसंक्रमो भणितः ॥ १ ॥] यद्बद्धमशुभतयोदेति च शुभतया तत्तृतीयं चतुर्थं प्रतीतमिति, तृतीयं कर्म्मसूत्रमत्रत्यद्वितीयोद्देशकबन्धसूत्रवज्ज्ञेयमिति। चतुर्विधकर्म्मस्वरूपं सङ्घ एव वेत्तीति सङ्घसूत्रं, स च सर्वविद्वचनसंस्कृतबुद्धिमानिति बुद्धिसूत्रं, बुद्धिश्च मतिविशेष इति मतिसूत्रे, सुगमानि चैतानि, नवरं सङ्घो–गुणरत्नपात्रभूतसत्त्वसमूहः, तत्र श्राम्यन्ति–तपस्यन्तीति श्रमणाः अथवा सह मनसा शोभनेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निदानपरिणामलक्षणपापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनसस्तथा समानं–स्वजनपरजनादिषु तुल्यं मनो येषां ते समनसः, उक्तञ्च—"तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो । सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसुं ॥ १ ॥" [तदा श्रमणः यदि सुमनाः भावेन यदि न भवति पापमनाः । स्वजने जने च समः समश्च मानापमानयोः ॥ १ ॥] अथवा समिति–समतया शत्रुमित्रादिष्वणन्ति–प्रवर्त्तन्त इति समणाः, आह च—"नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु । एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ १ ॥" [नास्ति च तस्य कोऽपि द्वेष्यः प्रियो वा सर्वेष्वपि जीवेषु । एतेन भवति समनाः एषोऽन्योऽपि पर्यायः ॥ १ ॥] इति, प्राकृततया सर्वत्र समणत्ति, एवं समणीओ, तथा शृण्वन्ति जिनवचनमिति श्रावकाः, उक्तञ्च—"अवाप्तदृष्टादिविशुद्धसम्पत्, परं समाचारमनुप्रभातम् । शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः ॥१॥" इति, अथवा श्रान्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति–गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वा-स्तथा किरन्ति–क्लिष्टकर्म्मरजो विक्षिपन्तीति कास्तताः कर्म्मधारये श्रावका इति भवति, यदाह—"श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तनाद्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम् । किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवनादथापि तं श्रावकमाहुरञ्जसा ॥ १ ॥" इति, एवं श्राविका अपीति, तथा उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी, ननु क्षयोपशमः कारणमस्याः, सत्यं, किन्तु स खल्वन्तरङ्गत्वात्सर्वबुद्धिसाधारण इति न विवक्ष्यते, न चान्यच्छास्त्रकर्माभ्यासादिकमपेक्षत इति, अपि च–बुद्ध्युत्पादात्पूर्वं स्वयमदृष्टोऽन्यतश्चाश्रुतो मनसाऽप्यनालोचितस्तस्मिन्नेव क्षणे यथावस्थितोऽर्थो गृह्यते यया सा लोकद्वयाविरुद्धै-



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, समिति, श्रावक आदि शब्दस्य व्याख्या, 'बुध्धि' तस्या: भेदा:

प्रत सूत्रांक [३६५] दीप अनुक्रम [३९६]

कान्तिकफलवती बुद्धिरौत्पत्तिकीति, यदाह—"पुव्वमदिट्ठमसुयमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था । अव्वाहयफलजोगा बुद्धी उप्पत्तियानाम ॥ १ ॥" इति, [पूर्वमदृष्टाश्रुतज्ञातस्य तत्क्षणे गृहीतविशुद्धार्था । अव्याहतफलयोगवती औत्पातिकी नाम्नी बुद्धिः ॥ १ ॥] नटपुत्ररोहकादीनामिवेति, तथा विनयो–गुरुशुश्रूषा स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा वैनयिकी, अपिच–कार्यभरनिस्तरणसमर्था धर्मार्थकामशास्त्राणां गृहीतसूत्रार्थसारा लोकद्वयफलवती चेयमिति, यदाह —"भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहिअपेयाला । उभओ लोगफलवती विणयसमुत्था हवइ बुद्धि ॥ १ ॥ त्ति, [भरनिस्तरणसमर्था गृहीतत्रिवर्गशास्त्रसूत्रार्थसारा । उभयलोकफलवती विनयसमुत्था भवति बुद्धिः ॥ १ ॥] नैमित्तिकसिद्धपुत्रशिष्यादीनामिवेति, अनाचार्यकं कर्म्म साचार्यकं शिल्पं कादाचित्कं वा कर्म्म नित्यव्यापारस्तु शिल्पमिति, कर्म्मणो जाता कर्म्मजा, अपिच–कर्माभिनिवेशोपलब्धकर्म्मपरमार्था कर्म्माभ्यासविचाराभ्यां विस्तीर्णा प्रशंसाफलवती चेति, यदाह—"उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलणविसाला । साहुक्कारफलवती कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ १ ॥" इति [उपयोगदृष्टसारा कर्मप्रसंगपरिघोलनविशाला । साधुकारफलवती कर्मसमुत्था भवति बुद्धिः ॥ १ ॥] हैरण्यककर्षकादीनामिवेति, परिणामः–सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनादिजन्य आत्मधर्म्मः स प्रयोजनमस्यास्तत्प्रधाना वेति पारिणामिकी, अपिच–अनुमानकारणमात्रदृष्टान्तैः साध्यसाधिका वयोविपाके च पुष्टीभूता अभ्युदयमोक्षफला चेति, यदाह—"अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिया वयविवागपरिणामा । हियनिस्सेसफलवई बुद्धी परिणामिया नाम ॥ १ ॥" इति [अनुमानहेतुदृष्टान्तसाधिका वयोविपाकपरिणामा । हितनिःश्रेयसफलवती बुद्धिः पारिणामिकीनाम्नी ॥ १ ॥] अभयकु-


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org


'बुध्धि' तस्या: भेदा:

प्रत सूत्रांक [३६५] दीप अनुक्रम [३९६]



मारादीनामिवेति। तथा मननं मतिः तत्र सामान्यार्थस्याशेषविशेषनिरपेक्षस्यानिर्देश्यस्य रूपादेः अव इति–प्रथमतो ग्रहणं-परिच्छेदनमवग्रहः स एव मतिरवग्रहमतिरेवं सर्वत्र, नवरं तदर्थविशेषालोचनमीहा प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चयोऽवायः अवगतार्थविशेषधरणं धारणेति, उक्तञ्च—"सामन्नत्थावगहणमोग्गहो भेयमग्गणमिहेहा । तस्सावगमोऽवाओ अविच्चुई धारणा तस्स ॥ १ ॥" इति । [ सामान्येनार्थावग्रहणमवग्रहो भेदमार्गणमिहेहा तस्यावगमोऽवायोऽविच्युतिर्धारणा तस्य ॥ १ ॥ ] तथा अरञ्जरम्–उदकुम्भो अलञ्जरमिति यत्प्रसिद्धं तत्रोदकं यत्तत्समाना प्रभूतार्थग्रहणोल्लेखणधरण-सामर्थ्याभावेनाल्पत्वादस्थिरत्वाच्च, अरञ्जरोदकं हि सङ्क्षिप्तं शीघ्रं निष्ठितं चेति, विदरो–नदीपुलिनादौ जलार्थी गर्त्तः तत्र यदुदकं तत्समाना अल्पत्वादपरापरार्थोहनमात्रसमर्थत्वात् झगिति अनिष्ठितत्वाच्च, तदुदकं ह्यल्पं तथाऽपरापरमल्पमल्पं स्यन्दते, अत एव क्षिप्रमनिष्ठितञ्चेति, सरउदकसमाना तु विपुलत्वाद्बहुजनोपकारित्वादनिष्ठितत्वाच्च प्रायः सरोजलस्याप्येवंभूतत्वादिति, सागरोदकसमाना पुनः सकलपदार्थविषयत्वेनात्यन्तविपुलत्वादक्षयत्वादलब्धमध्यत्वाच्च, सागरजलस्यापि ह्येवंभूतत्वादिति । यथोक्तमतिमन्तो जीवा एव भवन्तीति जीवसूत्राणि पञ्च व्यक्तानि चैतानि, नवरं मनोयोगिनः–समनस्का योगत्रयसद्भावेऽपि तस्य प्राधान्यादेवं वाग्योगिनो द्वीन्द्रियादयः काययोगिन एकेन्द्रिया अयोगिनो–निरुद्धयोगाः सिद्धाश्चेति । अवेदकाः–सिद्धादयः । चक्षुषः सामान्यार्थग्रहणमवग्रहेहारूपं दर्शनं चक्षुर्दर्शनं तद्वन्तश्चतुरिन्द्रियादयः, अचक्षुः–स्पर्शनादि तद्दर्शनवन्त एकेन्द्रियादय इति । संयताः–सर्वविरताः असंयता–अविरताः संयतासंयता–देशविरताः त्रयप्रतिषेधवन्तः सिद्धा इति ॥ जीवाधिकाराज्जीवविशेषान् पुरुषभेदान् चतुःसूत्र्याऽऽह—



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'बुध्धि' तस्या: भेदा:

चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—मित्ते नाममेगे मित्ते मित्ते नाममेगे अमित्ते अमित्ते नाममेगे मित्ते अमित्ते णाममेगे अमित्ते १, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—मित्ते णाममेगे मित्तरूवे चउभंगो, ४, २, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—मुत्ते णाममेगे मुत्ते मुत्ते णाममेगे अमुत्ते, ४, ३, चत्तारि पुरिसजाया पं० तं०—मुत्ते णाममेगे मुत्तरूवे ४, ४, (सू० ३६६) पंचिंदियतिरिक्खजोणिया चउगईया चउआगईया पं० तं०—पंचिंदियतिरिक्खजोणिया पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणा णेरइएहिंतो वा तिरिक्खजोणिएहिंतो वा मणुस्सेहिंतो वा देवेहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से पंचिंदियतिरिक्खजोणिए पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्तं विप्पजहमाणे णेरइयत्ताए वा जाव देवत्ताते वा उवागच्छेज्जा, मणुस्सा चउगईआ चउआगतिता, एवं चेव मणुस्सावि (सू० ३६७) बेइंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स चउविहे संजमे कज्जति, तं०—जिब्भामयातो सोक्खातो अववरोवित्ता भवति, जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति, फासमयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ एवं चेव ४, बेइंदियाणं जीवा समारभमाणस्स चउविधे असंजमे कज्जति, तं०—जिब्भामयातो सोक्खाओ ववरोवित्ता भवति, जिब्भामतेणं दुक्खेणं संजोगित्ता भवति, फासामयातो सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ (सू० ३६८) सम्मद्दिट्ठिताणं णेरइयाणं चत्तारि किरियाओ पं० तं०—आरंभिता परिग्गहिता मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया, सम्मद्दिट्ठिताणमसुरकुमाराणं चत्तारि किरियाओ पं० तं०—एवं चेव, एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं (सू० ३६९) चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा, तं०—कोहेणं पडिनिसेवेणं अकयण्णुयाए मिच्छत्ताभिनिवेसेणं । चउहिं ठाणेहिं संते गुणे दीवेज्जा तंजहा—अब्भासवत्तितं परच्छंदाणुवत्तिसं कज्जहेउं कतपडिकतितेति वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सू० ३७० ) णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिता, तंजहा—कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं, एवं जाव वेमाणियाणं, णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं निव्वत्तिते सरीरे पं० तं०—कोहनिव्वत्तिए जाव लोभनिव्वत्तिए, एवं जाव वेमाणियाणं ( सू० ३७१ )

'चत्तारी'त्यादि, स्पष्टा चेयं, नवरं मित्रमिहलोकोपकारित्वात्पुनर्मित्रं—परलोकोपकारित्वात्सद्गुरुवत्, अन्यस्तु मित्रं स्नेहवत्त्वादमित्रं परलोकसाधनविध्वंसात्कलत्रादिवत्, अन्यस्त्वमित्रः प्रतिकूलत्वान्मित्रं निर्वेदोत्पादनेन परलोकसाधनोपकारकत्वादविनीतकलत्रादिवच्चतुर्थोऽमित्रः प्रतिकूलत्वात् पुनरमित्रः सङ्क्लेशहेतुत्वेन दुर्गतिनिमित्तत्वात्, पूर्वापरकालापेक्षया वेदं भावनीयमिति । तथा मित्रमन्तःस्नेहवृत्त्या मित्रस्यैव रूपम्—आकारो बाह्योपचारकरणात् यस्य स मित्ररूप इति एको, द्वितीयोऽमित्ररूपो बाह्योपचाराभावात् तृतीयः अमित्रः स्नेहवर्जितत्वादिति चतुर्थः प्रतीतः । तथा मुक्तः—त्यक्तसङ्गो द्रव्यतः पुनर्मुक्तो भावतोऽभिष्वङ्गाभावात् सुसाधुवत्, द्वितीयोऽमुक्तः साभिष्वङ्गत्वात् रङ्कवत्, तृतीयोऽमुक्तो द्रव्यतः भावतस्तु मुक्तो राज्यावस्थोत्पन्नकेवलज्ञानभरतचक्रवर्त्तिवत्, चतुर्थो गृहस्थः, कालापेक्षया वेदं दृश्यमिति । मुक्तो निरभिष्वङ्गतया मुक्तरूपो वैराग्यपिशुनाकारतया यतिरिवेत्येको द्वितीयोऽमुक्तरूप उक्तविपरीतत्वाद् गृहस्थावस्थायां महावीर इव तृतीयोऽमुक्तः साभिष्वङ्गत्वाच्छठयतिवच्चतुर्थो गृहस्थ इति । जीवाधिकारिकं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यसूत्रद्वयं सुगमं, एवं द्वीन्द्रियसूत्रद्वयमपि, नवरं द्वीन्द्रियान् जीवान् असमारभमाणस्य—अव्यापादयतः, जिह्वाया विकारो जिह्वामयं तस्मात् सौख्याद्—रसोपलम्भानन्दरूपादव्यपरोपयिता—अभ्रंशयिता, तथा जिह्वामयं—जिह्वे-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्द्रियहानिरूपं यद् दुःखं तेनासंयोजयितेति । जीवाधिकारादेव सम्यग्दृष्टिजीवक्रियासूत्राणि सुगमानि चैतानि, नवरं सम्यग्दृष्टीनां चतस्रः क्रिया मिथ्यात्वक्रियाया अभावात्, एवं 'विगलिंदियवज्जं'ति, एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चापि, तेषां मिथ्यादृष्टित्वात्, द्वीन्द्रियादीनाञ्च सासादनसम्यक्त्वस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादिति, एवं चेह विकलेन्द्रियवर्जनेन षोडश क्रियासूत्राणि वैमानिकान्तानि भवन्तीति । अनन्तरं क्रिया उक्तास्तद्वांश्च सद्भूतान् परगुणान् नाशयति प्रकाशयति चेत्येवमर्थं सूत्रद्वयं, तच्च सुगमं, नवरं सतो–विद्यमानान् गुणान् नाशयेदिव नाशयेत्–अपलपति न मन्यते, क्रोधेन–रोषेण तथा प्रतिनिवेशेन–एष पूज्यते अहं तु नेत्येवं परपूजाया असहनलक्षणेन कृतमुपकारं परसम्बन्धिनं न जानातीत्यकृतज्ञस्तद्भावस्तत्ता तया मिथ्यात्वाभिनिवेशेन–बोधविपर्यासेन, उक्तञ्च—"रोसेण पडिनिवेसेण तहय अकयण्णुमिच्छभावेणं । संतगुणे नासित्ता भासइ अगुणे असंते वा ॥ १ ॥" इति [रोषेण प्रतिनिवेशेन तथैवाकृतज्ञतया मिथ्याभावेन च सतो गुणान्नाशयित्वाऽसतो दोषान् भाषते ॥ १ ॥] असतः–अविद्यमानान् क्वचित्संतेत्ति पाठस्तत्र च सतो–विद्यमानान् गुणान् दीपयेत् वदेदित्यर्थः, अभ्यासो–हेवाको वर्णनीयासन्नता वा प्रत्ययो–निमित्तं यत्र दीपने तदभ्यासप्रत्ययं, दृश्यते ह्यभ्यासान्निर्विषयापि निष्फलापि च प्रवृत्तिः, सन्निहितस्य च प्रायेण गुणानामेव ग्रहणमिति, तथा परच्छन्दस्य–पराभिप्रायस्यानुवृत्तिः–अनुवर्त्तना यत्र तत्परच्छन्दानुवृत्तिकं दीपनमेव, तथा कार्यहेतोः–प्रयोजननिमित्तं चिकीर्षितकार्यं प्रत्यानुकूल्यकरणायेत्यर्थः, तथा कृते–उपकृते प्रतिकृतं–प्रत्युपकारः तद्यस्यास्ति स कृतप्रतिकृतिकः 'इति वा' कृतप्रत्युपकर्त्तेतिहेतोरित्यर्थः, अथवा कृतप्रतिकृतये इति वा–एकेनैकस्योपकृतं गुणा वोत्कीर्त्तिताः स तस्यासतो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऽपि गुणान् प्रत्युपकारार्थमुत्कीर्त्तयतीत्यर्थः, इतिरुपप्रदर्शने वा विकल्पे । इदञ्च गुणनाशनादि शरीरेण क्रियत इति शरीरस्योत्पत्तिनिर्वृत्तिसूत्राणां दण्डकद्वयं, कण्ठ्यं चैतत्, नवरं क्रोधादयः कर्म्मबन्धहेतवः, कर्म्म च शरीरोत्पत्तिकारणमिति कारणकारणे कारणोपचारात् क्रोधादयः शरीरोत्पत्तिनिमित्ततया व्यपदिश्यन्त इति । 'चउहिं ठाणेहिं सरीरे'त्याद्युक्तं, क्रोधादिजन्यकर्म्मनिर्वर्त्तितत्वात् क्रोधादिभिर्निर्वर्त्तितं शरीरमित्यपदिष्टं, इह चोत्पत्तिरारम्भमात्रं निर्वृत्तिस्तु निष्पत्तिरिति । क्रोधादयः शरीरनिर्वृत्तेः कारणानीत्युक्तं तन्निग्रहास्तु धर्म्मस्येत्याह—

चत्तारि धम्मदारा पन्नत्ता, तंजहा—खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे ( सू० ३७२ ) चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा—महारंभताते महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं १ चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं०—माइल्लताते णियडिल्लताते अलियवयणेणं कूडतुलकूडमाणेणं २ चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति, तंजहा—पगतिभद्दताते पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते ३ चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामणिज्जराए ४ ( सू० ३७३ ) चउव्विहे वज्जे पं० तं०—तते वितते घणे झुसिरे १ चउव्विहे नट्टे पं० तं०—अंचिए रिभिए आरभडे भिसोले २ चउव्विहे गेए पं० तं०—उक्खित्तए पत्तए मंदए रोविंदए ३ चउव्विहे मल्ले पं० तं०—गंथिमे वेढिमे पूरिमे संघातिमे ४ चउव्विहे अलंकारे पं० तं०—केसालंकारे वत्थालंकारे मल्लालंकारे आभरणालंकारे ५ चउव्विहे अभिणते पं० तं०—दिट्ठंतिते पांडुसुते सामंतोवातणिते लोगमज्झावसिते ६ ( सू० ३७४ ) सणंकुमारमाहिंदे सुणं कप्पेसु विमाणा चउवन्ना पं० तं०—णीला



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोहिता हालिद्दा सुक्किला, महासुक्कसहस्सारेसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जा सरीरगा उक्कोसेणं चत्तारि रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता ( सू० ३७५ )

'चत्तारि धम्मे'त्यादि, धर्म्मस्य–चारित्रलक्षणस्य द्वाराणीव द्वाराणि–उपायाः । क्षान्त्यादीनि धर्म्मद्वाराणीत्युक्तं, अथारम्भादीनि नारकत्वादिसाधनकर्म्मणो द्वाराणीति विभागतः 'चउहिं ठाणेहिं' इत्यादिना सूत्रचतुष्टयेनाह–कण्ठ्यञ्चैतत्, नवरं 'नेरइयत्ताए'त्ति नैरयिकत्वाय नैरयिकतायै नैरयिकतया वा कर्म्म–आयुष्कादि, नेरइयाउयत्ताएत्ति पाठान्तरे नैरयिकायुष्कतया नैरयिकायुष्करूपं कर्म्मदलिकमिति, महान्–इच्छापरिमाणेनाकृतमर्यादतया बृहन् आरम्भः–पृथिव्याद्युपमर्दलक्षणो यस्य स महारम्भः–चक्रवर्त्यादिस्तद्भावस्तत्ता तया महारम्भतया एवं महापरिग्रहतयाऽपि, नवरं परिगृह्यत इति परिग्रहो–हिरण्यसुवर्णद्विपदचतुष्पदादिरिति, 'कुणिम'मिति मांसं तदेवाहारो–भोजनं तेन, 'माइल्लयाए'त्ति मायितया माया च मनःकुटिलता, 'नियडिल्लयाए'त्ति निकृतिमत्तया निकृतिश्च वञ्चनार्थं कायचेष्टाद्यन्यथाकरणलक्षणा अभ्युपचारलक्षणा वा तद्वत्तया, कूटतुलाकूटमानेन यो व्यवहारः स कूटतुलाकूटमान एवोच्यते अतस्तेनेति, प्रकृत्या–स्वभावेन भद्रकता–परानुपतापिता या सा प्रकृतिभद्रकता तया सानुक्रोशतया–सदयतया मत्सरिकता–परगुणासहिष्णुता तत्प्रतिषेधोऽमत्सरिकता तयेति, सरागसंयमेन–सकषायचारित्रेण वीतरागसंयमिनामायुषो बन्धाभावात् संयमासंयमो–द्विस्वभावत्वाद्देशसंयमः बाला इव बाला–मिथ्यादृशस्तेषां तपःकर्म्म–तपःक्रिया बालतपःकर्म्म तेन अकामेन–निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जरा–कर्म्मनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यत् सा अकामनिर्जरा तया । अनन्तरं देवोत्पत्ति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारणान्युक्तानि, देवाश्च वाद्यनाट्यादिरतयो भवन्तीति वाद्यादिभेदाभिधानाय षट्सूत्री, तत्र वज्जेत्ति–वाद्यं तत्र—'ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम् ॥ १ ॥' इति, नाट्यगेयाभिनयसूत्राणि सम्प्रदायाभावान्न विवृतानि, मालायां साधु माल्यं–पुष्पं तद्रचनापि माल्यं ग्रन्थः–सन्दर्भः सूत्रेण ग्रन्थनं तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं मालादि, वेष्टनं वेष्टस्तेन निर्वृत्तं वेष्टिमं–मुकुटादि, पूरेण–पूरणेन निर्वृत्तं पूरिमं–मृन्मयमनेकच्छिद्रं वंशशलाकादिपञ्जरं वा यत्पुष्पैः पूर्यत इति, सङ्घातेन निर्वृत्तं सङ्घातिमं–यत्परस्परतः पुष्पनालादिसङ्घातनेनोपजन्यत इति, अलङ्क्रियते–भूष्यतेऽनेनेत्यलङ्कारः केशा एवालङ्कारः केशालङ्कारः, एवं सर्वत्र देवाधिकारवत्येव 'सणंकुमारे'त्यादिका द्विसूत्री सुगमा चेयं, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णानि, कल्पान्तरेषु त्वन्यथा, तदुक्तम्—"सोहम्मे पंचवण्णा एक्कगहाणी उ जा सहस्सारो । दो दो तुल्ला कप्पा तेण परं पुंडरीयाओ ॥ १ ॥" [ द्वयोर्द्वयोः कल्पयोर्वर्णस्य हानिः कार्येत्यर्थः > तत्र भवे धार्यते तदिति तं वा भवं धारयतीति भवधारणीयं–यज्जन्मतो मरणावधि 'कृतमुष्टिकस्तु रत्निः स एव विततावङ्गुलिररत्नि'रिति वचने सत्यपि रत्निशब्देनेह सामान्येन हस्तोऽभिधीयत इति, शुक्रसहस्रारयोश्चतुर्हस्ता देवा अन्यत्र त्वन्यथा, यत आह—"भवण १० वण ८ जोइस ५ सोहम्मीसाणे सत्त होंति रयणीओ । एक्केकहाणि सेसे दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥ १ ॥ गेविज्जेसुं दोन्नी एक्का रयणी अणुत्तरेसु"त्ति [भवनवानमंतरज्योतिष्कसौधर्मेशानेषु सप्त रत्नयो भवंति शेषेषु एकैकहानिः द्विके द्विके च द्विके चतुष्के च ॥१॥ ग्रैवेयकेषु द्वे रत्नी अनुत्तरसुरेष्वेका रत्निः ॥] भवधारणीयान्येवं, उत्तरवैक्रियाणि तु लक्षमपि सम्भवन्ति, उत्कृष्टेनैतत्, जघन्यतस्त्वङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणान्युत्पत्तिकाले भवधा-




Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३७५] दीप अनुक्रम [४०६]

रणीयानि भवन्त्युत्तरवैक्रियाणि त्वङ्गुलसङ्ख्येयभागप्रमाणानीति । अनन्तरं देववक्तव्यतोक्ता, देवाश्चाप्कायतयाऽप्युत्पद्यन्ते इत्युदकगर्भप्रतिपादनाय 'चत्तारी'त्यादि सूत्रद्वयमाह—

चत्तारि उदगगब्भा पं० तं०—उस्सा महिया सीता उसिणा, चत्तारि उदगगब्भा पं० तं०—हेमगा अब्भसंथडा सीतोसिणा पंचरूविता,—माहे उ हेमगा गब्भा, फग्गुणे अब्भसंथडा । सीतोसिणा उ चित्ते, वतिसाहे पंचरूविता ॥१॥ (सू० ३७६) चत्तारि माणुस्सीगब्भा पं० तं०—इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताते बिंबत्ताए,—अप्पं सुक्कं बहुं ओयं, इत्थी तत्थ पजाताति । अप्पं ओयं बहुं सुक्कं, पुरिसो तत्थ पजाताति ॥ १ ॥ दोण्हंपि रत्तसुक्काणं, तुल्लभावे णपुंसओ । इत्थीतोतसमाओगे, बिंबं तत्थ पजायति ॥ २ ॥ (सू० ३७७)

'दगगब्भ'त्ति दकस्य—उदकस्य गर्भा इव गर्भा दकगर्भाः—कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतवस्तत्संसूचका इति तत्त्वमिति, अवश्यायः—क्षपाजलं महिका—धूमिका शीतान्यात्यन्तिकानि एवमुष्णा—घर्माः, एते हि यत्र दिन उत्पन्नास्तस्मादुत्कर्षेणाव्याहताः सन्तः षड्भिर्मासैरुदकं प्रसुवते, अन्यैः पुनरेवमुक्तम्—"पवनाभ्रवृष्टिविद्युद्गर्जितशीतोष्णरश्मिपरिवेषाः । जलमत्स्येन सहोक्ताः दशधा धातुप्रजनहेतुः ॥ १ ॥" तथा—"शीतवाताश्च बिन्दुश्च, गर्जितं परिवेषणम् । सर्व्वे गर्भेषु शंसन्ति, निर्ग्रन्थाः साधुदर्शनाः ॥ १ ॥" तथा "सप्तमे २ मासे, सप्तमे २८हनि । गर्भाः पाकं नियच्छन्ति, यादृशास्तादृशं फलम् ॥ १ ॥" हिमं—तुहिनं तदेव हिमकं तस्यैते हैमका हिमपातरूपा इत्यर्थः, 'अब्भसंथड'त्ति अभ्रसंस्थितानि मेघैराकाशाच्छादनानीत्यर्थः, आत्यन्तिके शीतोष्णे, पञ्चानां रूपाणां—गर्जितविद्युज्जलवाताभ्रलक्षणानां समाहारः पञ्चरूपं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदस्ति येषां ते पञ्चरूपिका उदकगर्भाः, इह मतान्तरमेवम्–पौषे समार्गशीर्षे सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः । नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं पौषेऽतिहिमपातः ॥ १ ॥ माघे प्रबलो वायुस्तुषारकलुषद्युती रविशशाङ्कौ । अतिशीतं सघनस्य च भानोरस्तोदयौ धन्यौ ॥ २ ॥ फाल्गुनमासे रूक्षश्चण्डः पवनोऽभ्रसम्प्लवाः स्निग्धाः । परिवेषाश्चासकलाः कपिलस्ताम्रो रविश्च शुभः ॥ ३ ॥ पवनघनवृष्टियुक्ताश्चैत्रे गर्भाः शुभाः सपरिवेषाः । घनपवनसलिलविद्युत्स्तनितैश्च हिताय वैशाखे ॥ ४ ॥" इति, तानेव मासभेदेन दर्शयति—'माहे'त्यादि श्लोकः । गर्भाधिकाराच्चारीगर्भसूत्रं व्यक्तं, केवलं 'इत्थित्ताए'त्ति स्त्रीतया बिम्बमिति–गर्भप्रतिबिम्बं गर्भाकृतिरार्त्तवपरिणामो न तु गर्भ एवेति, उक्तञ्च—"अवस्थितं लोहितमङ्गनाया, वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञाः । गर्भाकृतित्वात्कटुकोष्णतीक्ष्णैः, श्रुते पुनः केवल एव रक्ते ॥ १ ॥ गर्भं जडा भूतहृतं वदन्ती"त्यादि, वैचित्र्यं गर्भस्य कारणभेदादिति श्लोकाभ्यां तदाह–'अप्प'मित्यादि, शुक्रं–रेतः पुरुषसम्बन्धि ओज–आर्त्तवं रक्तं स्त्रीसम्बन्धि यत्र गर्भाशय इति गम्यते इति, तथा स्त्रिया ओजसा समायोगो–वातवशेन तत्स्थिरीभवनलक्षणः स्त्र्योजःसमायोगस्तस्मिन् सति बिम्बं 'तत्र' गर्भाशये प्रजायते, अन्यैरप्यत्रोक्तम्—"अत एव च शुक्रस्य, बाहुल्याज्जायते पुमान् । रक्तस्य स्त्री तयोः साम्ये, क्लीबः शुक्रार्त्तवे पुनः ॥ १ ॥ वायुना बहुशो भिन्ने, यथास्वं बह्वपत्यता । वियोनिविकृताकारा, जायन्ते विकृतैर्मलैः ॥ २ ॥" इति ॥ गर्भः प्राणिनां जन्मविशेषः स चोत्पादोऽभिधीयते, उत्पादश्चोत्पादाभिधानपूर्वे प्रपद्यत इति तत्स्वरूपविशेषप्रतिपादनायाह—

उप्पायपुव्वस्स णं चत्तारि मूलवत्थू पन्नत्ता ( सू० ३७८ ) चउव्विहे कव्वे पं० तं०—गज्जे पज्जे कत्थे गेए (सू०३७९)



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णेरइताणं चत्तारि समुग्घाता पं० तं०—वेयणासमुग्घाते कसायसमुग्घाते मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए, एवं वाउक्काइयाणवि (सू० ३८०) अरिहतो णं अरिट्ठनेमिस्स चत्तारि सया चोद्दसपुव्वीणमजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो इव अवितथवागरमाणाणं उक्कोसिता चउद्दसपुव्विसंपया हुत्था (सू० ३८१) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारि सया वादीणं सदेवमणुयासुराते परिसाते अपराजियाणं उक्कोसिता वातिसंपया हुत्था (सू० ३८२) हेट्ठिल्ला चत्तारि कप्पा अद्धचंदसंठाणसंठिया पन्नत्ता, तंजहा—सोहम्मे ईसाणे सणंकुमारे माहिंदे, मज्झिल्ला चत्तारि कप्पा पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिया पन्नत्ता, तंजहा—बंभलोगे लंतते महासुक्के सहस्सारे, उवरिल्ला चत्तारि कप्पा अद्धचंदसंठाणसंठिता पन्नत्ता, तंजहा—आणते पाणते आरणे अच्चुते (सू० ३८३) चत्तारि समुद्दा पत्तेयरसा पं० तं० —लवणोदे वरुणोदे खीरोदे घतोदे (सू० ३८४) चत्तारि आवत्ता पं० तं०—खरावत्ते उन्नतावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते, एवामेव चत्तारि कसाया पं० तं०—खरावत्तसमाणे कोहे उन्नत्तावत्तसमाणे माणे गूढावत्तसमाणा माता आमिसावत्तसमाणे लोभे, खरावत्तसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेति णेरइएसु उववज्जति, उन्नत्तावत्तसमाणं माणं एवं चेव गूढावत्तसमाणं मातमेवं चेव आमिसावत्तसमाणं लोभमणुपविट्ठे जीवे कालं करेति नेरइएसु उववज्जेति (सू०३८५)

'उप्पाये'त्यादि कण्ठ्यं, नवरं उत्पादपूर्वं प्रथमं पूर्वाणां तस्य चूला–आचारस्याग्राणीव तद्रूपाणि वस्तूनि–परिच्छेदविशेषा अध्ययनवच्चूलावस्तूनि । उत्पादपूर्वं हि काव्यमिति काव्यसूत्रं कण्ठ्यं चैतन्नवरं काव्यं–ग्रन्थः, गद्यम्–अच्छन्दोनिबद्धं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनवत् पद्यं–छन्दोनिबद्धं विमुक्त्यध्ययनवत्, कथायां साधु कथ्यं ज्ञाताध्ययनवत्, गेयं–गान-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योग्यं, इह गद्यपद्यान्तर्भावेऽपीतरयोः कथागानधर्म्मविशिष्टतया विशेषो विवक्षित इति । अनन्तरं गेयमुक्तं, तच्च भाषास्वभावत्वात् दण्डमन्थादिक्रमेण लोकैकदेशादि पूरयति, समुद्घातोऽप्येवमेवेति साधर्म्यात् समुद्घातसूत्रे सुगमे च, नवरं समुद्धननं समुद्घातः–शरीराद्बहिर्जीवप्रदेशप्रक्षेपः, वेदनया समुद्घातः कषायैः समुद्घातो मरणमेवान्तो मरणान्तः तत्र भवो मारणान्तिकः स एव समुद्घातो वैक्रियाय समुद्घातः२ इति विग्रहा इति । वैक्रियसमुद्घातो हि लब्धिरूप उक्त इति लब्धिप्रस्तावात् विशिष्टश्रुतलब्धिमतामभिधानाय 'अरहओ' इत्यादि सूत्रद्वयी सुगमा, नवरमजिनानामसर्वज्ञत्वात् जिनसंकाशानामविसंवादिवचनत्वाद् यथापृष्टनिर्व्वक्तृत्वाच्च सर्वे अक्षराणाम्–अकारादीनां सन्निपाता –व्यादिसंयोगा अभिधेयानन्तत्वादनन्ता अपि विद्यन्ते येषां ते सर्वाक्षरसन्निपातिनः, एतेषां जिनसंकाशत्वे कारणमाह– 'जिणो विवे'त्यादि, 'उक्कोसिय'त्ति नातोऽधिकाश्चतुर्दशपूर्विणो बभूवुः कदाचिदपीति । ते च प्रायः कल्पेषु गता इति कल्पसूत्राणि सुगमानि च, नवरं 'अद्धचंदसंठाणसंठिए'त्ति पूर्वापरतो मध्यभागे सीमासद्भावादिति । देवलोका हि क्षेत्रमिति क्षेत्रप्रस्तावात् समुद्रसूत्रं व्यक्तं, नवरं एकमेकं प्रति भिन्नो रसो येषां ते प्रत्येकरसाः, अतुल्यरसा इत्यर्थः, लवणरसोदकत्वाल्लवणः पाठान्तरे तु लवणमिवोदकं यत्र स लवणोदो निपातनादिति प्रथमः वारुणी–सुरा तया समानं वारुणं वारुणमुदकं यस्मिन् स वारुणोदः चतुर्थः क्षीरवत्तथा घृतवदुदकं यत्र स क्षीरोदः पञ्चमः घृतोदः षष्ठः, कालोदपुष्करोदस्वयम्भुरमणा उदकरसाः, शेषास्तु इक्षुरसा इति, उक्तञ्च—"वारुणिवरखीरवरो घयवर लवणो य होंति पत्तेया । कालो पुक्खरउदही सयंभुरमणो य उदगरसा ॥ १ ॥" इति । अनन्तरं समुद्रा उक्तास्तेषु चावर्त्ता भवन्ती-



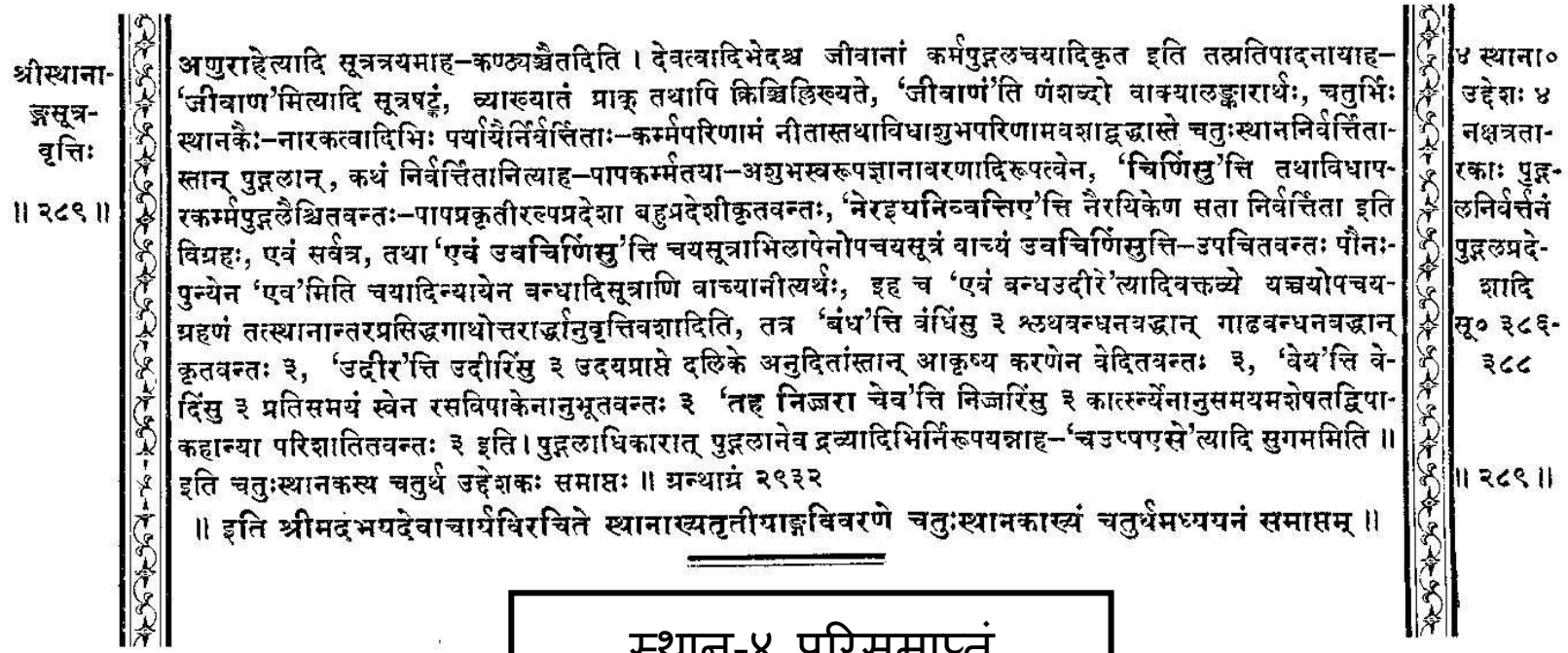
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यावर्त्तान् दृष्टान्तान् कषायांश्च तद्दार्ष्टान्तिकानभिधित्सुः सूत्रद्वयमाह–सुगमं चैतत्, नवरं खरो–निष्ठुरोऽतिवेगितया पातकश्छेदको वा आवर्त्तनमावर्त्तः स च समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां वेति खरावर्त्तः, उन्नतः–उच्छ्रितः स चासावावर्त्तश्चेति उन्नतावर्त्तः, स च पर्वतशिखरारोहणमार्गस्य वातोत्कलिकाया वा, गूढश्चासावावर्त्तश्चेति गूढावर्त्तः स च गेन्दुकदवरकस्य दारुग्रन्थ्यादेर्वा आमिषं–मांसादि तदर्थमावर्त्तः शकुनिकादीनामामिषावर्त्त इति, एतत्समानता च क्रोधादीनां क्रमेण परापकारकरणदारुणत्वात् पत्रतृणादिवस्तुन इव मनस उन्नतत्वारोपणात् अत्यन्तदुर्लक्ष्यस्वरूपत्वात् अनर्थशतसम्पातसङ्कलेऽप्यवपतनकारणत्वाच्चेति, इयञ्चोपमा प्रकर्षवतां कोपादीनामिति तत्फलमाह—'खरावत्तेत्या'दि, अशुभपरिणामस्याशुभकर्मबन्धनिमित्ततया दुर्गतिनिमित्तत्वादुच्यते 'णेरइएसु उववज्जइ'त्ति ॥

अणुराहानक्खत्ते चउत्तारे पं० पुव्वासाढे एवं चेव उत्तरासाढे एवं चेव (सू० ३८६) जीवाणं चउठाणनिव्वत्तिते पोग्गले पावकम्मत्ताते चिणिंसु वा चिणंति वा चिणिस्संति वा, नेरतियनिव्वत्तिते तिरिक्खजोणितनिवत्तिते मणुस्स० देवनिव्वत्तिते, एवं उवचिणिंसु वा उवचिणंति वा उवचिणिस्संति वा, एवं चिय उवचिय बंध उदीर वेत तह निज्जरे चेव । (सू० ३८७) चउपदेसिया खंधा अणंता पन्नत्ता चउपदेसोगाढा पोग्गला अणंता चउसमयट्ठितीया पोग्गला अणंता चउगुणकालगा पोग्गला अणंता जाव चउगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता (सू० ३८८) ॥ चउत्थो उद्देसो समत्तो चउठाणं चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

नारका अनन्तरमुक्तास्तैश्च वैक्रियादिना समानधर्माणो देवा इति तद्विशेषभूतनक्षत्रदेवानां चतुःस्थानकं विवक्षुः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ॥ २८९ ॥

अणुराहेत्यादि सूत्रत्रयमाह–कण्ठ्यञ्चैतदिति । देवत्वादिभेदश्च जीवानां कर्मपुद्गलचयादिकृत इति तत्प्रतिपादनायाह–'जीवाण'मित्यादि सूत्रषट्कं, व्याख्यातं प्राक् तथापि किञ्चिल्लिख्यते, 'जीवाणं'ति णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, चतुर्भिः स्थानकैः–नारकत्वादिभिः पर्यायैर्निर्वर्त्तिताः–कर्म्मपरिणामं नीतास्तथाविधाशुभपरिणामवशाद्बद्धास्ते चतुःस्थाननिर्वर्त्तितास्तान् पुद्गलान्, कथं निर्वर्त्तितानित्याह–पापकर्म्मतया–अशुभस्वरूपज्ञानावरणादिरूपत्वेन, 'चिणिंसु'त्ति तथाविधापरकर्म्मपुद्गलैश्चितवन्तः–पापप्रकृतीरल्पप्रदेशा बहुप्रदेशीकृतवन्तः, 'नेरइयनिव्वत्तिए'त्ति नैरयिकेण सता निर्वर्त्तिता इति विग्रहः, एवं सर्वत्र, तथा 'एवं उवचिणिंसु'त्ति चयसूत्राभिलापेनोपचयसूत्रं वाच्यं उवचिणिंसुत्ति–उपचितवन्तः पौनःपुन्येन 'एव'मिति चयादिन्यायेन बन्धादिसूत्राणि वाच्यानीत्यर्थः, इह च 'एवं बन्धउदीरे'त्यादिवक्तव्ये यच्चयोपचयग्रहणं तत्स्थानान्तरप्रसिद्धगाथोत्तरार्द्धानुवृत्तिवशादिति, तत्र 'बंध'त्ति बंधिंसु ३ श्लथबन्धनबद्धान् गाढबन्धनबद्धान् कृतवन्तः ३, 'उदीर'त्ति उदीरिंसु ३ उदयप्राप्ते दलिके अनुदितांस्तान् आकृष्य करणेन वेदितवन्तः ३, 'वेय'त्ति वेदिंसु ३ प्रतिसमयं स्वेन रसविपाकेनानुभूतवन्तः ३ 'तह निज्जरा चेव'त्ति निर्जरिंसु ३ कात्स्न्र्येनानुसमयमशेषतद्विपाकहान्या परिशातितवन्तः ३ इति। पुद्गलाधिकारात् पुद्गलानेव द्रव्यादिभिर्निरूपयन्नाह–'चउप्पएसे'त्यादि सुगममिति ॥

इति चतुःस्थानकस्य चतुर्थ उद्देशकः समाप्तः ॥ ग्रन्थाग्रं २९३२

॥ इति श्रीमदभयदेवाचार्यविरचिते स्थानाख्यतृतीयाङ्गविवरणे चतुःस्थानकाख्यं चतुर्थमध्ययनं समाप्तम् ॥

स्थान-४ परिसमाप्तं

४ स्थाना० उद्देशः ४ नक्षत्रतारकाः पुद्गलनिर्वर्त्तनं पुद्गलप्रदेशादि सू० ३८६-३८८ ॥ २८९ ॥

Jain Education International www.jainelibrary.org

# “सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि” भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?


| भाग | इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम | | कुलपृष्ठ |
|---|---|---|---|
| 01 | आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२ | | ३१४ |
| 02 | आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २ | | ५८६ |
| 03 | आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३ | | ४९८ |
| 04 | आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२ | | ३९२ |
| 05 | आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४ | | ५९४ |
| 06 | आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण | | ४९४ |
| 07 | आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति. | | ३३८ |
| 08 | आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६ | | ५९२ |
| 09 | आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११ | | ५५२ |
| 10 | आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २० | | ५१४ |
| 11 | आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण | | ३८४ |
| 12 | आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति. | | ५२२ |
| 13 | आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति. | | ५३८ |
| 14 | आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति. | | ३८४ |
| 15 | आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति. | | ३१४ |
| 16 | आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८ | | ४८० |
| 17 | आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण | | ४८८ |
| 18 | आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५ | | ४२६ |
| 19 | आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२ | | ५१४ |
| 20 | आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण | | ३३६ |
| 21 | आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति. | | ६१० |

# “सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि” भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?

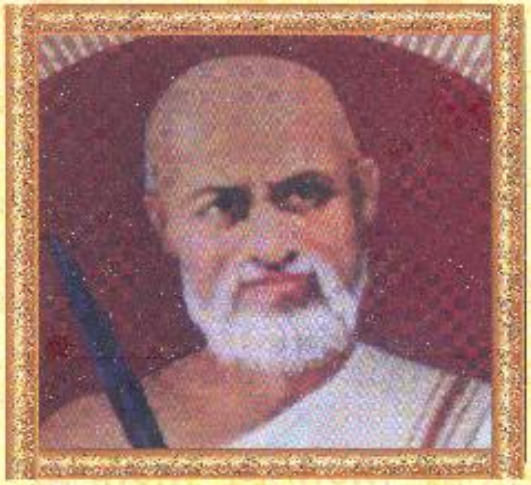

| भाग | इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम | | कुलपृष्ठ |
|---|---|---|---|
| 22 | आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति. | | ६१४ |
| 23 | आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २. | | ३७६ |
| 24 | आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४. | | ४२६ |
| 25 | आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७. | | ३४४ |
| 26 | आगम १९ थी ३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविद्या, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया | | ३१२ |
| 27 | आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव | | ३३० |
| 28 | आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१ | | ४६६ |
| 29 | आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१ | | ४४२ |
| 30 | आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण] | | ४६४ |
| 31 | आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण] | | ४२६ |
| 32 | आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति. | | ४७२ |
| 33 | आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति. | | ३७६ |
| 34 | आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति. | | ५९० |
| 35 | आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५ | | ५२२ |
| 36 | आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१ | | ४८२ |
| 37 | आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६ | | ४६६ |
| 38 | आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति. | | ५२८ |
| 39 | आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति. | | ५६० |
| 40 | कल्प(बारसा)सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति. | | ३९४ |


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

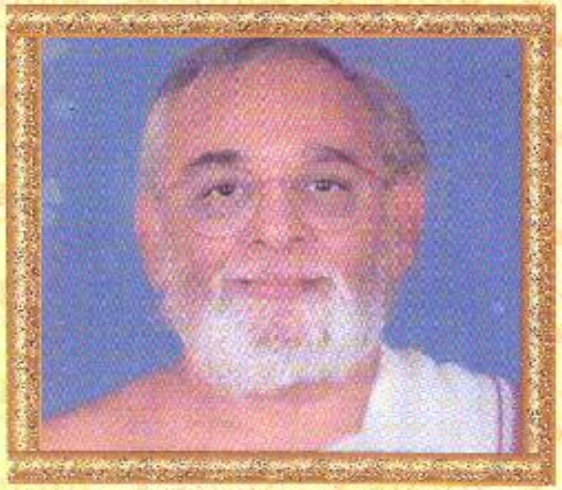
# सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

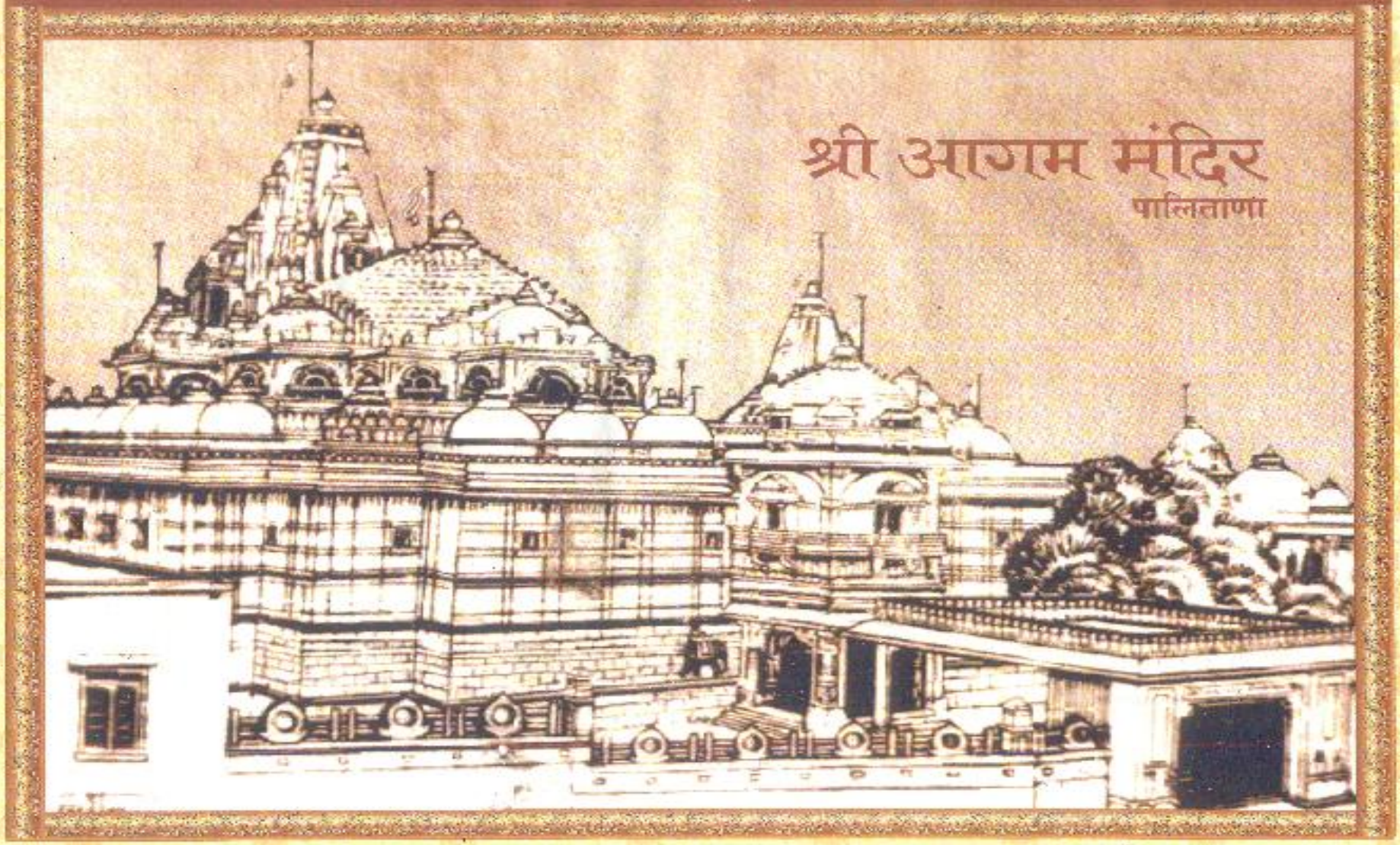
अभिनव-संकलनकर्ता

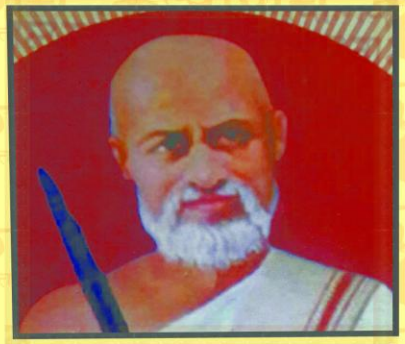


आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदावाद Mo 9825598855 / 9825306275

# ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता





मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

**श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब**

# आगम - ०५

# 'स्थान' मूलं एवं वृत्तिः [१]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

